गुरुकुल-शोध-भारती
2004
No. 1—2

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका
(A Half-yearly Research Journal)

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४
२००४

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका

(A Half-yearly Research Journal)

No. 1-2
2004

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

प्रथम अङ्क 2004

सम्पादक–मण्डल

मुख्यसंरक्षक — प्रो. स्वतन्त्र कुमार
कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

संरक्षक — प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

सम्पादक — प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध–संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

अस्याङ्कस्य निर्णायक: — डॉ. गणेशदत्त शर्मा
पूर्व प्राचार्य, एल. आर. (पी.जी.) कालेज, साहिबाबाद, उ.प्र.

व्यवसाय–प्रबन्धक — डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार
पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

प्रकाशक — प्रो. ए.के. चोपड़ा
कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

मूल्य — १०० रुपये वार्षिक

विषय-वस्तु

भारत के उप-राष्ट्रपति के विशेष कार्य अधिकारी
नई दिल्ली - 110011
OFFICER ON SPECIAL DUTY
TO THE VICE-PRESIDENT OF INDIA
NEW DELHI - 110011

संदेश

महामहिम उपराष्ट्रपति श्री भैरोंसिंह शेखावत को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि गुरूकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,हरिद्वार द्वारा *गुरूकुल -शोध-भारतीय* के प्रथम अंक का प्रकाशन किया जा रहा है,जो सराहनीय प्रयास है। उन्हें आशा है कि इस पत्रिका में विश्वविद्यालय की विभिन्न गतिविधियों का भी समावेश किया जायेगा।

उपराष्ट्रपतिजी विश्वविद्यालय की निरंतर प्रगति की कामना करते हुए इस अवसर पर प्रकाशित शोध पत्रिका के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएं प्रेषित करते हैं।

(के.बी.ठाकुर)

नई दिल्ली
4 मार्च, 2004

शुभकामना संदेश

सुदर्शन शर्मा

कुलाधिपति

यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि गुरुकुल-काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार प्राच्यविद्या के क्षेत्र में होने वाले अनुसन्धान को प्रकाशित करने के लिये 'गुरुकुल-शोधभारती' नाम से एक शोधपत्रिका प्रकाशित करने जा रहा है। मैं इस अवसर पर प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी, कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार तथा आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री को हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित कर रहा हूँ। आशा है यह पत्रिका प्राच्यविद्या के गूढ रहस्यों को जनोपपयोगी बनाने में महती भूमिका का निर्वाह करेगी।

(सुदर्शन शर्मा)

कुलाधिपति

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार.

शुभ-कामना

प्रो. स्वतन्त्र कुमार
कुलपति

किसी भी विश्वविद्यालय की पहिचान उसके शोधकार्य से होती है, उसकी गुणवत्ता का निर्धारण भी शोध के स्तर के आधार पर किया जाता है। अत: ऐसे प्रतिस्पर्द्धात्मक परिवेश में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाने के लिये शोधपत्रिका तथा अन्य शोधपरक गतिविधियों को प्रोत्साहन देना यह न केवल विश्वविद्यालय के हित में है, अपितु सामयिक भी है। अभी कुछ दिन पूर्व की बात है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नियुक्त विशेषज्ञों की एक समिति National Assessment and Accreditation Council (NAAC) ने राष्ट्रीय महत्त्व का संस्थान मानते हुए इस विश्वविद्यालय को चार स्टार प्रदान किये हैं। अब यह हमारे लिये और भी अधिक आवश्यक है कि हम कुछ ऐसा करें, जो शोधपरक हो और जिसे अन्तर्राष्ट्रिय स्तर की मान्यता भी मिले, तभी हम चार स्टार से आगे बढ़कर पाँच स्टार प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते हैं।

यह प्रसन्नता का विषय है कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय प्राच्यविद्या के क्षेत्र में होने वाले शोधकार्यों के प्रकाशन हेतु गुरुकुल-शोधभारती नाम से एक शोधपत्रिका का शुभारम्भ करने जा रहा है। बहुत समय से इस विश्वविद्यालय में शोधकार्यों के प्रकाशन हेतु एक शोधपत्रिका की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। जब यह विषय मेरे समक्ष प्रस्तुत किया गया, तब मैंने तत्काल उक्त प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए यथाशीघ्र अन्य औपचारिकताओं को पूर्ण करने का निर्देश दिया।

मुझे इस अवसर पर अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है और मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रेषित करता हूँ और आशा करता हूँ कि यह पत्रिका अपने नाम के अनुरूप शोध के लिये समर्पित होगी।

(प्रो. स्वतन्त्र कुमार)
कुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

वाग् ज्योतिः समुज्जृम्भताम्

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति

समेषां सुमनसां गीर्वाणवाणीगुणार्गणाकलनकलाकलापकुशलानां स्वाध्यायप्रवचनामिताभ्यासरतानां सुमेधावतां विद्वत्तल्लजानां नूनमेवानन्दोन्मेषकरं वृत्तमिदं यत् गुरुकुल-काँगड़ी-विश्वविद्यालये **'गुरुकुल-शोध-भारती'** इत्यभिधाननिर्मला शोधपत्रिका पुनरपि गुरुकुलपरम्परानिर्वाहकानाम् अपरिमितैः प्रयत्नैः संजीविता।

यद्यपि संस्कृतविदुषां सुविदितमिदं यत् विश्वविद्यालयेभ्यो महाविद्यालयेभ्यः शोधपीठेभ्यश्च शोधपत्रिकाः समये समये प्रकाश्यन्ते तासां नीतिरपि विश्वक् प्रसरत्येव तथापि गुरुकुलात् प्रकाश्यमानाया अस्याः पत्रिकाया किमपि विशिष्टं महत्त्वं प्रयोजनञ्च विद्यत एव।

पत्रिकेयं बृहत्यां शोधजगत्यां गेयां महतीं प्रतिष्ठां चिरमवाप्स्यतीति द्रढीयान् विद्यते मे संप्रत्ययः।

(प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री)
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

शुभकामनाएँ

प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा

कुलसचिव

प्राच्य विद्या के क्षेत्र में होने वाले शोधकार्य को प्रकाशित करने के लिये गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, गुरुकुल-शोधभारती नाम से एक शोधपत्रिका प्रकाशित करने जा रहा है। इस अवसर पर मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित कर रहा हूँ। इस शोधपरक पत्रिका के प्रकाशन से शोधरत विश्वविद्यालय के शिक्षकों तथा छात्रों के मौलिक कार्य को विद्वत् समाज के समक्ष प्रस्तुत करने में सहयोग प्राप्त होगा। मुझे आशा नहीं पूर्ण विश्वास है यह पत्रिका जिन सार्थक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर प्रारम्भ की जा रही है, उस दिशा में अवश्य सफल होगी।

इस उत्तम कार्य के लिये मेरी शतश: शुभकामनाएँ।

(प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा)

कुलसचिव

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार.

ओ३म्

पूर्व उपकुलपति एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष महर्षि दयानन्द वैदिक शोधपीठ पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	दूरभाष: १३३४-२५३८४५ आचार्य (डॉ.) रामनाथ वेदालङ्कार विद्यामार्तण्ड वेदमन्दिर, ज्वालापुर-२४९४०७ हरिद्वार (उत्तराञ्चल)

शुभाशंसनम्

प्रिय प्रो. ज्ञानप्रकाशवर्य!

एतद्विज्ञाय परमानन्दमनुभवामि यद्भवदीयकुशलसम्पादकत्वे **'गुरुकुल-शोध-भारती'** नाम्ना षाण्मासिकी शोधपत्रिका गुरुकुलविश्वविद्यालयेन प्रारभ्यते। पूर्वमपि १९७४-७५ ईस्वीयसंवत्सरे मम च डॉ. विष्णुदत्त-राकेशस्य च संयुक्तसम्पादकत्वे शोधभारत्या अङ्कद्वयं संस्कृत-हिन्दी-आंग्लभाषात्मकं प्रकाशितम्, देशे विदेशे च प्रशंसितं चाभूत्। तस्या: पुनरुज्जीवनं सर्वेषां बुद्धिजीविनां कृते हर्षावहमिति मन्ये। किं नाम शोधात्मकं किञ्च नेति निश्चप्रचं वक्तुं न शक्यते। यन्नूतनं नास्ति, किन्तु शोधशैल्या निबद्धं, समाजस्य कृते प्राणदायकं, प्राचीनसंस्कृतिपोषकं च विद्यते, तदपि शोधसंज्ञां लब्धुमर्हति। तद्विपरीतञ्च कामं नूतनं भवेत्, परं मानवोत्थाने विज्ञानवर्द्धने विपत्संत्रस्तसमाजकल्याणकरणे च तस्यं मूल्यं नास्ति चेत्, तत्र शोधात्मकम्। गुरुकुलस्य केचन सिद्धान्ता आदर्शाश्चापि सन्ति येषां परिपालनमुचितम्। कैश्चिल्लेखकै: सर्वोऽपि विषय: परेषां ग्रन्थेभ्यो गृहीत्वा स्वकीयशोधनाम्ना प्रकटीक्रियते, ते छद्मलेखका न प्रोत्साहनीया:। गुरुकुले बहवो विपश्चित: शोधकर्मणि व्यापृता: सन्ति, तदीयशोधपत्राणि यदि पत्रिकाया: कलेवरं भूषयन्ति, तर्हि गुरुकुलविश्वविद्यालयस्य गौरवं वर्धते, पत्रिकानामसार्थक्यमपि भवति।

अहं गुरुकुलशोधभारत्या: प्रथमोन्मेषावसरे स्वकीयां हार्दिकीं शुभाशंसां भूयो भूय: प्रयच्छामि, पत्रिकाया उज्ज्वलं भविष्यञ्च कामये।

श्रद्धानन्दस्य वरदामाशिषं मूर्ध्नि धारयन्।

सरस्वतीसमर्चायां यत्नत: प्रवणो भव॥

भवदीय:

रामनाथ वेदालङ्कार:

२६-२-०४

बाल ब्रह्मचारी मिशन (रजि०) के तत्वाधान में क्रियाशील

निर्धन निकेतन आश्रम

खड़खड़ी, हरिद्वार (उत्तरांचल), दूरभाष: ४६००४३

अध्यक्ष: श्री १०८ ऋषि केशवानन्द जी महाराज

क्रमांक---------

दिनांक-२६.०२.०४

प्रिय ज्ञान प्रकाश शास्त्री,

आपके सम्पादकत्व में प्राच्यविद्या का केन्द्र गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, अपनी शोधपत्रिका 'गुरुकुल-शोध-भारती' नाम से प्रकाशित करने जा रहा है-यह प्रसन्नता का विषय है।

हमारी प्राच्यविद्या विश्व की समस्त विद्याओं की जननी है। इन विद्याओं के अनुशीलन से मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का कल्याण प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता है आज- उस प्राच्यविद्या में निहित ज्ञानालोक से अपने को तथा समाज को आलोकित करने की। यह कार्य आप जैसे विद्वान् अपने सारगर्भित एवं प्रौढ़ लेखों से इस पत्रिका के माध्यम से कर सकते हैं।

विद्वान् लेखकों और सुधी पाठकों को मेरा सन्देश है कि केवल ज्ञानमात्र से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। **'आचारहीनं न पुनन्ति वेदा:'** पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा से इस ज्ञान को अपने आचरण में लायें, तभी पाठकों तथा अन्य श्रद्धालु लोगों को आचरणशील बना सकते हैं, तभी अपने वास्तविक लक्ष्य पर पहुँचने की प्रेरणा मिलने की सम्भावना की जा सकती है।

हमारी एक चाह यही है कि विद्वान् लोग अपने लक्ष्य को न भूलें। इस पत्रिका के प्रकाशकों और सम्पादकों को हार्दिक शुभकामना।

विनीत:

(ऋषि केशवानन्द)

अध्यक्ष बाल ब्रह्मचारी मिशन

निर्धन निकेतन, खड़खड़ी

हरिद्वार.

सम्पादकीयम्

भाषा के जिस रूप से हम परिचित हैं, वह व्यवहार की भाषा है। इसलिये लोक के समान वेद में भी नामकरण शब्द के आधार पर किया गया है।[1] परन्तु व्यवहार आधार होने पर भी वाक् के अनेक स्तर हैं और जो इनके गूढ स्वरूप को जानता है, वह मात्र विद्वान् ही नहीं, वह एक उच्च स्तर का साधक और योगी भी होता है।[2] ऋषि दीर्घतमा ने इसी सत्य का प्रत्यक्ष करते हुए कहा है कि ऋक् के अक्षर में परम व्योम है, इसलिये इसमें समस्त देव समाहित हो जाते हैं।[3] व्याकरण को दर्शन का स्वरूप देने वाले आचार्य भर्तृहरि ने सम्भवतः, वेद के उक्त वचनों को ध्यान में रखते हुए कहा है- **'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्'**[4] कि स्वरूप से अनादि और नाशरहित शब्द ब्रह्मरूप ही है। शब्द के जिस रूप की चर्चा व्याकरण-दर्शन में की जाती है, उसको जानने वाला कोई मनीषी ही हो सकता है[5] अर्थात् जो अपने मन का स्वामी नहीं है, वह इस शब्दब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता। और जो इस शब्दब्रह्म को तात्त्विक रूप से जानता है, उसके समक्ष यह विद्या प्रेयसी के समान विवृत रूप में उपस्थित हो जाती है और कुछ भी ऐसा नहीं रखती, जो फिर उसके लिये गोपनीय हो।[6] जिस तथ्य को भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म के माध्यम से कहा है, उसको वेद संकेत की भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति देता हुआ कहता है कि जो उसको नहीं जानता, उसके लिये वेद की ऋचा का क्या अर्थ है? और जो उसे जानता है, उसका उसीमें समाहार हो जाता है।[7] व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा शब्द का साकार रूप है और उसके द्वारा जिस प्रतीयमान पदार्थ की अभिव्यक्ति हो रही है, मूलतः अनभिव्यक्त स्वरूप (शब्द की सीमा में न आते हुए भी) वाला होते हुए भी उसकी शब्द के माध्यम से प्रतीति करायी जा रही है। सत्य शब्द नहीं है, सत्य अर्थ है और उसको वैखरी की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। फिर भी उसको शब्द की सीमा में रखने का प्रयास एकाङ्गी और अपूर्ण होते हुए भी अपनी सार्थकता रखता है। दैर्घतमस् सूक्त का एक मन्त्र कहता है कि जब वेद (अनुभवरूप ज्ञान) का समुद्र प्रवाहमान होता है, तब चारों दिशायें जी उठती हैं और उसके उपरान्त वह अक्षर स्वयं क्षरित होता है, जिससे समस्त विश्व जी उठता है।[8] उक्त मन्त्र का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ज्ञान-विज्ञान के प्रयोग से जीवन की चारों दिशायें जीवन्त हो जाती हैं और जब वह विज्ञान अध्यात्म में प्रवेश करता है, तब साक्षात् परब्रह्म का सोमरस बरसने लगता है। जब भी विज्ञान की कोई विधा बहुत आगे निकल जाती है, तब वह अध्यात्म बन जाती है। इसलिये हमारे यहाँ एक सूत्र प्रायः सुनने को मिलता है- यथा अण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' जो एक अणु में है, वही ब्रह्माण्ड में है, जो ब्रह्माण्ड में वही एक अणु में है। जो इस तथ्य का साक्षात्कार कर लेता है। उसके लिये स्व-पर

---

१. निरु०१.२. 'शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।'

२. ऋ०१.१६४.४५. 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।'

३. ऋ०१.१६४.३९. 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।'

४. वाक्य०१.१.

५. ऋ०१.१६४.४५. 'तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।'

६. ऋ०१०.७१.४. 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥'

७. ऋ०१.१६४.३९. 'यस्तन्न वेद किमृचाकरिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।'

८. ऋ०१.१६४.४२. 'तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति॥'

भेद तिरोहित हो जाता है, फिर वह दु:ख और शोक से रहित होकर मुक्त अवस्था का अनुभव करता है।[9] महर्षि दयानन्द जैसा व्यक्तित्व ऐसे ही आकार नहीं लेता, दृष्टि में आया भेद ही उनको यह कहने के लिये प्रेरित करता है-**'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि।**[10]

वेद या ज्ञान वह है जो प्रत्यक्ष का विषय बनता है, अनुभूति की कोख से जन्म लेता है, जिसके विषय में यह कहा जा सकता है कि यही सत्य है। आज का विज्ञान भी जिस मापदण्ड को स्वीकार करता है, उसका यही आधार है। प्राच्यविद्या में सत्य की जो परिभाषा और प्रक्रिया स्वीकार की गयी है, विज्ञान में उसको मान्यता नहीं मिली है। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ जहाँ क्यों और कहाँ का उत्तर खोजने का प्रयास किया गया है, वहीं आज भौतिकतावादी विज्ञान कैसे के प्रति समर्पित है। कैसे बना? उसके लिये इसका उत्तर जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह सही है कि कैसे का उत्तर जानने से समस्याओं के अन्तिम छोर तक नहीं पहुँचा जा सकता, जैसे-H_2O सिद्धान्त बन जाने पर भी जल को नहीं बनाया जा सका है। परन्तु आज की मान्य परम्परा और प्रक्रिया इसी विधि का अनुमोदन करती है। अत: समय के साथ चलने के लिये शोध-प्रविधि का उपयोग अपेक्षित भी है और अपरिहार्य भी।

प्राच्यविद्या के क्षेत्र में अग्रणी यह विश्वविद्यालय आज जब 'गुरुकुल-शोध-भारती' नामक शोधपत्रिका के प्रथम अङ्क का विमोचन करने जा रहा है, तब महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के तृतीय नियम में जो वेद को सत्यविद्याओं की पुस्तक और उसके पढ़ने-पढ़ाने को आर्यों का परम धर्म प्रतिपादित किया है।[11] इस ऋषि वाक्य को विज्ञान की कसौटी पर कसा जाना चाहिये और ऐसा इस विश्वविद्यालय में हो भी रहा है, अत: प्राच्यविद्या की एक ऐसी शोध-पत्रिका की कमी पिछले काफी समय से अनुभव की जा रही है, जो विश्वविद्यालय में होने वाले शोधकार्यों को मुखरित कर सके, विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इससे जहाँ महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों की व्यावहारिक धरातल पर स्वीकार्यता बढ़ेगी, वहीं विश्वविद्यालयस्तरीय शोधकार्यों से इस विश्वविद्यालय की उज्ज्वल आभा और भी अधिक उज्ज्वल को होकर प्रतिभासित हो सकेगी। साथ ही इसके संस्थापकों ने जिस स्वप्न को आधार बनाकर इस विश्वविद्यालय की स्थापना की थी, उसको साकार करने में कुछ न कुछ मदद अवश्य मिलेगी।

विद्वत् समाज के समक्ष 'गुरुकुल-शोध-भारती' के प्रथम अङ्क को प्रस्तुत करते हुए हर्ष होना स्वाभाविक है। विद्वद्वरेण्य, वेदविद्या के मर्मज्ञ, परम श्रद्धेय, पूज्य गुरुवर आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार ने इस पत्रिका का बीजारोपण १९७४-७५ में 'शोधभारती' ने नाम से किया था और उस समय इसके दो अङ्क निकले भी थे, उसीको आधार बनाकर प्रस्तुत शोध-पत्रिका का नामकरण 'गुरुकुल-शोध-भारती' किया गया है।

---

९. यजु०४०.७. 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत:। तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:॥

१०. तै०आ०७.१. सत्यार्थ-प्रकाश, प्रथमसमु०।

११. आर्यसमाज के नियम।

किसी पत्रिका का नाम शोधपत्रिका नाम रख देने मात्र से कोई पत्रिका शोधपरक नहीं हो जाती। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की गुणवत्ता निर्धारण करने के लिये गठित NAAC कमेटी ने केवल उन्हीं पत्रिकाओं को शोधपरक माना है, जिनमें निर्णायक विद्वानों के द्वारा परीक्षित निबन्ध प्रकाशित किये जाते हैं, अतः उक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय किया गया है कि इस पत्रिका में वही निबन्ध प्रकाशित हो सकेंगे, जिनका मूल्याङ्कन विद्वान् निर्णायकों द्वारा करा लिया जायेगा। इसके साथ ही विद्वत् समाज से यह भी अपेक्षा है कि वे ऐसे निबन्ध प्रस्तुत करें, जो मौलिक होने के साथ-साथ प्रकाशित न हुए हों। किसी विद्वान् की कृति/निबन्ध को आंशिक परिवर्तन अथवा परिवर्तन के विना प्रकाशित के लिये भेजना न केवल बौद्धिक अपराध है, अपितु उस विद्वान् की अपनी प्रतिभा का भी हनन है। इसके अतिरिक्त भी विद्वानों से एक विनम्र निवेदन है कि उक्त निबन्ध निर्णय हेतु प्रेषित किये जाने हैं, अतः वे अपने निबन्ध कम्प्यूटरीकृत टङ्कण कराकर प्रस्तुत करें, जिससे अशुद्धियों की सम्भावना क्षीण हो जाये।

इस पत्रिका का अस्तित्व में आना मात्र एक संयोग नहीं है। इस विश्वविद्यालय के श्रद्धेय कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी के चिन्तन की दिशा यह रही है कि जहाँ यह विश्वविद्यालय उच्चशिक्षा में गुरुकुलीय कसौटी पर खरा उतरना चाहिये, वहीं उनका यह प्रयास भी रहा है कि इस विश्वविद्यालय में महर्षि की दृष्टि को आधार बनाकर गम्भीर शोधकार्य हों और वे प्रकाशित भी हों, जिससे शोध के क्षेत्र में इस विश्वविद्यालय की अपनी एक विशिष्ट पहिचान बन सके। इसी सदुद्देश्य के लेकर वे संस्कृत एवं संस्कृति के लिये पूर्णरूपेण समर्पित श्रद्धेय आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री के ब्रह्मत्व में इस वाग्यज्ञ को आगे बढ़ा रहे हैं।

सृष्टि का नियम है कि कोई भी कार्य एक के प्रयास से अस्तित्व में नहीं आता है। इस शोधपत्रिका के अस्तित्व में आने में विश्वविद्यालय के केन्द्रीय कार्यालय की महती भूमिका रही है। माननीय कुलसचिव प्रो. ए.के. चोपड़ा तथा पूर्व वित्ताधिकारी श्री जयसिंह गुप्ता ने वर्ष के अन्तिम महीनों में जिस उदारता से बजट उपलब्ध कराया है, उसीका यह शुभ परिणाम है कि यह पत्रिका इतनी शीघ्र प्रकाशित होकर आपके सामने उपस्थित है, अतः उक्त दोनों महानुभावों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

वैदिक अंगिरस ऋषि

वैदिक साहित्य में अंगिरस् ऋषियों की चर्चा कई स्थलों पर आयी है। वैदिक संहिताओं में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान[1] है। यास्कीय निरुक्त में अंगिरस् का सम्बन्ध अंगारों से बताया गया है, जो तप का प्रतीक है। ऐसे ऋषि कोटि के व्यक्ति अंगिरस कहलाते हैं, जो मानो अंगारों पर बैठे तपस्या कर रहे हैं। अंगार शब्द से ही अंगिरस् बना है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यह कहा है कि जो अंगारे थे, वे ही अंगिरस् हो गये[2]। शतपथ ब्राह्मण में भी यही निष्पत्ति दी है, जहाँ कहा है कि अंगारों से अंगिरस् ऋषि उत्पन्न होते हैं[3]। तप से अंगिरसों का सम्बन्ध तैत्तिरीय और काठक संहिताओं से भी ज्ञात होता है। वहाँ कहा है कि 'तुम भृगु अंगिरसों जैसा तप करो'[4]। वेदों में अग्नि को भी अंगिरस् ऋषि कहा गया है[5]। इससे भी सिद्ध होता है कि तेजस्वी और तपस्वी को ही अंगिरस् ऋषि कहते हैं। अग्नि को अंगिरस्तम[6] भी कहा गया है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि वेद में प्रयुक्त एकवचनान्त या बहुवचनान्त अंगिरस् शब्द किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का वाची नहीं है, अपितु गुणवाची नाम है। वैदिक इंडेक्स के लेखक मैकडानल और कीथ भी ऋग्वेद में प्रयुक्त अंगिरसों की ऐतिहासिकता से इन्कार करते हैं[7]। यहाँ तक कि उनका कथन है कि निम्नलिखित प्रकार के मन्त्रों में भी अंगिरस् कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है, जबकि सायण[8] उसे ऐतिहासिक व्यक्ति मानते प्रतीत होते हैं-

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।

अंगिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्।। ऋ01.49.3

हे महान् व्रत वाले जातवेदस् अग्नि! तू जैसे प्रियमेध, अत्रि, विरूप और अंगिरस् के आह्वान को सुनता है, वैसे ही मुझ प्रस्कण्व के आह्वान को भी सुन।[9]

---

1. अंगारेष्वंगिराः। निरु0 3.17
2 ये अंगारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्। ऐ0 3.34
3 अंगारेभ्योऽङ्गिरसः। श0 4.5.1.8
4 भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्यवम्। तै0 1.1.7.2, काठ0 1.7
5 त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिः। ऋ0 1.31.1
6 त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः। ऋ0 1.31.2
7 The Angirases appear in the Rigveda as semimythical beings, and no really historical character can be assigend even to those passages (Rv. 1.45.3; 139.9; 3.31.7 etc; Chandogya Upanisad 1.2.10) which recognise a father of the race, Angiras–Vedic Index.
8 प्रियमेध-अत्रि-विरूप-अङ्गिरोनामकाः, एतेषामाह्वानं यथा शृणोषि तदत्-सायण।
9 द्रष्टव्य निरुक्त की व्याख्या जहाँ प्रियमेध आदि को गुणवाची नाम माना है-प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा। यथैतेषाम् ऋषीणाम् एवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्। प्रस्कण्व कण्वस्य पुत्रः कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम्। अंगारेष्वंगिराः ... अत्रैव तृतीयम् ऋच्छतेत्यूचुः तस्माद् अत्रिः, न त्रय इति। ... विरूपो नानारूपः। महिव्रतो

'अंगिरस्' की निष्पत्ति गत्यर्थक अगि धातु से भी की जाती है[10]। गतिमान् होने से अग्नि अंगिरस् कहलाता है। इसी प्रकार गतिमय जीवन वाला, कर्मण्य, ऋषि कोटि का व्यक्ति अंगिरस् है। गति के तीन अर्थ होते हैं-ज्ञान, गमन और प्राप्ति। अतः अंगिरस् वह है जो उत्कृष्ट ज्ञानी, तदनुसार कर्म करने वाला और सेवा के लिए दीन-दु:खियों के पास पहुँचने वाला है[11]।

गोपथ-ब्राह्मण में अंगिरस की व्युत्पत्ति अंग-रस से की गयी है। वहाँ जो वर्णन किया है, उसे यह ध्वनि निकलती है कि जो व्यक्ति किसी सत्कार्य के लिए इतना घोर परिश्रम करता है कि उसके अंग-अंग से स्वेद-रस (पसीना) निकलने लगता है, वह अंगिरस् कहलाता है[12]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शरीर में प्राण अंगिरस् ऋषि है[13]। अतः जिसका प्राण बलवान् है उस मनुष्य को भी अंगिरस् कहते हैं।

अंगिरस् का परिचय देते हुए ऋग्वेद में कहा है[14]-

विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।

ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे।। ऋ0 10.62.5

अंगिरस् ऋषि सर्वसाधारण की अपेक्षा विशिष्ट स्वरूप वाले (वि-रूप) होते हैं। साधारण जन अल्पदर्शी होते हैं, तो वे दूरदर्शी; साधारण जन स्वार्थ-परायण होते हैं, तो वे नि:स्वार्थ सेवक; साधारण जन विघ्न-बाधाओं से डरने वाले होते हैं, तो वे निर्भय। ''वि-रूप'' का अर्थ 'विविध रूपों वाले' होता है। जनता के सम्मुख उनके अनेक स्वरूप आते हैं। कभी वे अविद्यान्धकार का उन्मूलन करने का व्रत लेकर सूर्य के समान विद्या का प्रकाश फैलाते हैं। कभी वे समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए कटिबद्ध दिखायी देते हैं। कभी महामारियों, विपत्तियों और दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों का सहारा बनकर सामने आते हैं। कभी पराधीन देश को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए नेतृत्व करते दृष्टिगोचर होते हैं। कभी अधर्म पर धर्म की विजय का जयघोष करते हुए विचरते हैं। अंगिरस् ऋषियों का दूसरा गुण है कि वे 'गम्भीरवेपस्' होते हैं। निरुक्त के अनुसार 'वेपस्' का अर्थ है प्रज्ञा और कर्म। उनकी प्रज्ञा गम्भीर होती है और उनके कर्म भी गम्भीर होते हैं। उनका तीसरा

महाव्रतः। निरु0 3.17.

10 अङ्गतिर्गत्यर्थः। अङ्गिर्गतिरस्यास्तीति अङ्गिराः। रसुप्रत्ययो मत्वर्थीयः। यजु0 3.3, महीधरभाष्य।

11 द्रष्टव्यः उणादि 4.237 पर दयानन्दभाष्य। अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा सः अङ्गिराः।... असि प्रत्ययस्य इरुडागमः।

12 तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत्। तं वा एतम् अङ्गरसं सन्तम् अंगिरा इत्याचक्षते परोक्षेण। गो0पू0 1.7.

13 प्राणो वा अंगिराः। श0 6.1.2.28

14 द्रष्टव्य इस मन्त्र की यास्ककृत व्याख्या-'बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीर-कर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा, ते अङ्गिरसः पुत्रास्ते अग्नेरधिजज्ञिरे इत्यग्निजन्म। निरु0 11.17

गुण है कि वे अग्नि से जन्म लेते हैं, अग्नि के सुपुत्र होते हैं। प्रथम जन्म होता है माता-पिता से, द्वितीय जन्म होता है आचार्य से और तृतीय जन्म होता है अग्नि से। वानप्रस्थ और संन्यासी अग्नि से जन्म ग्रहण करते हैं।

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।

व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्।। यजु0 20.24

"वानप्रस्थी को उचित है कि 'मैं अग्नि में होम कर, दीक्षित होकर, व्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊँ' ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ होना नाना प्रकार की तप श्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करो।"[15]

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।। मनु0 6.38

"प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत, शिखादि चिह्नों को छोड़; आहवनीयादि पाँच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे।[16]" ये अग्नि के पुत्र वानप्रस्थ और संन्यस्त जीवन व्यतीत करने वाले परोपकारी जन ही अंगिरस् ऋषि हैं।

ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।

नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते।। ऋ010.62.6

"जो विशिष्ट रूप और विविध रूप वाले अंगिरा ऋषि यज्ञाग्नि से जन्म लेते हैं, और देदीप्यमान् सूर्याग्नि से जन्म लेते हैं, उनमें जो नवग्व और दशग्व होता है, वह सर्वोत्तम अंगिरा ऋषि कहलाता है। वह अन्य देवजनों के साथ मिलकर लोकोपकार के लिए अपना तन-मन-धन सब दान कर देता है।"

निरुक्त के अनुसार नवग्व वह है जिसके जीवन की गति अन्यों की अपेक्षा नवीन है अथवा नवनीत जैसी स्नेहमयी है।[17] स्वामी दयानन्द इसकी व्याख्या करते हैं कि नवग्व वे हैं जिन्होंने नवीन शिक्षाएं और विद्याएं प्राप्त की हुई हैं तथा अन्यों में उनका प्रचार करते हैं।[18] गौ का अर्थ इन्द्रिय भी होता है, अतः जिनकी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरणचतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सबल हैं, वे भी नवग्व कहलाते हैं। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्त्व इन नव

---

15 स0, प्र0 समु0 5, वानप्रस्थप्रकरण।

16 वही, संन्यासप्रकरण।

17 अंगिरसो नः पितरो नवग्वाः0 ऋ0 10.14.6 अंगिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा। निरु0 11.19

18 नवग्वाः नवीनशिक्षाविद्याप्राप्ताः प्रापयितारश्च। ऋग्भाष्य 1.33.6

चित्त-विक्षेपरूप अन्तरायों[19] को जिन्होंने जीत लिया है वे भी नवग्व हैं। जिन्होंने अदिति प्रकृति तथा उसके आठ पुत्रों[20] सप्तग्रहों और सूर्य का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया हुआ है, ऐसे उच्चकोटि के दार्शनिक और सृष्टिविद्याविद् ज्ञानीजन भी नवग्व हैं।

दशग्व शब्द निरुक्त में व्याख्यात नहीं हुआ है। दसों इन्द्रियों पर और दसों प्राणों पर विजय प्राप्त करने वाले[21], दसों इन्द्रियों से कार्यसिद्धि प्राप्त करने वाले[22], पाँचों यमों तथा पाँचों नियमों का पालन करने वाले, और अष्टसिद्धि, विवेक एवं कैवल्य पा लेने वाले वीतराग ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी जन दशग्व कहलाते हैं।

ऋग्वेद मण्डल 10, सूक्त 107 में एक कथानक[23] आता है कि इन्द्र की गौओं को पणि नामक असुर चुरा ले जाते हैं और उन गौओं को वे नदी पार ले जाकर पर्वत की गुफा में छिपा देते हैं। इन्द्र सरमा को दूती बनाकर भेजता है। सरमा पणियों से गौओं को छोड़ देने के लिए कहती है और उन्हें भय दिखाती है कि यदि नहीं छोड़ोगे तो सोमपान से तीक्ष्णीकृत अयास्य और नवग्वा अंगिरस् ऋषि आयेंगे तथा वे तुम्हारे गौओं के सुदृढ़ बाड़े को तोड़कर गौओं को मुक्त करा लेंगे।[24] पणि सरमा को प्रलोभन देना चाहते हैं और कहते हैं कि-'आ, हम तुझे बहिन बना लेते हैं, तू इन्द्र के पास लौटकर मत जा, हम तुझे भी कुछ गौएं दे देंगे।' पर वह प्रलोभन में नहीं आती। वह कहती है-''मैं भाईपना, बहिनपना कुछ नहीं जानती। इसे इन्द्र जाने और उसके घोर अंगिरस् जानें।[25] अन्त में परिणाम क्या होता है, यह उस सूक्त में नहीं बताया है। वह वेद के अन्य अनेक मन्त्रों से ज्ञात हो जाता है। इन्द्र के सहयोग से वीर अंगिरस् ऋषि गौओं को मुक्त करा लाते हैं-

> इन्द्रेण युजा नि: सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
> सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्य: श्रवो देवेष्वक्रत।। ऋ010.62.7

''राष्ट्रयज्ञ के ऋत्विज् मेधावी वे अंगिरस् ऋषिगण राष्ट्रयज्ञ के ब्रह्मा राजा (इन्द्र) को सहायक पाकर पणियों द्वारा कैद किये हुए गौओं और अश्वों के समूह को छुड़ा लाते हैं तथा अष्टकर्णी गौएं जनता को प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार देवजनों में वे कीर्ति को

---

19 नव अन्तरायों के लिए द्रष्टव्य: योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र 30 । तत्र प्रतिपादितान् अन्तरायान् गच्छन्ति आक्रामन्ति ते नवग्वा:।

20 अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि। देवाँ उप प्रैत् सप्तभि: परा मार्ताण्डमास्यत्।। ऋ0 10.72.8

21 दश गाव इन्द्रियाणि जितानि यैस्ते। दयानन्द, ऋग्भाष्य 5.29.12

22 ये दशभिरिन्द्रियै: सिद्धिं गच्छन्ति ते। वही 2.34.12

23 इस कथानक की विविध दृष्टियों से विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य: लेखक का शोध-प्रबन्ध ''वेदों की वर्णन-शैलियां'' श्रद्धानन्द शोध-संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, 1966, पृ0 192-202

24 एह गमन्नृषय: सोमशिता अयास्यो अंगिरसो नवग्वा:। त एतमूर्वं वि भजन्त गोनाम्।। ऋ0 10.108.8.

25 नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोरा:। ऋ010.108.10

प्राप्त करते हैं।[26]''

जब राष्ट्र गो-हीन और अश्व-हीन हो जाता है, शत्रुओं द्वारा उसकी संपत्ति अपहृत कर ली जाती है, तब अंगिरस् ऋषि ही उस संपत्ति को वापिस लाते हैं। उदाहरणार्थ, अपने ही देश को लें। यहाँ किसी समय दुधारु गौएं होती थीं, घी-दूध-दही की इस देश में नदियाँ बहती थीं। आज अच्छी नस्ल की गौएं दुर्लभ हैं। किसी समय हवा से बातें करने वाले, सधे हुए, उत्कृष्ट कोटि के घोड़े होते थे। आज वैसे घोड़े भी दुर्लभ हैं। देश के अंगिरस् ऋषियों के गोरक्षा और पशुरक्षा के अभियान से ही देश अपनी पुरानी स्थिति को पा सकता है, किन्तु देश के इन्द्र अर्थात् राजा या सरकार का साहाय्य मिलना भी आवश्यक है।

पर वेद के गौ और अश्व केवल गाय और घोड़ों के ही वाची नहीं हैं। गौ का अर्थ है गव्य पदार्थ घी, दूध, दही आदि, जो कि समग्र भोज्य संपत्ति का प्रतीक है; अश्व उपलक्षण है इतर उपयोग में आने वाली वस्तुओं का। गौ के अर्थ वाणी, भूमि, ज्ञानकिरण आदि भी होते हैं। शत्रु ने हम पर अधिकार करके हमारी वाणी की स्वतन्त्रता को हर लिया है, या वेदवाणियाँ अन्धकारावृत हो गयी हैं, या शत्रु ने हमारी भूमियों को हस्तगत करके सीमा पर अपनी रक्षक-सेना नियुक्त कर दी है, जिससे उन्हें पुनः पाना कठिन हो गया है, अथवा ज्ञानकिरणें अज्ञानरूप पर्वत की गुफाओं में बन्द हो गयी हैं; इन सभी स्थितियों में राष्ट्र के अंगिरस् ऋषि आगे आते हैं और उनका उद्धार करते हैं। अश्व बल का भी प्रतीक है। जब राष्ट्र का बल छिन जाता है, राष्ट्रवासी निर्बल हो जाते हैं, तब भी अंगिरस् ऋषि उठकर निर्बलों में बल का संचार करते हैं। अश्व शरीर की इन्द्रियों का भी नाम है।[27] जैसे घोड़े घुड़साल में रहते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ शरीर में अवस्थित हैं। कभी-कभी इन इन्द्रियरूपी घोड़ों को कामक्रोधादि रिपु घेर कर अपनी पर्वतगुफा में बन्द कर लेते हैं, जिससे ये सत्कर्मों में प्रवृत नहीं हो पातीं। अंगिरस् ऋषि सदुपदेश द्वारा मानवों की इन इन्द्रियों को भी उन्मुक्त करा देते हैं।

अंगिरस् ऋषि जिन गौओं का उद्धार करते हैं, वे अष्टकर्णी गौएं हैं। साधारण गौओं के तो दो ही कान होते हैं, पर ये आठ कानों वाली है।[28] वेदवाक् रूपी गौ अष्टकर्णी होती

---

26 वाघतः राष्ट्रयज्ञस्य ऋत्विजः मेधाविनो वा, वाघतः इति ऋत्विङ्नामसु मेधाविनामसु च पठितम् निघं03. 18; 3.15, इन्द्रेण राष्ट्राध्यक्षेण युजा सहायेन गोमन्तं गावो धेनवो वेदवाचो भूमयः किरणा वा तद्युक्तं, अश्विनम् अश्वास्तुरंगाः शारीरबलानि इन्द्रियाणि वा तद्युक्तं पणिभिरवरुद्धं व्रजं समूहं निःसृजन्त तत्सकाशान्निरगमयन्। मे मह्यं राष्ट्रवासिने सहस्रं सहस्रसंख्योपेता अष्टकर्ण्यः प्रतिपादम् अष्टाक्षरयुक्ता गायत्र्यादिवेदवाचः, प्रथमादिसम्बोधनान्ताष्टस्वरूपोपेताः सामान्यवाचो वा, अष्टदिक्षु व्याप्ता भूमीर्वा, चतुर्वेदचतुरुपवेदविभक्ता विद्या वा ददतः प्रयच्छन्तः अंगरिसः तेजस्विनो ऋषयः देवेषु विद्वत्सु श्रवः श्रवणीयं यशः (निरु0 11.9) अक्रत अकृषत इति भावः।

27 इन्द्रियाणि हयानाहुः। कठ उप0 3.4

28 गाय के पक्ष में सायण ने अष्टकर्ण्यः का अर्थ 'बड़े कानों वाली' किया है-अष्ट इति अशू व्याप्तौ

है, क्योंकि उसके गायत्री, अनुष्टुप् आदि कई छन्दों में प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं। सामान्य वाणी भी अष्टकर्णी होती है, क्योंकि सुबन्त शब्दों को सम्बोधन को मिलाकर आठ कड़ियाँ हो जाती हैं। अन्यत्र वाणी को अष्टापदी कहा भी है।[29] भूमि रूपी गौ भी अष्टकर्णी है, क्योंकि वह आठ दिशाओं में विस्तीर्ण होती है। विद्या रूपी गौ भी अष्टकर्णी है, क्योंकि वह चार वेदों और चार उपवेदों में व्याप्त है। अंगिरस् ऋषियों की कीर्ति इन गौओं का उद्धार करने के कारण चारों ओर फैल जाती है।

ऋग्वेद के 10म मण्डल का 62 वाँ सूक्त, जिसके तीन मन्त्रों की अभी व्याख्या की गयी है, वैदिक अंगिरस् ऋषियों के प्रति भावभीनी श्रदांजलि अर्पित करने वाला एक सुन्दर सूक्त है। इसका ऋषि है **नाभा नेदिष्ठ**। इस सूक्त तथा इससे पूर्ववर्ती 61 वें सूक्त दोनों पर ऐतरेय ब्राह्मण[30] में निम्नलिखित कथानक आता है-"मनुपुत्र नाभानेदिष्ठ आचार्यकुल में ब्रह्मचर्यवास कर रहा था। उसके पीछे उसके भाइयों ने दायभाग का बँटवारा कर लिया, उसे कुछ नहीं दिया। नाभानेदिष्ठ को जब यह पता लगा, उसने आकर पिता से कहा कि मुझे दायभाग से वंचित क्यों रखा? पिता ने कहा कि यह भाग तुझे न सही न मिला; अंगिरस् ऋषि स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञ कर रहे हैं, उन्होंने षष्ठाह: पर्यन्त तो यज्ञ कर लिया है, आगे भूल गये हैं, तू जाकर उन्हें इन दोनों सूक्तों का शंसन करवा दे; वे स्वर्ग जाते हुए तुझे सहस्र गौएं दे जायेंगे। पिता से प्रेरित नाभानेदिष्ठ ने ऐसा ही किया तथा एक सहस्र गौएं पा लीं। इतने में ही किसी कृष्णशवासी पुरुष का रूप धारण किये हुए रुद्र ने आकर कहा कि इन गौओं को तू कहाँ ले जा रहा है? यह तो यज्ञशेष होने से रुद्र का भाग होता हैं, अत: मेरा है। जब नाभानेदिष्ठ ने कहा कि यह भाग तो स्वयं अंगिरसों ने मुझे दिया है..... तब वह पुरुष बोला कि तू अपने पिता से ही जाकर पूछ ले, वे ही इसका निर्णय कर देंगे। पिता ने भी कहा कि यह भाग तो रुद्र का ही है। पुत्र ने आकर पिता का निर्णय पुरुष को सुना दिया। उसके सत्य कथन से प्रसन्न होकर उस पुरुष ने वे एक सहस्र गौएं उसे ही दे दीं।

वस्तुत: अंगिरस्-गण गौएं प्रदान करते हैं, इस मन्त्रोक्त तथ्य को लेकर ही यह कथा रची गयी है। 61 वें सूक्त के 18 वें मन्त्र में नाभानेदिष्ठ पूरा नाम आया है। 62 वें सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में केवल नाभा नाम है। भा का अर्थ दीप्ति है, 'अभा' का अर्थ हुआ 'दीप्ति का अभाव,' 'न अभा नाभा' इस विग्रह से नाभा का अर्थ हुआ दीप्ति के अभाव का अभाव अर्थात् अतिशयदीप्तियुक्तता, उसके नेदिष्ठ अर्थात् अति समीप जो होना चाहता है वह नाभानेदिष्ठ है। ऐसा मनुष्य अंगिरसों की स्तुति कर रहा है तथा उनसे प्रार्थना कर

निष्ठायां रूपम्। विस्तृतकर्णाः। उपलक्षणमेतत्, व्याप्तसर्वावयवाः-सायण। संभवतः बड़े कानों वाली गौएं अच्छी नस्ल की मानी जाती हों। रॉथ इसका अर्थ 'छिदे कानों वाली' करते हैं। ग्रासमैन का कथन है कि जिनके कानों पर 8 चिह्न दाग दिये गये हैं वह अष्टकर्णी है। द्रष्टव्य: वैदिक इण्डेक्स।

29 वाचमष्टापदीमहम्। ऋ0 8.76.12

30 ऐ0ब्रा0 5.14; तुलनीय तै0 सं0 3.1.9.4

रहा कि तुम मानव-जाति का उद्धार करो। सूक्त के प्रथम चार मन्त्र यहाँ दिये जा रहे हैं।

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्त्वमानश।

तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।

ऋ010/62/1

''जो यज्ञ और दक्षिणा से संयुक्त हुए हैं, जिन्होंने इन्द्र का सख्य और अमृतत्त्व प्राप्त कर लिया है, ऐसे तुमको हे अंगिरसो! कल्याण प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो! तुम मानव-जाति को अपना आश्रय दो।[31]''

अंगिरस् ऋषि यज्ञ से संयुक्त होते हैं। यज्ञ शब्द यज् धातु से बनता है, जिसके तीन अर्थ हैं-देवपूजा, संगतिकरण और दान। देवाधिदेव परमात्मा की पूजा करना प्रथम यज्ञ है। छोटे-बड़े सब लोगों से जाकर मिलना, उनके दुःख-दर्द को, उनकी समस्याओं को सुनना और उसके प्रतीकार के लिए संगठन बनाना दूसरे प्रकार का यज्ञ है। दुःखियों के कष्टों के निवारणार्थ अथवा किसी महान् कार्य के लिए अपने तन-मन-धन को समर्पित कर देना तीसरा यज्ञ है। अंगिरस् ऋषि इन तीनों प्रकार के यज्ञों को करते हैं। अत एव महान् कार्य में सहायता के लिए उन्हें दूसरों से दक्षिणा, धनादि का दान भी प्राप्त होता है। वे सम्राटों के सम्राट् राजराजेश्वर प्रभु की मित्रता को प्राप्त कर लेते हैं, इसीलिए अमृतत्त्व अर्थात् जीवन्मुक्ति की स्थिति को पहुँच जाते हैं। मानव उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं कि तुम्हें भद्र प्राप्त हो, और अपने लिए यह याचना कर रहे हैं कि मानव-जाति को अवलम्ब दो।

य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्।

दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।। ऋ010/62/2

''जिन्होंने पिता बनकर हमें गो-धन प्राप्त कराया, जिन्होंने वर्ष भर निरन्तर संघर्ष करके अपने सत्य के अस्त्र से पाप-अन्याय-अत्याचार के वलासुर को छिन्न-भिन्न कर दिया, ऐसे हे अंगिरस् ऋषियो! तुम्हें दीर्घायुष्य प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो! तुम मानव-जाति को अपना आश्रय दो।[32]''

---

31 हे अंगिरसः तेजस्विनः प्राणवन्तोऽश्रान्तपरिश्रमपरायणा ऋषयः, ये यूयं यज्ञेन यज्ञः देवस्य परमात्मनः पूजा, सर्वैः सह संगतिकरणं, स्वेच्छया परोपकाराय सर्वस्वदानं च तेन, यज्ञ देवपूजासंगतिकरणदानेषु, दक्षिणया महतां परोपकारकार्याणां सम्पादनाय जनेभ्यः प्राप्तेन दानेन च समक्ताः संगताः, किं च इन्द्रस्य परमेश्वरस्य राज्ञो वा सख्यं मैत्रीम्, अमृतत्वं जीवन्मुक्तत्वं चं आनश आनशिध्वे प्राप्ताः स्थ, तेभ्यः तथाविधेभ्यः वः युष्मभ्यं भद्रं कल्याणम् अस्तु। हे सुमेधसः उत्कृष्टप्रज्ञोपेताः अंगिरसः, यूयं मानवं मानवजातिं प्रतिगृभ्णीत प्रतिगृह्णीत, स्वाश्रयं प्रदातुं स्वीकुरुध्वम्। ग्रह धातोः हृग्रहोर्भश्छन्दसीति भत्वम्।

32 हे अंगिरसः, ये भवन्तः पितरः पालनकर्तारो भूत्वा गोमयं गावः धेनवः, भूमयः वाचः, इन्द्रियाणि, ज्ञानरश्मयो वा तन्मयं वसु धनम् उदाजन् प्रापयन्, परिवत्सरे समग्रसंवत्सराभ्यन्तरे संघर्षरताः सन्तः वलम् सत्कर्मन्यायादेरावरकं पापान्यायकदाचारादिरूपम् असुरम् ऋतेन सत्यस्यायुधेन अभिन्दन् अच्छिन्दन्, तादृशेभ्यो वो भवद्भ्यः दीर्घायुत्वं दीर्घजीवित्वम् अस्तु। हे सुमेधसः, यूयं मानवं प्रतिगृभ्णीत।

य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।। ऋ010/62/3

''जिन्होंने सत्य का ऐसा प्रचार किया कि राष्ट्र-गगन के मध्याकाश में सूर्य उद्गत हो गया; जिन्होंने मातृभूमि को ज्ञान, सर्वतोमुख उत्कर्ष आदि से प्रथित कर दिया, ऐसे हे अंगिरस् ऋषियो! तुम्हें हम प्रजाओं से सुप्रजावान् होने का सौभाग्य प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो! तुम मानव-जाति को अपना आश्रय दो।[33]''

अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।। ऋ010/62/4

''यह नाभानेदिष्ठ तुम्हारे गृहद्वार पर आकर रमणीय वचन बोल रहा है। हे परमात्मदेव के सच्चे पुत्र ऋषियो! उस वचन को सुनो। हे अंगिरस् ऋषियो! तुम्हें सुब्रह्मण्य प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो! मानव-जाति को अपना आश्रय दो।[34]'' सभी राष्ट्रों में सदा अंगिरस् ऋषियों की पुकार होती है। आज भी विश्व अंगिरस् ऋषियों को पुकार रहा है, और कह रहा है-**प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः**।

डॉ0 रामनाथ वेदालङ्कार
वेद मन्दिर, गीता आश्रम,
ज्वालापुर, हरिद्वार

---

33 ये भवन्तः ऋतेन सत्यप्रचारेण दिवि राष्ट्रगगने सूर्यम् आरोहयन्, सूर्ये गगनारूढे सति यादृशः प्रकाशो जायते तादृशं सत्यन्यायादेः प्रकाशं राष्ट्रे समजनयन्नित्यर्थः मातरं पृथिवीं 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः (अथर्व0 12.1.12)' इत्याथर्वणोक्तेः राष्ट्रभूमिं वि अप्रथयन् विशेषेण प्रख्यातकीर्तिकामकुर्वन् तादृशेभ्यो वः सुप्रजास्त्वम् सुप्रजावत्त्वम्। हे सुमेधसः, मानवं प्रतिगृभ्णीत।

34 अयं नाभा नाभानेदिष्ठः नाभा कान्त्यभावाभावः प्रचुरकान्तिर्ममनेदिष्ठा समीपतमा स्यादिति यः कामयते स नाभानेदिष्ठः, तस्यैव संक्षिप्तं रूपं नाभा इति। स वः युष्माकं गृहे समागतः सन् वल्गु चारु वचः वदति व्याहरति। हे देवपुत्राः देवस्य परमात्मनः सत्पुत्रा ऋषयः, तद् वचः यूयं शृणोतन शृणुत, ''तप्तनप्तनथनाश्च'' इति तनबादेशः। तेभ्यो वः युष्मभ्यं हे अङ्गिरसः, सुब्रह्मण्यम् शोभनं ब्रह्मवर्चसम् अस्तु। हे सुमेधसः, मानवं प्रतिगृभ्णीत।

अथर्ववेदे दीर्घजीवन-कामना

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री

मानवजीवनं सर्वोत्कृष्टमस्ति मतमिदं निरन्तरायतया निखिलानां चिन्तनपराणां विदुषां नितरामभिमतम्। मानवाभ्युदयार्थं समभीप्सितं यत् ज्ञानं वेदेषु विद्यते ततोऽधिकं नान्यत्र क्वचित्। अत एव **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' 'यतः सर्वाः प्रवृत्तयः' 'सर्वज्ञानमयो हि सः'** इति निगद्य महर्षयो निजवाग्ज्योतिषा सांसारिकजनानां ज्ञानदीपं दीपयन्ति। वेदमन्त्रान् तदर्थांश्च समालोक्य विश्वभद्रतां प्रकटयन्ति। को न खलु कामयते दीर्घजीवितां सुखे कस्य न रमते मनः। दीर्घजीविकापहरणपराणि कर्मजातानि सम्पादयन्नपि पुमान् न दुःखे मतिमातनोति। विश्वतो जनाश्चिन्तयन्ति तानुपायान् यैरवाप्यते दीर्घजीवनम्। अथर्ववेदे दीर्घजीवनोपाया दीर्घजीवनप्रार्थनाश्च सन्ति। शरीरे ये पञ्च वायवो मरुद्गणमध्ये पठिताः सन्ति ते वितरन्तु दीर्घजीवितां, मे मनः पुष्टिमाप्नुयात्, बृहस्पतिर्मे वाचि शक्तिं वितनोतु, जठराग्निर्मे दीप्तिमत्तां रक्षतु, जननशक्त्या बलवत्तया च मामभितः सिञ्चतु। प्राणाग्निरेव देहे महानतः स मम आयुर्वर्धनरक्षणक्षमः। प्रोच्यते मन्त्रः-

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।

सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे॥[१]

व्युत्क्रामत्सु प्राणेषु शरीरमूष्मा विजहाति, ऊष्माविरहितं शरीरं मृतं भवति। अत एव प्राणापानयोः सहभावेन वर्त्तमाना स्थितिर्न कदापि हीयेत, एतदर्थं प्रयासो विधेयः। सात्त्विक आहारः प्राणान् परिपुष्णाति। हे पुरुष! प्राणापानौ तव शरीरमुत्सृज्य निर्गतौ न भवतात्। प्राणानामधिपतिपदबोध्यो जीवः प्राणैः सह सुखमनुभवन् लोके चिरं जीवतु।

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्।

शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः॥[२]

कदाचिदपघातावस्थायां पुरुषोऽयं मृतो जात इत्युच्यते पारिवारिका जना मृतोऽयमिति मत्वा व्यथितहृदया भृशं रुदन्ति, परं प्राणाचार्यविद्यया पुण्योदयेन वा प्रत्यागतायां श्वसनप्रक्रियायां स संजीवतो भवति। तदा प्रफुल्लवदना वदन्ति, अहो प्रत्यागत प्राणोऽयमिति। एतेन प्रतीयते यत् दीर्घजीवितायै प्राणाभिरक्षणमिष्यते। प्राणप्रहाणिर्न स्यात् निर्गतप्राणं शरीरं न भवेत् दृग्गतम्। वेदे मङ्गलं कामयमानो विद्वान् विप्रर्षिः कथयति यद्ब्रह्मविदं पुरुषं प्राणो न त्यजेत् नापि चापानस्त्यजेत्। सप्तर्षीणां प्राणानां दिवस्पुत्रस्य शरीरे गतिस्तथा स्यात् यथा वर्षाणां शतं न कदापि भवेदूनम्। यथा-

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्।

---

१. अथर्व०७.३३.१.

२. अथर्व०७.५३.२.

अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेः रूपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते॥[३]

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्।

सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु॥[४]

यथा द्वौ वृषभौ शकटं वोढुं तत्सम्पृक्तौ भवतस्तथैव शरीरं वोढुं प्राणापानौ तदन्तर्विशतः। वृषभयुग्मबलेन यथा शकटं गन्तव्यस्थलं लभते तथैव प्राणापानशक्त्या पुरुषोऽयं लोकेऽस्मिन् पूर्णपुरुषायुष्यं लभतां निर्बाधं सुखञ्च सेवताम्।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।

अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥[५]

अस्मिन् मन्त्रे प्राणापानयोः शक्तिमत्तां निगद्य संदिष्टा जनाः यत् योगबलेन योगाभ्यासेन संशोधितौ प्राणापानौ शरीरं स्फूर्तिमुपपादयत आयुश्च वर्धयतः। जीवमुद्दिश्य संदेशः प्रदीयते यत् हे पुरुष! तव शरीरे जगन्नियन्ता परमेश्वरः प्राणशक्तिं प्रेरयति। प्राणक्षयार्थं समुद्यतं यक्ष्माख्यं रोगं नाशयितुं ज्येष्ठं वरिष्ठं भिषगाचार्यं निर्माति। शरीरे मुख्यरूपेण प्राणाग्निरेव प्रभुणा समेधितो भवति। प्राणाग्निरेव विश्वतः शरीरं परिपुष्णाति। भरण-धरण-कारितया प्राणाग्निरेव समुचितैरुपायैर्वरणीयः।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।

आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः॥[६]

पापवृत्तिर्मानवानां दीर्घजीवितां परिहरति ये खलु आयुषो दीर्घतां समीहन्ते तैर्नूनं दुर्विचाराः स्वहृदयात् निस्सारणीयाः। परसुखं मनसा समीहमानानां जनानां प्राणा भवन्ति निरुद्वेगाः। किल्विषोद्भूतप्रभूतदुःखप्रदपदभाजां सांसारिकानां जीवनं समभिविशन्ति चित्तोद्वेग-शोकमयासूया-प्रदा दुर्विचाराः। यैर्वेदाभ्यासः क्रियते येषां मनसि जायते सत्त्वोद्रेकस्त एव नाकाटवीमन्विष्य लोके निर्भयं जीवन्ति, परममवाप्य ज्योतिरुत्तमकोटीमाटीकन्ते।

उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥[७]

वेदेषु निगद्यते यत् शरीरस्यान्तं यः करोति जीवं शरीरात् पृथक्करोति यस्तस्मै मृत्यवे जीवनान्तकर्त्रे नमः। अत्रायं विद्यते अभिप्रायो यत् मृत्युवारणोपाया ये ये सन्ति ते द्रष्टव्याः। प्राणा

---

३. अथर्व०७.५३.२.
४. अथर्व०७.५३.४.
५. अथर्व०७.५३.५.
६. अथर्व०७.५३.६.
७. अथर्व०७.५३.७.

अपानाश्च काये सततमविकलतया रमेरन् इत्यस्यां दिशि प्रयासा: सन्तु सविस्तरा:। योऽयं पुरुषो जीवो देहपुर्यां वसति स: प्राणेनापानेन च सह प्रकाशमये सुखप्रदे अमृतरसनि:स्यन्दिनि दिव्यलोके चिरं वसतिं विधाय आयुष: पूर्णतां प्राप्नोति।

अन्तकाय मृत्यवे नम: प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।

इहायमस्तु पुरुष: सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥[८]

अमृतं मृत्यवारकमुच्यते, पूर्णमायुरेवामृतप्राप्तिसाधनम्, शतवर्षाधिकं जीवनमप्यमृत-मिहोच्यते, दिनरात्रियुग्मक्रम: पक्षमासयुग्मक्रम: ऋतुसंवत्सरयुग्मक्रमश्च सन्त्यमृतलोका इमे। इमे सूर्यपरिक्रमाङ्गभूता:। प्राणस्य संज्ञा अमृतं भवति प्रजापतित्वममृतं भवति। शतपथ-ब्राह्मणे सर्वमिदं समाख्यातम्। यथा-अमृतम्-अमृतात् मृत्युर्निवर्तते। एतद्वै मनुष्यस्यामृतं यत्सर्वमायुरेति। य एवं शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति सहैवैतदमृतमाप्नोति। अमृतं उ वै प्राणा:। प्रजापतिर्वा अमृत:। ते देवा होचुर्नातोऽपर: कश्चन सह शरीरेणामृतोऽसत यदैव त्वमेतं भाग हरासा अथ व्यावृत्य शरीरेण अमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा। (शत०ब्रा०)

हे पुरुष तव शरीरं भद्रवृत्त्यर्थं मधुरमन्नं धारयति, व्यान-समान-उदान-कृकल-देवदत्त-नाग-कूर्म-धनञ्जयाख्या: प्राणरूपा वायवो देहं दीप्तिमन्तन्ते रचयन्ति, प्राणाग्निर्जठराग्निश्च परस्परं तव काये कान्तिमुत्पादयत:। अतो भद्रमार्गमालोक्य तेन स्वस्तिकरेण मार्गेणात्मानं नियोजय। हे पुरुष! तव शरीरे जीवनशक्तिर्विद्यते तत्रैव प्राणशक्तिरपि विवर्धते, प्राणशक्त्या तवायुरपि वर्धते, अत्रैव तव मनोऽथान्त:करणं च राजते। सर्वाणि जीवनसाधनानि पूर्णायुष्यप्रदानि च साधनानि शरीरे ते सन्ति। तवं शं संवर्धनाय भद्रं विस्ताराय च परमात्मना वेदवाणीयं पापनिवारणाय प्रदत्ता-

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान्।

उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥[९]

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मन:।

उत त्वा निर्ऋत्या: पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि॥[१०]

'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' अतो जिजीविषा न हेया। जीवनमिच्छन् पुरुष: सदोन्नतिं कामयेत् कदापि कथञ्चिदपि न्यग्गमनं न मन्येत्। मृत्योरन्धकारस्य पाशमाच्छिद्य अमृतमयं प्रकाशलोकमभिसंविशतु। अमृतमयेन दिव्यलोकेन आत्मानं योजयेत् अग्निसम: सूर्यसमश्च भवतु नाम। हे जीव! दीर्घं तवायु: प्रदातुं सदैवान्तरिक्षे प्राणप्रदो वायु प्रवाति, तव जीवनमभिवर्धयितुमेवेन्द्रो वर्षति, शरीरं सबलं सप्राणं च कर्तुं शङ्करस्तपति सूर्य:। इमे देवा देवानामायुर्ददति।

---

८. अथर्व०८.१.१.

९. अथर्व०८.१.२.

१०. अथर्व०८.१.३.

उत्क्रामतः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।

मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः॥[११]

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।

सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः॥[१२]

दुष्कर्मकर्त्तृणां बलानि तथायूंषि कर्मणामपवित्रतैव नाशयितुमलम्। अतो दीर्घमायुः कामयमानैर्मानवैः कदापि मनसि निषिद्धदुष्कर्मभावो नोद्भावनीयः। सत्त्ववतां सतां जीवनं कुपथगामिता मा संस्पृशेत्। कदापि जीवने न भवेत् दुर्वासः प्रमादवासः। यथा-

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरोभून्मा जीवेभ्यः प्रमदो मानुगाः पितॄन्।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह॥[१३]

संसारे स्वजने दिवङ्गते सति तद्विरहोद्भूतं दुःखमनुभवन् पुमान् नात्मानं स्थिरयितुं क्षमते। प्रियजनविप्रयोगोद्भूतदुःखाग्नावात्मानं मुहुर्मुहुराक्षिपन् निजायुरेवाल्पतां नयति। विरहाग्निदग्धहृदयं पुरुषं संदिशति वेदो यत् ये लोकं विहाय अवेद्यं लोकान्तरं व्युपगतास्ते वर्तमाने जीवनं कामयमानानां पुरुषाणां नूनमेवाचिन्त्या जाताः। दिवङ्गतानां निरन्तरमनुचिन्तनं तमसि निमज्जनमिव। अतस्तमः पन्थानतीत्य प्रकाशवति पथि पादौ निक्षेपणीयौ। प्रकाशवर्त्मनि गतिमतां देवा नूनं साहाय्यमाचरन्ति। उक्तं वेदे-

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।

आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे॥[१४]

वेदे निगद्यते यद्यामिनीदिवसौ सहभावेन जीवनकालं वहतः। श्यामरूपा रात्रिर्भवति शबलरूपश्च दिवसो भवति।[15] पृष्टतो न निरीक्ष्य अग्रतः समीक्षितव्यम्। औदासीन्यं विषण्णता च नास्माकं जीवनं संस्पृशेत्। प्राग्वर्तिभिर्मनीषिभिर्देवैर्विद्वद्भिश्च यो मार्गः स्वीकृतस्स एव मार्गो ग्राह्यः। योऽभद्रमार्गो महतामभिमतो नास्ति न स मार्गः परिगण्यते गन्तव्यमार्गश्रेण्याम्। उच्यते-

श्यामश्च त्वा मा शबलस्य प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।

अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥[१६]

---

११. अथर्व०८.१.४.

१२. अथर्व०८.१.५.

१३. अथर्व०८.१.७.

१४. अथर्व०८.१.८.

१५. कौ०२.९. 'अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः।'

१६. अथर्व०८.१.९.

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।

तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्॥[१७]

देहे यावदग्निस्तिष्ठति तावद् जीवनमुल्लसति। अतः सर्वत्राग्नेरेव महत्त्वमपेक्ष्यते। प्रजासु लोकेषु ये अग्निरूपा विद्वांसः सन्ति मान्यास्ते रक्षन्तु। प्रकाशमानपदार्थेषु सूर्यचन्द्रनक्षत्रादिषु वर्तमानोऽग्निः सर्वान् रक्षतु। मनुष्यैरनेकैरुपायैः समेधमानः सन्नयमग्निः सदा सर्वान् रक्षतु। व्योम्नि प्रचण्डगर्जनेन स प्रकाशमानो वैद्युताग्निर्भुवमवतरन् कमपि कुत्रापि न प्रदहतु।

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्याः यमिन्धते।

वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह॥[१८]

क्वचित् क्रव्यभक्षका हिंसका जन्तवः प्राणिप्राणान् हरन्ति, अत एव प्रार्थना कृता यत्ते प्राणिवधं न कुर्युः। लोभातिरेकात् परदुःखाग्निप्रदीपका ये जनास्ते न स्वदृशा द्रष्टव्याः। दीर्घजीवनं दैविकप्रकोपा न प्रकम्पयन्तु। एतदर्थं सर्वे भौतिकदेवा मनसा ध्येयाः। यथा-

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर।

रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च।

अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः॥[१९]

यदा बुद्धिबोधको गुरुर्बुद्धिं सत्कर्मणि नियोजयति तदा सत्कर्मणा आयुषो वृद्धिर्भवति। सदुपदेशको वस्तुतत्त्वमुपदिश्याज्ञानतिमिरं निराकरोति। अज्ञानतिमिरे व्यपगते मनुष्याणामाचरणं दीर्घजीवनप्रदतां प्रकटयति। वेदे प्रार्थनां प्रकुर्वाणो नरो वदति यत् निर्निद्रा रक्षका निर्निमेषं रक्षणपरा भवन्तु। प्रार्थिता मनसा चिन्तिता देवगणा सुखं प्रयच्छन्ति, सुखमपि संसारे सांसारिकजनानां जीवनशक्तिं वर्धयति।

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्।

गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥[२०]

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपयन्तु। तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा॥[२१]

प्राणेषु खल्वायुरूपमालोक्य प्राणानामेव महत्ता प्रतिपादिता। धातृरूपेण त्रातृरूपेण सवितृरूपेण च स्तूयमान इन्द्र सर्वान् सर्वैः सह प्राणवतो विधाय पूर्णमायुः प्रयच्छति। पूर्णायुषः प्राक्

---

१७. अथर्व०८.१.१०.

१८. अथर्व०८.१.११.

१९. अथर्व०८.१.१२.

२०. अथर्व०८.१.१३.

२१. अथर्व०८.१.१४.

कमपि बलहीनं प्राणैर्विहीनं च विधाता न कुर्यात्। प्रार्थनेयं वेदे विलोक्यते। जीवनहरा ये रोगा अङ्गेषु पीडां जनयन्ति, पूर्णं हनुस्थलं भृशं व्यथयन्ति, नेत्रयोरग्रतस्तिमिरमुद्गिरन्ति, जिह्वाया गतिं हरन्ति ते रोगा नास्मान् संस्पृशन्तु। इन्द्राग्नीरूपा वसुरूपा ये महान्तः सन्ति ते सर्वतो रक्षन्तु पुरुषान्-

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः।

मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि॥[२२]

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः।

उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥[२३]

प्राणिभिस्तथा वर्तितव्यं यथा द्यौर्न प्रकुप्येत् पृथिवी मृत्युपाशं न प्रक्षिपतु प्रजापतिर्मृत्युमपसारयेत् सोमरश्मिभिर्मधुरसपूर्णा ओषधयो जीवनं वर्धयन्तु। पुरुषो मोदमावहन् अस्मिन्नेव देहे वसन् दीर्घमायुर्लभेत। प्रकृतिमुपगतस्य पुरुषस्यायुः स्वभावतयैव वर्धते। अत एवानधिगतवर्षशतानां न जायते देहान्तरप्रवेशः। दीर्घजीवनमधिगन्तुम् उपायसहस्राणामप्यन्वेषणे मनागपि प्रमादो न विधेयः। यथा वेदे-

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः।

इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि॥[२४]

उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत्।

उत् त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन्॥[२५]

परमेश्वरः पुरुषं संदिशति, यन्मृत्युरपरिपक्वावस्थायां कमपि न हन्यादेतदर्थं प्राणप्रदमन्नं प्रदत्तम्। शुद्धमन्नं भुक्त्वा, निर्मलं नीरं निपीय, पापवृत्तिं मनसो बहिर्निक्षिप्य यदा पुरुषो जीवनं धत्ते तदा भवति दीर्घमायुः। जीवनमुन्नेतुं परमात्मना ज्योतिर्द्वयं मानवकल्याणाय प्रकाशितम्। प्रथमं ज्योतिः सूर्यो द्वितीयं ज्योतिर्वेदज्ञानश्च विद्यते। सूर्यज्योतिषा भौतिकं देहं परिपुष्णाति वेदज्योतिषा चान्तःकरणं शोधयति वर्धयति च शक्तिम्।

उत त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः।

मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन्॥[२६]

---

२२. अथर्व०८.१.१५.

२३. अथर्व०८.१.१६.

२४. अथर्व०८.१.१८.

२५. अथर्व०८.१.१७.

२६. अथर्व०८.१.१९.

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि॥ [२७]

येषां मनुष्याणां जीवने सात्त्विकी वृत्तिरुद्भासते तेषामायुरपि वृद्धिमाप्नोति। रजोगुण-तमोगुणाविष्टचित्तानां मानवानां जीवने न दृश्यते दीर्घजीवनोल्लासः। अत एव कथ्यते यत् सत्त्ववृत्तिं धारयन् धीमान् श्रीमान् भूत्वा पुरुषः शतवार्षिकमायुर्लब्धुं भोगसाधनानामर्जनाय कार्यमारभेत्। जीवनं यावत् तावत् आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धकानि साधनानि भवन्त्वच्छिद्यमानानि अन्नादिभिरसवो बलमायुश्च नवतामाप्नुवन्ति। हे पुरुष! त्वं रजसा तमसा चात्मानं नाच्छादय त्वाञ्च सत्वरं कदापि मृत्युर्मोपगच्छतु। यथा-

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमाच्छिद्यमाना ते जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठाः॥ [२८]

ये पुरुषा ज्योतिष्मन्तो विवेकिनः पुरुषार्थप्रियाश्च सन्ति तैः सह मैत्री स्थापनीया यतो हि तैः सह संस्थापिता मैत्री भद्रकारिणी भवति भद्रता च दीर्घमायुः प्रयच्छति। शरदः शतं सुखं जीवितुं जीवनमवाप्यते, जीवनकाले खलु मृत्युपाशाः छिद्यन्ते निन्दनीया गतिरनिन्द्या क्रियते शुभकर्मणा द्राघीय आयुश्च समवाप्यते सद्भिः प्राणविद्याविद्भिर्विद्वद्भिः।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ त्वा हरामि शतशारदाय।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥ [२९]

ऋषिभिः प्राणविद्याविषये जना संदिष्टा यत्ते वायुं न प्रदूषयन्तु। वायुरेव प्राणान् जनयति। अतः प्राणप्रदायिनि वायौ न समुत्पद्येत्, कश्चिद्दोष इत्यस्यां दिशि विचारकरणे केनापि प्रमादो न करणीयः। सूर्यज्योतिषा नेत्राणि सर्वं पदार्थजातं पश्यन्ति। सूर्याग्निनैव सर्वे प्राणिनः संजीविता जायन्ते। शिवसङ्कल्पमेव प्रकल्पयतः पुंसो मनः कदापि चञ्चलं न जायते। निश्चले मनसि श्वासगतिः समा भवति, समगत्या च तया आयुरभिवर्धते-

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।
यत्ते मनस्त्वयि तद्धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्॥ [३०]

यथा लोके जना अप्रदीप्तमग्निं संधुक्षिण्या तालवृन्तवायुना वा प्रदीपयन्ति तथैव देहस्थमग्निं प्राणवायुना संवर्धयन्ति। द्विपदभाजां चतुष्पदभाजां वा शरीरे प्राण एव अग्निं प्रदीपयति। प्रदीप्ते चाग्नौ सर्वाणीन्द्रियाणि स्व-स्वविषयसेवनकुशलानि जायन्ते। समिद्धप्राणाग्निर्जनश्चिरं जीवति, जरसः पूर्वं

---

२७ अथर्व०८.१.२१.

२८. अथर्व०८.२.१.

२९. अथर्व०८.२.२.

३०. अथर्व०८.२.३.

जगन्न जहाति। मृत्युवारणाय भैषज्यं प्रभवति। आमयवारणाय जीवन्ती सेव्या त्रायमाणाख्या सहस्वती सहमानाख्या चोषधी सेवनीया-

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम्॥[३१]

अयं जीवातु मा मृतेमं समीरयामसि।
कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः॥[३२]

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥[३३]

एकस्मिन् मन्त्रे प्राणापानयोरविचलाया गत्याः सुस्पष्टं वर्णनं विद्यते। यस्य पुरुषस्य प्रकृतिनियमान् पालयतः प्राणापानौ निर्व्यवधानेन संचरतस्तस्य आयुरपरिपक्वावस्थायां कालस्तस्यावयवाश्च निहन्तुमनर्हाः। सुदृढप्राणापानानां निश्चलचेतसां सात्त्विकवृत्तानां साविध्यं नोपसर्पति सुखेन जरावस्था मृत्युश्च। यथा-

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्॥[३४]

यद्यपि नियमबद्धं पुरुषं रोगोपद्रवा न व्यथयन्ति किन्तु यदि कदाचिद् स जायते रोगाक्रान्तस्तदा ओषधबलेन रोगं दूरं कर्त्तुमर्हति। वेदे त्वोषधिः प्राणप्रदायिनी, जलं प्राणप्रदं, वायुश्च प्राणशक्तिवर्धकः। अतः शुद्धसङ्कल्पं प्रकल्पयन् पुरुषो यदि प्रकृतिमातुः क्रोडे सुक्रीडारतो भवति तर्हि न भवत्यल्पायुः। वेदेषु खाद्यान्नविषये ते सङ्केताः प्राप्यन्ते ये दीर्घजीवनं निर्दिशन्ति। अदने व्रीहियवयोर्विशिष्टं स्थानं विद्यते। व्रीहियवयोर्भोक्ता चिरं जीवति। यतो हि व्रीहियवावुभावपि माधुर्यप्रदौ रोगहरौ कष्टवारकौ तथा चायुःप्रदौ कथितौ मन्त्रविद्भिः।

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥[३५]

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥[३६]

---

३१. अथर्व०८.२.४.
३२. अथर्व०८.२.५.
३३. अथर्व०८.२.६.
३४. अथर्व०८.२.११.
३५. अथर्व०८.२.१५.

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।

यदाद्यं१ यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि॥[३७]

एवं प्रकारेण अथर्ववेदे दीर्घजीवनविषये बह्व्यः कामनाः कृताः। या या कामनाः कृतास्तास्ता सर्वा आयुपरिवर्धनाय नूनं सन्ति मनसा ध्येयाः।

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री

आचार्य एवं उपकुलपति

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार.

---

३६. अथर्व०८.२.१८.

३७. अथर्व०८.२.१९.

वेद में वाहन-विज्ञान और अश्व

प्रो० ज्ञान प्रकाश शास्त्री

भारतीय दृष्टि में सृष्टि का उष:काल वेद का आविर्भाव काल माना जाता है। वेद के स्वरूप के विषय में पाश्चात्त्य और पौरस्त्य दृष्टि में बहुत मतभेद है। पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की आरम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। मैक्समूलर के शब्दों में-**'वैदिक सूक्तों की बहुत बड़ी सङ्ख्या बिल्कुल बचकानी, जटिल, निष्कृष्ट और साधारण है। उसमें न सङ्गति है और न सुलझे हुए अर्थों की स्थापना।'**[1] इसी सूत्र को पकड़कर पिछले सौ वर्षों में पश्चिमी विद्वानों तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों द्वारा अनेक भाष्य और व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गये।

इसके विपरीत भारतीय परम्परा से देखने वाले विद्वान् वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत मानते हैं-ऋषियों की घोषणा है-**'यद्भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'**[2] कि जो कुछ ज्ञान-विज्ञान इस धरा पर अभिव्यक्त हो चुका है और हो रहा है और भविष्य में होगा, वह सब वेद से ही प्रसूत होता है।

प्राचीनकाल से ही वेद के रहस्यों को प्रकट करने के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों, वेदाङ्गों तथा उपाङ्गों के रूप में प्रयास होता रहा है, लेकिन वेदभाष्य की कोई सुदीर्घ परम्परा हमारे साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होती। इसका प्रथम कारण यह प्रतीत होता है कि वेद ज्ञानरूप हैं, दूसरे शब्दों में अनुभव का विषय हैं, जिसे केवल शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि प्राचीन ऋषियों की निश्चित धारणा थी **'वेदाः स्थानानि विद्यानाम्'**[3] कि वेद विद्याओं के स्थान हैं। **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**[4] कि वेद सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार हैं। यद्यपि शब्दरूप वेद की सीमा नियत है, लेकिन अर्थ की इयत्ता का निर्धारण नहीं हो सकता। ऋषियों का स्पष्ट अभिमत रहा है-**'अनन्ता वै वेदाः'**[5] कि ज्ञान अनन्त है। उस अनन्त ज्ञानराशि को सीमित ज्ञानदृष्टि वाला मनुष्य कैसे निबद्ध कर सकता था? इसलिये वेदार्थ प्रक्रिया का निदर्शन कराने वाले ग्रन्थ तो लिखे गये, परन्तु समग्र वेदभाष्य करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। आचार्य यास्क जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ने वेदार्थ का निदर्शन तो किया, लेकिन किसी वेद का सम्पूर्ण भाष्य करने का सर्वथा प्रयत्न नहीं किया।

---

१. Chips from a German Workshop, Ed. 1866, P.27. "A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and commonplace."

२. मनु०१२.९७.

३. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय-३.

४. मनु०२.७.

५. तै०ब्रा०३.१०.११.३. 'अनन्ता वै वेदाः (इन्द्रो भारद्वाजमुवाच)।'

पाणिनि जैसे मनीषी ने जिसने मुख्यतः वेद को दृष्टि में रखकर अपने व्याकरण का गठन किया, उसने एक भी देवतावाचक पद को व्युत्पन्न करने का प्रयास नहीं किया। यह केवल अनायास घटित हुआ हो, ऐसा नहीं। यह एक सोची-समझी नीति के तहत वेदभाष्य से बचने का प्रयास होता रहा है। ईश्वर अनन्त है, अतः उसका ज्ञान भी अनन्त है, उसको परिमित ज्ञानवाला मनुष्य कैसे अभिव्यक्त कर सकता है। इस सत्य का दर्शन करने के कारण प्राचीन ऋषियों ने वेदभाष्य नहीं किया है। इस प्रकार प्राचीन ऋषियों की दृष्टि में वेद का ज्ञान साक्षात् ही दिया जा सकता है, उसको किसी एक विधा या विज्ञान की शाखा तक सीमित कर देना न केवल प्राचीन भारतीय मनीषा के प्रति अश्रद्धा प्रदर्शित करता है, अपितु ज्ञान के उत्स के प्रति भी नकारात्मक दृष्टि को भी अभिव्यक्त करता है।

आधुनिक पुनर्जागरण युग के पुरोधा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के प्रथम नियम में परमेश्वर को सब सत्य विद्याओं का आदिमूल तथा तृतीय नियम में वेद को सब सत्यविद्याओं का पुस्तक बताकर भारतीय परम्परा द्वारा स्वीकृत सत्य का मात्र उद्घोष किया है। वेद के जितने भाष्य हुए हैं, उतने सम्भवतः किसी अन्य पुस्तक के नहीं हुए और उनमें जितना मतभेद पाया जाता है, उतना किसी अन्य पुस्तक के भाष्य में नहीं पाया जाता है। इसका एकमात्र कारण यह प्रतीत होता है कि वेद ईश्वरीय रचना है और उसे मनुष्यबुद्धि की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत आलेख का विषय वाहन विज्ञान से सम्बन्धित है। निघण्टुकार ने प्रथम अध्याय के अश्ववाचक तथा आदिष्टोपयोजन गण में वाहनवाचक पदों का परिगणन किया है।[६] अश्ववाचक गण में पठित **वाजी, वह्निः, ससिः, एतग्वाः, एतशः, तार्क्ष्यः, ब्रध्नः, श्येनासः, सुपर्णाः, पतङ्गाः, नरः**-इत्यादि पद निश्चित रूप से अश्ववाचक नहीं हैं। इनमें से कुछ पशुवाहन हैं, तो कुछ यान्त्रिक वाहन के प्रतीक प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त निघण्टुकार ने आदिष्टोपयोजन प्रकरण में विशेषरूप से इस प्रकार के शब्दों का परिगणन किया है, जो अश्ववाचक गण में परिगणित वाहन की अपेक्षा शीघ्र गन्तव्य तक पहुँचाने में समर्थ हैं। सम्भवतः इसी कारण उक्त गण का नामकरण आदिष्टोपयोजन किया गया है, जैसे- **रोहिताग्नेः**-यह एक आकाश में आरोहण करने में समर्थ अग्नि सञ्चालित वाहन विशेष है। ऋग्वेद कहता है कि हे मरुतो! अपने रथों में पृषती को संयुक्त करो। रोहित प्रष्टि का वहन करता है। जब यह रथ चलता है, तब पृथ्वी इसकी गर्जना को सुनती है तथा मनुष्य इसकी चलने की ध्वनि को सुनकर भयभीत हो जाते हैं।[७] सायण 'पृषती' का अर्थ 'मृगी' तथा स्वामी दयानन्द 'वायु' ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार सायण 'रोहितः' का अर्थ 'मृगविशेष' तथा स्वामी

---

६. निघ०१.१४.

७. ऋ०,१.३९.६. "उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टिर्वहति रोहितः। आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः।" तु०, ऋ०,८.७.२८.

दयानन्द 'अग्नि' करते हैं।[८] एक अन्य मन्त्र कहता है कि जब अग्नि (विद्वान्) आरोचमान वर्ण वाले रोहित को रथ में संयुक्त करता है, तब उसका वेग वायु से तीव्र और गर्जना वृषभ के समान होती है। धूम के चिह्न वाला वह गतिशील अग्नि मार्ग को व्याप्त करता है। विद्वान् और अग्नि की इस मित्रता से हमें कष्ट प्राप्त न हो।[९] कुछ स्थलों पर रोहित को प्रष्टि को खींचने वाला, इसके चलने से पृथिवीस्थित मनुष्य भयभीत, इसकी गति वायु और मन से भी तीव्र, वृषभ के समान गर्जना करने वाला, धूम के चिह्न वाला-इस प्रकार रोहित का चित्रण एक वाहन के रूप में हुआ है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह एक अग्नि सञ्चालित वाहन विशेष है, जो आकाश में आरोहण करने में समर्थ है। इस कथ्य का समर्थन **'रोहित'** नामकरण से भी होता हुआ दिखायी देता है। इसी प्रकार **रासभाविश्वनोः**-रासभ द्वारा वहन किये जाने वाले रथ में वेद तीन चक्र और और अनेक बैठने के मण्डप बतला रहा है। वेद कहता है कि वह वाहन 'रासभ' है, जो तीन चक्र, तीन वन्धुर वाले रथ में बैठाकर अश्विनीदेवों को यज्ञ में ले जाता है,[१०] यह शीघ्रगामी एवं बलवान् पैरों वाला है और देवों से प्रेरित होकर यह यमराज के युद्ध में सहस्रों को मारकर जीत लेता है,[११] इसकी एक विशेषता यह भी है कि यह चलते हुए शब्द करता है, अश्विनीदेव इसे अपने रथ में संयुक्त करते हैं। इस प्रकार यह एक वाहन विशेष है।

वेद के विषय में यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लेना उचित होगा कि यद्यपि इसमें वाहन के विषय में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है, तथापि यह ज्ञान प्रयोगात्मक रूप में नहीं हैं, कम से कम विज्ञान की उस भाषा में नहीं है, जिसमें आज विज्ञान पढ़ा और समझा जाता है। वेद में सम्बन्धित शास्त्र के ज्ञान का प्रयोगात्मक स्वरूप स्पष्ट करने के लिये ऋषियों ने वेदों के उपवेद निर्मित किये थे। इसको इस प्रकार समझ सकते हैं कि यदि वेद संकल्पना है तो उपवेद उसका प्रयोगात्मक स्वरूप हैं। प्रस्तुत आलेख का प्रमुख विषय वाहन के रूप में अश्व है। हम यहाँ अश्व का अध्ययन करने के लिये वैदिक परम्परा को उद्धृत करते हुए अश्व का अध्ययन करेंगे।

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'अश्वाः' पद परिगणित है।[१२] शतपथ-ब्राह्मण 'अश्व' का निर्वचन करता हुआ कहता हैः-**"अथ यदश्रु सङ्क्षरितमासीत्सोऽश्रुरभवदश्रुर्ह वै**

---

८. द्रष्टव्य, सायण एवं दयानन्द, ऋग्भाष्य,१.३९.६.

९. ऋ०,१.९४.१०. "यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः। आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।"

१०. ऋ०,१.३४.९. "क्व१ त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व१ त्रयो वन्धुरो ये सनीळाः। कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः।"

११. ऋ०,१.११६.२. "वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना। तद्रासभो नासत्या सहस्रभाजा यमस्य प्रधने जिगाय।"

१२. निघ०,१.१४.२६.

तमश्व इत्याचक्षते परोऽक्षम्''[१३] कि सङ्करित होते हुए अश्रु ही परोक्ष में 'अश्व' कहे जाते हैं। इस पक्ष में 'अश्रु' से 'अश्व' शब्द उपपन्न होता है। एक अन्य स्थान पर भी शतपथ-ब्राह्मण इसी प्रकार 'अश्व' पद का निर्वचन करता है।[१४]

काठकसङ्कलन में कहा गया है:-**''अश्रुष्वेव (प्रजापतेः) अश्वोऽजायत''**[१५] कि प्रजापति के अश्रुओं से ही अश्व उत्पन्न हुआ, अतः, वह 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अश्व' पद सिद्ध होता है।

तैत्तिरीय-संहिता का कथन है:-**''प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्तत्परापतत् तदश्वोऽभवत् तदश्वस्याश्वत्वम्''**[१६] कि प्रजापति के अश्रुपूर्ण चक्षु से नीचे गिरने वाले अश्रु से अश्व उत्पन्न हुआ, यही अश्व का अश्वत्व है। इस पक्ष में 'श्वि' धातु से 'अश्व' रूप उपपन्न होता है।

मैत्रायणी-संहिता कहती है:-**''प्रजापतेर्वै चक्षुरश्वयत्, तस्य यः श्वयथा आसीत्, सोऽश्वोऽभवत्''**[१७] कि प्रजापति की अक्षि अश्रु से पूर्ण होगयी, उसका जो बढ़ा हुआ रूप था, वही अश्व होगया। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अश्व' रूप सिद्ध होता है।

शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-**''वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेष तदश्वयत्ततोऽश्वः समभवत्तद्यच्छ्वयथात् समभवत् तस्मादश्वो नाम''**[१८] कि वरुण ने सोम राजा की अक्षि को दुःखित कर दिया, उससे वह अश्रु से भर गयी, उससे अश्व उत्पन्न हुआ। प्रजापति की भरी आँख से उत्पन्न होने के कारण यह 'अश्व' कहलाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-**''प्रजापतिरक्ष्यश्वयत् तत् परापतत्। तदपः प्राविशत्। ततोऽश्वस्समभवत्। यदश्वयत् तस्मादश्वः''**[१९] कि प्रजापति की आँख भर गयी, उससे अश्रु गिरा, वह जल में प्रवेश कर गया। उससे अश्व उत्पन्न हुआ। अश्रु या जल के वृद्धिरूप से उत्पन्न होने के कारण यह 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अश्व' पद उपपन्न होता है।

ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है:-**''तान् (असुरान् देवाः) अश्वा भूत्वा पद्भिरपाघ्नत, यदश्वा भूत्वा पद्भिरपाघ्नत, तदश्वानामश्वत्वमश्नुते यद्यत्कामयते य एवं वेद''**[२०] कि देवताओं ने उन असुरों को अश्वरूप होकर पैरों से मारा, जो पैरों से मारा, जो इस प्रकार जानता

---

१३. शत०ब्रा०,६.१.१.११.
१४. शत०ब्रा०,६.३.१.२८. ''यद्वै तदश्रु सङ्करितमासीदेष सोऽश्वः।''
१५. काठ०संक०,१७:७.
१६. तै०सं०,५.३.१२.१.
१७. मै०सं०,१.६.४.
१८. शत०ब्रा०,४.२.१.११.
१९. जै०ब्रा०,२.२६८. (तुल०, तै०सं०,५.३.१२.१. मै०सं०,१.६.४.)
२०. ऐ०ब्रा०,५.१.

है, वह अश्वों के अश्वत्व को प्राप्त कर लेता है। इस पक्ष में 'अश' व्याप्तौ' धातु से 'अश्व' पद उपपन्न होता है।

तैत्तिरीय-संहिता कहती है:-**"आशुः सप्तिरित्याह। अश्व एव जवं धावति। तस्मात् पुराशुरश्वोऽजायत"**[२१] कि अश्व को 'आशुः' और 'सप्तिः' कहा जाता है। अश्व ही वेगपूर्वक दौड़ता है, इस कारण पुराकाल में आशु से ही 'अश्व' उत्पन्न हुआ। इस पक्ष में 'आशु' से 'अश्व' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'अश्व' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**"अश्वः कस्माद्? अश्नुतेऽध्वानम्"**[२२] कि मार्ग को शीघ्रता से व्याप्त करने के कारण अश्व को 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु से 'अश्व' शब्द व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार का निर्वचन यास्क ने कुछ अन्य स्थानों पर भी किया है।[२३]

(ख)"महाशनो भवतीति वा"[२४] कि बहुत अधिक भक्षण करने के कारण अश्व को 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अश' भोजने' धातु से 'अश्व' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् यास्क का अनुसरण करते हुए 'अश्व' शब्द के निम्न निर्वचन देते हैं:-**"अश्नोतेर्वा"**[२५] कि मार्ग को व्याप्त करने के कारण अश्व को 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अश्' व्याप्तौ' क्वुन्' से 'अश्व' शब्द सिद्ध होता है। उणादिकोष इसी प्रकार 'अश्व' शब्द को व्युत्पन्न करता है।[२६]

(ख)"अश्नुवतेऽध्वानं महाशना भवन्तीति वा"[२७] कि ये मार्ग को व्याप्त तथा अत्यधिक भक्षण करते हैं, अतः, इनको 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में भोजनार्थक या व्याप्त्यर्थक 'अश्' धातु से पूर्ववत् 'अश्व' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अश्व' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानता है।[२८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अश्व' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[२९] मोनियर विलियम्स 'अश्व' को 'अश्' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद अश्व और साँड़ अर्थ में आया है।[३०] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'ल्द' अश्व अर्थ में तथा लैटिन

---

२१. तै०सं०,३.८.१३.८.
२२. निरु०,२.२६.
२३. निरु०,१.१२, ७.२०.
२४. निरु०,२.२६.
२५. निघ०वृ०,१.१४.२६.
२६. उणा०,१.१५१. "अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्।"
२७. निघ०वृ०,१.१४.२६.
२८. वै०पद०को० पृ०,५७९.
२९. ऋ०वै०पद० पृ०,६७.
३०. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०,११४.

में 'ल्लि' अश्व अर्थ में है। वे उक्त निर्वचन को **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[३१] वेद से प्राप्त सङ्केत 'अश्व' को 'अश्' धातुमूलक सिद्ध करते हैं।[३२]

वैदिक साहित्य में 'अश्व' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि हे वरुण! सुख के लिये हम तेरे मन को इस प्रकार बाँधते हैं, जिस प्रकार रथ का स्वामी दूरगमन से श्रान्त अश्व को घास आदि के द्वारा प्रसन्न करता है।[३३] अग्रिम सूक्त में पुनः शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार उत्तम केश वाला अश्व वन्दनीय होता है, उसी प्रकार यज्ञों के सम्राट्रूप अग्नि की हम हवि आदि से स्तुति करते हैं।[३४] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेव शीघ्र और विना कष्ट पहुँचने के लिये श्वेत अश्व अर्थात् विद्युत्रूप अश्व प्रदान करते हैं, वह अश्व नित्य कल्याण करने वाला हो।[३५] एक अन्य सूक्त में पुनः कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे नेतृत्व करने वाले अश्विनीदेवो! सूर्य की युवा पुत्री प्रसन्नता से आप दोनों के रथ पर आरूढ होती है। अहिंसित शरीर वाले अश्व तुम्हारे रथ को घर के समीप पहुँचायें।[३६] उक्त मन्त्र की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है:-'इस सङ्ग्राम में गमन करते हुए रक्तवर्ण पक्षियों के समान शीघ्रगामी अश्व (अग्नि) तुम दोनों को सब ओर पहुँचायें।' इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! तुम दोनों इन्द्र से भी अधिक वेगवान् एवं मेघवध करने वाले श्वेत अश्व को पेदु (आवागमन करने वाले) को प्रदान करते हो।[३७] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि अग्निरूप दूत को अश्व (इंजन) का निर्माण करने वाला कहा गया है और यही यान (रथ) का भी निर्माण करने वाला है।[३८] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि अन्तरिक्ष विद्या में कुशल शिल्पी (सौधन्वनः) अश्व अर्थात् वेगवान् पदार्थ विद्युत् आदि से अश्व का निर्माण करते हैं और उसको रथ में जोड़कर दिव्यपदार्थों को प्राप्त करते हैं।[३९] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि अश्वरूप अग्नि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नियमन करने वाला अग्नि इस अश्वविद्या को प्रदान करता है। तीनों स्थानों में रहने वाला वायु इसे रथ में नियोजित करता है। सबसे मुख्य इन्द्र इस पर अधिष्ठित होता है। गन्धर्व (सोम) रशना को ग्रहण करते हैं और वसुगण सूर्य से अश्व का निर्माण करते हैं।[४०] इस सूक्त

---

३१. दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ०,८६.
३२. ऋ०,१.११३.८, १६३.१०, यजु०,२५.३२, २९.२१, सा०उ०,९५०.
३३. ऋ०,१.२५.३. ''वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम्। गीर्भिर्वरुण सीमहि।''
३४. ऋ०,१.२७.१. ''अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम्।''
३५. ऋ०,१.११६.५. ''यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।''
३६. ऋ०,१.११८.५. ''आ वां रथं युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य। परि वामश्वा वपुषः पतङ्गा वयो वहन्त्वरुषा अभीके।''
३७. ऋ०,१.११८.९. ''युवं श्वेतं पेदव इन्द्रजूतमहिहनमश्विनादत्तमश्वम्।''
३८. ऋ०,१.१६१.३. ''अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतनाश्वः कर्त्वो रथ उतेह कर्त्वः।''
३९. ऋ०,१.१६१.७. ''सौधन्वन अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवाँ अयातन।''
४०. ऋ०,१.१६३.२. ''यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट।''

के अन्तिम मन्त्र में ऋषि कहता है कि ये अन्त तक कम्पनशील, मध्यभाग कुछ हटा हुआ, अत्यधिक वेगवान् और ये दिव्य पदार्थों से निर्मित किये जाते हैं। जिस प्रकार हंस पङ्क्तिबद्ध होकर उड़ते हैं, उसी प्रकार ये अश्व भी दिव्यमार्ग को व्याप्त करते हैं।[41] ब्रह्मातिथि ऋषि अश्विनीदेवों को श्येन के समान द्रुतगामी अश्वों से आने का निवेदन करते हैं।[42] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि अग्नि श्वेत अश्व है।[43] एक अन्य स्थान पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि अश्व देवताओं का वाहन नहीं है, इसलिये यह अग्नि ही अश्व होकर सब देवताओं के लिये यज्ञ को वहन करता है।[44] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि इन अङ्गिरसों के लिये आदित्य ही श्वेत अश्वरूप धारण किये आदित्य को बनाकर ले आये।[45] तैत्तिरीय-ब्राह्मण कहता है कि वे अङ्गिरस आदित्यों के लिये इस श्वेतरूप धारण किये हुए आदित्यरूप अश्व को दक्षिणा में ले आयें।[46]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वह अश्व है, जिसे रथ का स्वामी घास आदि प्रदान करके प्रसन्न करता है, उत्तम केशवाला अश्व अग्नि के समान सम्राट् होने से वन्दनीय होता है, अश्विनीदेव जिस श्वेत अश्व को प्रदान करते हैं, वह नित्य कल्याण करने वाला है, अश्विनीदेव के जिस रथ पर सूर्य की युवा पुत्री प्रसन्नता से आरूढ होती है, उसको ये अश्व घर के समीप ले जाते हैं, अश्विनीदेव (वैज्ञानिक) आवागमन करने वाले के लिये श्वेत अश्व प्रदान करते हैं, अग्नि ही अश्व और वही रथ का भी निर्माण करने वाला है, कहीं ऋषि यम (अग्नि) को अश्वविद्या का प्रदाता, वायु को नियोक्ता, इन्द्र को अधिष्ठाता, गन्धर्व (सोम) को सारथि और वसुओं को सूर्य से अश्व का निर्माण करने वाला बतलाता है, ये अश्व अन्त तक कम्पनशील, मध्यभाग कुछ हटा हुआ, वेगवान् और दिव्य पदार्थों से निर्मित होते हैं, हंसों के समान श्रेणी में चलते हुए ये दिव्य मार्ग को व्याप्त करते हैं, इनकी गति ऋषि ने श्येन के समान बतलायी है। ब्राह्मणग्रन्थ अग्नि का श्वेत अश्व के रूप में उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि यह अग्नि ही अश्व बनकर यज्ञभाग उन तक पहुँचाता है, अङ्गिरस या अङ्गिरसों के लिये आदित्य ही आदित्य को श्वेत अश्व बनाकर ले आते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वर्णित अश्व तीन प्रकार के हैं:-प्रथम-लोकप्रचलित अश्व, द्वितीय-अग्निरूप श्वेत अश्व, तृतीय-आदित्यरूप

---

४१. ऋ०,१.१६३.१०. ''ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासाः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः। हंसाइव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः।''
४२. ऋ०,८.५.७. ''आ नः स्तोममुप द्रवत्तूयं श्येनेभिराशुभिः यातमश्वेभिरश्विना।''
४३. शत०ब्रा०,३.६.२.५. ''अग्निर्वा अश्वः श्वेतः।''
४४. शत०ब्रा०,१.४.१.३०. ''अश्वो न देववाहन इति। अश्वो ह वाऽएष (अग्निः) भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति।''
४५. जै०ब्रा०,३.१८८. ''एतेभ्य (अङ्गिरोभ्यः) एतमादित्या एतमादित्यमेवाश्वं श्वेतं भूतम्..................... आनयन्।''
४६. तै०ब्रा०,३.९.२१.१. ''तेऽङ्गिरस आदित्येभ्य अमुमादित्यमश्वꣳ श्वेतं भूतं दक्षिणामनयन्।''

श्वेत अश्व। वेद स्पष्टरूप से अश्व के लिये 'अतक्षत' (निर्माण किया) और 'निरतष्ट' (निर्माण किया) क्रिया का प्रयोग करता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि द्वितीय तथा तृतीय वर्ग के अश्वों को निर्माण किया जाता था। द्वितीय वर्ग के अश्वों के निर्माता ऋभुगण माने गये हैं। निघण्टुकार ने 'ऋभु' को मेधावी नाम में परिगणित किया है।[४७] इस प्रकार ऋभु नामक वैज्ञानिकों के द्वारा अग्नि के सहयोग से निर्मित होने वाला यान वेद की दृष्टि में 'अश्व' हैं। इनके निर्माताओं को वेद 'सौधन्वनः' नाम से भी पुकारता है। निघण्टुकोष के अन्तरिक्षवाचक नामपदों में 'धन्व' पद परिगणित है।[४८] अन्तरिक्षविद्या में कुशल ऋषि का नाम 'सुधन्वा' है, उसके शिष्य या सन्तानों को वेद सम्भवतः, 'सौधन्वनः' नाम से अभिहित कर रहा है। उक्त ऋषियों के द्वारा निर्मित अश्व श्वेतवर्ण, विना कष्ट के गन्तव्य तक ले जाने और नित्य कल्याण करने वाले बतलाये गये हैं। इसकी गति इन्द्र (विद्युत्) से भी तीव्र मानी गयी है। कहीं उक्त प्रकार के यानों का निर्माण करने वाले के रूप में वेद अश्विनीदेवों का भी उल्लेख करता है। अश्विनीदेव देवशिल्पी माने जाते हैं। सम्भवतः, अश्व-निर्माण-विद्या में कुशल होने के कारण अश्विनीदेवों का उक्त नामकरण हुआ है। तृतीय प्रकार के अश्वों (यानों) का निर्माण करने वालों के रूप में ब्राह्मणग्रन्थ अङ्गिरस ऋषियों का उल्लेख करते हैं। इन्होंने सूर्य से श्वेत अश्व का निर्माण किया है, ये अश्व सौर ऊर्जा से सञ्चालित रहे प्रतीत होते हैं। सम्भवतः, इसलिये वेद ने इनको सूर्य से निर्मित होने वाला बतलाया है। इसके अतिरिक्त अन्तरिक्षीय पदार्थों से निर्मित होने के कारण इनको ऋषि 'दिव्य' बतलाता है। यह अश्व (यान) यमविद्या के अनुसार निर्मित, वायु से नियुक्त, इन्द्र से अधिष्ठित, गन्धर्व द्वारा नियन्त्रित और सूर्य से सञ्चालित हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के अश्वों में एक समान विशेषता पायी जाती है कि ये शीघ्रता से गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु को 'अश्व' पद का मूल माना जा सकता है।

प्रो० ज्ञान प्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

---

४७. निघ०,३.१५.८.
४८. निघ०,१.३.५.

वैदिक साहित्य में राज्य की उत्पत्ति विकास के सिद्धान्त

राज्य संस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद से ही विचार प्रारम्भ हो गया था और ब्राह्मण ग्रन्थों के काल तक इस सिद्धान्त की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी। उपनिषद्, सूत्र-साहित्य, स्मृति-साहित्य, रामायण, महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में तत्कालीन राजनीति के विशेषज्ञ आचार्यों ने वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित राज्य संस्था के उद्भव और विकास के सिद्धान्तों का विस्तार से प्रतिपादन किया है। वैदिक काल में राज्य संस्था के उद्भव के निम्नलिखित सिद्धान्त विकसित हो चुके थे-

1.अराजक सिद्धान्त (मात्स्य न्याय)

2.युद्ध सिद्धान्त

3.अनुबन्ध सिद्धान्त

4.दैवी सिद्धान्त

5.विकास का सिद्धान्त

अराजक सिद्धान्त 'मात्स्य न्याय'

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में कोई राजा नहीं था। जिससे व्यवस्था का संचालन नहीं हो पाता था। समाज अस्त व्यस्त था। बलवान् अपनी शक्ति के बल पर निर्बल को प्रताड़ित करता था। जैसे बडी़ मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार की अव्यवस्था थी। इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम विवेचन अथर्ववेद में मिलता है। इसके अनुसार इस अराजक स्थिति में सबके मन में भय बना रहता था कि कोई हमारी हानि न कर दे। इस भय से मुक्ति पाने के लिए इस समस्या पर विचार किया गया। इस विचार के बाद एक हलचल पैदा हुई। (उत्क्रान्ति हुई) जिसके परिणाम स्वरूप राजसंस्था के उद्भव की प्रक्रिया शुरू हुई और वह सर्वप्रथम कुल के रूप में सामने आयी।[1]

इस अराजक स्थिति की चर्चा का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में निम्नलिखित रूप में हुआ है- "कि सृष्टि के आदि में सम्पूर्ण समाज एकात्मक रूप से मिला हुआ था। उसमें राजा और प्रजा का कोई भेद नहीं था। सब कुछ अव्यवस्थित था। इसको व्यवस्थित करने के लिए सर्वप्रथम देवताओं के लिए राजा की उत्पत्ति की और उसके बाद मनुष्यों के राजा की" इसके बाद समाज का विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में किया।[2]

इस विवेचन से स्पष्ट आभास होता है कि अराजक स्थिति के बाद राज्य की प्रक्रिया सर्वप्रथम देवों में प्रारम्भ हुई। पुनः देवों के अनुकरण स्वरूप मानव समाज में भी

---

1 विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जाताया: सर्वविभेदियमेवेदं भविष्यतीति सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्। अर्थव0 8.10.1-2

2 शत0 ब्रा0 14. 1.2.23

राज्य की प्रक्रिया हुई। व्यास ने महाभारत[3] में उल्लेख किया है कि सृष्टि उत्पत्ति के बाद बहुत काल तक उत्तम प्रकार की व्यवस्था का शासन चलता रहा। उस समय न कोई शासक था और न शासन संस्था थी। प्रजा धर्म का पालन करती हुई एक दूसरे की रक्षा करती थी कुछ समय के बाद मोह और अज्ञान ने जन्म लिया, लोभ और स्वार्थ की वृद्धि स्वरूप मात्स्य न्याय की वृद्धि हुई। महाभारत में इसी मात्स्य न्याय का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि-"अराजक देश भयावह होता है। वहाँ पर अपराधी व्यक्ति भी सुखी नहीं रहते। श्रेष्ठों को दास बना लिया जाता है। स्त्रियों का बलपूर्वक हरण कर लिया जाता है। इसलिए देवताओं ने राजा का निर्माण किया।[4]"

इसी प्रकार कौटिल्य ने अराजक स्थिति से राज की उत्पत्ति का वर्णन किया है। मात्स्य न्याय से दुःखी जनता ने सर्वप्रथम वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया। राजा को उसकी सेवा एवं सुव्यवस्था के प्रतिरूप में कर देने की व्यवस्था की।[5]

युद्ध सिद्धान्त

इस सिद्धान्त की सर्वप्रथम सूचना ऋग्वेद में उपलब्ध है। जो देवासुर संग्राम के माध्यम से प्रकट हुई है। अनेक मन्त्रों में शत्रुओं को नष्ट करने की प्रार्थना की गई है। इन्द्र को देवों का राजा माना गया है, वह देवों का सेनापति भी है। उसका आयुध वज्र है और वह वज्र से ही असुरों का संहार करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित है कि असुरों को मारने के बाद इन्द्र महेन्द्र बना था।[6]

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवासुर संग्राम में असुरों ने देवों को परास्त कर दिया। इस पर देवों ने कहा कि राजा न होने के कारण असुर हम को जीत लेते हैं। अतः हमको राजा का चयन कर लेना चाहिए। उन्होंने सोम को अपना राजा बनाकर सब दिशाओं में विजय प्राप्त की।[7] कौषीतकि ब्राह्मण में कहा गया है कि- एक बार देवों को असुरों ने प्राची और उदीची दिशाओं के मध्य में रोक लिया। तब देवों ने इस दिशा में सोम को राजा बनाकर असुरों को भाग दिया।[8] राजा का चयन इसलिए किया जाता था कि वह असुरों का वध करें। वैदिक काल में महान् युद्धों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि युद्ध

---

3 महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 59

4 महाभारत शा0 अ0 67, 13-17 ऋग् 1.51.8.9. शतं सेना अजयत् साकं इन्द्रः। यजु0 17.3 आदि

5 कौ0 अर्थ0 1.9 मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे....।

6 ऐत0 ब्रा0 12.10, शत0 ब्रा0 1.5.3.21

7 वैदिक इन्डेक्स भाग-2 पृ0 234-45

8 देवासुर वा एषु लोकेषु समयतन्त...... ताँस्तेऽसुरा अजयन्.........ते देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयंति। राजानंकरवामहा, तथैति सोमं रांजानमकुर्वस्ते सोमेन राज्ञा सर्वादिशोऽजयन्। ऐत0 ब्रा 3.3, असुरा वा अस्यां दिशि देवान्त्समरून्धननेयं ....त एतस्यां दिशि सन्तः सोमं राज्यायाभ्यषिञ्चन्त, ते सोमेन राज्ञैभ्यो लोकेभ्योऽसुराननुदन्त.... कौष0 ब्रा0 7.10

की आवश्यकताओं से विवश होकर ही राज्य संस्था का प्रादुर्भव हुआ। वर्तमान विचारक भी राज्य संस्था के विकास में युद्ध को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं।[9]

अनुबन्ध सिद्धान्त (जेमवतल वर्ि वबपंस ब्वदजतंबज)

राज्य संस्था के उद्भव के इतिहास में अनुबन्ध का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। यह सिद्धान्त वैदिक काल से ही प्रकाश में आ गया था। इस सिद्धान्त का भाव यह है कि राष्ट्र की प्रजा द्वारा परस्पर विचार विमर्श करके आपसी सहमति से विशेष शर्तों के अनुसार किसी को राजा बनाना। वैदिक साहित्य में अनुबन्ध सिद्धान्त का विवेचन स्पष्ट रूप से हुआ है। अत: स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त वैदिक युग से ही प्रकाश में आ गया था।

आधुनिक पाश्चात्त्य विद्वानों ने अनुबन्ध के सिद्धान्त का विस्तार से परिचय दिया है। 17वीं शताब्दी हॉब्स, लॉक और रूसो ने इसका प्रतिपादन किया था। हॉब्स ने अनुबन्ध के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, उसके अनुसार राजा की शक्तियाँ असीमित थीं। व्यक्ति का अधिकार शून्य था। हाब्स ने राजा के अतिरिक्त समाज की स्वतन्त्र सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया। यद्यपि हाब्स का विचार है कि अनुबन्ध का उपयोग विवेक के आधार पर और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए होना चाहिए।[10]

लॉक के अनुसार न्यायपालिका और कार्यपलिका के पास नैसर्गिक विधि के कार्यान्वयन के लिए शक्ति होती है, उसके उल्लंघन करने पर अपराधी को उसी अनुपात में दण्ड मिलता है अर्थात् लाक के सिद्धान्त में बहुमत के शासन का जन्म हुआ और सरकार को न्याय के रूप में माना गया। परिणाम स्वरूप सरकार का संचालन निश्चित विधि से हो सकता है।[11]

रूसो के अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता थी और राष्ट्र में आदर और शक्ति की स्थिति थी।

इस अनुबन्धवाद से राज्य के विकास में दो महत्त्वपूर्ण लाभ हुए-

(क)राज्य की सरकार या समाज की उत्पत्ति पर लौकिक भावना से विचार हुआ।

(ख)प्रताड़ना के विपरीत न्याय एवं सुरक्षा की भावना का विकास हुआ।

उपर्युक्त पाश्चात्त्य विचारकों ने यह माना है कि प्राचीन समय में अराजक अवस्था, प्राकृतिक अवस्था थी। इस समय सब लोग जंगली पशुओं के समान आपस में लड़ते थे और कोई न्याय व्यवस्था नहीं थी। सबने परस्पर समझौता करके एक योग्य शक्तिशाली वीर पुरुष को अनुबन्ध (सहमति) के आधार पर राज का कार्य सौंपा। सामान्य इच्छा के आधार

---

9 यजु0 1.13,9.38। इन्द्रो... तास्मिन्महत्स्वाजिषु..... ऋग0 1.81.1

10 डब्ल्यू. फेडमेन: लीगल थ्योरी, पृ0 39 (सन्दर्भ उदधृत प्राचीन भारत में राज्य और न्याय पालिका अध्याय प्रथम)

11 लॉक : टू ट्रीटिसेस, बी.के. संकरण एम.एच. 2 (सम्)

पर निर्धारित किये गये नियमों का पालन करने का वचन दिया। यही संस्था बाद में राज्य के रूप में परिणत हो गई। इस अनुबन्ध के सिद्धान्त से प्रभावित होकर यूरोप में राज्य के स्वरूप, संगठन, कर्त्तव्य और अधिकार आदि में परिवर्तन करके राज्य को लौकिक दृष्टि से उपयोगी बनाने का सफल प्रयास किया गया। अल्तेकर महोदय का कथन है कि हॉब्स और लॉक ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है-वह अर्द्ध धार्मिक एवं अर्द्ध लौकिक दृष्टि से ही किया है। वह न तो समस्या की गहराई तक पहुँच सके और न ही राजा और प्रजा के अधिकारों की सीमा को स्पष्ट कर सके; पाश्चात्त्य विचारकों ने यह तो प्रतिपादित किया था कि- राज्य के द्वारा किये गये संरक्षण और सेवा के प्रतिरूप में प्रजा राजा को कर देती हैं तथा राजकीय नियमों का पालन करती है। इसके साथ उसका यह भी अधिकार होगा कि यदि राजा अपने कर्त्तव्य को छोड़ेगा तो प्रजा उसे गद्दी से हटा देगी या मार देगी। परन्तु इन विचारकों ने यह नहीं बताया कि वह किन परिस्थितियों में इस प्रकार का आचरण करेगी? वैदिक अनुबन्ध सिद्धान्त में आततायी राजा अथवा अपने कर्त्तव्य का पालन न करने वाले राजा को पदच्युत करने या दण्डित करने का जो अधिकार दिया गया है।[12] इससे स्पष्ट है कि प्रजा ही राजसत्ता की मूल अधिकारिणी है। उसी में सर्वोच्च सत्ता निहित है।

वैदिक अनुबन्ध सिद्धान्त

भारत के लिए राज्य के अनुबन्ध का सिद्धान्त नवीन नहीं है। वैदिक संहिताओं में अनुबन्ध के सिद्धान्त का पर्याप्त विवेचन हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को कुछ प्रतिज्ञायें करनी होती थीं, जिनके अनुसार वह वचन देकर कुछ कर्त्तव्यों में बँधता था। ये वचन राजा स्वेच्छा से नहीं देता था, अपितु संविधान द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार ही उसको वचन देना होता था। इस समय की जाने वाली प्रतिज्ञाओं एवं वचनों की घोषणा वैदिक संहिताओं के मन्त्रों से ही की जाती थी, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि अनुबन्ध सिद्धान्त वैदिक संहिताओं की देन है। इस विषय में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत हैं-

संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित अनुबन्ध की विषय वस्तुः

ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है कि युद्ध जन्य परिस्थितियों से त्राण पाने के लिए राज्य संस्था और राजा का उद्भव हुआ था। युद्ध सिद्धान्त के अनुसार राजा वही हो सकता था, जो स्वयं योद्धा हो और युद्ध का संचालन कर सके। इस विषय की चर्चा ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होती है। इन्द्र ही सबसे अधिक ओजस्वी, सबसे अधिक बलवान्, सबसे अधिक शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ और प्रजा के लिए अत्यन्त साधु पुरुष है। वही प्रारम्भ किए हुए कार्य को निश्चित रूप से सफल बनाने वाला है। इसलिए हम इन्द्र का ही

---

12 क्षत्रियो ह वै राष्ट्राच्च्यवतीयो वै परा भवति .... एत0 ब्रा0 29.6

अभिषेक करते हैं। यह सोचकर उन्होंने इन्द्र का राज्य के लिए अभिषेक किया।[13]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजा में वे गुण होने चाहिए जो युद्ध में शत्रुओं को परास्त कर सके। प्रजा का पालन कर सके और राज्य का ठीक रूप में संचालन कर सके। राज्यपद प्राप्त करने के बाद भी राजा को इन गुणों को धारण करना होता था। जब उसमें इन गुणों का अभाव हो जाता था तो वह राज्यपद के अयोग्य हो जाता था। इस प्रकार के अयोग्य राजा का राजपद को स्वयं त्याग देना अथवा प्रजा द्वारा पदच्युत किया जाना स्वाभाविक था। पुनः दूसरे राजा को राजपद पर नियुक्त करते समय उस भावी राजा और जनता के बीच कोई न कोई अनुबन्ध किया जाना आवश्यक था। जिसका पालन राजा व प्रजा दोनों के लिए अनिवार्य था। इस बात की पुष्टि अभिषेक के समय राजा को दिये गये "धृतव्रत" विशेषण से होती है। इसका अर्थ है जो नियमों को धारण करे। वे नियम जो शासन के लिए बनाए जाते थे, उनको राजा धारण करता था। उनको पालन करने की प्रतिज्ञा करता था। तब कहा जाता था कि यह व्रत धारण करके "धृतव्रत" हो गया है।[14]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भावी राजा को राजा बनाने से पहले राज्याभिषेक अनिवार्य रूप से कराना होता था। इसी नियम के कारण सर्वप्रथम देवों ने इन्द्र का अभिषेक किया था। अभिषेक के समय स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी जाती थी कि राष्ट्र की प्रजा अमुक पुरुष को अपना राजा इसलिए बना रही है कि वह उसके कल्याण का कार्य करेगा, वह तभी तक राजा रहेगा जब तक प्रजा का कल्याण करता रहेगा। जिस समय वह अपने कर्त्तव्य से विमुख होगा तो पदच्युत कर दिया जाएगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए निम्न लिखित सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं, जिसमें स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रस्तावित राजा को यह पद निश्चित सिद्धान्तों नियमों और प्रतिबन्धों के आधार पर दिया जा रहा है। पुरोहित प्रजा के सामने भावी राजा को सम्बोधित करते हुए घोषणा करता है कि "हे भावी राजन्!" मैं कृषि के विकास के लिए, समृद्धि प्राप्त करने के लिए, सार्वजनिक कल्याण के लिए, सबका पालन-पोषण करने के लिए, राजपद पर आपका अभिषेक करता हूँ।[15]"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कुछ निश्चित प्रतिबन्धों एवं नियमों के साथ राजा का पद दिया गया है।

अन्यत्र उल्लेख है कि पुरोहित भावी राजा को सम्बोधित करके सबके सामने

---

13 ते देवा अब्रुवन् स प्रजापतिका -अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम् इममेवाभिषिञ्चामहा इति, तथेति, तद्वै तदिन्द्रमेव। ऐत0 ब्रा0 38.1

14 ऋग् 8.27.3, 1.25.10, ऐत0 ब्रा0 39.4 द्र0 सा0 भा0 वही-धृतव्रतः स्वीकृत नियमः शत0 ब्रा0 5.4.1. 5-धृतव्रतौ वै राजा न वा एष सर्वस्या इव वदनाय न सर्वस्या इव कर्मणे यदेव साधुवदेत यत् साधु कुर्यात्। राजन् वरुण ....धृतव्रतो राजा। अथर्व0 7.83.1

15 राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति अथैनमासादयति...कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा....शत0 ब्रा0 5.1.6. 25, इसी प्रकार के [illegible] सं0 9.22 में भी हैं।

घोषणा कर रहा है कि-"मैं तुझे इन्द्र के समान पराक्रम करने के लिए, रुद्र के समान शत्रुओं को रुलाने वाले बल के लिए, सूर्य के समान ओजस्विता के लिए, श्येन नामक पक्षी के समान शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए, अग्नि के समान तेजस्वी बने रहने के लिए, धन और पुष्टिकारक पदार्थों को प्राप्त करने के लिए, स्वीकार करता हूँ।[16]"

शतपथ ब्राह्मण में माध्यन्दिन संहिता के मन्त्र का सन्दर्भ देते हुए कहा गया है कि "हे श्रेष्ठ प्रजाजनो! इस महान् शक्ति के लिए, ज्येष्ठता के लिए, महान् गौरव के लिए, विशाल मनुष्यों के राज्य के लिए, परम ऐश्वर्य सम्पन्न सुख और उपभोग के लिए, अमुक पुरुष के इस पुत्र को, अमुक स्त्री के पुत्र को, इस सम्पूर्ण जनता के लिए, राज्य सिंहासन पर बैठा कर राज्य का संचालन करने के लिए अभिषिक्त करो। हे दिव्य शक्तियों से युक्त देवो! आप भी हमारे इस राजा को शत्रुओं से मुक्त रखो।[17]"

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्याभिषेक से सम्बन्धित घोषणाएँ की गई हैं। जिनमें अनुबन्ध सिद्वान्त की पुष्टि होती है। ऐतरेय ब्राह्मण की निम्न घोषणाएँ इस विषय में द्रष्टव्य हैं।

हे अभिषिच्यमान क्षत्रिय राजन्। सविता देव की प्रेरणा से अश्विन् देवों के बाँहों से, पूषा देव के हाथों से, अग्नि देव के तेज से, सूर्य देव के प्रकाश से और इन्द्र के इन्द्रिय शक्ति से, राष्ट्र को बलशाली बनाने के लिए, समृद्धिशाली बनाने के लिए, यशस्वी बनाने के लिए और खाद्य पदार्थों का भरपूर उत्पादन करने के लिए मैं तेरा अभिषेक करता हूँ।[18]

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि राजन् तुझे सोम नामक देव के समान शक्तिशाली बनाने के लिए, अग्नि देव के समान तेजस्वी बनाने के लिए, सूर्य के समान वर्चस्वी बनाने के लिए, इन्द्र के समान शक्तिशाली बनाने के लिए, बहुत से क्षत्रिय राजाओं को भी राजा बनाने के लिए शत्रुओं को बाण आदि आयुधों से मारने के लिए मैं तेरा अभिषेक करता हूँ।[19]

अभिषेक के समय राजा द्वारा ली जाने वाली शपथ की भाषा निश्चित कर दी गई थी। अभिषेक कराने वाले पुरोहित को यह निर्देश था कि वह इस निश्चित शपथ से ही

---

16 इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इन्द्राय त्वादित्यवत इन्द्राय त्वाभि मातिघ्ने श्येनाय त्वा सोमभृतेग्नये त्वा रायस्पोषेसे। मा0 शुक्ल यजु0 सं0 6.32

17 शत0 ब्रा0 5.3.4.3-मा0 सं0 शु0 यजु0 10.18 इमं देवा असपत्नं सुवध्यम् क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते ज्ञानराज्याय इन्द्रस्येन्द्रियाय इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम् अस्यै विशः एष वोऽभी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।

18 देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूषणो हस्ताभ्यामग्नेस्तेजसा। सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेणाभि-षिञ्चामि बलाय श्रियै यशसेऽन्नाधाय। ऐत0 ब्रा0 37.3

19 सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामि" इति वीर्येणैतदाह। "अग्नेर्भ्राजसा" इति वीर्येणैवैतदाह। "सूर्यस्य वर्चसा" इति वीर्येणैवैतदाह। इन्द्रस्येन्दियेण इति वीर्येणैवैतदाह। "अतिदिधन्पाहि" "(ब्रा0 सं. 10.17) इति। इषवो वै दिधवः। इषुवधमेवैनमतद्-तिनयति। तस्मादाह-अति दिधून्पाहीति। शत. ब्रा. 5.3.4.2.

राज्य अभिषेक के समय राजा को प्रतिज्ञा कराए।[20] प्रस्तावित राजा के लिए यह आवश्यक था कि वह सिंहासन पर आरूढ़ होते समय उपस्थित जन समूह के समक्ष इस शपथ को उच्चारित करे। इस शपथ की भाषा और इसका हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित है। जिसका वह श्रद्धापूर्वक उच्चारण करता था।

"यां च रात्रीमजायेऽहं, यां च प्रेतास्मि,
तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः
प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति।[२१]"

अर्थात् "जिस रात्रि (समय) मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि (समय) मेरा निधन होगा इस समय में, मेरे द्वारा जो लोकोपकारी उत्तम कार्य किये गये हैं वे सब, मेरे सब पुण्य, मेरी आयु, मेरी सन्तान आदि सब नष्ट हो जायें, यदि तेरा द्रोह करूँ।"

इस शपथ ग्रहण करने का भाव यह था कि शपथ में बँधा हुआ राजा निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी होकर शासन का संचालन नहीं कर सकेगा। उपर्युक्त अनुबन्ध में बँधा हुआ राजा अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह विधि के अनुसार करता हुआ अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहेगा। यदि वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके स्वेच्छाचारी होकर अनुबन्ध (शपथ) को भंग करेगा तो उसको पदच्युत करने में कोई वैधानिक बाधा उपस्थित नहीं होगी।[22] ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त हैं, जब राजाओं को राजसत्ता से हटा दिया गया और उनका वध कर दिया गया।[23]

राजा के कर्त्तव्यों में विधि के पालन के साथ-साथ विधि के रक्षक पुरोहित को भी सब प्रकार से सुरक्षा एवं सम्मान देना होता था। जैसे कि इस शोधलेख में आगे प्रतिपादित किया गया है, पुरोहित विधि का रक्षक और व्याख्याता होता था। राजा को स्वतन्त्र रूप से विधि का निर्माण करने का अधिकार नहीं था। वह तो मात्र विधि का रक्षक होता था तथा वैधानिक कार्यों को क्रियान्वित करने से पूर्व पुरोहित से विचार विमर्श करना उसके लिए आवश्यक था।

इस प्रकार वैदिक राजा को अनुबन्ध के सिद्धान्त में पूर्ण रूप से बाँध कर सिंहासन पर बैठाया जाता था। वह समाज के लिए पूर्णरूप से उत्तरदायित्व वहन करता था। प्रजा को वह पुत्र के समान मानता था और सेना उसकी प्रिय पत्नी के समान होती थी। यदि वह

---

20 स य इच्छेदेवंवित् क्षत्त्रिमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वाल्लोकान् विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रेष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत्..... तमेतेनैन्द्रणे महाभिषेकेण क्षत्त्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चेत्.....या चं रात्रीमजायेथा.....यदि मे द्रुह्येरिति। ऐत0 ब्रा0 39.1

21 (2) ऐत0 ब्रा0 39.1

22 स एवैनमशान्ततनु..... स्वर्गाल्लोकान्नुदते क्षत्राच्च बलाच्च राष्ट्राच्च विशश्च।

23 ऐत0 ब्रा0 39.9 के अनुसार शपथ का उल्लंघन करने पर अत्यारति को राजपद से पदच्युत करके उसका वध सुष्मिण नामक राजा ने किया था।

विधि के व्याख्याता पुरोहित सेना अथवा प्रजा के विरुद्ध कोई आचरण करता था तो उसे राजपद, सेना, राष्ट्र और प्रजा सबसे तिरस्कृत कर दिया जाता था।[24]

इस प्रकार वैदिक अनुबन्ध सिद्धान्त में उन सभी तत्त्वों का समावेश है जो राज्य के लिए अपेक्षित हैं। राजा को अपने कर्त्तव्यों के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी ठहराया गया है। प्रजा के हित के लिए राजा किन-किन उत्तरदायित्वों को वहन करेगा। इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है और किन परिस्थितियों में राजा को पदच्युत किया जाएगा, इसका भी निर्धारण कर दिया गया है।

डॉ0 घोषाल के अनुसार[25]-'पाश्चात्त्य विचारक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दार्शनिक सिद्धान्त के स्तर को अधिक नहीं उठा सके थे। उन्होंने अनुबन्ध की शर्तों की व्याख्या इस प्रकार तो की है कि जिससे वे राजनीतिक संस्था के मूल तक पहुँच जाते हैं तथा प्रभुसत्ता के स्वरूप को स्पष्टरूप से परिभाषित करते हैं। इनकी अपेक्षा वैदिक काल का अनुबन्ध सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि से अधिक परिपक्व और व्यावहारिक है, क्योंकि वह प्रजा के प्रति राजा के उत्तरदायित्व की स्पष्ट व्याख्या करता है।'

पाश्चात्त्य विचारकों ने राज्य उत्पत्ति के जिस सिद्धान्त की व्याख्या की है वह दार्शनिक धरातल पर सही होते हुए भी पूर्ण नहीं है। इस दृष्टि से वैदिक अनुबन्ध का सिद्धान्त अधिक विकसित और स्पष्ट है, जिसमें राजा और प्रजा के कर्त्तव्यों का विवेचन सम्यक् रूप से किया गया है। कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य को विना देखे ही यह कहा कि अनुबन्ध का सिद्धान्त अपूर्ण है। इसमें राजा और प्रजा के अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में यह सम्भव भी नहीं था। उपर्युक्त विवेचन से इनके मत का निराकरण हो जाता है।[26]

दैवी सिद्धान्तः

इस सिद्धान्त के अनुसार राजा में देवों के अंश होते हैं, इसी कारण वह दिव्य होता है। जिसके कारण वह शासन चलाने में समर्थ हो जाता है। साधारण व्यक्ति राजा नहीं हो सकता। इस विषय का विवेचन वैदिक संहिताओं में हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसकी विस्तृत व्याख्या मिलती है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि अराजक स्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए ब्रह्मा ने सर्वप्रथम निम्नलिखित आठ देवों को राजा बनाया-इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र,

---

24 ऐत0 ब्रा0 35.2 में उल्लेख है कि राजा ने कुछ ऐसे अत्याचार और हत्यायें की, जो शपथ व राजनियमों के विपरीत थी अतः उसको राजपद से हटा दिया गया और उसके कुछ सामाजिक अधिकार भी छीन लिए।

25 त एवैनमशान्ततनवोऽनभिहुता अनभिप्रीताः स्वर्गाल्लोकानुदन्ते, क्षत्राच्च बलाच्च राष्ट्राच्च विशश्च। ऐत0 ब्रा0 40.1

26 (*I*) यू0एन0 घोषालः ए हिस्ट्री आफ पोलीटिकल आइडियाज पृ0 539 (II) ए0एस0 अल्तेकर-प्राचीन भारतीय शासन पद्धति तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ0 22.

पर्जन्य, यम, मृत्यु ईशान। इनको राजा बनाकर ब्रह्मा ने कहा-"इन राजाओं से उत्कृष्ट समाज में और कोई नहीं है।" इसके बाद समाज में वर्ग बनाये गये जिनको ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के नाम से जाना गया। देवों के अनुकरण से ही मनुष्यों के राजा बनाये गये। समाज का संचालन करने के लिए विधि का निर्माण किया गया और राजा को विधि के अधीन रखा गया।[27]

प्रस्तुत प्रसंग में राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का विवेचन बहुत ही स्पष्टरूप में हुआ है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि-'देव राजा हैं, उनके शासन के लिए साधारण जनता की कल्पना करनी चाहिए। देवों के समान ही मनुष्यों की भी साधारण जनता हो जाएगी, इस प्रकार जनता और राजा के मिलने पर यज्ञ तैयार हो जाता है।'[28]

राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक आख्यायिका के माध्यम से निम्न लिखित प्रकार प्रतिपादित किया है-प्रजापति ने इन्द्र को देवों का राजा बनाने की इच्छा प्रकट की। राजपद पाने का अधिकारी होने के लिए इन्द्र ने प्रजापति से उसके तेज की प्राप्ति हेतु याचना की। इस तेज के प्राप्त कर लेने के उपरान्त इन्द्र देवराज बन गया। यद्यपि वह देवों में छोटा था।[29] प्रजापति के तेज की प्राप्ति के पूर्व वह साधारण देव था। इन्द्र और अन्य देवों में कोई विशेष अन्तर न था। परन्तु प्रजापति के तेज को धारण कर लेने से इन्द्र देवों का राजा बन गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजपद प्राप्ति के लिए वही व्यक्ति उचित अधिकारी है, जिसमें प्रजापति का तेज विद्यमान हो। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। राज्याभिषेक के प्रसङ्ग में उल्लेख है कि राज्याभिषेक से पूर्व प्रस्तावित राजा और अन्य लोगों में विशेष अन्तर नहीं होता। परन्तु राज्याभिषेक के बाद राजा, यजमान और "विष्णु" इन दोनों का रूप एक साथ धारण कर लेता है।[30]

ब्राह्मण ग्रन्थों में दैवी सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ-साथ इसके दार्शनिक पक्ष पर भी विचार किया गया है; जिसमें मनुष्य के स्वभाव का अध्ययन करने के बाद यह निश्चित किया गया कि मनुष्य का स्वभाव अनृतगामी है[31] अर्थात् वह अपराध करने की ओर चलता है। इसलिए उसे अनृत करके ऋत् की ओर प्रवृत्त करने में उसका कल्याण समझा गया। मानव सृष्टि से पूर्व देवों की सृष्टि मानकर उनके स्वभाव का अध्ययन किया गया और देवों को ऋत् का अनुसरण करने वाले बताया गया। नैतिक नियमों को ऋत् बताया गया है।

---

27 शत0 ब्रा0 14.1.2.23

28 देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्पमाना अनुमनुष्यविश कल्पन्त इति सर्वाविशः कल्पन्ते कल्पते यज्ञोऽपि-ऐत0 ब्रा0 2.3

29 तैप्ति0 ब्रा0 2.2.10.1-2 (4) शत0 1.1.1.4-सत्यमेवदेवानृतंमनुष्याः

30 उभयं वा एषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च शत0 ब्रा0 3.2.5.17

31 शत0 -1.1.1.4-तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति

जिससे मनुष्य समाज का कल्याण होता है।

इस प्रकार यह सिद्धान्त निर्धारित किया गया कि मनुष्यों को भी देवों के समान ऋत्गामी बनाया जाए।[32] मनुष्य भी देवों के स्वभाव को धारण करें। इसके लिए उन्होंने यह उपाय सोचा कि सब मनुष्यों का एक साथ परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसलिए मनुष्यों में से एक शक्तिशाली व्यक्ति को ऋत् का अनुगामी बनाकर मनुष्यों का नेता बनाया जाए, जो उनको ऋत् के मार्ग पर चला सके। यह व्यक्ति शक्तिशाली होने के साथ-साथ दिव्य शक्तियों से युक्त होना चाहिए।

राजा मनुष्य समाज को नैतिक पतन से रोककर सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयास करता है। वह स्वयं चरित्रवान् होगा, उदात्त चरित्र का होगा, तभी मानव समाज के कल्याणकारी कार्य करने में समर्थ हो पाएगा। इसलिए कहा जाता है-**"यथा राजा तथा प्रजा"**

इस प्रकार दैवी सिद्धान्त के द्वारा राजा में दिव्य गुणों का आधान करके उसे देवत्व कोटि में होना चाहिए, यही भाव निहित है।

दैवी सिद्धान्त का स्वरूप और महत्त्वः

वैदिक साहित्य में वर्णित दैवी सिद्धान्त इसी भावना से ओतप्रोत है। इसी कारण यह सिद्धान्त अपने आप में अनुपम है। जिस समय प्रस्तावित राजा का राज्य अभिषेक किया जाता है, उसी समय विभिन्न देवताओं को यज्ञ में आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। इसका भाव यह है कि राजा में उन देवताओं के अंश को प्राप्त करने का उपक्रम प्रारम्भ होता है। इसलिए जब तक विशेष विधियों के द्वारा राज्याभिषेक नहीं हो जाता तब तक राजा नहीं माना जाता।

वेदकालीन समाज में यह मान्यता थी कि यज्ञ के द्वारा देव प्रसन्न होते हैं वह प्रजापति का रूप हैं और यज्ञकर्त्ता यज्ञ के द्वारा देवत्व को प्राप्त हो जाता है।[33] इसी प्रकार प्रस्तावित राजा राज्याभिषेक के बाद देवत्व को प्राप्त करके असाधारण हो जाता है।

इसी प्रसङ्ग में कहा गया है कि प्रस्तावित राजा को-सविता देव आदेश देने के लिए 'अग्नि' देव गार्हपत्य की रक्षा के लिए, 'बृहस्पति' वाणी के लिए, 'इन्द्र' ज्येष्ठता के लिए, रुद्र पशुओं की रक्षा के लिए, मित्र सत्य की रक्षा के लिए, वरुण धर्मपति की रक्षा के लिए, अपने-अपने दिव्य गुण प्रदान करें।[34] इसी प्रसंग में कहा गया है कि ये देवता अपने

---

32 कौष0 ब्रा0 25.11.10.1, ऐत0 ब्रा0 7.7 आदि

33 शत0 ब्रा0 5.2.7.2-10 एवं शत0 ब्रा0 5.2.7.11-सविता त्वा सवानां सुवताम् अग्निर्गृहपतीनां सोमो वनस्पतीनां बृहस्पतिर्वाचे इन्द्रो ज्येष्ठ्याय, रुद्रः पशुभ्यः मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्। तैत्रि0 ब्रा0 1.7.4 में देवों के क्रम में अन्तर है सविता सबसे अन्त में है रुद्र का उल्लेख इन्द्र से पहले हैं।

34 (क) एता ह वै देवा सवस्यशते..........। शत0 ब्रा0 5.2.7.13 (ख) एनं सत्यसवं करोति, इन्द्रमेवैनं

दिव्य गुणों के अंश से इस अभिषेक करने वाले राजा को युक्त करते हैं।[35]

इसी प्रकार साधारण गुणों से युक्त राजा उपर्युक्त देवों के अंश से देवत्व को प्राप्त होकर महिमाशाली हो जाता है। अब वह भी दिव्य गुणों से विशिष्ट देवतुल्य हो गया। इन दिव्य गुणों को धारण करना सरल नहीं था। इसके लिए त्याग और तप द्वारा आत्म साधना के मार्ग का अवलम्बन आवश्यक था। इस दृष्टि से वैदिक युग के राजा का देवत्व उसके आचरण पर निर्भर करता था। राजा के आचरण की उत्कृष्टता उसके देवत्व से संबद्ध थी। जितना पवित्र राजा का आचरण होगा, उतने ही देवत्व का विकास राजा में होगा। इसी कारण वैदिक साहित्य में विविध प्रकार के राजाओं का उल्लेख है।[36] वेद व्याख्याकारों-महीधर, उव्वट, सायण आदि का मत है कि ये राजा विविध प्रकार के यज्ञ करने के उपरान्त विविध उपाधियाँ धारण करते थे।[37] राज्याभिषेक के सिद्धान्त भी इसी की पुष्टि करते हैं। राजसूय यज्ञ करने वाला राजा और वाजपेय यज्ञ करने वाला सम्राट् कहलाता था।[38] इन यज्ञों का अनुष्ठान करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी नहीं था। जिस में विशेष गुणों का समावेश होता था वहीं इन यज्ञों का अनुष्ठान कर सकता था। इन्द्र का अभिषेक करते समय स्पष्ट रूप से उन गुणों का उल्लेख किया गया है जो अभिषेक के लिए आवश्यक थे।[38] इससे यह भी ध्वनित होता है कि तत्कालीन राज्य सीमा-विस्तार की दृष्टि से ही छोटे या बड़े नहीं माने जाते थे, अपितु राज्य में निवास करने वाली जनता एवं उनके शासकों के दिव्य आचरण की मात्रा के आधार पर छोटे बड़े माने जाते थे। ब्राह्मणग्रन्थों और वैदिक संहिताओं में राष्ट्राध्यक्षों को उनके दिव्य गुणों के कारण ही इन्द्र, वरुण, यम, सोम, मृत्यु, ईशान आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था।

भारतीय इतिहास में ऐसे असंख्य उदाहरण विद्यमान हैं, जिनसे यह विदित होता है कि बहुत से व्यक्तियों ने इन्द्र पद की प्राप्ति के लिए कठिन साधनायें कीं, यज्ञ किये, परन्तु फिर भी उनको इन्द्र का पद प्राप्त नहीं हुआ। इसका कारण उनका निम्न स्तर का आचरण ही था, जो तप करते हुए विविध प्रकार के प्रलोभनों से अपने आपको रोक नहीं पाते थे और इन्द्र के पद से वञ्चित हो जाते थे। समय के परिवर्तन के साथ-साथ विविध प्रकार की राजा की उपाधियों में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए और बाद में ये उपाधियाँ तत्तत् देशों के राज्य व राजा की संज्ञा में रूढ हो गयी। परन्तु वैदिक संहिताओं में उपलब्ध प्रमाणों से यह सुस्पष्ट है कि प्रारम्भ में राजपद विभिन्न श्रेणी के होते थे, जिनका वर्गीकरण उनके लिए

सत्यौजसं करोति ......एनं सत्य धर्माणं करोति...। तैत्ति0 ब्रा0 1.7.10.2-4

35 कौ0 ब्रा0 9.5-6, ऐत0 37.2

36 (मध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद 8.37 द्र0 उव्वट व महिधर भाष्य काण्व संहिता शुक्ल यजुर्वेद-सा0 भा0।

37 (क)राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। शत0 ब्रा0 5.1.1.13, (ख) स राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामाधत्तः ....। गोपथ ब्रा0 5.8, (ग)स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्तः । वही....

38 ते देवा अब्रुवन् स प्रजातिका -अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः इममेव अभिषिञ्चामहा इति, तद्वै तदिन्द्रमेव। ऐत0 ब्रा0 38.1

निर्धारित दिव्य गुणों के समावेश के आधार पर किया जाता था।

वैदिक दैवी सिद्धान्तों की विशेषता:

वैदिक दैवी सिद्धान्तों की दो विशेषताएँ हैं। राजा की दिव्य उत्पत्ति और उसका दिव्य आचरण। ब्राह्मण ग्रन्थों के उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि राजा की उत्पत्ति यज्ञ से दीक्षित होकर राज्याभिषेक द्वारा होती है, जो सामान्य राजाओं की अपेक्षा भिन्न है। पुरोहित यज्ञ की वेदी पर आसीन राजा में विभिन्न देवों के गुणों के उन-उन अंशों को धारण कराता है, जो राज संचालन के लिए अत्यावश्यक हैं। इसके बाद राजा के आचरण में विशेष प्रकार के दिव्य आचरण का समावेश होता है। यह दिव्य आचरण विभिन्न देवों के गुणों के अंशों से ही हुआ है। परन्तु वह उन सबसे विशिष्ट है। किसी भी एक देव में वैसा आचरण नहीं है। इस प्रकार राजा की दिव्य उत्पत्ति के समान उसका आचरण भी दिव्य गुण मिलने से दिव्य हो जाता है। इस आचरण के कारण ही वह अलौकिक और असाधारण होता है।

डॉ. बलवीर आचार्य,
संस्कृत विभाग महर्षि दयानन्द
विश्वविद्यालय रोहतक (हरियाणा)

ऋग्वेद की अद् धातु का अर्थविचार

आचार्य पाणिनि के धातुपाठ में 'अद्' धातु भक्षण करना अर्थ में पठित है, जो परस्मैपदी है।[1] 'संस्कृत धातुकोष:' में 'अद्' धातु के खाना, भक्षण करना तथा नष्ट होना ये अर्थ दर्शाये हैं।[2] श्री चन्नवीर कवि ने अद् धातु का अर्थ खादति दिखाकर इससे अदन्, अद:, अदक: (खाने वाला), अत्ता (श्वश्रु), अत्तिका (भाभी), आदम् (अधिक), अत्ति: (अञ्जीर), अन्तम् (भक्त, आहार), आदि: (प्रभृति), अत्तम्, अत्ति:, अत्तव्यम्, अदनम्, अदनीयम्, अदु, आदु, अद्यम्, आद्यम्, अद्, आद्, अदि (खाद्य पदार्थ), अन्नादम् (अन्नविक्रय), अद्य (इस दिन)-इन शब्दों की उत्पत्ति दर्शायी है।[3] कतिपय शाब्दिकों का कथन है कि उपर्युक्त 'अत्ता' शब्द, जो श्वश्रूवाचक है, प्राकृतभाषा का शब्द है। जैसे कि प्रयोग प्राप्त है-''अत्ता एत्थ निमज्जइ.......'। यह पद्य साहित्य दर्पण के प्रथम परिच्छेद में प्राप्त होता है। टीकाकारों ने 'श्वश्रूरन्त्र निमज्जति' यह उसकी संस्कृतच्छाया बनायी है। वस्तुत: श्वश्रूवाचक 'अत्ता' शब्द मूलरूप से संस्कृत भाषा का ही है-ऐसा श्री चन्नवीरकविकृत काशकृत्स्नधातुपाठ की टीका से स्पष्ट होता है। शाब्दिकों से सम्मत देशिक शब्द भी प्राकृत अपभ्रंशादि भाषाओं में बहुत सारे संस्कृत भाषा के शुद्ध शब्द प्राप्त होते हैं। उनका मूल तो देशविशेष में प्रयोग प्राप्त होने पर ज्ञात होता है। बहुत से संस्कृत शब्दों का देशविशेष में ही प्रयोग होता है। जैसे कि आचार्य यास्क ने कहा है-

''शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति।[4]''

इसी विचार धारा को भगवान् पतञ्जलि ने विस्तार देते हुए कहा है-

एतस्मिंश्चातिमहति प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मति: सुराष्ट्रेषु, रंहति प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्या: प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु इति।[5]

इस प्रकार 'अत्ता' शब्द श्वश्रूवाची ही है, जो मूलरूप से संस्कृतभाषा का है। 'अद्' धातु को उपलब्ध धातुपाठों में अदादिगण की प्रथम धातु स्वीकार किया गया है और इसी धातु के नाम से इस गण का नाम भी अदादिगण पड़ा है। साथ ही चान्द्र, काशकृत्स्न, सारस्वत, क्षीरतरङ्गिणि, धातुप्रदीप आदि धातुकोषों में इसे भक्षणार्थ में ही पढ़ा गया है।

ऋग्वेद में 'अद्' धातु के अत्ति, अत्ति, अत्त:, अदन्ति, अत्सि, अद्धि, अत्तु, अदन्तु,

---

1 अदादि0 1

2 रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ सोनीपत से 1996 में प्रकाशित

3 काशकृत्स्न धातुव्याख्यानम् अदादि0 1

4 निरुक्त 2/2.

5 पस्पशाह्निके1/1 आ0 1

अद्धि, अद्धि, अत्त > त्ता, अत्तन, आदत्, अद्युः- ये चौदह रूप प्राप्त होते हैं। ये स्वरभेद से चौदह हैं वस्तुतः ये बारह रूप ही हैं। ऋग्वेद में यह अद् धातु तैंतीस स्थलों पर प्रयुक्त हुई है। भाष्यकारों में स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, उद्गीथ, नारायण, आत्मानन्द तीर्थ, सायण एवं स्वामी दयानन्द ने 'अद्' धातु भक्षणार्थ में ही व्याख्यात की है। नीचे हम उन समस्त मन्त्र अथवा मन्त्रांशों को प्रस्तुत कर रहे हैं, जहाँ 'अद्' धातु प्रयुक्त हुई है-

देवता मन्त्र-

अग्निः इभ्यान्न राजा वनान्यत्ति।। ऋ0 1.65.4
अग्निः त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्।। ऋ0 1.94.3
अग्निः अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति।। ऋ0 1.143.5
विश्वेदेवाः तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति।। ऋ0 1.164.20
विश्वेदेवाः अद्धि तृणमह्न्ये विश्वदानीम्।। ऋ0 1.164.40
अग्निः त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्।। ऋ0 2.1.13
अग्निः आसा देवा हविरदन्त्याहुतम्।। ऋ0 2.1.14
इन्द्रः असिन्वन्द्रंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनम्।। ऋ0 2.13.4
अपां नपातः स्व आ दमे सुदुवा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति।। ऋ0 2.35.7
इन्द्रः दिवे दिवे सदृशीरद्धि धानाः।। ऋ0 3.35.3
इन्द्रः अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः।। ऋ0 3.52.7
अग्निः नितिक्ति यो वारणमन्नमत्ति।। ऋ0 6.4.5
अग्निः ज्योक् चिदन्ति गर्भो यदच्युतम्।। ऋ0
अग्निः यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति।। ऋ0 8.102.21
पितृलोकाः उशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु।। ऋ0 10.15.8
पितृलोकाः अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिषि।। ऋ0 10.15.11
पितृलोकाः अद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि।। ऋ0 10.15.12
इन्द्रः पत्तो जगार प्रत्यञ्चमत्ति।। ऋ0 10.27.13
इन्द्रः तस्थौ माता विषितो अत्ति गर्भः।। ऋ0 10.27.14
इन्द्रः पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषाम्।। ऋ0 10.28.3
इन्द्रः सिम उक्ष्णोऽवसृष्टाँ अदन्ति।। ऋ010.28.11
बृहस्पतिः दुद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमादत।। ऋ0 10.68.6
अग्निः असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः।। ऋ0 10.79.1

असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि।। ऋ0 10.79.2
अग्निः जायमानो मातरा गर्भो अत्ति।। ऋ0 10.79.4
इन्द्रः उताहमद्मि।। ऋ0 10.86.14
रक्षोघ्न अग्निः आमादः क्ष्विङ्क्कास्तमदन्त्वेनीः।। ऋ0 10.87.7
पुरुरवाः अद्यैनं वृका रभसासो अद्युः।। ऋ0 10.95.14
विश्वेदेवाः ऊर्जं गावो यवसे पीवो अत्तन।। ऋ0 10.100.10
आप्रीः स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः।। ऋ0 10.110.11
इन्द्रः अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य।। ऋ0 10.116.7
परमात्मा:मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति।। ऋ0 10.125.4
अरण्यानिः उत गावइवादन्ति।। ऋ0 10.146.3

उपर्युक्त मन्त्रों में 'अद्' धातु को यद्यपि भाष्यकारों ने 'भक्षण करना' अर्थ में ही व्याख्यात किया है, किन्तु जहाँ मन्त्र का देवता 'अग्निः' है, वहाँ धातु का तात्पर्यार्थ जलाना, भस्म करना, नष्ट करना, समाप्त कर देना, विध्वंस करना, भस्मी भूत कर देना, दहना, दग्ध करना आदि भी लिये गये हैं। जैसे प्रथम मन्त्र को ही लें, इसका देवता अग्नि है। अर्थ है-जैसे राजा शत्रु का विनाश करता है वैसे ही अग्नि वन का भक्षण करता है। आचार्य सायण कहते हैं-''अग्निः वनानि महान्त्यरण्यानि अत्ति भक्षयति। दहतीत्यर्थः''।। यह तात्पर्यार्थ होने के उपरान्त भी यह नहीं कहा जा सकता है कि 'अद्' धातु का अर्थ 'दहन करना' है। क्योंकि 'दहन करना' तो तात्पर्यार्थ ही है। अर्थ तो 'भक्षण करना' है। अरण्यों को 'भस्म करना' अग्नि का कार्य है अर्थ तो भक्षण करना ही है। इसीप्रकार जिस मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है और वहाँ अर्थ है-''गौ तृण को चरो'' वहाँ 'चरना' अर्थ भक्षण को ही सूचित कर रहा है। मन्त्र का देवता यदि इन्द्रः है और वहाँ इन्द्र शब्द से आदित्य की स्तुति की जा रही है तब यदि मन्त्र कहता है कि आदित्य जल को निगलता है, अथवा ग्रहण करता है, भाष्यकार यदि तब इसका तात्पर्यार्थ 'स्वमण्डल' में अवस्थापित करता हैं करते हैं तो अर्थ भक्षण करना ही है। अर्थात् ''आदित्य जल का भक्षण करता है।'' इसी प्रकार इन्द्रः सूर्य दुग्ध का पान करते हैं या पापों का नाश करते हैं'' तात्पर्यार्थ 'भक्षण करना' ही सूचित है। 'इन्द्र भोगों को भोगे' इन्द्र सोम का पान करे, उसने बल नामक का भक्षण किया या मारा-ये सब तात्पर्यार्थ हैं, किन्तु अद् धातु का मूलार्थ भक्षण करना ही दिखाता है। देवता और कर्म को ध्यान में रखते हुए यद्यपि 'अद्' धातु प्रयोग रूप में जलाना, भस्म करना, नष्ट करना, समाप्त करना, विध्वंस करना, भस्मीभूत करना, दहना, दग्ध करना, जला देना, विनाश करना, चरना, निगलना, ग्रहण करना, स्वीकार करना, अवस्थापित कराना, पान करना, नाश करना, भोगना, मारना इन अर्थों को तात्पर्यार्थ में प्रयोग कर भाष्यकारों ने वाक्यरचना गठित की है, किन्तु उनका अभिप्राय 'भक्षण करना' अर्थ से ही है।। एवं अद् धातु ऋग्वेद में 'भक्षण करना' अर्थ में प्रयुक्त है।।

डॉ0 सत्यदेव निगमालङ्कार

व्याकरणे श्री भट्टोजिदीक्षितस्तत्परिचयश्च

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिः विश्वस्यास्य निबन्धती यथेन्नः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते इति भर्तृहरि वाक्यानुसारेण शब्दमूलक एव सर्व व्यवहारः संसारे निष्पद्यते।

पश्वादीनामपि व्यवहाराः शब्दपूर्वका एव भवेयुः पुराणादिषु पश्वादिभाषाणां श्रवणात्। विशेषतस्तु मानवानां व्यवहाराः शब्दं विना कथमपि न सम्पद्येरन्निति सार्वजनीनमेव मानवानां च व्यवहारा द्विविधा भवन्ति। शारीरिकाः पारलौकिकाश्च। द्वयोऽपि व्यवहारा पारम्परिका एव प्रशस्ता भवन्ति। पूर्वजानां परम्परातो ये व्यवहारा शरीर संबन्धिनोऽपि समागतास्ते एव मानवैः यदि पालनीया भवन्ति। पारलौकिकाः परलोकोपयोगिनो ये व्यवहाराः धर्मरूपास्ते वेदविहिताः सन्ति। एवं च द्विविधेष्वपि व्यवहारेषु शोभनपदवीलाभाय शब्दज्ञानमेवातिशेते शब्दज्ञानेनैव शारीरिकव्यवहाराय भौतिकानि शास्त्राणि परिज्ञातानि भवन्ति। पारलौकिके धर्मानुष्ठानाद्यात्मके व्यवहारेऽपि वेदानां सम्यग्ज्ञानाय शब्द ज्ञानमेवावश्यकं भवति।

एतदर्थमेव शब्दानुशासनात्मकं व्याकरणं प्रणिनाय भगवान् पाणिनिः। शब्दानुशासनप्रयोजननिरुपणो च भगवान् पतञ्जलिरप्याह ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। षडङ्गेषु च व्याकरणं मुखस्थानीयमिति तदेव प्रधानम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति। व्याकरणेनैव परिष्कृतशब्दाः प्रयोक्तुं शक्यन्ते व्याकरणेन परिष्कृता शब्दा एव शिष्टैः प्रयुज्यन्ते। व्याकरणसंस्कारहीनाः शब्दाः म्लेच्छशब्दाः कथ्यन्ते म्लेच्छशब्दाः शिष्टैर्न प्रयोज्याः। न म्लेच्छितवैनापभाषितवै इति श्रुतेः। एवं व्याकरणाध्ययनं परमावश्यकम्। तत्राधुना पाणिनीयं व्याकरणमेव शिष्टैः परिगृहीतमस्ति। व्याकरणे च महर्षिणा पाणिनीना सूत्राणामष्टाध्यायी निर्मिताऽस्ति।

तदङ्गतया ये धातुपाठो गणपाठो लिङ्गानुशासनं च प्रणीतम्। एतेषां सम्यग् कारकानामपि व्याकरणज्ञानायात्यन्तमुपयुज्यते। तत्र पाणिनिसूत्रेषु महर्षेः पतञ्जलेर्महाभाष्यं तत्र सर्वकारकोपजीव्यत्वेनङ्गीकृतमस्ति। तदेवाश्रित्य पाणिनिसूत्रेषु बहूनि कारकाना- न्यद्यत्वे समुपलभ्यन्ते। तत्र श्रीभट्टोजिदीक्षितस्य व्याख्यानं साम्प्रतं पाणिनिशास्त्रस्य सम्यग् बोधाय विदुषां विशेषतः समादरणीयतां भजति।

श्री भट्टोजिदीक्षितस्य पाणिनिव्याकरणे निबन्धद्वयं प्रसिद्धं वरीवर्ति तत्रैको निबन्धः "वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीनामधेयः सम्प्रति वैयाकरणैरध्यापकैः छात्रैश्च महता निर्बन्धेन गृह्यमाणो विराजते प्रायोद्यत्वे ये खलु व्याकरणशास्त्रस्य मर्मज्ञा विद्वांसो भारते गण्यन्ते ते सर्वे वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीमेव सम्यगधीत्य तत्र सविशेषपाटवेन गृहीत्वैव संमान्यतामधिगताः सन्ति। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी समधीता सती व्याकरणे सर्वाङ्गीणं ज्ञानं जनयति। सा यदि श्रमेणाधीत्य सम्यगधीगता स्यात्तर्हि वैयाकरणसिद्धान्ताः निःशेषेण परिज्ञाता भवन्ति। अपरेषु च सर्वेषु व्याकरणव्याख्यानभूतेषु ग्रन्थेष्वपि साधिकारं क्रीडितुं ते प्रभवन्ति। एकस्मिन्नपि एव कृतः प्रयत्नः सर्वत्र फलवान् भवितुं शक्नोति उक्तं च केनापि।

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः। कौमुदी यद्य कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः। साम्प्रतमेतादृशी खलु वैयाकरणेषु स्थितिः परिदृश्यते प्रायः यद् वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीं ये नाधीतवन्तस्ते व्याकरणशास्त्रे सूत्र परिभाषा एव मन्यन्ते एवं च व्याकरण शास्त्रे श्री भट्टोजिदीक्षितस्य नाम स्वर्णाक्षरै लेखनीयतामर्हा।

भट्टोजिदीक्षितस्यकृतय

अस्य सहोदरोऽपि रङ्गोजिमहाभिधोऽद्वैतशास्त्रनिष्णातो वाग्देवतावताररूप एवासीत्। तस्यैव पुत्रः श्री कौण्डभट्टो वैयाकरणभूषणसारस्य कर्ता सीदितिकौण्डभट्टेनैव वैयाकरणभूषणसारस्य मङ्गलश्लोके नाम्यध्याये पाणिन्यादि मुनीन् प्रणम्य पितरं रङ्गोजिभिधं, द्वैतध्वान्तनिवारणैकफलिकां पुम्भाववाग्देवतामिति। भट्टोजिदीक्षित भट्टं पितृव्यं नौमि सिद्धये, इत्यपि तेनोक्तम्। एवं च विद्यार्णवावगाहनोद्भूतयशः समुज्ज्वलकुलकमल- भास्करस्य श्रीभट्टोजिदीक्षितस्यानवद्यवैदुष्यं निर्विवादमेव वरीवर्ति। पदवाक्यप्रमाण- पारावारीणामेभिः यद्यपि विभिन्नेषु शास्त्रेष्वनेके शास्त्रसारसंग्रहभूता निबन्धाः प्रणीतास्तथापि पाणिनिव्याकरण शास्त्रमाश्रित्यैषां ये निबन्धा सन्ति। ते लोके निखिलव्यवहारपथिकमूर्धन्यशब्दज्ञानोपबृहंणत्वेन परमादरणीयतया विजयतेतराम्।

व्याकरणे शास्त्रेऽप्यनेके निबन्धा एभिः प्रणीताः सन्ति। तत्र पाणिनीयमष्टाध्यायी-माश्रित्य महाभाष्यमनुसरन्तः शब्दकौस्तुभनाम्ना व्याख्यानात्मकं निबन्धरत्नं प्रणीतवन्तः, तेन खल्वेतेषां व्याकरणशास्त्रे प्रतिभाप्रागल्भ्यमतिशयेन चकास्तितराम् शब्दार्णवस्य मन्थनाज्ञातः कौस्तुभोऽयं निबन्धः कौस्तुभाभामिव शब्दशास्त्रस्य महतीं शोभां जनयति। अस्य निबन्धस्य वैशिष्ट्यमिदमस्ति यस्मिन् विषये विवेचनमारभ्यते तत्र संबन्धिनो यावन्तो विषयाः विचार्यत्वेन समयेक्षिता भवेयुस्तावन्तः सर्वे विषया एकेनैव संकलय्य विविच्यमाना भवन्ति। शब्दकौस्तुभारम्भे स्वयमेवाह भट्टोजिदीक्षितः परिभाव्य बहून् ग्रन्थान् योऽर्थः क्लेशेन लभ्यते। तमशेषमनायासादितो गृह्णीतसज्जनाः इति विषयविचारेषु प्रसङ्गादपि यद्यन्यो कश्चनायाति तं प्रासङ्गिकमपि विषयं सामस्त्येन तत्र विचारयित्वा मुख्यं विषयं विवेचयति। प्रथमाङ्गिकारम्भ एव अथ शब्दार्थविचारप्रसङ्गे निपातनां द्योतकत्व-वाचकत्वविचारोऽपि. शास्त्रान्तरसमीक्षापूर्वकं सम्यङ्निर्णीतः तत्रान्तिमा पङ्क्तिरीदृशी अस्तु वा मतान्तरं निपातावाचका इति सर्वथाऽपि प्रादयो द्योतकश्चादयस्तु वाचका, इत्येवं रूपमर्थ जातीयं नैयायिकाभ्युपगतमप्रामाणिकमेवेति दिक्।

एतादृश्या शैल्या न केवलो मुख्यो विषय एव स्पष्टीभवति विषयान्तरमपि तेन सह सम्यक् परिस्फुटं भवति यथा एकमेव सर्वेऽपेक्षिता विषया परिज्ञायन्ते। तस्मिन् विषये जिज्ञासूनां सर्वविद्या जिज्ञासाऽनायासेनैव शाम्यते, दुलर्भा चेदृशी विषया बोधनशैल्यन्यत्र कुत्रापि? एतस्याः पिता लक्ष्मीधरदीक्षित आसीत्। पुत्ररत्नो भानुजीदीक्षितो बभूव। येन नरसिंहकृतायामरकोशस्य सुधानाम्नी व्याख्या व्यधायीति ज्ञायते। श्री भट्टोजि दीक्षितस्य द्वितीयोऽपि पुत्रो वीरेश्वरदीक्षित आसीदिति केचिन्मन्यन्ते। अपरे तु भानुजिदीक्षितस्यैवापरं नाम वीरेश्वर दीक्षित आसीदिति कथयन्ति। एतस्यैव भानुजिदीक्षितस्य पुत्रेण हरिदीक्षितेन श्री

भट्टोजिदीक्षितकृतप्रोढमनोरमा शब्दरत्ननामकेन व्याख्यानेनालङ्कृता।

भट्टोजिदीक्षितस्य समय एव पण्डितराजो जगन्नाथो रसगङ्गाधरस्य प्रणेता आसीत्। पण्डितराजस्तु प्रतिभावान् पण्डितमानी आसीत्। श्री भट्टोजिदीक्षितस्योत्कर्षमसहिष्णुः स प्रोढमनोरमायाः खण्डनाय मनोरमाकुचमर्दिनी नाम्ना समीक्षात्मिका टीका व्यलेखि। हरिदीक्षितेन तस्याः समीक्षायाः समाधानं सम्यग् विधाय प्रमाणैः भट्टोजिदीक्षितोक्तिः समर्थिता।

भट्टोजिदीक्षितस्य भ्रातुष्पुत्रेण निर्मितो यो वैयाकरणभूषणसारः तस्य मूलभूता कारिकाः शब्दकौस्तुभे निर्णीतानर्थानादायैव प्रवृत्ताः सन्ति तांश्च भट्टोजिदीक्षितेनैव संकलिता इत्यपि श्रूयते। तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणोह कथ्यत इत्याद्य मङ्गल कारिकया। महाभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभास्योद्धरणेनैव तत्र निर्णीतानामर्थानां सुखबोधाय कारिकासु संक्षिप्य प्रतिपादनस्यौचित्यास्पदत्वात्। एतासु कारिकासु वैयाकरणाः सर्वे मुख्याः सिद्धान्ताः व्याकरणशास्त्रस्यलङ्कारभूताः प्रतिपादिताः सन्ति तेषामेव विशदीकरण- वैयाकरणभूषणसारे कौण्डभट्टेन कृतम्।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी नामकोऽपरो निबन्धः शब्दशास्त्रीयः निरवद्य सिद्धान्तध्वान्तदूरीकरणाय चन्द्रज्योत्स्नायमानः लोकोपकारकरणायानेन महाविदुषा प्रणीतः। यः साम्प्रतं शब्दतत्त्वमधिजिगमिषूणां जनानामेव बोधनाय विजयतेतराम्। यद्येषु निबन्धोऽधुना न स्यात्तदा मन्ये यदयं लोकः पाणिनीयव्याकरणावबोधेन वञ्चित एव स्यात्। इतः पूर्वं ये व्याकरणशास्त्रीया निबन्धा काशिकादय आसन् ते खलु पाणिनीय- सूत्राण्यादाय महाभाष्यानुसारिप्रोढव्याख्यानपरा एव न तैनिबन्धैः शब्दस्वरूपबोधाय कश्चन प्रभवेत्। शब्दस्वरूपज्ञानं विना न तैर्निबन्धैः कश्चन् लाभः केनचिल्लभ्येत। अतस्ते काशिकादयो निबन्धा प्रोढपाण्डित्योत्कर्षायैव भवेयुः शब्दस्वरूपमधिगन्तुमिच्छुनां व्याकरणमधीयानानां छात्राणामुपकारायैषा वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्येव हितावहेति निश्चयप्रचं वक्तुं शक्यते। येषां संस्कृतशब्दज्ञानं मनागपि नास्ति। संस्कृतशब्दानां प्रयोगज्ञानायैव संस्कृतशिक्षितुं प्रवृत्ता भवन्ति। तेषां पुरुतो यद्यष्टाध्याय्येव प्राक् प्रस्तूयेत। अष्टाध्यायाः प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादस्थानां सूत्राणां व्याख्यानं च प्रारभ्येत, तदा स सर्वमप्रतिपित्सितमफलं च मत्वा ततः प्रति निवर्तेतैव स्वेष्टात् संस्कृतज्ञानात् च भ्रश्येत ईदृशां जिज्ञासूनां शब्दशास्त्रप्रवेशाय शब्दज्ञानोपयोगि प्रकियानामाश्रित्यैव तैः किंचिच्छब्दज्ञानं कारयेत यमधिश्रित्य शनैः शनैः क्रमेण शब्दार्णवमवगाढुं ते समर्था भवेयुः। ईदृशां भावनामादायैव प्रक्रियाग्रन्थाः (प्रक्रिया कौमुद्यादयः) प्रवृत्ता आसन्, श्री भट्टोजिदीक्षितोऽपि व्याकरणार्णवमथने मन्दराचमानः पाणिनि सूत्रेषु महाभाष्यसरण्या

शब्दकौस्तुभाख्यां महावृत्तिं विधायापि तत्र शास्त्रे अविरूढमतीनां समभीप्सित न सिद्धयेदिति विचार्य प्रक्रियासरणिमाश्रित्य वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रणिनाय। वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदीमधिगतवन्तश्छात्राः तत्रैव न विश्राम्येयुरिति तेषां जिज्ञासा संवर्ध्यनाय अन्ते निरदिशद् य इत्थं लौकिक शब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्। विस्तरस्तु यथा शास्त्रं वर्णितः शब्दकौस्तुभे। शब्दकौस्तुभोऽप्येतदनन्तरं बुध्येद् इत्येव तेषां तात्पर्यमनेन श्लोके न्यासेन प्रतीयते।

डॉ0 रामप्रकाश शर्मा
रीडर, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

एकादश उपनिषदों के क्रियारूपों में वैदिक के प्रभाव का क्रमिक ह्रास

वैदिक का प्राथमिक रूप ऋग्वेद के सूक्तों में सुरक्षित है। यह रूप संहिताओं अर्थात् सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से ब्राह्मणग्रन्थ तथा आरण्यकों से होता हुआ उपनिषदों तक निरन्तर परिवर्तित होता रहा है। कुछ अंशों में इसका प्रभाव आर्ष काव्य (रामायण, महाभारत) में भी दिखाई देता है। केवल क्रियारूपों के आधार पर ही इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है।

क्रियारूपों की आधारभूत प्रकृति धातुओं के प्रयोग को देखें तो पता चलता है कि वैदिक में लगभग 150 धातु ऐसी हैं, जिनका लौकिक में प्रयोग नहीं हुआ है। लगभग 125 धातुएं ऐसी हैं जो केवल लौकिकी में ही प्रयुक्त हुई है। उनका वैदिकों में प्रयोग नहीं मिलता। वैदिक में लिङ् लकार के अर्थ में लेट् लकार का प्रयोग भी होता था, जो लौकिकी तक आते समाप्त हो गया। गण, विकरण, पद, वाच्य तथा उपसर्ग के प्रयोग की दृष्टि से वैदिक तथा लोकिकी में पर्याप्त अन्तर है। कृदन्त क्रिया रूप, विशेष रूप से तुम् तथा त्वा प्रत्ययान्त रूपों में पर्याप्त भिन्नता प्रतीत होती है। वैदिक तथा लौकिकी के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत भाषा उत्तरोत्तर एकरूपता की ओर अग्रसर हो रही थी।

इस लेख में उपनिषदों में प्रयुक्त वैदिक क्रिया रूपों के आधार पर तथ्य को सप्रमाण पुष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।[1] एकादश-उपनिषदों तथा ऋग्वेदीय ऐतरेय तथा शांखायन आरण्यक के क्रिया रूपों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा रहा है। प्रारम्भ में एकादश उपनिषदों में तथा तत्पश्चात् ऋग्वेदीय आरण्यकों में उपलब्ध क्रिया रूपों का विवेचन किया गया है। सुविधा के लिए यहाँ धातुओं को वर्णों के क्रमानुसार रखा गया है। धातुओं के आगे कोष्ठक में दी गयी धातु संख्या सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार है।

"अच्-उदच्यते-पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।"

यह धातु पाणिनि धातुपाठ भ्वादिगण में अञ्चु (862) तथा अचि (862) पढ़ी गयी है। इसके रूप क्रमशः अचति-ते तथा अञ्चति-ते बनते हैं। लेकिन उपनिषदों में इसका उदच्यते रूप उपलब्ध होता है। यह दिवादिगणीय धातुओं के सदृश है। इसको वैदिकरूप माना जायेगा।

अस् (1066) भुवि- आस.........न ह पुरा ततः संवत्सर आस।[2] आसुः आप

---

1 बृ0 उ0 5.1.5.

2 बृ0उ0 1.2.4.

एवेदमग्र आसु: ....।[3] आप एवेदमग्र आसु:[4]

अस् धातु के ये उपलब्ध रूप आर्ष प्रयोग हैं, क्योंकि अस् को आर्धधातुक लकारों में भू आदेश होता है।[5] ये रूप आर्धधातुक लिट् लकार के हैं। शांकरभाष्य में भी आस का अर्थ बभूव किया है। इसके अन्यत्र भी प्रयोग मिलते हैं।[6]

ईख् अभिव्यैख्यत् स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्।[7]

पाणिनि धातुपाठ में ईख् (142) धातु भ्वादि में पढ़ी गयी है। इसका लुङ् लकार में ऐङ् खत् रूप बनता है। लेकिन उपनिषदों में इसका अभिव्यैखत् रूप उपलब्ध होता है। यह रूप दिवादिगण में बन सकता है।

ईश् (१०२०) ऐश्वर्ये ईशे....य ईशे....अस्य द्विपदश्चतुष्पद:।[8]

'ईशे' इस क्रिया रूप में तकार लोप वैदिक है। लौकिकी में ईष्टे रूप बनता है। वस्तुत: उपनिषदों में प्रथमपुरुष एकवचन में भी इट् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। लेकिन लौकिक संस्कृत में इट् प्रत्यय केवल उत्तम पुरुष एक वचन में ही होता है। शांकरभाष्य में भी इसका वैदिकरूप ही स्वीकार किया गया है।

द्विपदो मनुष्यादेश्चतुष्पद: पश्वादेश्च ईष्टे। तकार लोपश्छान्दस:।।(अ)

ऋच्छ् (१२९६) गतीन्द्रियमूर्तिभावेषु, अर्च्छ तदेनमर्च्छेति।[9]

यह प्रयोग अपाणिनीय है। क्योंकि उनके अनुसार ऋच्छ रूप बनता है। श प्रत्यय अपित् होने के कारण ङित्वत् होता है तथा क्ङिति च (पा0 1.1.5) से गुण का निषेध होता है। यह रूप भ्वादिगण में हो सकता है। परन्तु भ्वादिगण में पाणिनि ने इसका पाठ नहीं किया है।

क्रम् (४७३) पादविक्षेपे

उत्क्रामन्ते....तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते ..।[10] आक्रमन्ति.......

---

3 बृ0उ0 5.5.1

4 शा0भा0बृ0उ0पृ0 सं0 1194,

5 अस्तेर्भू पा0 2.4.52,

6 (क) संवत्सर: कालो नाम नास न बभूव ह। शा0भा0बृ0उ0 पृ0सं0 74. (ख) बृ0 उ0 1.4.3., 2.1.1., 2.1.13, 5.4.1., 6.2.4., छा0 उ0 4.1.1., 6.1.1 क0उ0 1.1.1

7 ऐ0उ0 1.3.13

8 श्वे. 4.13,6.17.

9 (क) शा.भा.श्वे.उ.बृ.सं. 189 (ख) छा.उ. 4.17:

10 प्र. उ. 2.4

येनाक्रमन्त्यृषयो।[11]

उपरि निर्दिष्ट दोनों उपलब्ध रूप अपाणिनीय हैं। पाणिनि ने परस्मैपदी प्रत्यय परे होने पर ही क्रम् धातु को दीर्घ का विधान किया है।[12] यहाँ स्थिति विपरीत है। उत्क्रामन्ते में आत्मनेपदी प्रत्यय परे होने पर क्रम् को दीर्घ हुआ है तथा आक्रमन्ति में परस्मैपदी प्रत्यय परे होने पर भी क्रम् धातु को दीर्घ नहीं हुआ है।

क्षि (पा.धा.पा. में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

क्षीयते, तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।[13]

पाणिनि धातुपाठ में क्षि धातु भ्वादिगण (236) स्वादिगण (1407) तथा तुदादिगण (1276) में पढ़ी गयी हैं तथा इसके रूप क्रमशः क्षयति, क्षिणोति, क्षियति बनते हैं। लेकिन उपनिषदों में इसके क्षीयते जैसे रूप उपलब्ध होते हैं, जो कि दिवादिगण के रूपों के अनुरूप ही बनते हैं। अन्यत्र स्थलों पर भी इसके रूप उपलब्ध होते हैं।[14]

छिद् (१४४०) द्वैधीकरणे व्यवच्छेत्सीः, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।[१५]

यह प्रयोग अपाणिनीय है क्योंकि पाणिनि के अनुसार परस्मैपदी सिच् परे होने पर हलन्त धातु के अच् को वृद्धि होनी चाहिए।[16] तथा व्यवच्छैत्सीः जैसा रूप बनना चाहिए। लेकिन इस रूप में वृद्धि का अभाव होकर लघूपध गुण हुआ है।

जि (पा०धा० पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

जीयते..........सर्वज्यानि जीयते आत्मना।[17]

पाणिनि धातु पाठ में जि धातु भ्वादिगण (561, 946)[17], चुरादिगण (1794) में पढ़ी गयी है। इसका जयति रूप बनता है। लेकिन उपनिषदों में उपलब्ध जीयते की रूप रचना दिवादिगण के रूपों के समान है।

अभिजयन्ते........ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।[18] जयते ...तं तं लोकं जयते।[19]

---

11 मु.उ. 3.1.6

12 क्रमः परस्मैपदेषु पा. 7.3.73

13 छा. 3.8.1.6

14 बृ.उ. 1.4.15, 1.4.15, 2.1.3, मु.उ. 2.2.8 छा. उ. 4.11.2, 4.12.2 4.13.2, बृ.उ. 1.5.1., 1.5.2, 1.5.2, 1.5.15.

15 तै.उ. शि.व. 11.1,

16 वदव्रज हलन्तस्याचः, पा. 7.2.3

17 बृ.उ. 1.5.15,

18 प्र.उ. 1.9,

19 मु.उ. 3.1.10.

पाणिनि के अनुसार जि धातु केवल वि एवं परा उपसर्गपूर्वक ही आत्मनपेदी होती है।[20] अन्यत्र नहीं। लेकिन उपनिषदों में वि एवं परा इतर अभि पूर्वक भी आत्मनेपदी है।

सत्यमेव जयते रूप में उपसर्ग के अभाव में भी यह आत्मनेपदी है।

ज्ञा (१५०७) अवबोधने

जानथ......यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यम्.......।[21]

यह उपलब्ध रूप भी अपाणिनीय है। क्योंकि पाणिनि के अनुसार क्रयादिगणीय धातुओं से श्ना प्रत्यय का प्रयोग होता है।[22] तथा उन्होंने ना के आ को ई का विधान किया है।[23] जिसके अनुसार जानीथ रूप बनता है, लेकिन यहाँ पर जानथ रूप उपलब्ध होता है। यदि इसे रुधादिगण की मानें तो जान्थ रूप बनेगा। अतः यह रूप वैदिक ही है।

धी (पा०धा०पा० में अदादिगण में अनुपलब्ध)

धीमहि-धीमहीति सर्वं पिबति।[24] पणिनि धातुपाठ में धीङ् (1136) धातु आधार अर्थ में दिवादिगण में पढ़ी गयी है। उसका विधिलिङ् लकार में रूप धीयेमहि बनता है। लेकिन उपनिषदों में धीमहि रूप अदादिगण की धातुओं के सदृश है।

धृ (पा०धा०पा० में चुरादिगण में अनुपलब्ध)

धारयस्व धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति।[25] पाणिनि धातु पा0 में धृ धातु भ्वादिगण (960) तथा तुदादिगण (1412) में पढ़ी गयी है जिसके रूप क्रमशः धरते तथा ध्रियते बनते हैं, लेकिन उपनिषदों में इसके रूप चुरादिगण के समान बनते हैं। वामन शिवराम आप्टे ने भी संस्कृत हिन्दी कोश में इसे चुरादिगण में भी माना है।[26] उपनिषदों के अतिरिक्त नीतिशास्त्र[27] तथा मनुस्मृति[28] में भी चुरादिगण के समान ही रूप मिलते हैं। उपनिषदों में यह अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है।[29]

---

20 विपराभ्यां जेः, पा. 1.3.19
21 मु.उ. 2.21, 2.2.5
22 क्रयादिभ्यश्ना, पा. 3.181
23 ई हृभ्यघोः, पा. 6.4.13
24 छा. 3.5 2.7,
25 बृ. उ. 3.8.5,
26 वामन शिवराम आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश पृ.सं 500
27 भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत् भर्तृ0 2.4
28 वैणवीं धारयेद्यष्टिम् सोदकं च कमण्डलुम्। मनु. 4.36
29 श्वे.उ. 2.9 प्र.उ. 2.3, 2.2, 3.1,

ध्मा (पा० धा०पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

प्रध्मायीत ....प्रत्यङ् वा प्रध्मायीत.....।[30] पाणिनि धातु पाठ में ध्मा धातु भ्वादिगण (927) में पढ़ी गयी है तथा इसका धमति रूप बनता है। इस उपलब्ध रूप को दिवादिगण का मानना अधिक युक्तिसंगत है। इस प्रयोग में धातु तथा प्रत्यय के मध्य आने वाले श्यन् तथा सीयुट् के अनुबन्ध लोप तथा सीय् के स् तथा य् का लोप होने पर य तथा ई के शेष बचने पर सन्धि नियमानुसार गुण होने[31] से इसका प्रध्मायेत प्रयोग बनता है। लेकिन यहाँ पररूप होकर प्रध्मायीत रूप बनता है। यदि ध्मा धातु के स्थान पर ध्मैङ् धातु की कल्पना करें तथा अदादिगण की माने तो प्रध्मायीत जैसा रूप बन सकता है।

ध्यै (९०८) चिन्तायाम्

ध्यायथ........ओमित्येवं ध्यायथ।[32] यह घ्यै धातु का लेट् लकार का रूप है। पाणिनि के अनुसार लौकिक संस्कृत में लेट् का प्रयोग नहीं होता। निदिध्यासस्व निदिध्यासस्वेति।[33]

निदिध्यासितव्य: ....मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:।[34] ध्यै धातु के दोनों सनन्त रूप अपाणिनीय हैं क्योंकि पाणिनि ने इच्छार्थ में सन् प्रत्यय का वैकल्पिक विधान किया है।[35] लेकिन ये दोनों रूप इच्छार्थ से भिन्न स्वार्थिक सन् के साथ उपलब्ध होते हैं।

नम् (पा० धा० पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

नम्यन्ते......नम्यन्तेऽस्मै कामा:।[36] पाणिनि धातुपाठ में इस धातु को भ्वादिगण (981) में पढ़ा गया है तथा इसके नमति-ते रूप बनते हैं। लेकिन उपनिषदों में उपलब्ध रूप दिवादिगण की धातु के सदृश है। अत: इसे दिवादिगण की ही मानना उचित है क्योंकि यह कर्तृवाच्य का रूप है कर्मवाच्य का नहीं। शांकर भाष्य में भी इसे कर्तृवाच्य का ही माना है। नम्यन्ते प्रह्वीभवन्त्यस्मा उपासित्रे कामा:[37]

पत् (८४५) गतौ

सम्पत्स्ये विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।[38] यहाँ पर प्रथम पुरुष एक वचन के स्थान पर उत्तम पुरुष एक वचन का प्रयोग हुआ है। शांकरभाष्य में भी सम्पत्स्ये का अर्थ सम्पत्स्यते हैं।[39]

---

30 छा.उ. 6.14.1
31 आद् गुण: पा. 6.1.84
32 मु.उ. 2.2.6
33 बृ. उ. 2.4.4
34 बृ.उ. 2.4.5
35 धातो:कर्मण: समानकर्तृकादिच्छायां वा पा. 3.1.7
36 (अ) तै.उ. भृ.व. 10.4
37 शा.भा.तै.उ. पृ.सं. 236
38 छ.उ. 6.14.2
39 अथ तदैव सत्सम्पत्स्ये सम्पत्स्यत इति ... शा.भा.छा. उ. पृ. सं. 689.

प्रच्छ् (१४१३) ज्ञीप्सायाम्

अप्राक्ष्य: तमोदेशमप्राक्ष्य:।[40] यह प्रच्छ् धातु का रूप अपाणिनीय है। पाणिनि के अनुसार यह रूप अप्रक्ष्य: बनता है। यहाँ पर वृद्धि होना तथा सम्प्रशन अर्थ में लृङ् लकार का प्रयोग आर्ष है।

भुज् (१४५४) पालनाभ्यवहारयो:

अभुनजत् ....सर्व सन्नयमितोऽभुनजदिति।[41] प्रस्तुत रूप अपाणिनीय है। रुधादिगणीय भुज् धातु का लङ् लकार प्रथम पुरुष एक वचन में अभुनक् रूप बनता है। यह धातु तुदादिगण में भी पढ़ी गयी है। यहाँ इसका रूप अभुजत् बनता है। अभुनजत् रूप तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम इसमें श्नम् तथा शप् दोनों विकरणों को स्वीकार करें। ऐसा स्वीकार करना ही तर्क संगत है। इस प्रयोग के कारण हम कह सकते हैं कि वैदिक में धातु तथा तिङ् प्रत्ययों के बीच एक से अधिक विकरण भी प्रयुक्त होते थे जबकि पाणिनि धातु तथा तिङ् के मध्य एक ही विकरण का विधान करते हैं। नेषतु[42] तरुषेम[43] जैसे उपलब्ध रूपों से यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में धातु तथा तिङ् के मध्य एकाधिक, दो या तीन विकरणों का भी प्रयोग हो सकता था जबकि लौकिक साहित्य में ऐसा नहीं है।

भू (१) सत्तायाम्

अनुभूत्वा.........अनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।[44] पाणिनि के अनुसार उपसर्ग पूर्व में होने पर ही क्त्वा के स्थान पर ल्यप् का प्रयोग होता है।[45] लेकिन इस रूप में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् का प्रयोग नहीं हुआ है। अत: यह अपाणिनीय प्रयोग है।

मन् (११७६)

मन्यासै..........अन्यत्रास्मन्मन्यासै........।[46] यह रूप लेट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन का है। लेट् का प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं है।

मिष् (पा० धा० पा० में चुरादि गण में अनुपलब्ध)

न्यमीमिषद्। तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा 3 इतीन्न्यमीमिषदा 3।[47] पाणिनि

---

40 छा. उ. 6.1.2.
41 बृं.उ. 1.15.17.
42 सि. कौ. सूत्र 3433 व्यत्ययो बहुलम् पा. 3. 1.85
43 वही
44 मु.उ. 1.2.10.
45 समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् या. 7.1.37 पा.
46 बृ. उ. 3.9.25
47 के. उ. 4.4.,

धातुपाठ में यह धातु भ्वादिगण (699) तथा तुदादिगण (1352) में पढ़ी गयी है। लुङ् लकार में इसका अमेषीत् रूप बनता है। न्यमीमिषद् रूप तभी बन सकता है जब इसे चुरादिगण का बना माना जाए।

मुच् (पा०धा०पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

परिमुच्यन्ति- परामृता: परिमुच्यन्ति सर्वे।[48] यह प्रयोग अपाणिनीय है। यह प्रयोग कर्मवाच्य का है तथा पाणिनि के अनुसार कर्मवाच्य में आत्मनेपद का प्रयोग होता है।[49] लेकिन यहाँ पर कर्मवाच्य होने पर भी परस्मैपद का प्रयोग हुआ है। मुच् धातु साहित्य में सकर्मक है।[50] परन्तु उपनिषदों में इसका अकर्मक रूप भी मिलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि धातु का अर्थ छोड़ना है परन्तु यहाँ पर छुटना अर्थ है। यदि इसे कर्तृवाच्य का रूप मानें तो इसे दिवादिगण में मानना पड़ेगा। वैसे पाणिनि धातु पाठ में यह भ्वादिगण में मुचि (172) तथा तुदादिगण में मृच्लृ (1430) पढ़ी गयी है। विमोक्ष्ये विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।[51] यहाँ पर प्रथम पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष का प्रयोग हुआ है।[52]

मृज् (१०६६) शुद्धौ

मृजे.......त्वयि मृजे स्वाहा।[53] यह लेट् लकार का प्रयोग है। लोक में इस लकार का प्रयोग नहीं होता।

म्लुच् (१९६) गत्यर्थः

निम्लोच- न वै तत्र न निम्लोच।[54] यह प्रयोग अपाणिनीय है। क्योंकि पाणिनि के अनुसार लिट् लकार में धातु को द्वित्व होता है तथा मुम्लोच रूप बनता है। यहाँ पर द्वित्व का अभाव है।

युज् (११७७) समाधौ

विनियोजयेत् सर्वान्‌विनियोजयेत्।[55] लट् लकार की क्रिया के स्थान पर विधिलिङ् लकार का प्रयोग हुआ है। युक्त्वाय- युक्त्वाय मनसा देवान्।[56] यह वैदिक प्रयोग है। वेद में

---

48 मु. उ. 2.6

49 भावकर्मणो:, पा. 1.313

50 यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोचरधु. 2.1, 3.20, मनु. 8.202, मोक्ष्यते सुरवन्दीनां वेणीवीर्य विभूतिभि: क.2.61। रघु. 10.47.

51 छा. 6.14.2.

52 यवान्न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यत इत्येतत् पुरुष व्यत्ययेन --। शा.भा. छा. उ. पृ.सं. 689.

53 तै. उ. शि. व. 4.3

54 छा. उ. 3.11.2,

55 श्वे. उ. 5.5

56 श्वे. उ. 2.3

त्वाय प्रत्यय इकट्ठा प्रयुक्त हो सकता है लेकिन लौकिक में त्वा तथा य का अलग-अलग प्रयोग होता है। नञ् भिन्न समास युक्त धातु के साथ य का तथा अन्यत्र धातु के साथ त्वा का प्रयोग होता है।

रिष् (६९४) हिंसार्थाः

रीरिषः मानो अश्वेषु रीरिषः। यह धातु पाणिनि धातुपाठ में म्वादिगण तथा दिवादिगण (1231) में पठित है। इसका लुङ् लकार में अरेषीत् रूप बनता है। उपनिषदों में उपलब्ध रूप के आधार पर इसको चुरादिगण की मानना पडेगा।

रुद् (१०६७) अश्रूविमोचने

उपरोत्सीः या मोपरोत्सीः।[57] यह प्रयोग अपाणिनीय है। पाणिनि के अनुसार उपरौत्सीः रूप बनता है। अतः यहाँ पर वृद्धि के स्थान में गुण होना अपाणिनीय है।

वद् (१००९) व्यक्तायां वाचि

वावदिषत्- किमिहान्यं वावदिषदिति।[58] यह यङ् लुक् में लेट् लकार का प्रयोग है तथा यहाँ पर यङ् लुक् का प्रयोग तो हैं लेकिन यहाँ भृशार्थ या पौनः पुन्यः अर्थ नहीं है।

शक् (पा०धा०पा०) में तुदादि गण में अनुपलब्ध)

शकेमहि- नाचिकेतानं शकेमहि।[59] पाणिनि धातुपाठ में यह धातु भ्वादि (86) दिवादिगण (1187) तथा स्वादिगण (1261) में पठित है। इसके रूप क्रमशः शङ्कति, शक्यति- ते तथा शक्नोति बनते हैं। यह रूप तुदादिगण में ही बन सकता है।

सु (१०४१) प्रसवैश्वर्ययोः

प्रसुवाति- सविता प्रसुवाति तान्।[60] यह लेट् लकार का प्रयोग है। इस लकार का प्रयोग वैदिक तक ही सीमित रहा है। स्था (1928) गतिनिवृतौ स्थाप्य- त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं।[61] यह प्रयोग भी अपाणिनीय है। पाणिनि के अनुसार स्थापयित्वा रूप बनता है। क्त्वा को ल्यप् आदेश उपसर्ग पूर्व में होने पर ही होता है। यहाँ उपसर्ग रहित होने पर भी क्त्वा को ल्यप् आदेश हुआ है।

---

57 श्वे. उ. 4.22
58 क.उ. 1.1.21
59 ऐ.उ. 1.3.13,
60 क.उ. 1.3.2
61 श्वे.उ. 2.3.

स्तु (१०४३) स्तुतौ

स्तुन्वन्ति- ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति।[62] यह अपाणिनीय प्रयोग है। यह धातु पाणिनि धातु पाठ में अदादिगण में पढ़ी गयी है। तथा इसका रूप स्तुवन्ति जैसा रूप तो स्वादिगण में ही बन सकता है।

ही (पा०धा०पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

हीयते-साधुभवति हीयेते।[63] यह रूप कर्तृवाच्य का है। यह ओहाक् तगे तथा ओहाङ् गतौ धातु के कर्मवाच्य का रूप नहीं हो सकता। अतः इसे दिवादिगण की ही मानना पडेगा। ऐसा प्रयोग कालिदास के रघुवंशम् में भी उपलब्ध होता है।[64] उपनिषदों में अन्यत्र स्थलों पर भी उपलब्ध होता है।[65]

ऋग्वेदीय आख्यकों में उपलब्ध रूप

अद् (१०१) भक्षणे

अदाम- अन्नमदामेति।[66] यह रूप लेट् लकार का है। यह छान्दस् प्रयोग है क्योंकि लौकिक साहित्य में इस लकार का प्रयोग नहीं होता।

अस् (१०६६) भुवि

असत्- तन्मेऽसदित्यथ।[67] अस् धातु का असत् प्रयोग लेट् लकार का है। इस लकार का प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं होता है।

इण् (१०४५) गतौ

प्रैतोः-आ प्रैतोरिति ह।[68] पाणिनि ने क्रियार्थक क्रिया के लिए तुमुन्, तोसुन्, ध्यै जैसे अनेक प्रत्ययों का विधान किया है लेकिन लौकिक संस्कृत में केवल तुमुन् प्रत्यय का ही प्रयोग होता है। शेष प्रत्ययों का प्रयोग वैदिक में होता है। प्रस्तुत अंश में इण् धातु से तोसुन् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

---

62 श्वे.उ. 2.8.

63 प्र.उ. 2.4.

64 क.उ. 1.2.1.

65 प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः रघु. 17.71

66 (अ) प्र.उ. 3.11. छा. उ. 4.16.3, 4.16.4.

67 ऐ.आ. 2.3.5 अन्यत्र ऐ.आ. 2.3.5

68 ऐ. आ. 2.4.2.

ईक्ष् (६१०) दर्शने

ईक्षत- स ईक्षत लोकान्नु।[69] ईक्षत में आट् का अभाव वैदिक है क्योंकि लौकिक में ऐक्षत रूप बनता है।

ऊह् (६४८) वितर्के

अपोहति- प्रेङ् खफलकमपोहति। पाणिनि धातु पाठ में ऊह् भ्वागिण में आत्मनेपदी पढ़ी गई है लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यको में इसका परस्मैपदी रूप उपलब्ध होता है।

ऋच्छ् (१२९६) गतीन्द्रियमूर्तिभावेषु

ऋच्छन्ते- मृत्वाऽन्नमृच्छन्ते।[70] यह धातु पाणिनि धातु पाठ में तुदादिगण में परस्मैपदी मानी गयी है लेकिन यहाँ इसका आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होता है।

कृ (१२५३) हिंसायाम्

कृणुही- कृणुही न इन्द्रः।[71] स्वादिगणीय कृधातु का यह रूप छान्दस् है क्योंकि पाणिनि के अनुसार लौकिकी में कृणु रूप बनता है।

चर् (५५९) गत्यर्थः

चरितोः- तिथिरेव चरितोः इति।[72] यहाँ पर चर् धातु से तोसुन् प्रत्यय का प्रयोग क्रियार्थक क्रिया के लिए हुआ है। यह छान्दस् प्रयोग है। लौकिक में केवल तुमुन् प्रत्यय का ही प्रयोग होता है।

जॄ (११३०)

जीर्यते- यावदेतयोर्नजीर्यते।[73] पाणिनि धातुपाठ में यह धातु दिवादिगण में परस्मैपदी पढ़ी गयी है लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में इसके आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होते हैं।

त्रप् (८१६) लज्जायाम्

अत्रप्स्यत्- ह वान्नमत्रप्स्यत्।[74] भ्वादिगणीय त्रप् धातु पाणिनि धातुपाठ में आत्मनेपदी है लेकिन यहाँ इसका परस्मैपदी रूप मिलता है।

---

69 ऐ.आ. 1.4.3
70 ऐ. आ. 2.4.1
71 शां.आ. 2.17
72 शां.आ. 4.12 अन्यत्र वही 4.13.
73 ऐ.आ. 5.2.2
74 ऐ.आ. 1.1.1

दद् (१७) दाने

ददाम- उपमन्ययन्ते ददाम त इति।[75] पाणिनि धातु पाठ में भ्वादिगणीय दद् धातु आम्मनेपदी पढ़ी गयी है लेकिन यहाँ इसका परस्मैपदी रूप मिलता है।

धृ (९००) धारण

दाधार- न विव्याचेति।[76] लौकिक संस्कृत में दधार रूप होता है। अभ्यास को दीर्घ वैदिक की विशेषता है।

नम् (९८१) प्रह्वत्वे शब्दे च

संनमन्ते- श्रेष्ठयाय संनमन्ते।[77] अनमन्त- अनमन्त प्रोष्वस्मै।[78] पाणिनि धातु पाठ में यह धातु परस्मैपदी है लेकिन यहाँ इसके आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होते हैं।

मन् (११७६) ज्ञाने

उपमन्ययन्ते-उपमन्ययन्ते ददाम त इति।[79] यह प्रयोग अपाणिनीय है। क्योंकि पाणिनि के अनुसार मन् धातु का उपमन्यते रूप बनता है। यहाँ पर दो विकरणों का प्रयोग किया गया है।

रुध् (१४३८) रुधादिगण

अवरुद्ध्यै-पशूनामवरुद्ध्यै।[80] रुध् धातु से तुमुन् अर्थक ध्यै प्रत्यय भी तोसुन् की भांति वैदिक प्रत्यय है।

वय् (४७५) गतौ

अभ्यपवयत- स इदं सर्वमभ्यपवयत।[81] उद्वयति- रज्जूभ्यामूर्ध्वमुद्वयति।[82] प्रवयति- तस्मिन्यजुर्मयं प्रवयति।[83] पाणिनि धातु पाठ में भ्वादिगणीय वय् धातु आत्मनेपदी पढ़ी गयी है। लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में इसके परस्मैपदी रूप भी उपलब्ध होते हैं। अतः यहाँ पर धातु उभयपदी है।

---

75 ऐ.आ. 2.1.7 (8 बार)
76 ऐ.आ. 2.4.3 (7 बार)
77 शां.आ. 4.2
78 ऐ. आ. 1.5.2. अन्यत्र वही 2.1.7
79 शां.आ. 4.6.
80 ऐ.आ. 1.1.2 अन्यत्र वही 1.1.3, 1.1.4, 1.2.3, 1.2.3, 1.3.8, 1.5.2
81 ऐ.आ. 2.2.2
82 ऐ.आ. 5.1.3,
83 शां.आ. 4.6

विश् (१४२४) प्रवेशने

प्रविशाम-पुनः शरीरं प्रविशाम।[84] यह विश् धातु का लेट् लकार का रूप है। लौकिक में इस लकार का अभाव है। वृञ्ज् (पा0धा0पा0 में अनुपलब्ध) वृञ्जन्ति- त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति।[85]

वृजी (१०२९) वर्जने

पाणिनि धातु पाठ में वृजी (1029) वर्जने पढ़ी गयी है। कुछ के मत में यह इदित् मानी गयी है। तब इसका वृङ्क्ते रूप बनता है। वृञ्जन्ति रूप तभी बन सकता है जब से वृजि भ्वादिगण की माने। अतः यह रूप अपाणिनीय है।

व्रज् (२५३) गतौ

व्रजेत्- पिता वसेत्परि वा व्रजेत्।[86] व्रजते-व्रजन्व्रजते न शयानः।[87] भ्वादिगणीय व्रज् धातु पाणिनि धातुपाठ में परस्मैपदी पढ़ी गयी है। लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में यह उभयपदी है, क्योंकि इसके आत्मनेपदी रूप भी उपलब्ध होते हैं।

शस् (७२८) स्तुतौ

शंसति- शंसति सर्वेषां कामानामवरुद्ध्यै।[88] शंसिष्यते-संदधत्येतदुक्तं शंसिष्यते।[89] पाणिनि धातु पाठ में भ्वादिगणीय शंस् धातु परस्मैपदी है। लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में यह उभयपदी है, क्योंकि इसका आत्मनेपदी रूप भी उपलब्ध होता है।

सृज् (१४१४) विसर्गे

असृजत्-स इमांल्लँोकानसृजत् इति।[90] अतिसृजते-यः प्रत्याह तमतिसृजते।[91] उपसृजते-आत्मानमुपसृजते।[92] उत्सृजति- उत्तरमधर्चमुत्सृजति।[93] तुदादिगणीय सृज् धातु पाणिनि धातुपाठ में परस्मैपदी पढ़ी गयी है परन्तु ऋग्वेदीय आख्यकों में इसके आत्मनेपदी रूप भी उपलब्ध होते हैं। अतः यह यहाँ उभयपदी है।

---

84 ऐ. आ. 2.1.4.
85 ऐ. आ. 1.3.4. (दो बार)
86 शां.आ. 4.15
87 ऐ.आ. 5.3.3. 88.
88 ऐ.आ. 1.1.3 (65 बार)
89 शां.आ. 1.5
90 ऐ.आ. 2.4.1
91 शां.आ. 3.2.
92 शां.आ. 2.1
93 शां.आ. 2.1

स्था (९२८) गतिनिवृत्तौ

तिष्ठते- न तिष्ठंस्तिष्ठते न।[94] पाणिनि के अनुसार स्था धातु प्रकाशन एवं स्थेयाख्या अर्थ में आत्मनेपदी है।[95] यहाँ पर उससे भिन्न अर्थ में यह धातु आत्मनेपद में प्रयुक्त हुई है।

स्मृ (८०७) चिन्तायाम्

स्मरन्ते- प्रियो हैंव भवति स्मरन्ते हैं वास्य।[96] यद्यपि भ्वादिगणीय स्मृ धातु पाणिनि धातुपाठ में परस्मैपदी है लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में इसका आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होता है। महाकाव्यों में भी इसके आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होते हैं।[97]

हन् (१०१२) हिंसागत्योः

हन्ति- स एनं हन्ति वराह।[98] अपघ्नते- पाप्मानमपघ्नते इति।[99] अदादिगणीय हन् धातु के ऋग्वेदीय आरण्यकों में उभयपदी रूप मिलते हैं, जबकि पाणिनि धातुपाठ में यह परस्मैपदी है।

निष्कर्ष

एकादशोपनिषदों में 297 धातुओं के कुल 5566 क्रिया रूप उपलब्ध होते हैं। जिनमें से तिङन्त 4950 कृदन्त 554 तथा प्रत्ययान्त रूप 62 हैं। इनमें से 69 रूप अपाणिनीय है। जिनकी प्रतिशत संख्या 1.24 है। इनमें लेट् लकार का चार स्थलों पर प्रयोग हुआ है। विध्यर्थक तुमन् प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। इस अर्थ वाले से, असे, तवे, तवै,ध्यै, तोसुन् आदि प्रत्ययों का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है। क्त्वा तथा ल्यप् के प्रयोग में समास सहित क्त्वा तथा समास रहित ल्यप् का प्रयोग भी मिलता है।

इन रूपों की यदि केवल ऐतरेय एवं शांखायन इन दो आरण्यकों के क्रियारूपों में प्राप्त वैदिकरूपों से तुलना करें तो यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि परवर्ती भाषा वैदिक की अपेक्षा लौकिकी के अधिक निकट है।

ऋग्वेदीय दो आरण्यकों में 179 धातुओं के 2365 रूप मिलते हैं। जिनमें से 1976 तिङन्त, 205 कृदन्त तथा 184 प्रत्ययान्त रूप हैं। इनमें अपाणिनीय रूपों की संख्या 50 है। जिनकी प्रतिशत संख्या 2.11 है। इनमें तीन स्थानों पर लेट् लकार का प्रयोग हुआ है। विध्यर्थक तुमन् के साथ-साथ घ्यै तथा तोसुन् का भी प्रयोग उपलब्ध होता है।

---

94 ऐ.आ. 5.3.3.

95 प्रकाशनस्थेयारव्ययोश्च पा. 1.3.23

96 शां.आ. 2.1

97 वामन शिवराम आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश पृ.सं. 1152.

98 शां.आ. 11.4 (3 बार)-12.5 (2 बार)

99 ऐ.आ. 1.1.2

आनुपातिक प्रतिशत की दृष्टि से देखने पर इन रूपों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् काल की संस्कृत भाषा लौकिक संस्कृत अथवा पाणिनि संस्कृत के समीप हो चली थी।

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक भाषा ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक आते-आते लौकिकी की निकटवर्ती हो चली थी। आरण्यक, ब्राह्मण तथा संहिताओं की भाषा में वैदिक और लौकिकी प्रयोगों की संख्या क्रमशः अधिक होती चली गयी है। वस्तुतः उपनिषदों की भाषा वैदिक और लौकिकी के संधिस्थल की भाषा है, जो वैदिक की अपेक्षा लौकिकी के अधिक निकट हैं। उपनिषदों में लेट् लकार के प्रयोग केवल 4 ही मिलते हैं जबकि पूर्ववर्ती भाषा में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। यहाँ पदव्यत्यय का अनुपात भी पर्याप्त कम है।

डॉ0 आशा
रीडर संस्कृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

प्राच्य-दूताधिकरणम्

राजा तथा राज्य-प्रशासन के साथ ही दूतों की आवश्यकता अनुभव की गई। सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इनकी आवश्यकता और उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। दूसरे राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने के लिए दूत की आवश्यकता पड़ी। उनके माध्यम से ही राजा दूसरे राष्ट्रों से सन्धि-विग्रह, राजनीतिक और आर्थिक आदि सम्बन्ध स्थापित करता था। दूत के माध्यम से ही राजा अन्य राष्ट्रों में अपने शत्रु और मित्रों का पता लगाता था तथा वहाँ की गोपनीय बातों की भी जानकारी प्राप्त करता था। प्रजा राजा से प्रसन्न है या अप्रसन्न है, जनता की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक स्थिति कैसी है, न्याय और दण्ड-व्यवस्था का आकलन आदि की प्रामाणिक सूचना प्राप्त कर राजा दूतों को नियुक्त करता है।

'दूत' शब्द (दु+क्त, दीर्घश्च, दूत+कन्) का अर्थ है- सन्देशहर, सन्देशवाहक, राजदूत।[1] दूत शब्द का प्रयोग वैदिक काल से प्रचलित है। दूत सन्देश-वाहक होता है। वह सन्देशों का आदान-प्रदान करता है। अपने राजा का सन्देश दूसरे राजा तक पहुँचाता है और दूसरे राजा का सन्देश अपने राजा तक पहुँचाता है। अतएव राजशास्त्र-प्रणेताओं ने दूत को राजा का मुख कहा है। राजा के सो जाने पर भी दूत अपना कार्य करते रहते हैं, अतः कहा गया है कि राजा के ये दूत सदा सक्रिय रहते हैं और कभी भी नही सोते हैं।[2]

वेदों में दूतों को प्रतिष्ठित और यशस्वी कहा गया है।[3] इससे ज्ञात होता है कि दूत का स्थान आदरणीय होता था। वेदों में कुछ ऐसे भी देव है, जिन्हें देवदूत की उपाधि से अलंकृत किया गया है। देवों में अग्निदेव को सर्वश्रेष्ठ दूत होने का श्रेय प्राप्त है। यज्ञ में प्रदत्त हवि को अग्नि ही दूत के रूप में सभी देवों तक पहुँचाता है, अतः उसका बहुत महत्त्व है। दूत का कार्य है- अपने स्वामी का सन्देश यथास्थान पहुँचाना है। यज्ञ में अग्नि समस्त द्रव्य पदार्थों को जलाकर भस्मसात् कर देता है और उनके सारभाग को सूक्ष्म रूप में सभी देवों को यथास्थान पहुँचा देता है, अतः उसे आदर्श दूत के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनेक मन्त्रों में अग्नि को दूत कहा गया है।[4] अग्नि को सूर्य का दूत कहा गया है।[5] अग्नि विशः (जनता) का भी दूत है।[6] अग्नि सभी देवों का दूत है।[7] वेदों में अग्नि के अतिरिक्त कुछ पशु-पक्षियों आदि को भी देवों का दूत गिनाया गया

---

1 संस्कृत-हिन्दी कोश-वामन शिवराम आप्टे पृष्ठ 468

2 ऋग्वेद 9.73.4

3 ऋग्वेद 10.106.2

4 वही 1.12.1/8.44.3

5 वही 1.58.1

6 वही 1.36.5

7 वही 4.9.2

है। ऋग्वेद में बादलों को वर्षा का दूत बताया गया है।[8] यमराज के दो कुत्तों को यम का दूत कहा गया है।[9] ऋग्वेद के एक मन्त्र में सूर्य को सारे संसार का दूत (स्पश्) बताया गया है।[10] इससे ज्ञात होता है कि अग्नि, सूर्य आदि देवों के तुल्य पशु-पक्षियों आदि को संवाद-संप्रेषण के माध्यम के कारण दूत कहा गया है। इस प्रकार वेदों में दूत और दूत कर्म का पर्याप्त विशद वर्णन प्राप्त होता हैं

राज्य संचालन में दूत-व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख वेदों में प्राप्त नहीं होता है। कतिपय सन्दर्भ ऐसे हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजा अपना सन्देश दूतों के माध्यम से दूसरे राजा तक पहुँचाता था। वेद में सन्देश दूतों के माध्यम से दूसरे राजा तक पहुँचाता था। वेद में सन्देश-वाहन के लिए केवल दूत ही नही, अपितु दूती का भी उल्लेख है दूत द्वारा वहन किए जाने वाले सन्देश को दूत्य और दूत के कार्य को दूत्य कर्म कहा गया है। ऋग्वेद में देवदूती सरमा (देवशुनी, कुतिया, बुद्धि) और पणि राजा का संवाद वर्णित है।[11] इन्द्र ने देवदूती सरमा के द्वारा पणियों को सन्देश भेजा कि वे पहाड़ों में छिपाये गए धन को और गायों को इन्द्र को दे दें, अन्यथा देवगण युद्ध करके यह सब छीनकर ले जाएंगे। पणियों के राजा ने इसका (सरमा) स्वागत किया और उसे भगिनी कहा। पूरा सन्देश सुनने पर पणि राजा ने कहा कि हमारे पास भी शस्त्राशस्त्र है, विना युद्ध के तुम्हें कौन गायादि देगा। साथ ही यह भी कहा कि तुम हमारी भगिनी हो, तुम यही रुक जाओ और इन्द्र के पास लौटकर न जाओ। परन्तु सरमा ने उनकी बात अस्वीकार कर दी और यह कहकर लौट आई कि इन्द्रादि देवगण तुम्हारे ऊपर आक्रमण करेंगे और जीतकर गायों को ले जाएगें।

इस संवाद से ज्ञात होता है कि राजा अपना सन्देश भेजने के लिए दूत या दूती रखते थे। दूत निर्भीक होकर दूसरे राजा को अपना सन्देश पहुँचाते थे। भय या लालच देने पर भी दूत शत्रु राजा के पक्ष में नहीं जाता था। दूत अपने स्वामी का भक्त बना रहना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। वह निर्भय होकर अपने राजा के प्रताप का वर्णन करता था तथा किसी प्रलोभन में नहीं फँसता था।

दूती के द्वारा दूत्य कर्म करना यह वैदिक ऋषियों की उदात्तता का परिचायक है।[12] इससे नारी के साहस, गौरव, दक्षता और कार्यपटुता का ज्ञान होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में दूत-कर्म के लिए पुरुष और महिला दोनों की नियुक्ति वर्णित है। देवों में अग्निदेव सबसे सफल दूत है और नारी के रूप में सरमा सफल दूती है। दोनों ने अपना

---

8 वही 5.83.3
9 वही 10.14.11-12
10 वही 4.13.3
11 वही 10.108.1.11
12 वही 10.108.3

कार्य बड़ी उत्तमता से संपादित किया है।

वेदों में दूतों के गुण-कर्म के विषय में विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है। मन्त्रों में दूत शब्द के जो विशेषण दिये गये हैं उनसे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में दूत के गुणों का उल्लेख इस प्रकार है[13] 1. **विशां मन्द्रः**- प्रजा का हर्षवर्धक हो। 2. **गृहपतिः**- अग्नि के तुल्य अपने गृह अर्थात् स्वराष्ट्र के हितों का रक्षक हो। राजा और प्रजा दोनों के हर्ष की वृद्धि करे और उनके हितों का संरक्षण करे। इसी प्रसंग में ऋग्वेद में दूत के साथ इन देवों का भी उल्लेख है- मित्र, वरुण और अर्यमा।[14] दूत मित्र के तुल्य सारे जीवों का हितैषी हो, वरुण के तुल्य उदार हो और अर्यमा के तुल्य न्यायकारी हो। आगे मन्त्र में कहा गया है कि ऐसा दूत जिसके पास होता है, वह सारे संसार को जीत लेता है। एक अन्य मन्त्र में दूत के गुणों का उल्लेख है कि-**मही बृहती शतमा गीः**-अर्थात् दूत की वाणी बहुत सन्तुलित एवं शान्तमुद्रा में हो। महान् और गम्भीर सन्देश को भी वह बड़ी शान्ति से प्रस्तुत करे।[15]

एक अन्य मन्त्र में दूत के दो गुणो का उल्लेख है-। **क्षपावान्**- क्षपा पृथ्वी का रक्षक। दूत का कार्य सन्धि-विग्रह है, अतः वह अपने राजा की भूमि का रक्षक होता है।2 **अतन्द्रः**- तन्द्रा या आलस्य से रहित हो। दूत में आलस्य, प्रमाद या दीर्घसूत्रता आदि दुर्गुण नही होना चाहिए।[16] ऋग्वेद के एक मन्त्र में दूत के इन गुणों का उल्लेख है- **श्रेष्ठः**- ज्ञानादि में वह श्रेष्ठ हो। **यविष्ठः**- अत्यन्त युवा हो अर्थात् शरीर से हृष्ट-पुष्ट हो। **न निन्दिमः**- निन्दनीय न हो अर्थात् समाज में प्रतिष्ठित हो। **महाकुलः**-कुलीन हो, उच्चकुल में उत्पन्न हुआ हो। कुलीनता के साथ-साथ गम्भीरता, शालीनता, निर्लोभ एवं अलोलुपता आदि गुण आते हैं। अतः महाकुलः विशेषण दिया गया है। भ्राता या बन्धु के तुल्य दूसरे की सहायता करने वाला हो।[17]

कुछ अन्य मन्त्रों में भी दूत के गुणों का उल्लेख है- दूत सन्देश-वाहक होता है।[18] **आशुम्**- वह शीघ्र कार्य करने वाला हो। **केतुम्**-ध्वजा के तुल्य हो, अर्थात् समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति हो।[19] **दूत्यानि विद्वान्**-दूतकर्म को जानने वाला हो, अर्थात् इस विषय का विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए हो। **संचिकित्वान्-प्रबुद्ध**, विद्वान् सतत सावधान, चौकन्ना हो। दूत को सर्वदा सावधान रहना चाहिए। **विदुष्टरः**- अधिक विद्वान् या अधिक सुशिक्षित

---

13 वही 1.36.5
14 ऋग्वेद 1.36.4
15 वही 5.43.8
16 वही 7.10.5
17 वही 1.161.1
18 वही 4.33.1
19 वही 4.7.4

हो।[20] इसी भाव को एक अन्य मन्त्र में भी कहा गया है।[21] **विश्ववेदसम्**- सर्ववित् अर्थात् सभी विषयों की जानकारी रखता हो। **यजिष्ठम्**- अत्यन्त सम्मानीय, समाज में अत्यन्त आदरणीय हो।[22]

दूत की अन्य विशेषताएँ भी बताई गई है- **अजिरः**-चुस्त, फुर्तीला और साहस वाला हो। **अयः शीर्षा**- सिर पर सुनहरी टोपधारी हो। **मदेरघुः**- प्रसन्नचित्त रहते हुए अतिशीघ्र कार्य करने वाला हो।[23] **दूडभः**- दूत अवध्य होता है। उसकी हिंसा या उसका वध नही किया जा सकता है। **प्राणीः**- स्वच्छन्द रूप से सर्वत्र विचरण करने में समर्थ एवं अग्रगामी हो।[24] **उशन्तौ दूतौ न दभाय**- दूसरों का हित करने की इच्छा वाला हो। साथ ही किसी का अहित न करने वाला हों **गोपा**- जनता का रक्षक हो।[25] **जन्य**-दूत जनहितकारी हो, जनता का हित करने वाला हो। **हव्य**-आदरणीय, ससम्मान बुलाए जाने योग्य। दूत सभी प्रतिष्ठित स्थानों पर सादर आमन्त्रित करने योग्य होता है।[26] **यशसा जनेषु**-दूत समाज में यशस्वी होता है। उसका सर्वत्र सम्मान होता है और वह समाज में सम्मानीय व्यक्तियों में गिना जाता है।[27]

अथर्ववेद में भी दूतकर्म दृष्टिगत होता है। वहाँ पर मृत्यु को यम का दूत कहा गया है।[28] कबूतर को निऋति (विपत्ति) का दूत कहा गया है।[29] एक अन्य मन्त्र में कपोत और उल्लू को निऋति (विपत्ति संकट) का दूत वर्णन किया गया है।[30]

यजुर्वेद का कथन है कि द्रव्य-वाहक होने के कारण अग्नि दूत है और वह पुरोधा या पुरोहित है।[31] यजुर्वेद के एक मन्त्र में दूत के ये गुण गिनाये गए है।[32] **उशिक्**- मेधावी होना चाहिए। **हव्यवाह्**- हव्य के तुल्य सन्देश का वाहक हो। **चनोहितः**- चनस्ट का अर्थ मनुष्य या प्रजा है। वह जनता का हितकारी हो। **धिया समृष्वति**- बुद्धि या सूझ-बूझ से युक्त हो।

---

20 वही 4.7.8
21 वही 4.8.4
22 वही 4.8.1
23 वही 8.101.3
24 वही 4.9.2
25 वही 6.91.2
26 वही 2.39.1
27 वही 10.106.2
28 अथर्ववेद 18.2.26
29 वही 6.26.1
30 वही 6.29.2
31यजुर्वेद 22.16
32 वही 22.16

शतपथ ब्राह्मण में भी कुछ ऐसे सन्दर्भ आये हैं, जिनसे दूत की उपयोगिता का ज्ञान होता है। एक सन्दर्भ में कहा गया है कि देवता और असुर दोनों ही प्रजापति की सन्तान है। दोनों ही अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने का प्रयास करते रहते थे। दोनों के मध्य पृथ्वी गायत्री के रूप में उपस्थित हुई। दोनों को ज्ञात था कि पृथ्वी जिसके पक्ष में होगी, विजय उसी की होगी। पृथ्वी को वश में करने के लिए दोनों ने अपने-अपने दूत भेजे। देवों का दूत अग्नि हुआ और सहराक्षस असुरों का दूत। अग्नि अपने कार्य में सफल हुआ। अतः पृथ्वी देवों के पक्ष में आ गई और देव विजयी हुए।[33]

शतपथ ब्राह्मण के दूसरे सन्दर्भ में कहा गया है कि देवों और असुरों ने वाणी (वाक्) की उपेक्षा की और उसे यज्ञ में भाग नहीं दिया। वाणी ने क्रुद्ध होकर सिंहनी का रूप धारण किया और देवों तथा राक्षसों को पकड़कर मारना शुरू किया। भयभीत होकर दोनों ने वाणी के पास अपने दूत भेजे। देवों का दूत अग्नि हुआ और राक्षसों का सहराक्षस अग्नि अपने कार्य में सफल हुआ और वह वाणी को समझाकर देवों के पक्ष में कर सका।[34]

इससे यह ज्ञात होता है कि किसी राजा की सफलता सुयोग्य दूत पर निर्भर होती है। कुशल दूत असाध्य कार्यों को भी साध्य एवं सुकर बना देता है।

तैत्तिरीय संहिता में दूत का एक भेद प्रहित माना है।[35] सायण ने दूत और प्रहित का अन्तर किया है। दूत परवृत्तान्त ज्ञापन-दक्ष अर्थात् राजा आदि का सन्देश दूसरे तक पहुँचाने में दक्ष होता है। प्रहित केवल सन्देश वाहक होता है।

मनु, शुक्राचार्य और कामन्दक आदि ने दूत कार्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है। दूत या राजदूत की योग्यता के विषय में मनु का कथन है कि वह बहुश्रुत आकार तथा चेष्टाओं के विकार से हृदयस्थ भावों को पकड़ने वाला, स्मृतिमान्, दर्शनीय, दक्ष, सत्कुलीन, राजभक्त, देश-काल का ज्ञाता, पवित्र आचरण वाला, वाग्मी, निर्भय, राजा का भक्त, और समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए।[36] कामन्दक ने दूत के गुण बताए है- निर्भय होकर बोलने वाला, स्मरण शक्ति युक्त, वाग्मी, शस्त्र और शास्त्र दोनों में निपुण अनुभवी व्यक्ति ही दूत हो सकता है।[37] दूत की योग्यता के विषय में कामन्दक का कथन है कि अनुक्त बातों को भी अपनी बुद्धि से भाँप लेने वाला, आकृति से बातों को जानने वाला, स्मरणशील, मृदुभाषी, शीघ्र काम करने वाला, कठिन श्रम करने का अभ्यासी, चतुर और

---

33 शतपथ ब्राह्मण 1.4.1.34

34 वही 3.5.1. 21-22

35 तैत्तिरीय संहिता 4.5.7

36 मनुस्मृति 7.63, 64

37 कामन्दक 13.2

प्रत्युत्पन्नमति होना चाहिए।[38]

रामायण में दूत की योग्यता का विवेचन किया गया है कि दूत को राज्य का नागरिक, सज्जन और प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिए। उसे राजा का सन्देश ज्यों का त्यों प्रेषित करना चाहिए।[39] रामायण में दूतों के तीन प्रकार बताए गये हैं- पुरुषोत्तम, मध्यमनर और पुरुषाधम।[40] दूत चाहे साधु हो या असाधु वह तो दूसरे का भेजा हुआ एवं दूसरे की बात कहने वाला होता है। इसलिए दूत का वध सर्वदा निषिद्ध है।[41] राम-दूत हनुमान् ने लंका में पहुँचकर बहुत उत्पात मचाया, यहाँ तक कि उन्होंने रावण के एक पुत्र की हत्या भी कर दी। तब क्रोध में जल रहे रावण ने हनुमान् का वध करने की आज्ञा दी। परन्तु वहाँ उपस्थित नीतिज्ञ विभीषण ने निर्भीक होकर कहा- दूत का वध कदापि नही करना चाहिए। क्योंकि सभी स्थलों और सभी कालों में दूत अवध्य होता है।

कदाचित् कोई दूत ऐसा महान् अपराध कर भी बैठता है जो वैधानिक दृष्टि से क्षम्य नहीं होता है तब भी उसके लिए अन्य प्रकार के दण्ड है जैसे किसी अंग को भंग या विकृत कर देना, कोड़े से पिटवाना, सिर मुंड़वा देना तथा शरीर में कोई चिह्न दाग देना- ये ही दण्ड़ दूत के लिए उचित बताए गए है। उसके लिए वध का दण्ड़ तो कभी नहीं सुना है।[42] दूत सदा पराधीन होता है, अत: वह वध के योग्य नहीं होता है।[43]

महाभारत में भी दूत को अवध्य कहा गया है। क्षात्रधर्मरत जो राजा सत्यवादी दूत का वध करता है उसके पितर भ्रूण-हत्या के भागी होते हैं।[44] महाभारत में दूत के गुणों का कथन है कि दूत निर्भीक, स्मरण शक्तिमान्, वाग्मी, शस्त्र और शास्त्र दोनों के प्रयोग में निष्णात, अनुभवी दर्शनीय और देश-काल का ज्ञाता होना चाहिए।[45]

आचार्य कौटिल्य ने राजदूत को राजा का मुख माना है।[46] राजा का मुख उसको इसलिए कहा गया है कि अपने राष्ट्र में राजा जैसी व्यवस्था और नीति-नियम निर्धारित करता है, पर राष्ट्र में राजा का वही कार्य राजदूत करता है। पर राष्ट्र सम्बंधी-कार्यों में वह राजा का प्रतिनिधि माना जाता है। राजदूत को कैसा होना चाहिए, शत्रु देश में किस ढंग से प्रस्थान करना चाहिए और उनके आचार-व्यवहार के क्या तरीके होने चाहिए इस पर कौटिल्य ने बड़ी बारीकी से विचार किया है।

---

38 वही 13.26
39 रामायण अयोध्या काण्ड 100.35
40 वही युद्ध काण्ड 1.8.10
41 वही सुन्दर काण्ड 52.13
42 वही 52.15
43 वही 52.21
44 महाभारत शन्तिपर्व 85.26
45 वही 85.28
46 कौटिल्यार्थ शास्त्र पृ0 60

दूत के गुणों के सम्बन्ध में कौटिल्य का कथन है कि वह अपने देश में उत्पन्न, कुलीन उत्तम बन्धुओं से युक्त, शिल्प-ज्ञाता, चक्षुष्मान्, प्राज्ञ, स्मृतिमान्, चतुर, वाग्पटु, प्रतीकार करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावयुक्त, क्लेशों को सह सकने वाला, पवित्र, मित्रता के अनुकूल, दृढ़ भक्ति वाला, शील-बल आरोग्य एवं शक्ति-सम्पन्न, अभिमान और चचंलता से रहित, सुन्दर आकृति वाला, शुत्रता न करने वाला हो। अमात्य इन सभी गुणों से युक्त होता है।[47] गुणों के आधार पर कौटिल्य ने दूतों की तीन श्रेणियाँ बताई है- 1. निसृष्टार्थ, 2. परिमितार्थ और 3. शासनहर। निसृष्टार्थ- उच्च श्रेणी का दूत होता था। उसे अमात्य स्तर के अधिकार प्राप्त थे। वह उपर्युक्त सम्पूर्ण गुण सम्पन्न होता था। उसके कार्य थे- राजा का सन्देश ले जाना, अन्य राजा का सन्देश लाना, राजा की ओर से सन्धि-विग्रह की बाते करना। वह एक तरह से सर्वाधिकार प्राप्र दूत होता था। वह किसी विशेष उद्देश्य के लिए भेजा जाता था। परिमित+अर्थ अर्थात् सीमित उद्देश्य की पूर्ति करना उसका कार्य होता था। शासनहर दूत सामान्य दूत होता था। उसमें आधे गुण होते थे आधे गुण नही होते थे। उसका कार्य राजा का केवल सन्देश पहुँचाना आदि था।[48]

दूत को जब शत्रु देश में भेजा जाय तो उसके साथ पालकी, घोड़ा या प्रचलित सवारी एवं वाहन, अनेक भृत्य तथा आवश्यकता की सभी वस्तुएँ राजा को भेजनी चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह भूमिगत जीवन भी यापन कर सके। उसे शत्रु देश में किसी वस्तु को खरीदने की तुरन्त आवश्यकता न रहे। दूत को शत्रु देश में जाते समय यह सब सोच विचार कर रखना चाहिए कि मुझे अपने स्वामी के आदेश को किस प्रकार कहना है, शत्रु पक्ष इसका क्या उत्तर देगा और मेरा उसका क्या उत्तर होगा। वह आटविक (अरण्याधिकारी), अन्तपाल (सीमा रक्षक) एवं नगर और राष्ट्र के प्रधान व्यक्तियों से मित्रता करे। अपनी और शत्रु की सेना के ठहरने के स्थान, युद्ध-योग्य स्थान एवं अवसरानुकूल सेना के भागने योग्य स्थानों का निरीक्षण करे। जहाँ समय पड़ने पर सेना भाग कर आश्रय ले सके। दूत शत्रु देश के दुर्गो की संख्या, उनके आकार-प्रकार, राष्ट्र की सीमाओं, सभी लोगों की आजीविका के उपाय, उनकी आर्थिक स्थिति, देश की रक्षा के उपायों एवं शत्रुओं की और उनके देश की बुराईयों का अच्छी तरह से पता लगावें।[49] दूसरे देश में राजाज्ञा प्राप्त करके ही प्रवेश करना चाहिए। प्राणों का नाश दिखाई देने पर भी राजाज्ञा को जैसी कही गई थी वैसी ही कहे। शत्रु की वाणी में मुख में ओर दृष्टि में प्रसन्नता, कथन (दूत की बातों) के प्रति सत्कार की भावना अभीष्ट प्रश्नों का पूछना अथवा इच्छानुसार प्रश्नों का पूछना, गुणों के कहने पर उन्हें ध्यान पूर्वक सुनना, समीपवर्ती आसन प्रदान करना, सत्कार करना, इष्ट कार्यों को करते समय स्मरण करना एवं दौत्यकर्म

---

47 वही पृ0 28

48 कौटिल्यार्थ पृ0 59

49 वही 16 अध्याय 11 प्रकरण 5.9

में विश्वास करना देखें तो उसे सन्तुष्ट समझना चाहिए। इसके विपरीत को असन्तुष्ट समझना चाहिए।[50]

दूत राजा का प्रतिनिधि होता है, अत: उसे पूर्ण सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए। किसी भी स्थिति में उसका वध नही होना चाहिए। दूत को अवध्य कहा गया है।[51] दूत किसी भी वर्ण का हो, वह अवध्य है। 'दूसरे का यह कथन है' यह दुहराना ही दूत का धर्म है। जब तक आज्ञा न मिले शत्रु राज्य में ही रहे तथा आदर-सत्कार से गर्व न करे। शत्रुओं के मध्य अपने को बलवान् न माने। शत्रुओं के मध्य रहते अनिष्ट वचनों को भी सहन कर ले। स्त्रियों (का सहवास) एवं मद्यपान का परित्याग करे। अकेला ही शयन करे।[52] क्योंकि सोते समय व्यक्ति स्वप्नावस्था में अपने विचार किये गये भावों को भी प्रकट कर सकता है तथा मदिरा पान करके व्यक्ति पागल-सा हो जाता है और अपनी सारी बातों को कह देता है। अत: दूतों को कभी किसी के साथ नही सोना चाहिए।

कृत्यपक्ष (क्रुद्ध, लुब्ध, भीत एवं तिरस्कृत व्यक्ति) का (शत्रु राजा से) भेद, अकृत्यपक्ष में तीक्ष्ण, रसद आदि गुप्तचरों का प्रयोग, राजा के प्रति प्रकृतियों (अमात्य, पुरोहित, सेनापति आदि) का अनुराग अथवा द्वेष और राजा के द्वेष एवं दोष को दूत तापस एवं वैदेहक नामक गुप्तचरों के माध्यम से जाने। अथवा उन दोनों (तापस और वैदेहक) के शिष्यों द्वारा, चिकित्सक एवं पाखण्डी के वेश में रहने वाले गुप्तचरों द्वारा तथा उभय वेतनभोगी (स्वपक्ष और शत्रुपक्ष दोनों से वेतन पाने वाले) गुप्तचरों से जानकारी प्राप्त करे। उनके साथ बात-चीत न होने पर भिखारी, पागल (मदिरादि से) उन्मत्त एवं सोते हुए व्यक्तियों के प्रलापों को जाने। पुण्य स्थल, मन्दिर, चित्र एवं अन्य लिखित संकेतों द्वारा समाचार का पता लगावे। समाचारों के प्राप्त हो जाने पर भेद रूप उपायों का प्रयोग करे।[53]

शत्रु द्वारा पूछे जाने पर अपनी प्रकृतियों (अमात्य, सेनापति आदि) का परिमाण न बतावे। अपितु आप सब कुछ जानते हैं- ऐसा कहे। इतने पर प्रसन्न न हो तो कार्य सिद्धि करने वाली संख्या को ही बतावे। कार्य सिद्ध हो जाने पर यदि शत्रु राजा रोके तो पुन: विचार करना चाहिए कि यह राजा मुझे क्यों अपने देश में जाने नही दे रहा है। क्या इसने मेरे स्वामी से आने वाली विपत्ति को देख लिया है। अथवा किसी आपत्ति का प्रतिकार करना चाहता है। अथवा पार्ष्णिग्राह (शत्रु राजा का मित्र) एवं आसार (पाष्णिग्राह का मित्र राजा) उकसाना चाहता है या आटविक को लड़ने के लिए तैयार करना चाहता है। अथवा मित्र राजा को या आक्रन्द राजा (पिछले प्रदेश का मित्र राजा) को मार डालना चाहता है। अथवा दूसरे से अपने ऊपर किये गये आक्रमण का, अपने अन्त: कोप (अमात्य, सेनापति आदि के क्रोध) का या आटविक का प्रतिकार करना चाहता है। अथवा मेरे स्वामी की युद्ध

---

50 वही 16.11.10-14

51 वही 16.11.18

52 वही 16.11.19-24

53 वही 16.11.26-30

यात्रा का समय हो चुका है, उसमें यह रुकावट डालना चाहता है। अथवा धान्य, कुप्य (स्वर्ण-रजत से भिन्न धातुएँ) एवं अन्य वस्तुओं का संग्रह, किला का निर्माण या सेना का उत्थान करना चाहता है। अथवा अपनी सेना की शिक्षा एवं उचित देश-काल की आकांक्षा कर रहा है। अथवा तिरस्कार या प्रीति के कारण (मुझे रोक रहा है) अथवा विवाह आदि सम्बन्ध की इच्छा से या किसी दोष के कारण मुझे रोक रहा है।[54]

रोकने के कारण को जानकर दूत वहाँ पर निवास करे अथवा वहाँ से भाग जाए तथा रहकर गुप्तचरों के माध्यम से वहाँ के समाचारों को राजा तक पहुँचाये। अभीष्ट राजाज्ञा को कहकर दूत अपने बन्धन या वध के भय से आने की आज्ञा न मिलने पर भी वापिस चला आना चाहिए ऐसा न करने पर वह पकड़ा जाता है।

दूत के कुछ प्रमुख कर्त्तव्य ये हैं- परराष्ट्र में राजा की ओर से सन्धि और विग्रह की बात करना, परराष्ट्र में राजा का सन्देश पहुँचाना और दूसरे राजा का सन्देश अपने राजा तक पहुँचाना, प्रताप का प्रदर्शन करना, परदेश में भी अपने मित्र बनाना, शत्रुपक्ष के कार्य कर्त्ताओं में फूट डालना, शत्रु पक्ष की आन्तरिक न्यूनताओं को और रहस्यों को जानना और अपने राजा तक पहुँचाना, परदेश में अपने गुप्तचरों के क्रिया-कलापों का निरीक्षण करना, अपने राजा की विजय के लिए परदेश में अनुकूल स्थिति बनाना दूसरों के कटु वचनों को भी सहन करना, शत्रु के बान्धवों तथा रत्नों का अपहरण करना, गुप्तचरों अथवा समाचारों की जानकारी रखना, पराक्रम का प्रदर्शन करना, जमानत रूप में रखे हुए राजकुमार को छुड़ाना, योग (मारण, मोहन उच्चाटन आदि) का प्रयोग करना आदि।[55]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि दूत कुलीन, शुद्ध आचार-विचार सम्पन्न, विद्वत्ता आदि में अत्युत्कृष्ट, हृष्ट-पुष्ट, गम्भीर प्रसन्नचित, जन हितैषी, न्यायप्रिय, यथोक्तवादी, क्षिप्रकारी, आलस्यहीन, निर्भीक और मृदुभाषी होता है और राजा को चाहिए कि वह उपर्युक्त सभी दूत कर्म अपने दूत द्वारा करवाये। शत्रु के दूतों के पीछे अपने दूत एवं गुप्तचरों को लगाये रखे और अपने देश में तो शत्रु के कार्यो का पता लगाकर शत्रु के षड्यन्त्रों को कामयाब न होने दे तथा रक्षकों के माध्यम से अपनी रक्षा करें। इस प्रकार का आचारण करने वाला राजा अवश्य ही शत्रुओं से पराजय नही पा सकता है।

डॉ0 उमा जैन
रीडर संस्कृत-विभाग
मु0 ला0 एण्ड जय0ना0 खेमका गर्ल्स
(पी0जी0) कॉलिज सहारनपुर

---

54 वही 16.11.31-44
55 वही 16.11.49.50

पीयूषवर्ष जयदेव

संस्कृत साहित्य के काव्याकाश को अनेक आलंकारिकों एवं काव्यकारों की विमल कृतिरूपी नक्षत्रमालाओं से विभूषित होने का गौरव प्राप्त है। इस साहित्य की एक अनुपम विभूति पीयूषवर्ष जयदेव भी हैं जो आलंकारिक तथा महाकवि दोनों की प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए है। इनका अलंकारग्रन्थ चन्द्रालोक तथा काव्यग्रन्थ प्रसन्नराघव नाटक संस्कृत की विद्वन्मण्डली में सुप्रसिद्ध है।

संस्कृत में काव्य रचना करने वाले जयदेव नाम के कई लेखक हो चुके हैं। जर्मन विद्वान् ऑफ्रक्ट ने जयदेव नामक 15 लेखकों का उल्लेख किया है[1], जिनमें गीतगोविन्दकार जयदेव, पक्षधर जयदेव तथा पीयूषवर्ष जयदेव प्रमुख हैं। संस्कृत साहित्य में गीतगोविन्दकार जयदेव अतिशय प्रख्यात हैं, किन्तु वे तथा पीयूषवर्ष जयदेव एक नहीं हो सकते, क्योंकि गीतगोविन्दकार भोजदेव और रामदेवी के पुत्र हैं, जबकि पीयूषवर्ष के माता पिता का नाम सुमित्रा और महादेव हैं।[2] इस हेतु से श्रीयुत काणे, सुशीलकुमार दे प्रभृति प्रायः सभी विद्वानों ने इन्हें भिन्न ही माना है, यद्यपि कोई कोई विद्वान् इन्हें एक सिद्ध करने का भी प्रयत्न करते हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी काव्यप्रकाश-टीका की भूमिका में गीतगोविन्द के माता-पिता के उल्लेख वाले श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हुए दोनों को एक सिद्ध करने का यत्न किया है।[3] पर इनके तर्क अकाट्य नहीं हैं।

दूसरे जयदेव, जिनसे पीयूषवर्ष की अभिन्नता कही जाती है, पक्षधर मिश्र जयदेव हैं। इसके समर्थन में यह युक्ति दी जाती है कि प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में कवि ने अपने आपको प्रमाणप्रवीण कहा है और नट के मुख से यह कहलाया है कि इस कवि में चन्द्रिका और चण्डातप के समान कविता और तार्किकता की एकाधिकरणता को देखकर में विस्मित हूँ।[4] इनके विषय में जनश्रुति के अनुसार एक पद्य भी प्रचलित है, जिसमें इन्हें काव्य तथा तर्कशास्त्र दोनों का पण्डित कहा गया है।[5] पक्षधर मिश्र भी परम तार्किक हैं और उन्होंने गंगेशोपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ पर मण्यालोक नाम से भाष्य लिखा है। इस आधार से दोनों एक होने चाहिये। मैथिल पण्डित महामहोपाध्याय, परमेश्वर झा ने अपने मिथिलातत्त्वविमर्श नामक ग्रन्थ में इन दोनों को एक ही माना है तथा वे इनकी चार रचनायें

---

1. कैटलागोरस कैटलागोरम भाग 1,1962, पृ0 199-200
2. श्रीभोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुतरीजयदेवकस्य। गी0 12.4.5 महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः। सुमित्रा तदभक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।। च0 1.6
3. विश्वेश्वरः काव्यप्रकाश-टीका, ज्ञानमण्डल वाराणसी, 2017 वि0, भूमिका पृ0 83
4. नन्वयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते। तदिह चन्द्रिकाचण्डातपयोरिव कविताताार्किकत्वयोरकाधि- करणतामालोक्य विस्मितोऽस्मि। प्र0, पृ0 26
5. काव्येऽपि कोमलधियो वयमेव नान्ये, तर्केऽपि कर्कशधियो वयमेव नान्ये। तन्त्रेऽपि यन्त्रितधियो वयमेव नान्ये, कृष्णेऽपि सङ्गतधियो वयमेव नान्ये।।

बताते हैं-1.मण्यालोक, 2. चन्द्रालोक, 3. सीताविहार, 4. प्रसन्नराघव नाटक।[6] डॉ. काणे भी दोनों को एक ही स्वीकार करते हैं।[7] परन्तु डॉ0 दे इनकी एकता में तीव्र सन्देह व्यक्त करते हैं।[8] श्री वटुकनाथ शर्मा भी एकता के मत का विरोध करते हुए इन दोनों को भिन्न ही लिखते हैं। उनका कथन है कि पीयूषवर्ष प्रमाणप्रवीण थे, इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे तार्किक पक्षधर जयदेव ही थे, जब तक कि कोई अन्य प्रबल प्रमाण प्राप्त न हो।[9]

पीयूषवर्ष की रचनाएं

पीयूषवर्ष जयदेव की दो रचनायें उपलब्ध होती है- 1. चन्द्रालोक, 2. प्रसन्नराघव नाटक। ये दोनों कृतियाँ एक ही जयदेव की है इसमें निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती है-

1.दोनों ही ग्रन्थों में लेखक के पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा लिखा है, प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में तथा चन्द्रालोक के प्रत्येक मयूख के अन्तिम श्लोक में यह समानता आकस्मिक नहीं हो सकती।

प्रसन्न0 कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः।। 1.14
लक्ष्मणस्येव यस्याऽस्य सुमित्राकुक्षिजन्मनः।
रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृंगायते मनः।। 1.15

चन्द्रा0 महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः।। 1.16

2. दोनों ही ग्रन्थों के कवि शिव तथा विष्णु के उपासक है तथा इनमें अद्वैत मानते हैं। प्रसन्नराघव के मंगलाचरण में विष्णु की स्तुति है तथा चन्द्रालोक के मांगलिक पद्य में शिवजी की नेत्रत्रितयी का उल्लेख है, इससे यह सन्देह हो सकता है कि प्रसन्नराघवकार विष्णु के तथा चन्द्रालोककार शिव के उपासक होने से परस्पर भिन्न हैं। पर वस्तुतः इसका कारण यह है कि ये विष्णु और शिव में अभेद मानते हैं। प्रसन्नराघव के भरतवाक्य में यही

---

6. मिथिलातत्त्वविमर्श, 1949, पृ0 203.206
7. काणे: संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, 1966, पृ0 362
8. दे: हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स, खण्ड 1, 1960, पृ0 197
9. द्रष्टव्य : चन्द्रालोक गागाभट्ट टीका, चौखम्बा, 1955 वि0 के प्रारम्भ में वटुकनाथ शर्मा का लेख पीयूषवर्षो जयदेव : पृ0 9

याचना की गई है कि विष्णु तथा शिव में सबकी अद्वैतमति विलसित होती रहे।[10] साथ ही जहाँ मंगलाचरण में विष्णु की आराधना है वहाँ उसके तुरन्त पश्चात् ही भगवान् शंकर की यात्रा का भी उल्लेख है।[11] इसी प्रकार चन्द्रालोक में यद्यपि मंगलश्लोक में शिव का उल्लेख है, तथापि आगे विभिन्न लक्षणों के उदाहरण देते हुए शिव तथा विष्णु दोनों को ही स्मरण किया है।

शिव केतकी शेखरे शम्भोर्धत्ते चन्द्रकलातुलाम्। च0 2.35
दधार गौरी हृदये देवं हिमकराङ्कितम् च0 2.44
जितोऽसि मन्द कन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः। च0 5.38
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः। च0 5.39
सारं सारस्वतं तत्र काव्यं तत्र शिवस्तवः। च0 5.90

विष्णु मुधा निन्दन्ति संसारं कंसारिर्यत्र पूज्यते। च0 3.2
चतुर्णा पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः। च0 5.40
चन्दनं खलु गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनम्। च0 5.6
श्रितोऽस्मि चरणौ विष्णोर्भृङ्गस्तामरसं यथा। च0 5.16
त्वद्भक्तः कृष्ण गच्छेयं नरकं स्वर्गमेव वा। च0 2.32

प्रसन्नराघव में विशेषतः विष्णु का मंगलाचरण कवि ने इस हेतु से किया है क्योंकि उसमें कथा ही विष्णु के अवतार राम की है। इसी प्रकार चन्द्रालोक में शिव का स्मरण इस कारण उपयुक्त है, यतः चन्द्रालोक शिव का शिरोभूषण है।

3. दोनों ही ग्रन्थों के कवियों में राम तथा रामायण के प्रति परम भक्ति है। प्रसन्नराघव में तो रामयण की कथा ही निबद्ध है, पर चन्द्रालोक में भी कतिपय उदाहरण रामकथा सम्बन्धी पाये जाते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि चन्द्रालोककर्ता के मन में भी रामचरित के प्रति उत्कट प्रीति है। उदाहरणार्थ निम्न पद्यांश द्रष्टव्य है-

चन्द्रा0 हनूमानब्धिमतरद् दुष्करं किं महात्मनाम्। 5.68
हर सीतां सुखं किं तु चिन्तायान्तकढौकनम्। 5.73
अजरामरता कस्य नायोध्येव पुरी प्रिया। 5.64
येन बद्धोऽम्बुधिर्यस्य रामस्यानुचरा वयम्। 2.23
न मामंगद जानासि रावणं रणदारुणम्। 2.15

4. दोनों ग्रन्थों के भाव एवं भाषा में भी क्वचित् साम्य पाया जाता है। यथा-

---

10. देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटेऽद्वैता मतिः खेलतु। प्र0 7.94
11. भगवतः शंकरस्य यात्रायां परिमिलिता एवं पारिषदाः। प्र0, पृ0 7

चन्द्रा0 दृष्टं चेद् वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना। 5.100

प्रसन्न0 राजीव जीवसि सुधा न सुधाकर त्वम्।

अस्याः समः पदनखस्य कुतो मुखस्य।। 1.16

चन्द्रा0 असावुदेति शीतांशुमनिच्छेदाय सुभ्रुवाम्। 3.10

प्रसन्न0 मृगदृशां मानं समुन्मीलयन् ....इन्दुः समुज्जृम्भते। 7.60

चन्द्रा0 इन्दुर्यदि कथं तीव्रः सूर्यो यदि कथं निशि। 3.3

प्रसन्न0 चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति। 6.1

चन्द्रा0 त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनो :।5.14

प्रसन्न0 वहत्यस्या दृष्टिर्विकचनवनीलोत्पलतुलाम्। 2.16

चन्द्रा0 नायं सुधांशुः किं तर्हि व्योमगङ्गासरोरुहम्। 5.24

प्रसन्न0 त्रिपुरहरशिरः स्वःस्रवन्तीमृणालं ......खण्डमिन्दोः। 2.35

रचनाओं का पौर्वापर्य:

चन्द्रालोक और प्रसन्नराघव में से कवि ने पहले किसकी रचना की, यह निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है। कवि ने अपने आपको पीयूषवर्ष चन्द्रालोक में कहा है[12]'' किन्तु प्रसन्नराघव में नहीं। चन्द्रालोक में यह स्वयं को सूक्तिपीयूषवर्ष भी कहता है[13]'' प्रसन्नराघव में पीयूषवर्ष नाम न मिलने का कारण यही प्रतीत होता है कि उसकी रचना से पूर्व कवि इस नाम से प्रख्यात नहीं हुआ था। इस नाटक की मधुर सूक्तियों से चमत्कृत होकर ही सहृदय समाज ने इन्हें पीयूषवर्ष या सूक्तिपीयूष वर्ष उपनाम से विभूषित कर दिया होगा। चन्द्रालोक में जयदेव स्वयं को सुकवि भी कहते हैं। अतः इससे पूर्व इनकी कोई रचना अवश्य होनी चाहिए, जिसके कारण इन्हें सुकवि कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ होगा। वह रचना प्रसन्नराघव ही हो सकती है। इस युक्ति से प्रसन्नराघव ही इनकी प्रथम रचना प्रतीत होती है। यदि प्रसन्नराघव से पूर्व ये चन्द्रालोक की रचना कर चुके होते तो प्रस्तावना में कवि परिचय में उसका उल्लेख अवश्य करते। ऐसा न होने से भी उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि होती है। प्रसन्नराघव में इन्होंने पीयूषवृष्टि की है, जो कुरङ्गाक्षी के अधरबिम्ब को भी अधर कर देने वाली है-

विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दधुरः। कुरंगाक्षीबिम्बाधरमधर[14] भावं गमयति।। प्र0 1.14

प्रसन्नराघव में एक स्थान पर 'चन्द्रालोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। षष्ठ अंक में रत्नशेखर द्वारा प्रदर्शित इन्द्रजाल में राम सीता की कण्ठध्वनि सुनकर उसे तुरन्त पहचान लेते

12. चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती। च0 1.2, पीयूषवर्षप्रभवं चन्द्रलोकं मनोहरम्।। वही 10.5
13. सूक्तिपीयूषवर्षस्य जयदेवकवेर्गिरः। वही 10.6
14. पाठान्तर : मधुरभावं।

हैं, पर सीता उन्हें दिखाई नहीं देती। तब वे कहते हैं- तत्कथमयमदृष्टचन्द्रलेखश्चन्द्रालोक:। अरे यह तो ऐसा चन्द्रालोक है जिसमें चन्द्रमा की कला दिखाई नहीं दे रही। इस निदर्शना के द्वारा कवि ने यह प्रकट किया है कि सीता के दृष्टिगोचर हुए विना उसकी ध्वनि सुनाई देना ऐसा ही है, जैसे चन्द्रकला के दिखाई दिये विना चन्द्रालोक का होना। यहाँ चन्द्रालोक शब्द को देखकर यह कल्पना हो सकती है कि चन्द्रालोक की रचना प्रसन्नराघव से पूर्व हो चुकी होगी। पर वस्तुत: यहाँ चन्द्रालोक शब्द का प्रयोग आकस्मिक ही है, यह ग्रन्थ के नाम को सूचित नही करता।

पीयूषवर्ष का काल:

पीयूषवर्ष ने अपनी रचनाओं में कहीं अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। प्रसन्नराघव में इन्होंने अपने से पूर्ववर्ती भास, कालिदास, चोर, मयूर, हर्ष तथा बाण कवियों का नामकीर्तन किया है। परन्तु ये सब कवि बहुत प्राचीन है, अत: इनसे पीयूषवर्ष के काल पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। इनसे उल्लिखित हर्ष कवि रत्नावलीकार हर्ष ही प्रतीत होते हैं। यदि ये नैषधकार श्री हर्ष हों, तो भी यह सन्देहकोटि में होने से निर्णायकतत्त्व नहीं बन सकता। चन्द्रालोक में इन्होंने किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है। हाँ, नामोल्लेख के विना ही मम्मट के काव्यलक्षण पर कटाक्ष अवश्य किया है। मम्मट ने अपने काव्य की परिभाषा में ''अनलंकृती पुन: क्वापि[15]'' कहकर क्वचित् स्फुटालंकाररहित भी शब्दार्थ को काव्य स्वीकार किया था। इस पर इन्होंने कहा कि अलंकाररहित शब्दार्थ को काव्य मानना ऐसा ही हास्यास्पद है, जैसा अग्नि को अनुष्ण कहना-

अंगीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।

असौ न मन्यते कस्मावनुष्णनमलंकृती।। च0 1.8

अत: ये मम्मट के काल 11 वीं शती से पूर्व नहीं हो सकते। ये अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक से भी परवर्ती है, क्योंकि इन्होनें अपने चन्द्रालोक में कई अलंकारों के लक्षण रुय्यक के अनुसार लिखे हैं यथा-

उपमेयोपमा — द्वयो: पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा। अ0स0 13

पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता। च0 5.13

परिकर — विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकर:। अ0स0 32

अलंकार: परिकर: साभिप्राये विशेषणे। च0 5.39

दीपक — प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु (समानधर्माभिसम्बन्धे) दीपकम्। अ0स024

प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम्। च0 5.53

दृष्टान्त — तस्यापि बिबप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्त:। अ0स0 26

---

15. का0 प्र0 1.4

चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः। च0 5.26

विकल्प तुल्यबलविरोधो विकल्पः अ0स0 64

विकल्पस्तुल्यबलयोविरोधाश्चातुरीयुतः। च0 5.96

समाधि कारणन्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। अ0स0 68

समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः। च0 5.98

इनमें से विचित्र और विकल्प अलंकार तो रुय्यक के ही आविष्कृत है। अतः पीयूषवर्षकृत इनके लक्षणों पर स्पष्टतः रुय्यक का ही प्रभाव है। शेष अलंकारों के लक्षण भी पूर्ववर्ती इतर आचायों के लक्षणों की अपेक्षा रुय्यक के लक्षणों से ही अधिक साम्य रखते हैं। रुय्यक का काल 12 वीं शती का मध्य है। एवं 12 वीं शती का मध्य पीयूषवर्ष के काल की पूर्वसीमा निश्चित हो जाती है।

चतुर्दश शती के आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसंक्रमितध्वनि के उदाहरण में प्रसन्नराघव का एक श्लोक 'कदली कदली करभः करभः[16]'' आदि दिया है। शार्ङ्गधरपद्धति में भी प्रसन्नराघव के कतिपय श्लोक उद्धृत किये गये हैं[17]'' जो 1363 ई0 की रचना है, इससे भी पूर्व के 1330 ई0 में स्थित शिंगभूपाल ने भी अपने रसार्णवसुधाकर में प्रसन्नराघव के उद्धरण दिये हैं एवं पीयूषवर्ष के काल की अन्तिम सीमा 1330 ई0 स्वीकार करनी होगी। कोई कवि उसी कवि की कृति में से अपने ग्रन्थ में उद्धरण देता है, जो अपनी काव्यकला में प्रख्यात हो चुकता है। कुछ समय ख्याति प्राप्त करने में भी लगता है। अतः चदुर्दशशती के जिन उपर्युक्त लेखकों ने अपने ग्रन्थों में प्रसन्नराघव के उद्धरण दिये हैं, उनसे कुछ पूर्व ही पीयूषवर्ष का काल होना चाहिए। इस दृष्टि से इनका काल 13वीं शती का पूर्वार्ध माना जा सकता है।[18]

डॉ0 दे ने इस बात का संकेत किया है कि परांजपे प्रसन्नराघव नाटक के पूना-संस्करण (1894) में पीयूषवर्ष तथा पक्षघर मिश्र को एक मानकर इनका काल 1500 से 1577 ई0 के मध्य में मानते हैं। ऐसा ही पीटर्सन तथा ऐगलिंग का भी मत है। परन्तु डॉ0 दे इनसे सहमत नहीं हो सके हैं[19]। पण्डित परमेश्वर झा भी पीयूषवर्ष को पक्षधर मिश्र से अभिन्न मानते हैं तथा इनका काल 1454 ई0 स्वीकार करते हैं। इनका कथन है[20] कि पक्षधर मिश्र ने एक विष्णुपुराण पुस्तक ताडपत्रों पर लिखी थी, जिसके अन्त में उन्होंने एक

16. प्र0 1.37
17. द्रष्टव्यः प्र0 1.9 तथा शार्ङ्ग0 164, प्र. 1.33 तथा शा र्ङ्ग 3520, प्र. 2, 22 तथा शार्ङ्ग 3557, प्र0 7. 59 तथा शार्ङ्ग0 3626, प्र0 7.60 तथा शार्ङ्ग0 3631
18. द्रष्टव्यः काणेः संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास 1966 पृ. 362
19. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स खण्ड 1, 1960, पृ0 198
20. मिथिलातत्त्वविमर्श, 1949, पृ0 201

श्लोक[21] लिखा है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि यह हस्तलेख लक्ष्मणसंवत्सर 345 अर्थात् 1454 ई0 में लिखा गया था। परन्तु वे कथन क्योंकि पीयूषवर्ष और पक्षधर जयदेव की अभिन्नता पर आधारित है, अतः प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।

निवास-स्थान

पीयूषवर्ष किस प्रदेश के निवासी थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इन्होंने अपनी दोनों में से किसी भी कृति में निवास-स्थान का उल्लेख नहीं किया है। प्रसन्नराघव में यह अपने आपको कौण्डिन्य कहते हैं[22] अधिकांश विद्वानों ने कौण्डिल्य का अर्थ कुण्डिनगोत्री किया है। किन्तु कुछ विद्वान् इसका अभिप्राय विदर्भ प्रदेश के कुण्डिनपुर निवासी, यह लेते हैं। डॉ0 पीटर्सन ने 'सुभाषितावली' की भूमिका में इन्हें विदर्भ देशवासी ही लिखा हैं, यद्यपि ये कौण्डिन्य से कुण्डिनगोत्र ही गृहीत करते हैं। परमेश्वर झा इन्हें मिथिला निवासी मानते हैं[23] इनका कथन है कि प्रसन्नराधव का मूलपाठ कौण्डिन्यः नहीं अपितु शाण्डिल्यः था, लिपिकार के प्रमाद से शा के स्थान पर कौ लिखा जाने से कौण्डिल्यः हो गया, और फिर किसी अन्य लिपिकार ने ल् के स्थान पर न् लिखकर इसे कौण्डिन्यः बना दिया। उन्होनें युक्ति दी है कि पंजीप्रबन्ध प्रस्तक ममें जयदेव को शाण्डिल्यगोत्री ही लिखा है। परन्तु यह सब कल्पना इन्हें पीयूषवर्ष को पक्षधर से अभिन्न मानने के कारण ही करनी पड़ी है। इनका यह भी कथन है कि 'प्रस्तावना-लेख से यहस्पष्ट विदित हो जाता है कि पीयूषवर्ष विन्ध्य पर्वत से दक्षिण प्रदेश के वासी नही हो सकते, क्योंकि इन्होंने दाक्षिणत्य नट को नटापसद कहा है। विदर्भ प्रदेश भी विन्ध्याचल के दक्षिण में है। अतः यदि कवि विदर्भवासी थे तो वे भी दाक्षिणात्य हुए। अपने ही प्रदेश के वासी की वे उक्त प्रकार से निन्दा नहीं कर सकते थे।

इनके मिथिलावासी या विदर्भवासी होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। मिथिलापुरी की इन्होंने प्रशंसा अवश्य की है, परन्तु वैसी प्रशंसा दक्षिणस्थ नर्मदा और गोदावरी की भी की है और अयोध्या को भी नगरीसीमन्तमणि कहा है। अतः इनके निवास स्थान के विषय में संप्रति कोई प्रमाणित स्थापना कर सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

विश्वास और धारणाएं

पीयूषवर्ष के पिता महादेव परम याज्ञिक थे। माता सुमित्रा पतिभक्तिपरायणा एवं धर्मनिष्ठ थी। अतः धार्मिक वृत्ति इन्होंने पैतृकगुण के रूप में प्राप्त की है। ये राम के चरणचञ्चरीक हैं[24] सभी कवि राम पर ही काव्य रचना क्यों करते हैं, इसके उत्तर में यह

---

21. बाणैर्वेदयुतैः सशंभुनयनैः संख्यागते हायने। श्रीमद्गौडमहीभुजो गुरुदिने मार्गे च पक्षे सिते।।
22. प्र0 1.14
23. मिथिलातत्त्वविमर्श, 1949, पृ0 206-7
24. रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद्[illegible] प्र0 1.15

कहते हैं कि यह कवियों का दोष नहीं, अपितु उन गुणगणों का दोष है, जो राम में आकर एकत्र हो गये हैं, अत एव इनका चित्तचकोर राम में ही आनन्दित होता है।[25] राम के कीर्तिगायक होने के कारण ही महाकवि वाल्मीकि के प्रति भी इनकी अगाध श्रद्धा है।[26]

ये विष्णु और शिव के समान रूप से उपासक हैं। दोनों में अद्वैत मानते हैं तथा यह चाहते हैं कि छोटे से लेकर बड़े तक सब में यह अद्वैत बुद्धि जागृत हो। ऋषि-मुनियों के प्रति भी इनकी परम निष्ठा है। इन्हें ये अलौकिक सिद्धियों का आगार मानते हैं। याज्ञवल्क्य की महिमा से उनके शिष्य दाल्भ्यायन को भ्रमरों की वाणी समझने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। देवी मैत्रेयी भी सिद्धयोगिनी एवं काल त्रयदर्शिनी हैं। वसिष्ठ पत्नी अरुन्धती वन जाते समय सीता को ऐसा नूपुर प्रदान करती हैं, जिनकी महिमा से पति विरह न हो। अत्रि पत्नी अनसूया के दिये हुए अंगराग का यह प्रताप है कि ज्यों ही रावण सीता का स्पर्श करने लगता है, त्यों ही सहसा अग्नि जल उठती है। भारद्वाज मुनि का ऐसा प्रभाव है कि उनके आश्रम में करी केसरी, नकुल सर्प आदि प्राणी अपने विरोध को भूलकर निवास करते हैं।

योग और अध्यात्मविद्याा से भी कवि को विशेष अभिरुचि है। विश्वामित्र के योगीश्वर होने का यह बड़े गौरव के साथ वर्णन करता है। जनक के परमपुरुष में रमण करने एवं उनकी ब्रह्मविद्या का चित्रण करने में भी वह आनन्द मानता है। तपस्या के प्रति कवि के हृदय में विशेष आदर है। विश्वामित्र तपस्या की अग्नि में तपकर ही वर्णोत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। शकुनशास्त्र में भी कवि विश्वास रखता है। मन्दोदरी शकुन निरूपणार्थ अपनी परिचारिका को शबरपल्ली में भेजती है। कवि की आकांक्षा है कि आबालवृद्ध सबके मुखाम्बुजों में सरस्वती का वास हो और सज्जनों के गृहों में वाग्देवी के साथ लक्ष्मी का भी सदा विलास होता रहे।

डॉ0 विनोदचन्द्र विद्यालंकार
462, आर्यनगर, ज्वालापुर-249407

---

25. मम तु रामचन्द्र एव निर्भरमानन्दितोऽयं चित्तचकोरः। प्र0 पृ0 18
26. म पुनः कविकमलसद्मनि मुनौ वल्मीकजन्मनि मनः कौतुकितम्। पृ0, पृ0 16.17

औपनिषदिक द्रव्य विवेचन

उपनिषद् वाङ्मय विश्व के सर्वाधिक समादृत वाङ्मय में अन्यतम है। यद्यपि प्रत्यक्षत: उपनिषद् का प्रतिपाद्य दार्शनिक तत्त्वमीमांसा न होकर[1] जीवन की समस्याओं का क्रियात्मक समाधान प्रस्तुत करना है। पुनरपि चरम पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्ति से पूर्व व्यक्ति जिस भौतिक जगत् में रह रहा है, उसका तात्त्विक परिज्ञान अपेक्षित है। उपनिषद् का ऋषि कहता है कि-वह परमेश्वर ही सर्वज्ञ, सर्ववित् जिसका ज्ञानमय तप है, उसी से यह नामरूपात्मक जगत् प्रकट होता है।[2] उसी दिव्य, अज, अमूर्त, पुरुष से यह प्राण-जीवन, मन सभी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा सबको धारण करने वाली पृथिवी-ये सभी उत्पन्न होते हैं।[3] उक्त तथा ऐसे अन्य अनेक स्थलों पर पृथिवी आदि का वर्णन करते हैं।

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य द्वारा धर्मविशेष से होने वाले तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस् की प्राप्ति कही है।[4] उक्त छ: पदार्थों में प्रथम हैं-द्रव्य। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् (दिशा), आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं।[5] आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन ये पाँच किसी के आश्रित नहीं रहते हैं। अत: इन्हें नित्य द्रव्य कहा गया है। पृथिवी, जल तेज तथा वायु-ये चार अनित्य द्रव्य हैं। प्रशस्तपादभाष्य में पृथिवी के साथ ही, जल, तेज एवं वायु को भी परमाणुरूप में नित्य तथा कार्यरूप में अनित्य कहा गया है।[6] उक्त नौ द्रव्यों में प्रथम पाँच-पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं आकाश को पञ्चभूत भी कहते हैं।[7] बाह्य भौतिक जगत् के ये ही आधार हैं। यह जगत् और इसके सम्पूर्ण कार्य इन्हीं भूतों से उत्पन्न होने के कारण पञ्चभौतिक कहलाते हैं।

द्रव्य परिगणन क्रम में परिगणित पञ्चभूत क्रमश: स्थूल से सूक्ष्म वर्णित हैं।

---

1 नैषा तर्केण मतिरापनेया-कठ 1.1.9

2 य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप:। तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते।। मुण्डक1.1.9

3 दिव्यो ह्यमूर्त: पुरुष: स बाह्याभ्यन्तरोह्यज:। अप्राणो ह्यमना: शुभ्रो ह्यक्षरात्परत: पर:।। एतस्माज्जायते प्राणो मन: सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवी विश्वस्य धारिणी वही 2.1.2

4 धर्मविशेष प्रसूताद् द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसम्-वैशेषिक 1.1.4

5 पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालोदिगात्मा मन इति द्रव्याणि-वही 1.1.5

6 क-पृथिवी-सा तु द्विविधा। नित्या चानित्याच। परमाणुलक्षणा नित्या। कार्यलक्षणाा स्वनित्या। प्रशस्तपादमया-अनुवाद-डॉ0 श्रीनिवास शास्त्री-पृ0 30, का नित्या का चानित्येत्याह। परमाणुलक्षणा नित्या कार्यलक्षणा त्वनित्येति। उभयत्रापि लक्षणशब्द: स्वभावार्थ: -श्रीधर, न्यायकन्दली-पृ0 31, ख-आप:-ताश्च पूर्ववद् द्विविध: नित्यानित्यभावात्-प्रशस्तपाद-पृ0 35, ग-तेजस्-तदपि द्विविधमणुकार्यभावात्-वही-पृ0 36, घ-वायु:-स चायं द्विविधोऽणुकार्यभावात् -वही-पृ0 40

7 क-पृथिव्यपस्तेजो वायुराकाशम् इति भूतानि-न्यायसूत्र 1.1.13, ख-पञ्चमहाभूतेम्योऽखिलं जगत्-त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत्-1, ग-पञ्चभूतात्मको देह: पञ्चमण्डलपूरित:-वराहोपनिषत् 5.1

तद्यथा-पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश, किन्तु जगदुत्पत्ति इससे विपरीत क्रम-सूक्ष्म से स्थूलतर की ओर होती है। उपनिषदों का उत्पत्तिक्रम भी क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल की ओर दृष्टिगोचर होता है। अतः उपनिषत्क्रमानुसारी विवेचन प्रस्तुत है-

आकाश

पञ्चभूतों में आकाश सूक्ष्मतम है। आकाश विभु एवं नित्य है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। आकाश की सिद्धि परिशेषानुमान द्वारा स्वीकृत की गयी है।[8]

तैत्तिरीयोपनिषद् में 'आकाशः सम्भूतः'[9] कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि-आकाश उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व सर्वत्र फैले हुए कारण रूप द्रव्य के इकट्ठा होने पर (उत्पत्ति प्रक्रिया में परमाणुओं के संक्षुभित होने पर) अवकाश-उत्पन्न सा होता है[10]। अर्थात् भूतोत्पत्ति के पूर्व परमाणु सर्वत्र बिखरे हुए से होते हैं और उत्पत्ति के समय ईश्वर के ईक्षण/सङ्कल्प/अभिध्यान मात्र से वह एकत्रित होते हैं। उन परमाणुओं के एकत्रित होने से तत्तत् भूत की उत्पत्ति होती है। उनके स्वरूप ग्रहण से वह अवकाश पृथक् प्रतीत होने लगता है। इसी को 'आकाशः सम्भूतः' कहा गया है।

वाचक्नवी गार्गी के प्रश्न कि-द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे तथा द्यु एवं पृथिवी के मध्य जो कुछ भी भूत, वर्तमान, भविष्य है, वह किस में ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य का कथन है कि वह सब आकाश में ओत-प्रोत है।[11] यह आकाश किस में ओत-प्रोत है? वह आकाश इस अक्षर[12] (परमेश्वर) में ओत-प्रोत है।

छान्दोग्य एवं नृसिंहपूर्वतापनीय के अनुसार-सभी भूतों का आश्रय आकाश है। सभी की उत्पत्ति एवं प्रलय काल में आधार भी आकाश ही है।[13] तैत्तिरीयोपनिषद् में-पृथिवी को पूर्व रूप एवं द्यौ को उत्तर रूप प्रतिपादित करते हुए आकाश को इन दोनों की सन्धि कहा है। पृथिवी एवं द्यु की सन्धि कहने से ज्ञापित होता है कि-आकाश स्थूल एवं सूक्ष्म की सन्धि-जोड़ है, कोई भी सन्धि-जोड़ अमूर्त होना ही सम्भव है। आकाश भी अमूर्त है।

---

8 क-परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य-वैशे. 2.1.27, ख-परिशेषाद् गुणो भूत्वा आकाशस्याधिगमे लिङ्गम्-प्रशस्तपाद पृ0 50

9 क-तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्.........तै.उ. ब्रह्मवल्ली। ख-तस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्.........पैङ्गलोपनिषत्।

10 महर्षि दयानन्द सरस्वती-सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास-पृ0 144

11 बृहद्0 उप0 3.8, 3-4

12 कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति;...... एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति-बृहद्0 उप0 3.8.7, 11

13 क-अस्य लोकस्य का गतिरिति! आकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशदेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम्।।-छान्दोग्य 1.9.1, ख-सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाश देव जायन्ते। आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तस्मादाकाशं बीजं विद्यात्-नृसिंह पूर्वतापनीयोप0 3.1

वायु

पृथिवी आदि की अपेक्षा वायु सूक्ष्मतर है। सर्वप्रथम वायु के परमाणु कार्यरूप को प्राप्त होते हैं, जिससे स्थूलवायु की उत्पत्ति होती है। उपनिषद् के अनुसार आकाश से स्पर्शतन्मात्र वायु उत्पन्न होता है।[14] जानश्रुति पौत्रायण की जिज्ञासा का समाधान करते हुए रैक्व (गाड़ीवान्) का मन्तव्य है कि-अग्नि बुझ जाती है, तो उसका लय वायु में होता है। सूर्य के अस्त होने पर वायु में ही लय को प्राप्त करता है। जब जल सूखते हैं, तब वह वायु को ही प्राप्त होते हैं। वायु में ही सबका लय होता है।[15] रैक्व के इस मन्तव्य का समर्थन प्रशस्तपाद से भी होता है।[16]

रानाडे ने रैक्व के दर्शन को ग्रीक दार्शनिक अनैक्जीमैण्डर (Anaximander) के समान स्वीकार किया है, जिसका मत था कि-वायु सम्पूर्ण वस्तुओं का आदि और अन्त है।[17] तैत्तिरीयोपनिषद् ने भी आकाशाद् वायुः कहकर पृथिवी, जल, अग्नि से पूर्व वायु की उत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है। वायु आकाश से उत्पन्न होते हुए भी अशरीर है[18] अर्थात् उसका कोई आकार नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् में आकाश एवं वायु को अमूर्त कहा गया है।[19]

ईश्वर की सिसृक्षा के फलस्वरूप परमाणुओं में क्रिया होती है। इस क्रिया द्वारा परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक उत्पन्न होता है। इस द्व्यणुक आदि के क्रम से वायु उत्पन्न होता है।[20] विदेह जनक के बहुदक्षिण यज्ञ में आरुणि उद्दालक की शङ्का- यह लोक-परलोक तथा सारे प्राणी किसमें संग्रथित हो रहे हैं? का समाधान करते हुए याज्ञवल्क्य ने वायु की महत्ता को निम्नवत् रेखाङ्कित किया है-यह लोक और दूसरा लोक तथा सब भूत वायु रूप सूत्र से ही संग्रथित हैं। सबका बन्धन सूत्रात्मा वायु ही है।[21]

तेजस्

जगत् के मूलतत्त्व के रूप में अग्नि का विस्तृत एवं सुस्पष्ट विवेचन उपनिषदों में

---

14 क-स्पर्शवान् वायुः-वैशे. 2.1.4, ख-भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम्-महोपनिषत् 5.148

15 छान्दोग्य 4.3.1-2

16 "तथा पृथिव्युदकज्वलन पवनानामपि महाभूतानामनेनैव क्रमेणोत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् सति पूर्वस्य विनाशः" प्रशस्तपाद-पृ0 44-45

17 रानाडे, रा0द0-उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण-मनु0 रामानन्द तिवारी-पृ0 55

18 अशरीरो वायुः-छान्दोग्य 8.12.2

19 अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च-बृहदारण्यक 2.3.3

20 महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यः पवन परमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्योद्व्यणुकादि प्रक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नो नभसि दोधूयमानस्तिष्ठति-प्रशस्तपाद-पृ0 46

21 बृहदारण्यक 3.7.2

उपलब्ध नहीं है। कठोपनिषद् में स्वर्गसाधक,[22] लोक का आदिकारण[23] तथा लोक में प्रविष्ट होकर विविध स्वरूप में व्यक्त होने का संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है।[24] रानाडे ने कठ के इस वर्णन को हैंराक्लाइटस (Heraclites) के सिद्धान्त-'अग्नि सम्पूर्ण वस्तुओं में परिणत हो जाती है और सम्पूर्ण वस्तुओं की परिणति अग्नि है[25] के सदृश माना है।

छान्दोग्य में ईश्वर के ईक्षण से तेज तथा तेज से जल की उत्पत्ति कही गयी है।[26] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी वायु से अग्नि एवं अग्नि से जल का उद्भव वर्णित है। रानाडे के अनुसार-अग्नि को सब पदार्थों का मूल कारण स्वीकार करना कठिन है, किन्तु अग्नि सम्पूर्ण पदार्थों को भस्म कर देती है। अत: उसे चरम प्रलय का कारण मानना उचित प्रतीत होता है।[27]

प्रशस्तपाद के अनुसार-वायुस्थ जल एवं पार्थिव परमाणुओं से जल एवं पृथिवी के उत्पन्न होने के अनन्तर-तेज के परमाणुओं से महान् तेजोराशि प्रकाशमान (उत्पन्न) होती है।[28]

आप:

तैत्तिरीयोपनिषद् में 'आप:' की उत्पत्ति अग्नि के पश्चात् कही गयी है। छान्दोग्योपनिषद् में में 'आप:' को पृथिवी का रस-सार कहा गया है।[29] ऐतरेयोपनिषद् में लोक रचना में चार प्रकार के लोक वर्णित हैं (1) वाष्पमय, (2) प्रकाशमय, अन्तरिक्ष, (3) पार्थिव एवं (4) जलमय लोक। यहाँ जो नीचे भूमि पर हैं, उन्हें आप: कहा है।[30] जल को सृष्टि का कारण कहा गया है। सृष्टि से पूर्व कुछ भी पदार्थ व्यक्त नहीं था। ईश्वर के सङ्कल्प से प्रकृति में कम्पन होकर जल उत्पन्न हुए।[31] आप: को उपनिषद् में मूर्त-व्यक्त कहा गया है।[32] यह दृश्य है।

चतुर्वेदोपनिषत् के अनुसार-एक नारायण ही था। न ब्रह्मा, न ईशान, न आप:, न

---

22 स त्वमग्निं स्वर्ग्यम्-कठ 1.1.13, 19
23 लोकादिमग्निम्-कठ 1.1.15
24 अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव-कठ-2.5.9
25 रानाडे, रा0द0-'उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण'-पृ0 56
26 तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत-छा 6.2.3
27 रानाडे, रा0द0-'उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण'-पृ0 56
28 तदनन्तरं तस्मिन्नेव महोदधौ तैजसेभ्योऽणुभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेणोत्पन्नो महास्तेजोराशिर्देदीप्यमान-स्तिष्ठति-प्रशस्तपाद-पृ0 46
29 एषां भूतानां पृथिवी रस:, पृथिव्या आपो रस:-छा 1.1.2; + बृहद् उप0 6.4.1
30 स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचिर्मरमाप:। अदोऽम्भ: परेण दिवं द्यौ: प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचय:, पृथिवीमरो, या अधस्तात्ता आप:-ऐत. 1.1.2
31 नैवेह किंचनाग्र आसीत्.......सोऽर्चन्नचरत्, तस्यार्चत आपोऽजायन्त-बृहद्. उप. 1.2.1
32 तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षात्-बृहद्. उप. 2.3.2

अग्नि, न वायु, न द्यावापृथिवी, न नक्षत्र, न सूर्य। वह एकाकी नर ही था। उसके ध्यानस्थ होने पर ललाट से स्वेद गिरे-वे यह आप: थे।[33] उनसे ही आगे सृष्टि (अन्न, ब्रह्म, व्याहृति. ....) हुई।

बृहज्जाबाल एवं नृसिंह पूर्वतापनीयोपनिषत् के अनुसार-आदि में 'आप:' ही सलिल रूप थे।[34] इसी से सृष्टि का विस्तार हुआ। यहाँ जल की सलिलावस्था कही गयी है। निरुक्त दैवत काण्ड में भाव की आचिख्यासा के रूप में उद्घृत-

तम आसीत्तमसागूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्।।[35]

मन्त्रस्थ 'सलिलम्' पद का अर्थ आचार्य दुर्ग एवं स्कन्दस्वामी ने कार्य का कारण में लीन होना किया है।[36] अर्थात्-कार्यरूप अनित्य जल के परमाणु अपने कारण रूप परमाणुओं में रहने तथा उत्पन्न होने का आरम्भ होने पर वे परमाणु नाचते हुए से तीव्रता से संयुक्त होने लगते हैं।[37] इसी से कार्यावस्था होती है।

उक्त उपनिषद् वचनों में आप: का प्रथम वर्णन जल के दृश्य पदार्थ होने के कारण किया गया प्रतीत होता है। अत: इससे पूर्व वर्णित आकाश एवं वायु दोनों अमूर्त हैं।

पृथिवी

पृथिवी स्थल भूतों में प्रमुख है। पाँच द्व्यणुकों का संघात स्थूल पृथिवी कहलाती है।[38] सृष्टि प्रक्रिया में वायु में जल के परमाणुओं से महासमुद्र उत्पन्न होकर वेग से पोप्लूयमान बहता रहता है। महासमुद्र में ही पार्थिव परमाणुओं से महापृथिवी ठोस अवस्था में रहती है।[39] जलों के झाग ईश्वर के सङ्कल्प से संग्रथित होकर ठोस अवस्था को प्राप्त करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषत् में भी 'अद्भ्य: पृथिवी' कहकर जलों से ही पृथिवी की उत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है।

सुबालोपनिषत् में तमस् से भूतादि, भूतादि से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आप:, आप: से पृथिवी, तदनु एक अण्ड, संवत्सर पश्चात् द्विधा विभक्त

---

33 चतुर्वेदोपनिषत्-1; + द्र0-महोपनिषत्-ललाटात्स्वेदोऽपतत्। ता इमा: प्रतता आप: ततस्तेज:

34 क-अपो वा इदमासीत्सलिलमेव। स प्रजापतिरेक:..........इदं सृजेयमिति-बृहज्जाबाल 1.1, ख-आपो वा इदमासन्सलिलमेव।..........सृजेयमिति-नृसिंह पूर्वता0-1.1

35 रक् 10.129.3

36 क-सलिलं-सद्भावे लीनम्-दुर्ग:, नि07.3, ख-सलिलं सति सत्तालक्षणे कारणात्मनि लीनम्- स्कन्दस्वामी

37 यद्देवा अद: सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत।। ऋ 10.72.6

38 महर्षि दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश-अष्टम समुल्लास-पृ0 149

39 तस्मिन्नेव वायावाप्येभ्य: परमाणुभ्यस्तेनैव क्रमेण महान् सलिलनिधिरुत्पन्न: पोप्लूयमानस्तिष्ठति। तदनन्तरं तस्मिन्नेव जलनिधौ पार्थिवेभ्य: परमाणुभ्यो महापृथिवी संहत्यावतिष्ठते ... -पृ0 46

होने पर उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई।[40] यहाँ भी आपः से ही पृथिवी की उत्पत्ति कही गयी है। वहीं पर औषधि आदि की उत्पत्ति होकर तदनन्तर मनुष्य की उत्पत्ति होती है। नवीन वेदान्त में स्वीकृत पञ्चीकरण पैङ्गलोपनिषत् में तद्वत् उपलब्ध है।[41]

काल

नित्य पदार्थों में युगपत् आदि ज्ञान के न पाये जाने तथा जन्य पदार्थों में पाये जाने से कार्यमात्र के कारण (निमित्त) काल संज्ञा है।[42] काल एक, विभु एवं सभी मूर्त द्रव्यों का आधार है।[43] सभी जन्य वस्तुओं का कालिक आधार अनिवार्य है। परत्व, अपरत्व, युगपत्, क्षिप्र, चिर आदि प्रतीतियों का आधार भी काल है। काल-जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय रूपी क्रियाओं की अनिवार्य प्राग्दशा है।

काल में भौतिक गुण न होने से बाह्य प्रत्यक्ष नहीं होता है। साथ ही काल का मानसिक प्रत्यक्ष भी नहीं होता है। काल अनुमान गम्य है। वैशेषिक में परत्व, अपरत्व, युगपत्, चिर एवं क्षिप्र-ये पाँच अनुमापक हेतु कहे गये हैं।[44]

उपनिषदों में काल की परिभाषा उपलब्ध नहीं है, किन्तु छान्दोग्य के ''आत्मा वा इदमेक एवाग्रआसीत्[45]'' ''असदेवेदमग्र आसीत्''[46] ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्''[47] तथा बृहदारण्यक के-''नैवेहकिंचनाग्र आसीत्''[48], ''आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः''[49], आप एवेदमग्र आसुः''[50] आदि उद्धरणों में पठित 'अग्रे' पद द्वारा ऋषि का अभिप्रेत सृष्टि से पूर्व (परत्व) काल का अनुमापक है। तैत्तिरीयोपनिषत् के-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्नि.........'[51] आदि में परत्व व अपरत्व काल के अनुमापक लिङ्ग हैं। इसी प्रकार पैङ्गलोपनिषत् में याज्ञवल्क्य द्वारा पैङ्गल को जगदुत्पत्ति (पञ्चभूतोत्पत्ति) तथा प्राणोत्पत्ति आदि के प्रसङ्ग में भी काल का अनुमान होता है।

---

40 तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्-बृहद्0 उप0 1.2.2

41 सुबालोपनिषत् खण्ड-1

42 ....सृष्टेः परिमितानि भूतान्येकमेकं द्विधाविधाय पुनश्चतुर्धा कृत्वा स्वस्वेतरद्वितीयांशैः पञ्चधा संयोज्य पञ्चीकृतभूतैः.........पैङ्गलोपनिषत्-1

43 नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति-वैशे. 2.2.9

44 आकाशकालदिशामेकैकत्वाद् अपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति, आकाशः कालो दिगिति-प्रशस्तपाद-पृ0 49

45 क-अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि-वैशे. 2.2.6, ख-कालः परापर व्यतिकर यौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गः-प्रशस्तपाद-पृ0 54

46 छान्दोग्य-1.1.1

47 वही 3.1.9.1

48 वही 6.2.1

49 बृहद्. उप. 1.2.1

50 वही 1.4.1

51 वही 5.5.1

दिक्

जिससे यह पर है, यह अपर है- इस प्रकार का ज्ञान होता है वह दिक् सिद्धि में लिङ्ग है।[52] दिशा वस्तुत: एक है तथापि महर्षियों ने लोक-व्यवहार के लिये औपाधिक रूप से प्राची आदि दस संज्ञाएं रखी है।[53] दिक् देशिक परत्व-अपरत्व का असाधारण निमित्त कारण है।

उपनिषदों में दिक् विवेचन उपलब्ध नहीं है, किन्तु महोपनिषत् में ब्रह्मा के चतुर्मुखत्व तथा उसके पूर्वाभिमुख, पश्चिमाभिमुख, उत्तराभिमुख, दक्षिणाभिमुख होकर क्रमश: भू:, भुव:, स्व: तथा मह: इस व्याहृति चतुष्टय के (ब्रह्मा द्वारा) ध्यान के वर्णन से दिक् के अस्तित्त्व की स्वीकृति वर्णित है।[54] साथ ही उपनिषदों में आत्मतत्त्व को दिक्-काल से अनवच्छिन्न[55] प्रतिपादित किए जाने से भी दिक् की द्रव्यरूप सत्ता ज्ञापित होती है।

आत्मा

'आत्मा' शब्द उपनिषदों में जीवात्मा[56] एवं परमात्मा[57] दोनों का वाचक है। जीवात्मा अजर,[58] अमर[59], अज्ञ[60] तथा भोक्ता[61] है। परमात्मा सृष्टि का रचयिता, सर्वज्ञ तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है। प्रशस्तपाद ने आत्मा की सौक्ष्म्य के कारण प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार न कर शब्दादि के ज्ञान से अनुमित श्रोत्र आदि इन्द्रियों से उसका अधिगम माना है।[62] श्रीधर के मत में आत्मा अप्रत्यक्षत्व बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा से हैं।[63] उपनिषदों में आत्मा का विस्तृत वर्णन हुआ है। प्रस्तुत लेख की सीमा के कारण उसका पृथक् विवेचन अपेक्षित है।

मन

सुख-दु:ख आदि की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय मन है। मन आत्मा का कारण है।[64] विभुत्व का अभाव कथन करने से मन का परिमाण अणु है।[65] अर्थात्- प्रत्येक शरीर में मन एक और वह अणु है। कठोपनिषत् में शरीर को रथ, आत्मा को रथी, बुद्धि को सारथी,

---

52 तै.उ. ब्रह्मवल्ली-1

53 इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्-वैशे. 2.2.10

54 प्रशस्तपाद पृ0 57-59

55 महोपनिषत् अ. 1

56 दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तित:-महोपनिषत् 5.144

57 जीवेनात्मनानुप्रविश्य-छा. 6.3, 2-3

58 आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। -ऐत. 1.1.1

59 स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति। न वधेनास्य हन्यते।.........विजरो विमृत्यु:-छा. 8.1.5

60 ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा-श्वेताश्व.-1.9

61 अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्-श्वेताश्व. 1.8

62 तस्य सौक्ष्म्याद् अप्रत्यक्षत्वे सति करणै: शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितै: समधिगम: क्रियते-पृ0 59

63 प्रत्यक्षोपलब्धियोग्यताविरह: सौक्ष्म्यम्-श्रीधर, कन्दली-पृ0 71

64 त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति।.........। मनसाह्येव पश्यति, मनसाशृणोति-बृहद्. 1.5.3; प्रशस्तपाद-पृ0 67

65 तदभावादणु मन:। वैशे. 7.1.23- तदभावविभवाद् अणुपरिमाणम्- प्रशस्तपाद- पृ0 68

इन्द्रियों को घोड़े तथा मन को प्रग्रह-लगाम कहा है।[66] शरीर में प्राण का आना मन की वृत्तियों से ही होता है।[67] मन- प्राणों के साथ आत्मा में ही ओत है।[68] तैत्तिरीयोपनिषत् में लोक, देवता, भूत, इन्द्रिय, धातु के पांक्तत्व का वर्णन है, जिसमें इन्द्रिय (ज्ञान) पांक्त में चक्षु, श्रोत्र, वाक् एवं त्वक् के साथ मन पढ़ा गया है।[69] वाणी का मन में लय होने के कारण मन को वाणी से बड़ा कहा गया है। मन शरीरस्थ आत्मा की ज्योति है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपनिषदों का प्रतिपाद्य यद्यपि आत्मज्ञान, मोक्षप्राप्ति है। पुनरपि वहाँ न्यूनाधिक रूपेण द्रव्यों का उल्लेख भी हुआ है। सृष्ट्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में पञ्चभूत का वर्णन उपलब्ध होता है। भूतोत्पत्ति क्रम के विषय में उपनिषदों में भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं। एकत्र वायु की प्रथमोत्पत्ति वर्णित है, तो अन्यत्र जल से उत्पत्ति कही गयी है। कठोपनिषत् में अग्नि को ही आदि कारण कहा गया है। चतुर्वेद एवं बृहज्जावालादि में 'आप:' को ही प्राथम्येन वर्णित किया है। इस प्रकार उक्त प्रसङ्गों में परस्पर विरोध दिखायी देता है। उक्त आपातत: प्रतीयमान विरोध के विषय में महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत समाधान विशेषेण द्रष्टव्य है-

महर्षि के अनुसार-प्रलय के समय जहाँ तक प्रलय होता है, पुन: वहीं से उत्पत्ति होती है। यदि वायु से पूर्व अग्न्यादि का प्रलय हो, तब अग्नि से। वायु का प्रलय हो, तब वायु से इसी प्रकार जल से उत्पत्ति होती है। इस सङ्गतिकरण के फलस्वरूप प्रतीयमान विरोध परिहृत हो जाता है।

इस प्रकार उपनिषदों के दार्शनिक ग्रन्थ न होते हुए भी इतस्तत: द्रव्य विषयक मन्तव्य आनुषङ्गिक रूप से विवेचित है।

डॉ0 वेदपाल
रीडर, संस्कृत
जनता वैदिक कालेज
बड़ौत (बागपत) उ0प्र0

---

66 आत्मानं रथिनं..........मनीषिण: 11 कठ 33.9
67 आत्मन एष प्राणो जायते.......मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे-प्रश्न. 3.3
68 यस्मिन् द्यौ: पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मन: सह प्राणैश्च सर्वै:-मुण्डक 2.2.5
69 पृथिव्यन्तरिक्षं.........। चक्षु: श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्।-। पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्- तैत्ति0 शिक्षावल्ली 7.1

सांख्य दर्शन में 'विकास'

महर्षि कपिल प्रणीत 'सांख्य-दर्शन' भारतीय दार्शनिक परम्परा में आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में प्रमुख स्थान रखता है, जिसको *'षष्टितन्त्र'* से भी अभिहित किया गया है। 'सांख्य-दर्शन' के सृष्टि के विकास को गम्भीरता पूर्वक समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि सांख्य-दर्शनकार इसकी रचना किस प्रयोजन से करता है।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में सांख्य-दर्शनकार परम पुरुषार्थ अर्थात् समस्त दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति को मानता है; इनको तीन प्रकार के दु:खों में विभाजित किया जाता है- आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। जो दु:ख शारीरिक व मानसिक हों, जैसे लोभ, काम क्रोध, मोह, शारीरिक व मानसिक रोगादि, को आध्यात्मिक दु:ख कहते हैं। जो दु:ख अन्य प्राणियों, जैसे सर्प, मक्खी, मच्छर आदि प्राणियों, से उत्पन्न हों, उन्हें आधिभौतिक दु:ख कहते हैं; और आधिदैविक दु:ख वे हैं जो दैविक शक्तियों, जैसे अग्नि, वायु, भूकम्प आदि के कारण उत्पन्न होते हैं।[1]

उक्त तीनों प्रकार के दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए कपिल मुनि मात्र शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्म-काण्ड को उपयुक्त नहीं मानते क्योंकि ये कर्म-फल प्रदान करने वाले होते हैं और बाद में नष्ट हो जाते हैं। कर्म-फल के इस सिद्धान्त को '*गीता*' भी स्वीकार करती है।[2] अत: दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति को 'व्यक्त' अर्थात् सृष्टि या विकार '*अव्यक्त*' अर्थात् प्रकृति और '*ज्ञ*' या पुरुष के विवेक ज्ञान से ही प्राप्त होना बताया गया है।[3] सांख्य दर्शन में व्यक्त, अव्यक्त और '*ज्ञ*' में सृष्टि के सम्पूर्ण तत्त्वों का समावेश किया गया है; जो कि प्रलय और सर्ग काल में होते हैं। ये इस प्रकार हैं-

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या: प्रकृतिविकृतय: सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति: पुरुष:।। (सांख्यकारिका 3)

अर्थात् मूल प्रकृति, ऐसा मूल कारण-तत्त्व जिसका कोई अन्य कारण तत्त्व न हो अर्थात् किसी अन्य तत्त्व का विकार या कार्य नहीं है, महत्तत्त्व आदि सात अर्थात् महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व, अहंकार और शब्द तन्मात्रादि पाँच तन्मात्राएँ, ये सात तत्त्व या पदार्थ '*प्रकृति-विकृति*' हैं अर्थात् यें प्रकृति का 'कार्य' होने के साथ-साथ अन्य तत्त्वों की कारण '*प्रकृति*' भी हैं तथा सोलह तत्त्वों का समुदाय आकाशादि पञ्चमहाभूत, श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन जो कि उभयेन्द्रिय है, मात्र विकार या कार्य हैं। अत: यह स्पष्ट होता है कि इन पच्चीस तत्त्वों में केवल दो ही मूल तत्त्व हैं जो किसी का कार्य नहीं है, अपितु प्रकृति ही अन्य सभी तत्त्वों का कारण तत्त्व या उपादान

---

1. सांख्यकारिका -1
2. गीता 9/21
3. सांख्यकारिका -2

पदार्थ है। यें दो तत्त्व हैं-प्रकृति और पुरुष।

गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं।[4] तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् हैं। प्रकृति को प्रधान भी कहा जाता है। यह अव्यक्त, जड़ अचेतन, विवेकशून्य, स्वतन्त्र, नित्य, व्यापक और अनेक पुरुष, भोग्य है, निरन्तर परिणाम शील व प्रसव-धर्मिणी है, ज्ञेय है। दूसरा तत्त्व पुरूष जिसे अन्य दर्शनों में आत्म-तत्त्व या आत्मा भी कहा गया है, प्रकृति के विपरीत अर्थात् चेतन, विषयी, विवेकी, निष्क्रिय, अपरिणामी तीनों गुणों से रहित कहा गया है।[5] यह पुरुष साक्षी, केवल तटस्थ दृष्टा और अकर्त्ता है।[6] कपिल मुनि ने पुरुषों की संख्या को अनेक माना है।[7]

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि जब दोनों तत्त्व स्वतन्त्र तथा एक दूसरे से विपरीत हैं तो उनसे सृष्टि का विकास क्यों होता है? कैसे होता हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में सांख्य-दर्शनकार कहता है कि इसमें प्रकृति और पुरुष प्रयोजन है। प्रकृति को पुरुष क़ी अपेक्षा इस प्रयोजन से हैं कि वह पुरुष को दिखना, भोग कराना और मोक्ष कराना चाहती है। पुरुष चाहता है कि वह प्रकृति को देखे, उसका भोग करे और उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके कैवल्य या मोक्ष को प्राप्त करे। इस प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए सांख्य-दर्शनकार लंगड़े और अन्धे व्यक्ति का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहता है कि जिस प्रकार गाँव में आग लगने पर लंगड़ा व्यक्ति अन्धे के कन्धों पर बैठकर उसे रास्ता बताता है और अन्धा उसे अपने कन्धों पर बैठाकर ले जाता है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के सहयोग से अपनी जान को बचा पाते हैं; ठीक ऐसे ही प्रकृति अचेतन और अन्धी है, पुरुष चेतन व दृष्टा है, परन्तु लंगड़ा या निष्क्रिय है; ये दोनों ठीक लंगड़े व अन्धे की भाँति ही मिलकर सृष्टि रचना कर अपने प्रयोजन की सिद्धि करते हैं।[8]

प्रकृति के सम्पर्क में पुरुष के आने से गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ या विषमता उत्पन्न हो जाती है।[9] प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था में इसी विषमता के कारण विकार उत्पन्न होता है। इस विकार को ही सृष्टि का विकास कहा जाता है। सांख्य-दर्शनकार के अनुसार विकास का क्रम इस प्रकार है-

प्रकृतेमहांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।। (सां0का0 22)

अर्थात् प्रकृति ये प्रथम महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व प्रादुर्भूत होता है और उस अहंकार से

4. गुणानां साम्यावस्थाप्रकृतिः।
5. सांख्यकारिका -11
6. सांख्यकारिका -19
7. सांख्यकारिका -18
8. सांख्यकारिका -21
9. संगमलाल पाण्डे, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ0 198

सोलह तत्त्वों पाँच तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियों के समुदाय का प्रादुर्भाव होता है। इस सोलह तत्त्वों के समुदाय में से भी पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों का प्रकटीकरण होता है।

सृष्टि में प्रादुर्भूत होने वाला प्रथम तत्त्व बुद्धि है। निश्चय करने वाले तत्त्व को बुद्धि कहा जाता है। इसके दो रूप होते हैं- सात्त्विक और तामसिक रूप। जब बुद्धि सात्त्विक रूप में होती है तो उसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य उत्पन्न होते हैं और जब तामसिक रूप में होती है तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य उत्पन्न होते हैं।[10]

सृष्टि विकास प्रक्रिया में प्रादुर्भूत होने वाला दूसरा तत्त्व अहंकार-मैं हूँ, मेरा है, मैंने किया है, मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ-आदि को विचार करने वाला तत्त्व है। अहंकार से दो प्रकार का विकार उत्पन्न होता है-ग्यारह ज्ञानेन्द्रियों का समुदाय और पाँच तन्मात्राएं।[11]

अहंकार तीन प्रकार के होते हैं- वैकृत या सात्त्विक, तैजस् या राजसिक और भूतादि या तामस अहंकार। ये क्रमशः सत्त्व, रजस् व तमस् प्रधान होते हैं। '*वैकृत*' अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं एक मन सहित ग्यारह इन्द्रियों का विकास होता है। भूतादि अहंकारक से पांच तन्मात्राएँ विकसित होती हैं।[12] नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा एवं त्वचा नामक इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रिय तथा वाणी, पाणि (हाथ), पाद (पैर), गुदा एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय) नामक इन्द्रियों को कर्मेन्द्रिय कहते हैं।[13] मन को उभयात्मक इन्द्रिय माना गया है क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है। ज्ञान की प्रक्रिया में सहयोगी होने के कारण ज्ञानेन्द्रिय है और संकल्प करने के कारण कर्मेन्द्रिय है।[14]

पाँच ज्ञानेन्द्रियों नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा एवं श्रोत्र के विषय क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द हैं, जिनका ये आलोचन-संवेदन करती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों वाणी, पाणि, पाद, गुदा एवं उपस्थ के विषय क्रमशः वचन (बोलना), आदान (पकड़ना या ग्रहण करना), गमन या चलना, मन का उत्सर्जन और रमण करना है। इनमें बुद्धि, अहंकार और मन को तीन प्रकार के अन्तःकरण तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों को दस ब्राह्य करण माना गया है। इस प्रकार सांख्य-दर्शनकार तेरह प्रकार के करण या साधन मानता है।[15] बाह्यकरण वर्त्तमान के पदार्थों को विषय बनाते हैं जबकि अन्तःकरण भूत, वर्त्तमान और भविष्य के पदार्थों को विषय बनाते हैं।[16]

---

10. सांख्यकरिका -23
11. सांख्यकारिका -24
12. सांख्यकारिका -25
13. सांख्यकारिका -26
14. सांख्यकारिका -27
15. सांख्यकारिका -32
16. सांख्यकारिका -33

सांख्यदर्शन में उपर्युक्त वर्णित सभी तत्त्वों को सूक्ष्म माना गया है। भौतिक जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि पाँच तन्मात्राओं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्रा, से क्रमश: आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है। सभी तन्मात्राएँ या सूक्ष्मभूत विशेषताओं से रहित हैं जबकि स्थूलभूत शान्त, घोर एवं मूढ़ स्वभाव वाले होने के कारण सविशेष अर्थात् विशेषताओं से युक्त हैं।[17]

उपर्युक्त सृष्टि के विकासक्रम से स्पष्ट ही है कि सृष्टि के दो ही मौलिक तत्त्व हैं- प्रकृति और पुरुष। इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि दोनों तत्त्व विपरीत हैं तो संयोग किस प्रकार सम्भव होगा? इस प्रश्न के समाधान में साख्य-दर्शनकार ने गाय के अचेतन दूध द्वारा चेतन बछड़े को पालन-पोषण का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार दूध स्वत: ही गाय के स्तनों में आ जाता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति चेतन पुरुष के भोग-योग के लिए प्रकट होती है।[18] परन्तु यह दृष्टान्त भी पुरुष व प्रकृति के संयोग की सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाता क्योंकि दूध के प्रकटीकरण में गाय निमित्त है जब पुरुष, प्रकृति के सम्बन्ध में सांख्य-दर्शनकार इस प्रकार से किसी तीसरे तत्त्व के रूप में कोई निमित्त कारण स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार की विसंगतियों को देखकर प्राय: कहा जाता है कि सांख्य दर्शन के द्वैतवादी की कोई सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं हो पाती। जहाँ चन्द्रधर शर्मा जैसे दार्शनिकों ने इस विसंगति को स्वीकार किया है वहीं कुछ प्रबुद्ध पाश्चात्त्य दार्शनिकों ने इसका समाधान, अन्त:क्रियावाद से देकार्त व समानान्तरवाद के अनुसार स्पिनोजा ने करने का अफसल किन्तु प्रशंसनीय प्रयास किया है।[19]

द्वैतवाद की इस समस्या को यदि कपिल मुनि प्रणीत सांख्य-दर्शन के प्रयोजन के प्रकाश में देखें तो समस्या का समाधान दिखायी पड़ता है। सांख्य-दर्शन का प्रयोजन मानवीय चेतना को दु:खों से आत्यन्तिक रूप से छुटकारा दिलाना है। दु:खनिवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा वैयक्तिक है।[20] यदि इस वैयक्तिक समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो दु:खों का अस्तित्त्व मनोवैज्ञानिक जान पड़ता है। जो दु:ख हमें दूसरों के द्वारा दिये गये जान पड़ते हैं वें भी गम्भीरतापूर्वक निरीक्षण करने पर वैयक्तिक ही दिखायी पड़ते हैं। इसका परीक्षण अखबारों में छपी खबरों से किया जा सकता है। जहाँ एक ओर ऐसे लोगों की कमी नहीं जो भौतिक सम्पन्नता के सभी साधन होने के बाद भी दु:खों से तंग आकर आत्महत्या जैसा कदम उठाते हैं। खुश आदमी तो इतना आनन्दित होता है कि उसको आत्महत्या का विचार भी नहीं आयेगा। आत्महत्या व्यक्ति उस समय करता है कि जब वह

---

17. सांख्यकारिका -38
18. सांख्यकारिका -57
19. पाश्चात्त्य दर्शन -चन्द्रधर शर्मा
20. डॉ0 रामकृष्ण आचार्य, सांख्यकारिका साख्य तत्त्वकौमुदी सहित, पृ0 2

दु:खों की अन्तिम अवस्था में होता है। दूसरे ऐसे लोग भी देखने को मिल जाते हैं कि जिनको सभी वस्तुओं का अभाव होता है और वें मुस्कराते, नाचते, गाते और आनन्दित होते हैं। फक्कड़ सन्तों के पास कुछ नहीं होता परन्तु फिर भी उनके अन्दर से आनन्द बहता रहता है। इसी मनोवैज्ञानिक कारण को ध्यान में रखते हुए सांख्य-दर्शनकार मनुष्यों को अपने तत्त्वज्ञान के विवेचन व अभ्यास द्वारा एक ऐसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक शक्ति विकसित कराना चाहते हैं कि जिससे व्यक्ति दु:ख-सुख के द्वन्द्व से ऊपर उठकर विना दु:ख व सुख के आनन्दपूर्वक जीवन जी सके। कपिल मुनि कहते हैं कि यह तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने शरीर को एक मात्र यन्त्र की भाँति देख सके जिससे उसको इस समझ के कारण शरीर की भूख, प्यास, मान-सम्मान आदि कष्टकारक नहीं होंगे। जब यह 'दृष्टा' उत्पन्न हो जाता है तो ही वह '*कैवल्य*' को प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि सांख्य-दर्शनकार ने पुरुष व प्रकृति के द्वैत के सैद्धान्तिक चक्कर में न फँसकर, सांख्य-दर्शन को बौद्धिक व्यायाम न बनाकर जीवन की एक कला बनाना चाहा है।

निष्कर्ष रूप में कहें तो सांख्यदर्शन के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से जहाँ द्वैत की विसंगति युक्त व्याख्या प्राप्त होती है, वहीं व्यावहारिक जीवन की अद्वितीय कला प्राप्त होती है जिससे मानवीय अस्तित्त्व को तृप्ति प्राप्त होती है। अत: कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन के पच्चीस तत्त्वों की व्याख्या व्यक्तिगत तृप्ति के लिए है न कि बौद्धिक तृप्ति के लिए जो कि इस दृष्टि से उचित ही है।

बबलू वेदालंकार
शोधछात्र, दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

साधक के लिए योग

योग शब्द ''युज्'' धातु के बाद करण और भाववाच्य में ''घञ्'' प्रत्यय लगाने से बनता है। ''युज्'' धातु का अर्थ है, समाधि। योग शब्द का वास्तविक अर्थ समझने के लिए ''समाधि'' शब्द को भी समझना होगा। समाधि शब्द का अर्थ है सम्यक् प्रकार से भगवान् के साथ युक्त हो जाना, मिल जाना, भगवदानन्द में निमग्न हो जाना। जीव का कामना, वासना, आसक्ति, अविद्या, अस्मिता आदि आगन्तुक मलिनता को दूर कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना। ''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्-योग.द. 1-1-3''। योग की अनेक परिभाषायें उपलब्ध हैं-जिनमें महर्षि वशिष्ठ ने श्रीराम को उपेदश करते समय कहा है कि ''मनः प्रशमनोमुपायः योग इत्यभिधीयते'' अर्थात् मन के प्रशमन के उपाय का नाम योग है। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में योग की तीन परिभाषायें दी है-(1) ''समत्वं योग उच्यते-गीता 2-48'' अर्थात् आसक्ति का परित्याग करके, फल की वासना से रहित सिद्धि अथवा असिद्धि में अर्थात् अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में समान भाव से रहना योग है। (2) ''योगः कर्मसु कौशलम्-गीता-2-50'' कर्म में कुशलता का नाम योग है। अर्थात् कर्मों का सम्पादन इस विधि से किया जाये जिससे हम कर्मफल के बन्धन में न आ पायें। तृतीया परिभाषा-''तं विद्याद्दुःख संयोग वियोगं योग सञ्ज्ञितम्-गीता 6-23'' अर्थात् दुःख के संयोग के वियोग को योग जानना चाहिए। योगी याज्ञवल्क्य ने जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा है-''संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः-याज्ञ0 स्मृति-1-8 योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि, जिन्हें योग के अधिकारिक रूप से जाना जाता है, ने योग को परिभाषित करते समय कहा है कि-''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः-योग 1-2'' अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है। अर्थात् चित्त की वृत्तियों को समाप्त कर देना, चित्त का लय कर देना। समाधि में स्थित होना।

अनेक व्यक्ति समाधि लगाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनका मन शान्त नहीं होता। इसका कारण है हम चित्त को शान्त करने के उपाय उचित ढ़ंग से नहीं कर रहे हैं। समाधि सिद्धि के लिए महर्षि पतञ्जलि ने अनेक उपाय अपने योग-दर्शन में बताये हैं। उनमें प्रारम्भिक साधकों के लिए अष्टांग योग का निदर्शन किया है। यम और नियमों के विना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। विषयों को विष के समान समझकर दूर से ही त्यागना होता है। योग के आठ अंग हैं-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ''यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि-यो. 2/29 में अङ्ग क्रम से हैं और बड़े ही वैज्ञानिक है। पहला अंग दूसरे की, दूसरा तीसरे की, क्रम से अपेक्षा रखता है। साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर साधना पथ पर बढ़ता है। इसीलिए इन आठों अंगों की दो भूमिकायें हैं-बहिरङ्ग और अन्तरंग प्रथम पाँच बहिरंग हैं और अन्त में तीन अन्तरंग है। निर्जीव समाधि की दृष्टि से ये तीनों अन्तरंग भी बहिरंग है। इन अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि के नाश होने पर

विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है-"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः-यो. 2/28"। अब इन आठों अंगों का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है-

१.यम

यम का अर्थ है आत्म-अनुशासन। यम संख्या में पाँच हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः-योग-2/30।"

अहिंसाः

किसी भूत प्राणी को या अपने को भी मन, वाणी और शरीर द्वारा, कभी, किसी प्रकार, किञ्चितमात्र भी, कष्ट न पहुँचाने का नाम अहिंसा है। तीन प्रकार की हिंसा होती है।-कायिक, वाचिक और मानसिक तथा तीन प्रकार से ही की जाती है-कृत (करना), कारित (करवाना), अनुमोदित। इन सभी प्रकार की हिंसा का पूर्णतः परित्याग ही अहिंसा है। अहिंसा का स्वरूप अति सूक्ष्म है। हित साधन के लिए प्रताड़ना हिंसा नहीं है। आत्म, राष्ट्र, सामज अथवा देश की रक्षा के लिए की गई हिंसा भी हिंसा की श्रेणी में नहीं आती है। यदि ये कार्य, राग-द्वेष, स्वार्थ अथवा बदला लेने की भावना से किये जाते हैं तो यह हिंसा हो जाती है। अहिंसा को शास्त्रों में सर्वोपरि स्थान दिया है। अहिंसा के पालन करने से समस्त प्राणी वैर भाव त्यागकर मैत्री पूर्वक रहते हैं।

सत्य

प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द प्रमाण द्वारा वस्तु के यथार्थ रूप को मन में धारण करना, वाणी से कथन करना, तथा उसी के अनुसार व्यवहार करना सत्य कहा जाता है। परन्तु यह सत्य तभी सत्य है जब यह प्राणी मात्र के लिए उपकार व हित की भावना से कल्याणकारी हो। यदि सत्य व अहिंसा में विरोध हो और सत्य बोलने से हिंसा होती हो तो वहाँ सत्य न बोलना ही ठीक है। अहिंसा ही यम और नियमों का मूल है। अतः सर्वदा कपट रहित मधुर वचनों का प्रयोग करना चाहिए।

अस्तेय

मन, वाणी, शरीर द्वारा किसी प्रकार के भी किसी के स्वत्व (हक) को न चुराना अस्तेय है। साधक को चाहिए कि वह अस्तेय का पूरा पालन करें। अस्तेय के सिद्ध हो जाने पर सभी प्रकार की सम्पदायें साधक के सामने उपस्थित हो जाती है-"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वेरत्नोपस्थानम्-यो. 2/37"।

ब्रह्मचर्य

मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा काम विकार को किसी भी तरह उदय न होने देना ब्रह्मचर्य है। इसका व्यापक अर्थ है-"ब्रह्मणि चरणस्य भावं ब्रह्मचर्यम्" अर्थात् ऐसा आचरण

जिससे ब्रह्म की अधिक से अधिक समीपता हो। इस समीपता को इन्द्रियों पर संयम करके प्राप्त किया जा सकता है।

अपरिग्रह:

धन सम्पत्ति आदि भोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक संचय न करना ही अपरिग्रह है। अस्तेय के अन्तर्गत तो अनधिकार पूर्वक किसी का धन न लेना है, परन्तु अपरिग्रह के पालन करने के लिए अपने परिश्रम से लगाये हुए धन को भी आवश्यकता से अधिक एकत्र नहीं किया जा सकता है।

२. नियम

अष्टाङ्ग योग का दूसरा अङ्ग है नियम। नियम से तात्पर्य है कि कुछ नियमित अनुष्ठानों के द्वारा मन को अनुशासन में लाना। ये नियम भी संख्या में पाँच हैं-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान-"शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:-योग 2/32।"

शौच

शौच का अर्थ है पवित्रता। यह पवित्रता दो प्रकार की होती है-ब्राह्य तथा आभ्यन्तर। ब्रह्य शौच अर्थात् बाहरी पवित्रता शरीर को स्नान आदि से पवित्र रखना, वस्त्रों को स्वच्छ रखना, सत्त्विक आहार करना, रहने का स्थान स्वच्छ रखना बाहरी शौच है। चित्त के मलों को धोना आभ्यन्तर अर्थात् भीतरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग, द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम क्रोधादि आन्तरिक दुर्गुणों के त्याग से आभ्यन्तर शौच होता है।

सन्तोष

सुख-दु:ख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट-प्रसन्नचित रहने का नाम सन्तोष है। सन्तोष का अर्थ भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठना, आलस्य और प्रमाद का जीवन बीताना नहीं है। वेद के उपदेश के अनुसार मनुष्य को सदा कर्म करते रहना चाहिए निष्काम कर्म से प्राप्त परिणाम में प्रसन्न रहना सन्तोष है।

तप

द्वन्दों को सहन करना तप कहलाता है। यह शरीर, प्राण, इन्द्रियों तथा मन को उचित रीति से वश में करने की क्रिया है। इससे साधक भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, हर्ष-शोक आदि विघ्नों की अवस्था में विना विक्षेप के रहता है। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातु का मल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तप की अग्नि में चित्त के तमस् रूपी मल नष्ट हो जाते हैं तथा चित्त समाधि के योग्य हो जाता है।

स्वाध्याय

मुक्ति प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन तथा ओंकारादि पवित्र मन्त्रों का जप करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय से इष्ट सिद्धि होती है।

ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर की विशेष भक्ति। शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि समस्त प्रकार के साधनों के द्वारा किये जाने वाले समस्त कर्मों ओर उनके फलों को समग्रता से ईश्वर को समर्पण कर देना, ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि में शीघ्र ही सफलता मिलती है। साधक के योग में आने वाले विघ्न छूट जाते हैं। भगवदानुभूति का अनुभव होने लगता है।

३. आसन

प्राणायाम, ध्यान आदि क्रियाओं के करने के लिये स्थिर भाव से रहना पड़ता है, जिसके लिए आसन की आवश्यकता पड़ती है। जिस अवस्था में शरीर विना हिले-डुले स्थिरता पूर्वक तथा सुख पूर्वक रह सके उसे आसन कहते हैं-"स्थिरसुखमासनम्-यो. 2/46।" शरीर की स्वाभाविक चेष्टा के शिथिल करने अर्थात् इनसे उपराम होने पर अथवा अनन्त परमात्मा में मन के तन्मय होने पर आसन की सिद्धि होती है।" प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्-यो. 2/47"। आत्मसंयम चाहने वाले पुरुषों के लिए सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन तथा सुखासन ये चार ही उपयोगी माने गये हैं। आसन के सिद्ध होने पर द्वन्द्व बाधा नहीं करते। गीता के अनुसार मेरुदण्ड पर जोर न देकर,........गर्दन और सिर को सीधा रखने की स्थिति में रहने का नाम आसन है।

४. प्राणायाम

प्राण ही जीवन है। प्राण के विना प्राणी जीवित नहीं रह सकता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त श्वांस-प्रश्वांस की क्रिया चलती रहती है। आसन के लिए सिद्ध हो जाने पर श्वांस और प्रश्वांस की गति का विच्छेद करना प्राणायाम कहलाता है।-"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम-यो. 2/49"। प्राणायाम द्वारा साधक प्राण पर विजय प्राप्त करता है। जिस प्रकार अग्नि में धोंकनी से तपाने से धातुओं के मल नष्ट होते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम से ज्ञान के ऊपर पड़ा आवरण नष्ट हो जाता है।-"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्-यो.-2/52"। साधक में धारणा की योग्यता आती है।-"धारणा सु च योग्यता मनसः-यो. 2/53।"

प्राणायाम की सुखपूर्वक सफलता के लिए महर्षि पतञ्जलि ने इसका इस प्रकार वर्णन किया है। तथा इसके चार भेद किये हैं-देश, काल, संख्या के सम्बन्ध से बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति वाले ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं-"बाह्यभ्यान्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः-यो. 2/50"।

बाह्यवृत्ति

अभ्यस्त आसन पर स्थित होकर भीतर के श्वांस को बाहर निकालकर बाहर ही रोके रखना बाह्य वृत्ति कहलाता है। इसी को बाह्यकुम्भक भी कहते हैं। इसकी विधि है-आठ ओ३म् से रेचक (श्वांस को बाहर) करें, सोलह से बाह्यकुम्भक और चार से पूरक अर्थात् श्वांस को अन्दर लेना। इस प्रकार यह बाह्यवृत्ति प्राणायाम होता है।

आभ्यन्तर वृत्ति

बाहर के श्वांस को भीतर खींचकर भीतर रोकने को आभ्यन्तर वृत्ति कहते हैं। इसको आन्तरिक कुम्भक भी कहते हैं। अनुपात 4:16:8 क्रमशः पूरक, कुम्भक और रेचक है।

स्तम्भवृत्ति

इसमें रेचक, पूरक का ध्यान न रखते हुए प्राण को जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है। श्वांस और प्रश्वांस दोनों की गति को रोक देना स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है। इस को केवल कुम्भक कहते हैं।

प्राण वायु का नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिका के भीतर के भाग का नाम आभ्यन्तर देश है। नासिका पुट से वायु का बाहर सोलह अंगुलतक बाहरी देश है। जो साधक पूरक प्रायाणाम करते समय नाभि तक श्वांस को खींचता है, वह सोलह अंगुलतक बाहर फेंके, जो हृदय तक अन्दर खींचता है, वह बारह अंगुलतक बाहर फेंके, जो कण्ठ तक श्वांस को खींचता है, वह आठ अंगुलतक बाहर निकाले और जो नासिका के अन्दर ऊपरी अन्तिम भाग तक ही श्वांस खींचता है, वह चार अंगुना बाहर तक श्वांस निकाले। इसमें पूर्व-पूर्व से उत्तर वाले को ''सूक्ष्म'' और पूर्व-पूर्व वाले को ''दीर्घ'' समझना चाहिए। जैसे चार ओ३म् से पूरा करते समय एक सेंकेंड समय लगा तो सोलह ओ३म् से कुम्भक करते समय चार सेंकेंड और आठ प्रणव से रेचक करते समय दो सैकेंड समय लगा। मन्त्र की गणना का नाम ''संख्या'' या मात्रा है, उसमें लगने वाले समय का नाम ''काल'' है। चतुर्थ प्राणायाम इस प्रकार है-

यह प्राणायाम सबसे उच्च कोटि का है। उपर्युक्त तीनों प्राणायामों के लम्बे अभ्यास के पश्चात् ही यह सम्भव है। इसमें बाह्याभ्यन्तर, देश, काल आदि विषयों का चिन्तन छोड़ दिया जाता है। इसमें प्राण की गति स्वतः ही रुक जाती है तथा साधक को प्राण के भीतर यह बाहर जाने का पता भी नहीं रहता है। इसका वर्णन महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रकार किया है-''बाह्याभ्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः-यो. 2/51''। अन्य अनेक प्रकार के प्राणायाम हठ योग आदि में वर्णित है, जो साधक के लिये शरीर शुद्धि के लिए उपादेय है।

५. प्रत्याहार

अपने-अपने विषयों को संग से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के रूप में

अवस्थित होना प्रत्याहार है-"स्वाविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुष्कार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार है-"योग. 2/54"। इस प्रत्याहार से इन्द्रियाँ अत्यन्त वश में हो जाती हैं-"ततः परमावभ्यतेन्द्रियाणाम्-यो. 2/55"। योग के आगे के अंगों की सफलता तभी सम्भव हो सकेगी जब इन्द्रियों पर अधिकार हो जायेगा। अतः प्रत्याहार की सिद्धि आवश्यक है।

६. धारणा

चित्त को किसी एक देश विशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है-"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा-योग-3/1।" अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बाँध देना, स्थिर कर देना, लगा देना "धारणा' कहलाता है।

७. ध्यान

धारणा का दृढ़ अभ्यास होने पर, जिस विषय में धारणा की गई है। उसी ध्येय विषयंक ज्ञान रूप अविच्छिन्न सजातीय वृत्ति प्रवाह को ध्यान कहते हैं-"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्-योग. 3/2।" अर्थात् चित्त वृत्ति का गंगा के प्रवाह की भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से निरन्तर ध्येय वस्तु में ही अनवरत लगा रहना "ध्यान" कहलाता है।

८. समाधि

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः यो. 3/3"। वह ध्यान ही समाधि हो जाता है जिस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भान रहे तथा अपने स्वरूप के भान का अभाव-सा रहता है। ध्यान में ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। परन्तु समाधि में केवल अर्थमात्र वस्तु अर्थात् ध्येय वस्तु ही रहती है, ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों की एकता सी हो जाती है।

ऐसी समाधि स्थूल पदार्थों में होती है तब उसे निर्वितर्क कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थों में होती है तब उसे निर्विचार कहते हैं। संस्कार मात्र रहने तक सजीव कहलाती है, संस्कार शून्य होने पर निर्जीव कहलाती है। यह समाधि सांसारिक पदार्थों में होने से सिद्धि प्रद होती है, जो कि अध्यात्म विषय में हानिकारक है। और यही समाधि ईश्वर विषयक होने से मुक्ति प्रदान करती है। इसलिए कल्याण चाहने वाले पुरुषों को अपने इष्ट देव परमात्मा के स्वरूप में ही समाधि लगानी चाहिए। इसमें परिपक्वता होने पर, अर्थात् उपर्युक्त योग के आठों अंगों के भलीभाँति अनुष्ठान से मल और आवरण आदि समस्त क्लेशों के क्षय होने पर, विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान की दीप्ति होती है और उस विवेक ख्याति से, अविद्या का नाश होकर कैवल्यपद की प्राप्ति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

साध्वी प्राची आर्या
वैदिक निकेतन
सिरसली-बड़ौत
जिला-बागपत (उ0प्र0)

आधुनिक सन्दर्भ में योग की उपादेयता

महर्षि पतंजलि के द्वारा आविष्कृत और परिष्कृत योगाभ्यास का मार्ग सर्वदेश, सर्वकाल और सर्वजनों के लिये कल्याणकारी है। योग-साधना कोई ऐसा आचरण नहीं है, जिसकी प्रासंगिकता किसी विशेष समाज, विशेष वर्ग, विशेष जाति, विशेष राष्ट्र या विशेष काल में ही अनुभव की जा सके। अपितु यह तो शाश्वत् कल्याण का मार्ग है, जो प्रत्येक मनुष्य के लिये क्षेत्र और आयु में समान रूप से उपयोगी हैं।

योग साधना एक निवृत्ति का मार्ग है। प्रवृत्ति मार्ग भोगवादी मार्ग होता है। भोग का मार्ग मनुष्य को शाश्वत् सुख प्रदान नहीं कर सकता। वह आपातरूप से थोड़ी देर के लिये इन्द्रियों को क्षणिक सुख भले ही प्रदान कर दे किन्तु अन्त में भोगवादी मार्ग मनुष्य को दुर्बल बनाने वाला दु:खदायक और अन्धकार में ले जाने वाला होता है। इसलिये चिन्तनशील पुरुष आपातरमणीय विषयों से भोगानिवृत्त होकर योग-साधना में प्रयत्नशील होते हैं।

प्राचीन काल में योग साधना जितनी महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारी थी, उससे कहीं अधिक इसका महत्त्व आधुनिक सन्दर्भ में है। आज का मनुष्य, समाज और राष्ट्र पहले की अपेक्षा अधिक संतप्त और दु:खी है। यद्यपि आज विश्व में वैज्ञानिक पद्धति चरम सीमा पर है, वैज्ञानिक उपकरणों ने मानव जीवन को अधिक सुविधा सम्पन्न और भौतिक दृष्टि से समृद्धिशाली बना दिया है। किन्तु ये सभी समृद्धियाँ मनुष्य को शान्ति और सन्तोष प्रदान नहीं कर सकीं। मनुष्य का जीवन दिन-प्रतिदिन अशान्त और असन्तुष्ट होता जा रहा है। सन्तोष के विना तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ भी मनुष्य के लिये थोड़ी पड़ जाती है। ज्यों-ज्यों भोग-तृष्णा बढती है, त्यों-त्यों सुख शान्ति घटती जाती है। क्योंकि सुख और शान्ति भौतिक विषयों के भोग में नहीं है। वास्तविक सुख और शान्ति तो भोगों की निर्वृत्ति में है, भोगों से निर्वृत्ति केवल योग-साधना से ही हो सकती है।

यह बड़े सन्तोष का विषय है कि आज मनुष्य योग-साधना की ओर पुन: प्रवृत्त हो रहा है। सदियों के बाद मनुष्य योग-साधना के महत्त्व को पुन: पहचानने लगा है। आज भारत में ही नहीं अपितु विश्व में योग का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा है। यह परिवर्तन अकस्मात् नहीं हुआ अपितु यह परिवर्तन स्वाभाविक है। भोग की चरम सीमा पर पहुँचकर निवर्तन तो आवश्यक ही है। आज नहीं तो कल मनुष्य को वापिस लौटना ही है, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है। आत्मा को जाने विना मृत्यु के संतरण का कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। श्रुति कहती है कि उस आत्मा को जानकर ही मृत्यु को पार किया जा सकता है। 'नान्य:पन्था विद्यतेऽयनाय:'- अन्य कोई उपाय नहीं है।[1]

आधुनिक सन्दर्भ में योग साधना के अभ्यास से मनुष्य को क्या-क्या लाभ हो सकते हैं और वह कौन-कौन से संकटों पर विजय प्राप्त कर सकता है, इस पर हम संक्षेप

---

1. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्। -श्वेताश्वतर उपनिषद्

से विचार करेंगे।

१- वैर-भाव का त्याग- आज का मानव, उसका परिवार और समाज द्वेष और वैर-भाव की अग्नि में निरन्तर तप रहा है। मनुष्य को आज अपनी उन्नति से सन्तोष नहीं है अपितु वह तो दूसरों की समृद्धि को देखकर दु:खी है। यही बात पूरे राष्ट्र के सन्दर्भ में भी देखी जाती है। सभी राष्ट्र एक दूसरे को नष्ट करने में लगे हुए हैं। मनुष्य ने आज इतने घातक अणु बम, हाइड्रोजन बम आदि अस्त्र बना लिये हैं, जिससे मानव सभ्यता का नामोनिशान कुछ ही घण्टों में मिट सकता है। भौतिक प्रगति में आगे निकलने की होड़ मनुष्य को विनाश की उस गुफा में ले जा रही है, जहाँ से यदि वह वापिस आना चाहेगा तो आ नहीं पायेगा। हिंसा की भावना कभी सुख की ओर नहीं ले जाती। वैर से वैर ही बढ़ता है, शान्त नहीं होता। मनु महाराज ने यही बात कही थी।[2] शाश्वत् सुख का उपाय अहिंसा ही है। अहिंसा से ही वैर-भाव की शान्ति हो सकती है। अहिंसा को अपनाकर ही मनुष्य, समाज, राष्ट्र और सकल संसार सुखी और समृद्ध हो सकता है। इसलिये महर्षि पतंजलि ने यमों में सबसे प्रथम अहिंसा को स्थान दिया है।

२. तनाव से मुक्तिः- हम प्रतिदिन देखते हैं कि आज ऊँचे-ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित रहने वाले लोग भी अत्यधिक समृद्धि को पाकर भी तनाव युक्त जीवन बिता रहे हैं। परिवार में टूटन बढ़ रही है, परिवार के लोग एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते प्रत्येक व्यक्ति अनजाने भय से त्रस्त है, इसका कारण क्या है? योग की भाषा में इसका कारण है असत्य और चोरी का आचरण, मनुष्य अल्पसमय में थोड़े से परिश्रम में अधिक से अधिक धनोपार्जन करने की होड़ में लगा है। धनोपार्जन करने के लिये वह असत्य, अन्याय, चोरी, रिश्वत खोरी आदि भ्रष्ट आचरण का सहारा लेता है।

धन तो वह अर्जित कर लेता है किन्तु जिस सुख और शान्ति के लिये वह यह सब करता है, वह उसे नहीं मिलती। वह पहले से भी अधिक तनाव में रहने लगता है। परिणाम यह होता है कि मधुमेह, अनियमित रक्तचाप, घबराहट, हृदय रोग आदि घातक बीमारियाँ उसे घेर लेती हैं और समय से पहले ही काल-कवलित हो जाता है।[3] योगसूत्र में महर्षि पतंजलि ने सत्य और अस्तेय के आचरण को योग साधना के लिये अनिवार्य बताया हैं। सत्याचरण और अस्तेय के पालन से मनुष्य तनाव से मुक्त रह सकता है। सत्याचरण करने वाले की समस्त क्रियायें सफल होती हैं।[4] और अस्तेय के पालन से वह अपरिमित रत्नों का स्वामी बन सकता हैं।[5] असफलता और निर्धनता ही तनाव को जन्म देती है। सत्य और अस्तेय रूप औषधि के सेवन से मनुष्य तनावमुक्त जीवन जी सकता है।

---

2. न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन। अवैरेण तु शाम्यन्ति एष धर्मः सनातन।। -स्फुट
3. अहिंसा प्रतिष्ठायाम् तत्संनिधौ वैरत्यागः।। -यो0 सू0 2/35
4. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।। 2/36।।
5. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।। 2/36

३. बल की प्राप्तिः- आज समाज में दुर्बल शरीर, मुरझाए चेहरे और उत्साह रहित हृदय वाले युवक सर्वत्र देखने को मिलते हैं। ऐसे युवाओं की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। भौतिकवादी संस्कृति ने उनके शरीरों को आराम पसन्द, आलसी, अकर्मणीय और निरुत्साही बना दिया और मस्तिष्क में विभिन्न कुसंस्कार और विकृतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। ब्रह्मचर्य की उपेक्षा से आज समाज घातक रोगों के चंगुल में इस प्रकार खो चुका है कि चिकित्सा विज्ञान चाहे कितना भी विकास कर ले वह समाज को रोगमुक्त नही कर सकता। क्या कारण है कि आज चिकित्सा विज्ञान के निरन्तर प्रगति करने पर भी रोगों और रोगियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। जनसंख्या के विस्फोट ने विश्व की आर्थिक दशा को तहस-नहस कर दिया है, इस सबका कारण यह है कि हमने अपने प्राचीन ब्रह्मचर्यव्रत के आदर्श को उपेक्षित कर दिया है। शारीरिक और मानसिक रोगों को दूर करने का एक ही उपाय है- ब्रह्मचर्य व्रत का पालन। ब्रह्मचर्य के सेवन से मनुष्य, समाज और राष्ट्र बलशाली हो सकता है। इसलिये पतंजलि ने योग-साधना के लिये ब्रह्मचर्य के पालन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनकी मान्यता है कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम की वृद्धि होती है।[6]

४ अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ता- विज्ञान ने आज के युग में पर्याप्त प्रगति की है। किन्तु जनसंख्या के विस्फोट ने उस समस्त प्रगति पर पानी फेर दिया है। देश की अर्थव्यवस्था डगमगा रही है। हमारा देश ऋण के भार से आक्रान्त है। मनुष्य की आर्थिक प्रगति नहीं हो रही है। उसे चिन्ता आज की नहीं है अपितु वह भविष्य के लिये अर्थ का संग्रह करने में लगा है। परिग्रह की भावना ने धनवानों को अधिक धनवान् बना दिया है, निर्धनों को और अधिक निर्धन बना दिया। यद्यपि अर्थ का संग्रह अनुचित नहीं है, किन्तु परिग्रह अथवा अर्थसंग्रह को लक्ष्य बना लेना व्यक्ति, समाज और देश तीनों के लिये घातक है। यही कारण है कि प्रगति के नये-नये साधनों का उपयोग करने पर भी हम आर्थिक मोर्चे पर पिछड़ गए हैं। इसलिये महर्षि पंतजलि ने अपरिग्रह का सन्देश दिया है। अपरिग्रह अर्थात् विषय-भोग की वस्तुओं का संग्रह न करना एक ऐसा यम है जो योग साधना के लिये तो उपयोगी है ही, आर्थिक प्रगति के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है। जब प्रत्येक व्यक्ति उतने ही धन का संग्रह करेगा जितने धन की उसे आज आवश्यकता है तो समाज में धन की विषमता अनायास ही दूर हो जायेगी। मनुस्मृति में कहा गया है कि जितने अन्न से पेट भर जाये उतने ही धन पर मनुष्य का अधिकार है। उससे अधिक जो संग्रह करता है वह चोर है, राजा की ओर से उसको दण्ड दिया जाना चाहिये।[7]

भाष्यकार व्यासदेव ने परिग्रह के पाँच दोष बताये हैं- अर्जन, रक्षण, क्षय, संग ओर हिंसा। पहले तो धन के अर्जन में ही कष्ट होता है। किसी प्रकार अर्जित कर भी लिया

---

6. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।। -यो0 सू0 2/38
7. यावद् भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति।। -स्फुट

जाये तो उसकी रक्षा की समस्या आती है। धन की कितनी भी रक्षा की जाये, उसका क्षय एक दिन तो होना ही है। धन के संग्रह में संग अर्थात् आसक्ति उत्पन्न होती है जो मनुष्य को दु:ख की ओर ले जाती है। धन संग्रह के लिये हिंसा भी अनिवार्य है क्योंकि दूसरों की हिंसा किये विना अधिक धन का संग्रह सम्भव ही नही है। ये पाँच दोष ही समाज की आर्थिक दशा को नष्ट करते हैं। इसलिये अपरिग्रह का पालन योग-साधना के लिये उपयोगी है ही, आर्थिक प्रगति भी इसी पर अवलम्बित है।

महर्षि पंतजलि ने अपरिग्रह की स्थिरता होने पर जन्म कथा का ज्ञान इसका फल बताया है।[8] यह फल अपरिग्रह का अदृष्ट फल है। यह एक अध्यात्म पक्ष है फिर भी यदि हम इस पक्ष को छोड़ दें तो भी इसका दृष्ट फल हम सभी प्राप्त कर सकते हैं। इसका दृष्ट फल है आर्थिक विषमता की समाप्ति। आर्थिक विषमता समाज को दुर्बल और असन्तुष्ट बनाती है। अपरिग्रह के पालन से आर्थिक विषमता को दूर करके समाज को स्वस्थ और समृद्ध बनाया जा सकता है।

इसी प्रकार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान जहाँ मनुष्य के चरित्र को अन्दर से समृद्ध बनाते हैं, वहीं व्यक्ति और समाज दोनों को परिपूर्ण करते हैं। उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान सन्दर्भ में योगाभ्यास जितना उपादेय है, उतना पहले कभी नहीं था। योग की उपादेयता किसी भी काल में न तो अप्रासंगिक थी और न कभी रहेगी।

डॉ0 योगेश्वरदत्त
योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तरांचल

---

8. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोध:।। –यो0सू0 2/39

वैज्ञानिक दृष्टि में मानव चेतना

दर्शन की तरह विज्ञान के क्षेत्र में भी मानवीय चेतना का विषय गहन शोध अध्ययन एवं अन्वेषण का विषय रहा है। आधुनिक विज्ञान की पृष्ठभूमि में हम इन प्रयासों को विगत दो-तीन शतकों में सक्रिय देखते हैं। जबकि भारतीय विज्ञान की पृष्ठभूमि में ये प्रयास अतिप्राचीन काल से क्रियान्वित हुए मिलते हैं। ज्ञान की धाराओं की तरह विज्ञान की विविध धाराओं का उद्भव एवं विकास हम वैदिक युग में हुआ देखते हैं।

प्राचीन भारतीय विज्ञान की दृष्टि में मानव चेतना

मानवीय चेतना के संदर्भ मे जो गम्भीर अध्ययन-अन्वेषण वैदिक युग की पुरातनता में हुए इनको हम प्रमुखतया आयुर्विज्ञान और तंत्र विज्ञान की विविध धाराओं में विभक्त कर सकते हैं। इनमें मानवीय चेतना के विविध पक्षों का रहस्योद्घाटन अद्भुत सूक्ष्म दृष्टि से हुआ है, जिसकी वैज्ञानिकता एवं विलक्षणता के समक्ष आधुनिक विज्ञान भी नतमस्तक है।

मानव चेतना का स्वरूप

मानव-स्वास्थ्य के यक्ष प्रश्न पर समग्र दृष्टि से विचार आयुर्विज्ञान की पुरातन चिकित्सीय पद्धति में मिलता है। मानवीय चेतना (शरीर और मन) के महत्त्वपूर्ण एवं गूढ़ विषय पर प्रकाश डालने वाले आयुर्वेद के प्रवर्तक ऋषि सम्भवतः प्राणि-वैज्ञानिक थे।[1] वैदिक युग में विकसित इस पद्धति की प्राचीनता को हम जीवन के विज्ञान के रूप में 5000 वर्ष पूर्व तक देख सकते हैं।[2] हालाँकि यह अपने दार्शनिक विचारों के लिए सांख्य एवं वैशेषिक दर्शन का ऋणी रहा है, किन्तु फिर भी मानवीय चेतना के विषय में इसकी अपनी मौलिक एवं भिन्न दृष्टि भी रही है।

सांख्य दर्शन की परम्परा में यहाँ भी पुरुष या आत्मा ही चेतना का मूल स्रोत है। पुरुष या आत्मा ही शाश्वत् रूप से चैतन्य है। यह शुद्ध, बुद्ध व स्वतंत्र है। यही अन्तिम ज्ञाता और दृष्टा है।[3] यह देश-काल व कार्य-कारण से परे का सत्य है। यह समस्त मानसिक क्रियाओं से अतीत का सत्य है। तब मन तमस् के प्रभाव में होता है, तब भी यही आत्मा हमारी जाग्रत, सुषुप्त या स्वप्न की अवस्था का साक्षी होता है।[4]

आत्मा का अस्तित्त्व बुद्धि के द्वारा प्रतिभाषित होता है। बुद्धि स्वयं में एक अचेतन प्रक्रिया है। चेतन आत्मा ही बुद्धि के अचेतन भाग से प्रतिबिम्बित होती है। बुद्धि त्रिगुणात्मक

---

1. G.P. Dubey-Science and Philosophy of Indian medicine, P. 33
2. Dr. David Frawley-Ayurveda and the Mind, P. 33
3. चरक संहिता (शरीर-स्थान) -1/16
4. सांख्य तत्त्व कौमुदी-16/20

प्रकृति के विकास का प्रथम उत्पाद है। प्रकृति समस्त मनो-भौतिक जगत् उत्पत्ति स्थल है।[5] प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यवस्था का नाम है। यह स्वयं में अचेतन है। इससे जगत् की उत्पत्ति चेतन पुरुष (आत्मा) की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होती है। चेतन पुरुष के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति की साम्यता भंग होती है और इससे विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत बुद्धि, अहंकार और मन एवं जीवन तथा पाँच महाभूतों का निर्माण होता है।[6] सांख्य दर्शन के अनुसार इनमें बुद्धि, अहंकार और मन मानवीय चेतना के मनोवैज्ञानिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। आन्तरिक अवयवों के रूप में इन्हें अन्तःकरण भी कहा जाता है।[7]

बुद्धि

यह प्रकृति के विकास का प्रथम उत्पाद है। यह प्रमुख मानसिक यंत्र है। एक ओर यह अन्दर अहंकार और मन (आन्तरिक अवयवों) को नियंत्रित करता है और बाहर इन्द्रियों पर नियंत्रण करता है। बुद्धि का प्रमुख कार्य निश्चय और संकल्प करना है। यह भूतकालीन अनुभवों और स्मृतियों का संग्राहक भी है।[8]

अहंकार

इसका क्रम बुद्धि के बाद आता है। यह वैयक्तिकता का सिद्धान्त है। यह स्व चेतनता का द्योतक है। सांख्य दर्शन के अनुसार, समस्त व्यक्तिपरक (Subjective) और वस्तुपरक (objective) जगत् इसी से उत्पन्न होता है। अहंकार में सत्त्व की प्रधानता से मन सहित ग्यारह इन्द्रियों का उद्भव होता है और तमस् की प्रधानता के कारण अहं से पाँच तंन्मात्राओं का उद्भव होता है।[9] अहंकार का प्रमुख कार्य स्वप्रेम या स्वबोध है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहंकार सबसे महत्त्वपूर्ण पक्षों में एक है। अहंकार के क्षय पर आयुर्विज्ञान में दुःख से मुक्ति एवं स्वतंत्रता की दृष्टि में बल दिया गया है।[10]

मन

सांख्य दर्शन के अनुसार- मन, अहंकार का उत्पाद है। एक ओर इसका आत्मा से सीधा सम्बन्ध है और दूसरी ओर शरीर को प्रभावित करता है। इस कारण यह आयुर्वैदिक चिकित्सा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है।[11] मन के विषय पर यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला

---

5. सांख्यतत्त्व कौमुदी -19/20
6. सुश्रुत संहिता शरीर स्थान-1/4, सांख्यतत्त्व कौमुदी-21
7. सुश्रुत संहिता 1/3 चरक संहिता-17/35, सांख्य तत्त्व कौमुदी-33
8. सांख्यकारिका -23, सांख्य सूत्र -2/13, सांख्य भाष्य -8/12
9. सांख्यतत्त्व कौमुदी-23,24, सांख्य सूत्र-1/6
10. सांख्यकारिका -25, चरक संहिता शरीर स्थान-1/65, सांख्यतत्त्व कौमुदी-24
11. आचार्य राजकुमार जैन-आयुर्वेद दर्शन, पृ. 67

गया है। इसमें प्रस्तुत मन का विवरण इस तरह से हैं।

मन की अतीन्द्रिय सत्ता

आयुर्वेद साहित्य में मन, चित्त, सत्त्व आदि शब्द इसके पर्याय रहे हैं।[12] सांख्य एवं वैशेषिक दर्शन से प्रभावित होने के बावजूद इसकी अपनी भिन्न एवं मौलिक अवधारणा रही है। यह मन को इन्द्रिय नहीं मानता।[13] चक्रपाणी का कहना है कि मन के ऐसे कार्य हैं, जो इन्द्रियों के द्वारा सम्पादित नहीं हो सकते। अत: वे इसे अतीन्द्रिय कहते हैं।[14] चरक ने इसके अतीन्द्रिय होने के निम्न तीन प्रमाण बताये हैं- 1. यह अन्य इन्द्रियों की तरह मात्र बाह्य ज्ञान का कारण नहीं है, बल्कि आन्तरिक ज्ञान का भी कारक है। 2.मन अन्य इन्द्रियों का नियंत्रक है।[15] यही विचार वागभट्ट के हैं।[16] मन की सहायता के विना इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर सकती। इसलिए मन को ज्ञानेन्द्रियों का उद्भासक और कर्मेन्द्रियों का प्रयोजक कहा गया है।[17]

आत्मा द्वारा चेतन मन की जड़ सत्ता

अतीन्द्रिय होते हुए भी चरक के अनुसार मन जड़ है।[18] अन्य द्रव्यों की भाँति मन की उत्पत्ति भी महाभूतों से होने के कारण यह भौतिक है। अत: मन भी प्रकृति की तरह सत्त्व, रज और तम गुणों से युक्त है। तदनुरूप तीन गुणों के अनुरूप सत्त्व से ज्ञान, रजस् प्रवृत्ति और तमस् से अज्ञान आदि प्रत्येक मन में दृष्टिगोचर होते हैं।[19] जड़ होते हुए भी मन, आत्मा की सक्रियता के कारण चैतन्य होता है।[20]

मन का सूक्ष्म स्वरूप

चरक संहिता में इसे बाह्य इन्द्रियों की पकड़ से परे सूक्ष्म आणविक प्रकृति का बताया गया है।[21] इसी तरह अणुत्त्व (सूक्ष्मत्त्व) एवं एकत्त्व (एक होना) इसके गुण बताये गये हैं।[22] मन एक ही है अनेक नहीं, क्योंकि एक ही मन एक ही समय में अनेक विषयों

---

12. चित्तम् चेत: हृदयम् हृत् मानसम्-अमरकोश, अतीन्द्रियं पुनर्मन: सत्त्वसंज्ञक चेत् इत्याहुरेके। च.सू.अ. 8-4
13. डॉ. शान्ति प्रकाश आत्रेय -योग मनोविज्ञान,पृ. 33
14. चक्रपाणी, चरक संहिता सूत्र स्थान, 1-22
15. चरक संहिता (शरीर स्थान) 1-19
16. अष्टांग संहिता (शरीर स्थान)5-45
17. मन: पुर: सराणि च इन्द्रियाणि अर्थग्रहण समर्थानि भवन्ति।-च.सू.अ. 8-7
18. अचेतनत्वाच्च मन: क्रियावदामि नोच्यते। (च.शा. 1/76)
19. आचार्य राजकुमार जैन-आयुर्वेद दर्शन, पृ. 68 (च. सू. 8-5)
20. चा. शा., 152-153
21. चरक संहिता, शरीर स्थान, 1-19
22. अणुत्त्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनस: स्मृतौ।

में नहीं जा सकता, इसलिए सब इन्द्रियों की एक साथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[23] यही तथ्य कश्यप सूत्र[24] में व्यक्त किया गया है।

मन की स्थिति

मन की स्थिति के संदर्भ में आयुर्वेद में दो मत रहे हैं। चरक के अनुसार यह हृदय में स्थित है।[25] सुश्रुत भी हृदय स्थान निर्धारित करते हैं।[26] कश्यप का भी यही मत है।[27] इनके विपरीत भेल मन का स्थान मस्तिष्क में और चित्त का स्थान हृदय में मानते हैं।[28] इस तरह से मन के स्थान के सम्बन्ध में विरोधाभासी मत जान पड़ते हैं, किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर तथ्य स्पष्ट हो जाता है। मन का मूल स्थायी स्थान हृदय है, इस तथ्य को सभी आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इस हृदय स्थान को शारीरिक हृदय मान बैठना भूल होगी, वस्तुतः यह हमारे अस्तित्त्व का गहनतम स्तर है।[29] इसके अतिरक्त सभी इन्द्रियों का केन्द्र मस्तिष्क है। चरक ने सिर को समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठान के रूप में निरूपित किया है।[30] इस प्रकार यहाँ विषयों के स्वरूप का निर्णय एवं इन्द्रियों की प्रवृत्ति हेतु आज्ञा प्राप्ति होती है। इस तरह मन हृदय से मनोवह स्रोतों के द्वारा मस्तिष्क में आता है और वहाँ से समस्त इन्द्रियों को नियंत्रित करता है। अतः मन का नियंत्रण केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्क है। मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है एवं मूल स्थान हृदय है।[31] अमेरिका के वैदिक मनीषी डॉ फ्राले के शब्दों में मस्तिष्क बाह्य मन का केन्द्र है, जो इन्द्रियों के माध्यम से काम करता है और हृदय अन्तःमन का केन्द्र है, जिसकी भावप्रकृति इन्द्रियों का अतिक्रमण करती है।[32]

मन का कार्य

मन जड़ पदार्थ होने पर भी कार्य कैसे करता है? महर्षि चरक कहते हैं-मन अचेतन होने पर भी क्रियाशील है। उसको चेतना देने वाला आत्मा है। जड़ मन कार्य करने की शक्ति आत्मा से प्राप्त करता है। सचेतन होने से आत्मा कर्त्ता कहा जाता है और

---

23. च.सू., 8-20
24. क. सू., पृ. 45
25. चरक संहिता सूत्र स्थान, 30-4
26. हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विराति देहिनाम्। सुश्रुत संहिता, शरीर स्थान, 4-34
27. कश्यप संहिता चिकित्सा, 8-6
28. भे. सं., पृ. 149
29. Dr. David Frawley-Ayurveda and the Mind, p. 51
30. शिराति इन्द्रियाणि, इन्द्रिय प्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गमस्तयः संश्रितानि, च. सि., 9-4
31. आचार्य राजकुमार जैन-आयुर्वेद दर्शन, पृ.78
32. Dr. David Frawley-Ayurveda and the Mind, p. 51

अचेतन होने से मन कार्य करने पर भी कर्त्ता नहीं कहा जाता।[33] चक्रपाणी के अनुसार मन के प्रमुख कार्य हैं-इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख और प्रयत्न।[34] चरक के अनुसार चिंतन, विचार, तर्क ध्यान, संकल्प, इन्द्रियों को नियंत्रण करना, अपने आपको स्वयं नियंत्रित करना; ये सब मन के कार्य हैं।[35]

इस तरह आयुर्विज्ञान के सूक्ष्मदर्शी आचार्यों के चिंतन में, मन के स्वरूप, गुण, धर्म, स्थान एवं कार्यों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

मन के अतिरिक्त मानवीय चेतना के समग्र प्रतिनिधि व्यक्तित्व पर आयुर्वेद की अवधारणा भी उल्लेखनीय है-

आयुर्विज्ञान में व्यक्तित्व की मनोजैविक अवधारणा

आयुर्वैदिक चिकित्सा विज्ञान मानवीय व्यक्तित्व पर विविध कोणों से विचार करता है। प्रमुखतः इसका दृष्टिकोण मनोकायिक रहा है।[36] इस संदर्भ में आयुर्वेद का 'त्रिदोष' सिद्धान्त प्रख्यात है।[37] जैविक आधार पर ये हैं- वात, पित्त कफ।[38] इनका आपसी समायोजन और संतुलन व्यक्ति को स्वस्थ रखता है।[39] तथा इनका असंतुलन रुग्णता का कारण बनता है।

इनकी प्रधानता के अनुरूप व्यक्तित्व के शारीरिक एवं मानसिक गुण-दोषों का विस्तृत विवरण आयुर्वैदिक साहित्य में किया गया है। यहाँ मानसिक विवेचन ही संगत होगा। वात प्रधान व्यक्ति के मानसिक गुण इस तरह से बताये गये हैं।[40] लघु स्मृति, दुर्बल इच्छा शक्ति, मानसिक अस्थिरता, साहस हीनता, असहिष्णुता, आत्मविश्वास हीनता और तर्क न्यूनता। ये व्यक्तित्व चिड़चिड़े एवं क्रुद्ध स्वभाव के होते हैं और साथ ही वे प्रसन्नचित्त भी होते हैं। पित्त प्रधान व्यक्तित्व की विशेषतायें इस तरह से हैं- मध्यम स्मृति, मध्यम इच्छा शक्ति, मध्यम मानसिक स्थिरता और मध्यम सहिष्णुता।[41] कफ प्रधान व्यक्तित्व की विशेषतायें इस तरह से हैं- सशक्त स्मरण शक्ति, दृढ़ इच्छा शक्ति, उच्च साहस एवं आत्म विश्वास, सहिष्णुता और गम्भीरता।[42] इन तीन मूलभूत भेदों के आधार पर आयुर्वेद में व्यक्तित्व के सात प्रकार बताये गये हैं- वातिक, पित्तिक, कफज, वात-पित्तिक, वात-कफज,

---

33. चरक संहिता, शरीर स्थान, 1-8
34. चक्रपाणी-चरक संहिता सूत्र स्थान, 1-49
35. चरक संहिता, शरीर स्थान,1-21
36. K.N. Udupa &R.H. Singh-Science &Philosophy of Indian Medicine, p. 85
37. चरक संहिता विमान स्थान -8/105-106
38. चरक संहिता शरीर स्थान-4/34
39. वही, 9/4
40. चरक संहिता, विमान स्थान -8/109, सुश्रुत संहिता शरीर स्थान-4/64, 67
41. चरक संहिता, विमान स्थान -8/108, सुश्रुत संहिता शरीर स्थान -4/68
42. वही-8/107 वही -4/72, 76

पित्त-कफज और समदोषज।[43]

जैविक आधार के अतिरिक्त आयुर्वेद में विशुद्ध मानसिक आधार पर भी मानस प्रकृति के रूप में व्यक्ति के स्वरूप पर विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत मन के मूलभूत गुण हैं- सत्व, रजस् और तमस्।[44] इन्ही के अनुरूप व्यक्तित्व को सात्विक, राजसिक और तामसिक वर्गों में विभाजित किया गया है।

सात्विक व्यक्ति के गुण इस तरह से हैं-दयालु, उदार, सहिष्णु, सत्यनिष्ठ, धार्मिक, आस्तिक, बुद्धिमान्, मेधावी, साहसी और अनासक्त।[45] श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने व्यक्तित्व को सत्त्व, रज एवं तम गुण के आधार पर विभाजित किया है। उनके शब्दों में-सत्त्व गुण प्रधान व्यक्तित्व निर्मल होता है। सत्त्व गुण का सम्बन्ध सुख, ज्ञान और वैराग्य से हैं। सत्त्व गुण से प्रेरित होकर व्यक्ति ज्ञानार्जन करता है और कालान्तर में आत्म ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जो कि मोक्ष का साधन है।[46] वस्तुतः वे सफलता, असफलता का ध्यान न रखते हुए पूर्ण उत्साह और धैर्य के साथ अपने कार्य को करते हैं। उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान होता है। वे शुभ और अशुभ कर्मों को पहचानते हैं। उन्हें बन्धन और मुक्ति का भेद ज्ञात होता है। वे सदैव विवेकपूर्ण कार्य करते हैं तथा निरन्तर मुक्तावस्था की ओर अग्रसर रहते हैं।[47]

राजसिक प्रकृति प्रधान व्यक्ति का स्वरूप आयुर्वैदिक दृष्टि में इस तरह से हैं- अधीर, अभिमानी, असत्यभाषी, अहंकारी, आत्म सम्मान के लिए उद्विग्न, अतिप्रसन्न, अतिकामुक, क्रोधी और दुःखी।[48] गीता के अनुसार-रजोगुण प्रधान व्यक्ति में कामना और आसक्ति पायी जाती है। रजोगुण से प्रेरित व्यक्ति कर्मों के फल की प्राप्ति के लिए अधिक चिंतित रहता है।[49] उनके सभी कार्य दम्भ और रागयुक्त होते हैं। वे सफलता और विफलता से सुखी और दुखी होते हैं। वे लोलुप, अशुद्ध और दूसरों को कष्ट देने वाले होते हैं। वे उचित, अनुचित, धर्म, अधर्म तथा कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य के भेद को विकृत बुद्धि होने के कारण ठीक-ठीक नहीं जान पाते।[50]

तामस प्रकृति व्यक्ति के लक्षण इस प्रकार से हैं- नास्तिक, अधार्मिक, बुद्धिहीन, अज्ञानी, क्रोधी और आलसी।[51] गीता के अनुसार तमोगुण प्रधान व्यक्ति में आलस्य, प्रमाद

---

43. वही -8/106 वही -4/62-63
44. चरक संहिता, शरीर स्थान-4/37
45. वही-4/38,45
46. भगवत् गीता -14/6
47. डॉ शन्ति प्रकाश आत्रेय, योग मनोविज्ञान, पृ. 296
48. चरक संहिता शरीर स्थान -4-/46-53
49. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा संगसमुद्भवं। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म संगेन देहिनाम्।। भगवद् गीता-14/7
50. चरक संहिता शरीर स्थान -4/53-56
51. डॉ. शन्ति प्रकाश आत्रेय, योग मनोविज्ञान, पृ. 216

ओर निद्रा के प्रति विशेष आकर्षण पाया जाता है।[52] यह निम्नतम स्तर का व्यक्तित्व है।[53] उनकी बुद्धि विपरीत दिशा में ही कार्य करती है। वे सदैव उल्टा ही सोचते हैं। उनकी धारणा हर विषय के प्रति गलत होती है। वे दुष्ट बुद्धि तथा नीच प्रकृति के होते हैं।

इस तरह आयुर्वेद मानवीय चेतना के समग्र रूप व्यक्तित्व को मानस प्रकृति के सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों के आधार पर वर्णित करता है।

तंत्र विज्ञान में मानव चेतना

वैदिक ऋषियों ने अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति पर जो बहुमूल्य प्रयोग किया तथा प्रक्रियाएँ विकसित की, तंत्र उन सबमें बेशकीमती ठहराया जा सकता है। तंत्र का उद्गम हम वेदों में खोज सकते हैं। ऋग्वेद का देवी, सूक्त, वैदिक ऋषि विश्वामित्र द्वारा किये गये बला-अतिबला सावित्री महाविद्या के प्रयोग इसके आदि प्रमाण है। आदि शंकराचार्य, नागार्जुन, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ कीनाराम, वामाखेपा, कमलाकान्त, रामप्रसाद, रामकृष्ण परमहंस आदि इसके मध्य एवं आधुनिक युग के निष्णात आचार्य है।

तंत्र स्वयं में एक स्वतंत्र विज्ञान है। प्रकृति की शक्तियों पर काबू पाकर उन्हें इच्छानुकूल वशवर्ती बनाना इस विद्या का प्रधान कार्य है। प्रकृति के आकर्षण-विकर्षण से जगत् के पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है, उत्पत्ति, स्थिति और लय के परिणाम उपस्थित होते रहते हैं। विज्ञान द्वारा परमाणु की इन स्वाभाविक प्रक्रियाओं को बदलकर अपने अनुकूल बनाया जाता है। तंत्र विज्ञान द्वारा अपने अंदर की विद्युत् शक्ति को इतना विकसित कर लिया जाता है कि प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं को अपनी इच्छानुसार ढाल सकते हैं।[54]

तंत्र का सीधा सम्बन्ध चेतना, चित् शक्ति से हैं। यह साधना पंच कोषों को पार करके एवं चक्र भेदन कुण्डलिनी जागरण की उच्चतम प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त करती है। अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश की ओर बढ़ते हुए चलना इसका उद्देश्य है। तंत्र विज्ञान में मानवीय चेतना को पंच कोष, सूक्ष्म शरीर में स्थित षट्चक्र, ग्रन्थियों, सूक्ष्म नाड़ियों के समूह व कुण्डलिनी शक्ति के रूप में समझा जा सकता है। तंत्र के अनुसार मानव चेतना के पाँच स्तर, पाँच कोष इस तरह से हैं- अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश।

'जिस प्रकार प्याज की गाँठ में एक के बाद एक पर्त निकलते हैं, जिस प्रकार केले के तने को खोलने पर उसमें एक के भीतर एक कलेवर लिपटे हुए हैं। उसी तरह जीवात्मा (व्यक्ति) के ऊपर भी एक के बाद एक क्रमशः पाँच आवरण है। इनमें सबसे ऊपर दिखाई देने वाली पर्त का नाम है- अन्नमय कोश। अन्नमय कोश का अर्थ है- इन्द्रिय

---

52. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।। भगवद् गीता-14/8
53. डॉ रामनाथ शर्मा, भारतीय मनोविज्ञान, पृ. 216
54. आचार्य श्रीराम शर्मा

चेतना, प्राणमय कोश अर्थात् जीवनी शक्ति, मनोमय कोश अर्थात् विचारशीलता, विवेकबुद्धि, विज्ञानमय कोश अर्थात् भाव प्रवाह, आनन्दमय कोश अर्थात् आत्मबोध-आत्मस्वरूप की स्थिति। यह पाँच (मानव) चेतना के स्तर है।'[55]

इनका संक्षिप्त विवरण इस तरह से हैं-

१. **अन्नमय कोश** का संचालन करने के लिए नाड़ियों का समूह है। नाड़ियों के ये समूह स्थूल और सूक्ष्म, दोनों प्रकार के हैं। इन नाड़ियों के माध्यम से अन्नमय कोश में प्राणशक्ति का संचरण होता है।

२. **प्राणमय कोश** मनुष्य का सूक्ष्म शरीर है, जो ऊर्जा से निर्मित है। शक्ति की एक अभिव्यक्ति प्राणमय शरीर में दिखाई देती है। तंत्रविज्ञान के अनुसार प्राणमय शरीर लाल रंग का है। अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय कोश या सूक्ष्म शक्ति की अभिव्यक्ति है। प्राणमय कोश में शक्ति का संचरण सूक्ष्म नाड़ियों के माध्यम से होता है।

३. **मनोमय कोश** वस्तुत: मन, बुद्धि ओर चित्त से बना है। यह चेतना की स्थूल अभिव्यक्ति का प्रतीक है जो चेतना का उन जगतों से सम्बन्ध स्थापित करती है। मनोमय के अन्तर्गत मन की विभिन्न स्थितियों, विभिन्न भौतिक और बौद्धिक स्तरों का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत चेतना की ऐसी अवस्थाओं का भी वर्णन है, जो भोग के द्वारा, इन्द्रिय सुख के द्वारा आकर्षित हो जाती हैं।

४. **विज्ञानमय कोश** अतीन्द्रिय शरीर इसमें ज्ञान और विद्या की अनुभूति होती है। अनेक विद्वान् विज्ञानमय कोश का तात्पर्य बुद्धि से, बौद्धिक प्रगति या बौद्धिक विकास से लगाते हैं, किन्तु वास्तव में यह बौद्धिक है नहीं। बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् के अनुभवों को पार कर मानव चेतना को जिस सूक्ष्म अवस्था में स्थापित किया जाता है, वही विज्ञानमय की अवस्था है। अतीन्द्रिय होते हुए भी इन्द्रिय आकर्षण के मध्य में रहना विज्ञानमय की अवस्था है।

५. **आनन्दमय कोश** का सम्बन्ध परा अनुभूति से हैं। जब मनुष्य समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है तब इस अवस्था को प्राप्त करता है। ये पाँचों शरीर एक-दूसरे से अभिन्न हैं तथा नाड़ियों, प्राण और चक्रो के माध्यम से अन्तर्ग्रंथित है।

तंत्रों में मानवीय चेतना का केन्द्र मस्तिष्क माना गया है। उन्होंने प्रमस्तिष्क मेरु-तंत्र (Cerebro spinal system) के द्वारा समस्त चेतना का विवेचन किया है। ब्रह्मरन्ध्र को जीव का स्थान बनाया है। मेरुदण्ड (Vertebral column) में सुषुम्ना, ब्रह्मनाड़ी और मनोब्रह्म नाड़ियाँ हैं। स्वत: संचालित स्नायुमण्डल के अन्तर्गत ऐसे बहुत से नाड़ी-गुच्छों के केन्द्र (Ganglionic Center) तथा जालिकाएं (Plexures) हैं जिन्हें चक्र व पद्म का

---

55. आचार्य श्रीराम शर्मा-महामानववों की ढलाई करने वाला उच्चस्तरीय मनोविज्ञान, अखण्ड ज्योति, वर्ष 54, अंक 2, पृ. 24

नाम दिया गया है। जहाँ से नाड़ियाँ, शिरायें और धमनियाँ समस्त शरीर में व्याप्त हो जाती हैं। इस प्रधान तंत्र में हमें स्नायु मण्डल तथा उसके अन्तर्गत आने वाले स्नायु गुच्छों, मस्तिष्क, मेरुदण्ड आदि का विवेचन प्राप्त होता है।[56] इनमें सूक्ष्म नाड़ी चक्र आदि का वर्णन प्रस्तुत है।

नाड़ियाँ

नाड़ियाँ सामान्यतः दो भागों में विभाजित हैं- स्थूल और सूक्ष्म। तंत्र के अन्तर्गत पांचों शरीर को संगठित रखने के लिए साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों का वर्णन मिलता है। इन साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों का तात्पर्य हमारे शरीर की धमनियाँ, नसों या शिराओं से नहीं वरन् उन प्रवाहों, मार्गों या वाहिकाओं से हैं, जिनके, द्वारा प्राण, अन्तश्चेतना और स्थूल और सूक्ष्म ऊर्जाओं का संचरण होता है। शिव संहिता में साढ़े तीन लाख नाड़ियों का उल्लेख है।[57] गोरक्ष पद्धति में 72 हजार नाड़ियों का उल्लेख मिलता है।[58] इन 72 हजार नाड़ियों में से 72 नाड़ियाँ मुख्य मानी जाती है। पुनः 72 नाड़ियों में भी 18, अट्ठारह में 10 और दस में 3 नाड़ियाँ क्रमशः प्रमुख मानी गई है। इन तीन नाड़ियों में एक नाड़ी प्रमुखतम मानी गई है, उसे ब्रह्म नाड़ी कहते हैं, जो सुषुम्ना मार्ग के भीतर अवस्थित है।

प्रमुख तीन नाड़ियों को इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के नाम से जाना जाता है। योग में **पिंगला नाड़ी** प्राणशक्ति प्रवाह का प्रतीक है। **इड़ा नाड़ी** स्थूल और सूक्ष्म चित् शक्ति के प्रवाह का प्रतीक है तथा **सुषुम्ना** इन दोनों के भीतर संतुलित प्रवाह का लक्षण या परिणाम है। शिव संहिता में सुषुम्ना के आधार में स्थित खोखले स्थान को ब्रह्मरन्ध्र कहा गया है।[59] यह संगम स्थल सुषुम्ना शीर्ष (Medulla-abongala) में प्रतीत होता है। इसलिए सुषुम्ना शीर्ष का शरीर में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब इड़ा व पिंगला नाड़ियों में क्रमशः चित् और प्राण शक्तियों का प्रवाह होने लगता है, तब सुषुम्ना की जागृति होती है। सुषुम्ना की जागृति के बाद ही ब्रह्म नाड़ी जागृत होती है।

ब्रह्मनाड़ी और कुण्डलिनी शक्ति

तंत्र के अनुसार इन नाड़ियों की जागृति और आन्तरिक शक्ति के उत्थान से, जो अनुभूति होती है और जिसकी कल्पना मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति के रूप में होती है, वह वस्तुतः ब्रह्मनाड़ी की जागृति का प्रतीक है। इड़ा पिंगला और सुषुम्न की जागृति के बाद भी जब तक सुषुम्न में प्रबलता नहीं आती, तब तक ब्रह्मनाड़ी जागृत नहीं होती, उसमें उत्तेजना नहीं उत्पन्न होती। जिस दिन ब्रह्मनाड़ी में उत्तेजना उत्पन्न हो जाय, सम्पूर्ण शरीर में विद्युत् तरंग की तरह शक्ति उत्थान होता है। इसे ही कहते हैं- कुण्डलिनी

---

56. डॉ. शान्तिप्रकाश आत्रेय-योग मनोविज्ञान, पृ. 346-47
57. शिव संहिता-2/13
58. गोरक्ष पद्धति-1/25
59. शिव संहिता-5/162

शक्ति। साधना की परिपक्वता की स्थिति में प्राणोत्थान के कारण मूलाधार से सहस्रार की ओर विद्युत् तरंग की अनूभूति को ही कुण्डलिनी का ऊर्ध्वगमन कहा गया है। ऐसी सर्पिणी रूप की कोई शक्ति सुप्तावस्था में शरीर में स्थित नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों ने इसे आलंकारिक भाषा में प्रस्तुत किया है। तंत्र व विभिन्न हठयोग ग्रन्थों में 'कुण्डलिनी' तत्त्व की चर्चा तरह-तरह के अलंकारों के रूप में हुई है। सौभाग्य लक्ष्योपनिषद् के अनुसार'- मूलाधार में योनि के आकार का तीन घेरे वाला ब्रह्मचक्र है। यहाँ सुप्त सर्पिणी की तरह, कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। जागृत होने पर यह अनन्त सामर्थ्यवान् बना देती है और समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती है।[60]

प्रसिद्ध तन्त्रान्वेषी सर जान वुडरफ ने इसको **'सर्पेन्ट पावर'** की संज्ञा दी है। मैडम ब्लावतास्की ने इसे **'कास्मिक इलेक्ट्रिसिटी'** अथवा विश्व ब्रह्माण्ड व्यापी विद्युत् शक्ति कहा है। पं. श्रीराम शर्मा के शब्दों में यह **'जीवन ऊर्जा'** या **'जीवन अग्नि'** है।[61] जो सामान्य क्रम में सुप्त अथवा अर्धचेतन अवस्था में रहती है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि-'मेरी राय में नाड़ी शक्ति कुण्डलिनी का एक स्थूल रूप ही है, वह मूलतः नाड़ी संस्थान या उसका उत्पादन नहीं है। वह स्वयं ही इन दोनों प्रवाहों को उत्पन्न करती है। स्थिर सत्य, गतिशील सत्य एवं अवशेष शक्ति के समन्वित प्रवाह की तरह इस सृष्टि में काम करती है। व्यक्ति की चेतना में वह प्रसुप्त पड़ी रहती है। इसे प्रयत्नपूर्वक जगाने वाला साधक विशिष्ट सामर्थ्यवान् बनता है।[62] योगदर्शन के समाधि पाद सूत्र 26 में भी इसी की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि इस ज्योतिष्मती के प्रकाशवान् होने पर मनुष्य दु:ख शोकों से छूट जाता है।[63]

चक्र और उपचक्र

तंत्र विज्ञान में छः मुख्य चक्रों का वर्णन किया गया है। छः मुख्य चक्रों के अतिरिक्त शरीर में अन्य कई उपचक्र हैं। इन उपचक्रों में प्रमुख हैं-बिन्दु विसर्ग या बिन्दु चक्र, ललना चक्र तथा नासिकाग्र चक्र। इस प्रकार में अनेक उपचक्रों के नाम अलग-अलग हैं और कुछ के नाम शरीर के अंगों के साथ जुड़े होते हैं।

तत्र विज्ञान में जिन छः प्रमुख चक्रों का वर्णन किया जाता है, उनका सम्बन्ध पंचतत्त्वों और मनस् तत्त्वों के साथ रहता है। ये चक्र सृष्टि के विकासक्रम को दर्शाते हैं। सबसे नीचे स्थित मूलाधार चक्र, पृथ्वी तत्त्व का और सबसे ऊपर स्थित आज्ञा चक्र मनस् तत्त्व का प्रतीक है। कपाल शीर्ष में स्थित सहस्रार चक्र परा अनुभूति का केन्द्र है,शिव का केन्द्र है।

---

60. सौभाग्यलक्ष्युपनिषद् -3/1-3
61. आचार्य श्रीराम शर्मा -कुण्डलिनी महाशक्ति एक दिव्य ऊर्जा, अखण्ड ज्योति, वर्ष 39, अंक 3, पृ. 59
62. आचार्य श्रीराम शर्मा-कुण्डलिनी महाशक्ति एक परिचय, अखण्ड ज्योति, वर्ष 31, अंक 3, पृ. 57
63. 'विशोका वा ज्योतिष्मती'-योगसूत्र-1/26

चेतना या शक्ति का रूपान्तरण

जब एक अव्यक्त चेतना या एक अव्यक्त शक्ति अपने आपको किसी रूप में व्यक्त करना चाहती है, तो उसका स्वाभाविक अवस्था में रूपान्तरण होता है। जिस प्रकार 11,000 वोल्ट की विद्युत् शक्ति को ट्रांसफार्मर द्वारा नीचे लाकर 240 या 220 वोल्ट की विद्युत् शक्ति प्राप्त होती है। ठीक उसी प्रकार अव्यक्त चेतना और अव्यक्त शक्ति को रूपान्तरित करते-करते विभिन्न तत्त्वों की अनुभूति होती है। अव्यक्त का मूल केन्द्र सहस्रार माना गया है। सहस्रार में शिव शक्ति का मिलन अव्यक्त, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् अवस्था का प्रतीक है। दृश्य में अव्यक्त की प्रथम अभिव्यक्ति महत् रूप में होती है। महत् तत्त्व का विस्तार मनश्चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के रूप में होकर सूक्ष्म शरीर में आज्ञा चक्र या गुरु चक्र के रूप में प्रकट होती है। तत्पश्चात् शक्ति तत्त्व की परिणति आज्ञा चक्र के रूप में विशुद्धि चक्र के रूप में होती है। में आकाश तत्त्व का अनुभव व्याप्त है। शक्ति की यह परिणति या रूपान्तरण विशुद्धि (आकाश तत्त्व) से अनाहत (वायु तत्त्व), अनाहत से मणिपूर (अग्नि तत्त्व), मणिपुर से स्वाधिष्ठान (जल, तत्त्व) स्वाधिष्ठान से मूलाधार (पृथ्वी तत्त्व) तक इस दृश्य जगत् में दिखलाई देता है। मूलाधार में व्यक्त शक्ति कुण्डलिनी रूप धारण कर प्रकृति में स्थित होकर मनुष्य को विषयों की ओर आकर्षित करती है। यह प्रक्रिया अव्यक्त से व्यक्त की ओर क्रमविकास को दर्शाती है।

ये सब विभिन्न चक्र कुण्डलिनी शक्ति के ही स्थान हैं, जो कि चेतना के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित है, जिनमें अतिसूक्ष्म शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं। कुण्डलिनी शक्ति की ही अलग-अलग शक्तियाँ इन केन्द्रों में होती है। एक प्रकार से देखा जाये तो सब चक्र कुण्डलिनी शक्ति के ही अंग हैं। सुषुम्न का निम्नतम भाग या सुषुम्न का आधार जिसे ब्रह्म द्वार कहते हैं, में से यह कुण्डलिनी शक्ति जागृत होने पर इन सब चक्रों में से होकर अन्त में सहस्रार (Cerebral cortex) अर्थात् ब्रह्म के स्थान पर पहुँच जाती है। यह सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके सहस्रार (शिवलोक) तक पहुँचाना ही, साधन का अन्तिम लक्ष्य है। यही शिव-भक्ति मिलन है। परमात्मा अपनी इस शक्ति से ही सृष्टि की रचना करता है।[64]

पंचकोशों और सप्तचक्रों का सम्बन्ध

पंचकोश और सप्तचक्र एक निश्चित प्रतिकृति के अनुसार परस्पर सम्बद्ध हैं। मूलाधार और स्वाधिष्ठान का सम्बन्ध है अन्नमय कोश से, मणिपूर का प्राणमय कोश से, अनाहत का मनोमय कोश से और विशुद्धि एवं आज्ञा का सम्बन्ध है विज्ञानमय कोश से। सहस्रार का सम्बन्ध आनन्दमय कोश से हैं, जो परा अवस्था परा अनुभूति है। इस संरचना के अनुसार कोश और चक्र आपस में सम्बन्धित हैं।

64. डॉ. शान्तिप्रकाश आत्रेय-योग मनोविज्ञान, पृ. 369

गुण और स्वभाव

तंत्र के दृष्टिकोण से गुण और स्वभाव को समझना होगा। तामसिक, राजसिक और सात्विक गुणों को तंत्र विज्ञान पूर्णरूपेण स्वीकार करता है। ये तीनों गुण कोशों को नियंत्रित करते हैं, उनकी अभिव्यक्ति और क्रिया को संचालित करते हैं तथा कर्मो के कारण बनते हैं।

इन तीनों गुणों से तीन प्रकार के स्वभावों की उत्पत्ति होती है। तमोगुण से पाशविक या **पशुभाव**, रजोगुण से **वीर-भाव** और सत्त्वगुण से **दिव्यभाव** की उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति तमोगुणी है, जिसके भीतर में पशुभाव प्रबल है, वह अपनी वासनाओं, इच्छाओं और कर्म में अधीन तथा बन्धन में जीवन व्यतीत करता है। परिवार, सम्पत्ति, स्वार्थ की भावना आदि पशुभाव के लक्षण हैं।

राजसिक गुण के द्वारा वीर भाव की उत्पत्ति होती है। तामसिक और पाशविक भाव के रहते हुए भी जीवन में आत्मसंयम और नियंत्रण की एक अवस्था को स्थापित कराना वीर भाव है। जब जीवन में आत्म संयम और आत्म नियंत्रण रहे, तब मनुष्य पशु भाव के प्रभाव से स्वयं को मुक्त करने में सक्षम हो सकता है। अतः वीरभाव के मुख्य लक्षण हैं- संयम और नियंत्रण। सात्विक गुण से दिव्य भाव की उत्पत्ति होती है। दिव्य भाव में आत्म संयम, यम और नियम का बोध होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान आदि यमों और नियमों का मनुष्य अपने जीवन में कर्त्तव्य के रूप में, अपने व्यक्तित्व के एक स्वाभाविक अंग के रूप में अनुसरण करता है। मानव क्रम विकास में पशु-भाव से वीर-भाव में एक रूपान्तरण होता है और वीर-भाव से दिव्य-भाव दूसरा रूपान्तरण होता है।

सामान्यतः मनुष्य गुणों को बदल नहीं सकता। गुणों को बदलने के लिए अपने कर्मों के प्रति जागरूक होना पड़ता है। किन्तु मनुष्य यदि भाव को बदल सके तो गुणों के नकरात्मक प्रभावों को कम किया जा सकता है। तामसिक को राजसिक में बदला जा सकता है और राजसिक को सात्त्विक में। बदलने का तात्पर्य है एक की प्रबलता को कम कर दूसरे को बढ़ाना। तामसिक गुण की प्रबलता कम होगी तो राजसिक गुण की प्रबलता में वृद्धि होगी। बाद में राजसिक गुण की प्रबलता कम होगी तो सात्त्विक गुण की प्रबलता में वृद्धि होगी। अंततोगत्वा जब साधक सात्त्विक गुण को प्रबल कर दिव्य भाव प्राप्त कर लेता है, तब वह कर्ममुक्त होता है और गुण एक हो जाते हैं। जीवन में जितनी भी अवस्थाओं और अनुभूतियों से मनुष्य गुजरता है तथा जो भी प्रतिक्रियायें होती हैं, वे सभी स्वभाववश होती हैं, गुणों के कारण नहीं। तंत्र शास्त्र की ऐसी ही मान्यता है कि गुणों को बदल नहीं सकते, स्वभाव को बदल सकते हैं।

डॉ0 ईश्वर भारद्वाज

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

मानव चेतना एवं योग विज्ञान

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

धर्म, सम्प्रदाय एवं धर्म निरपेक्षता

धर्म मानव का स्वाभाविक गुण है। अर्थात् जिस प्रकार भूख लगना, श्वास लेना मानव के स्वाभाविक गुण है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक स्तर पर किसी धर्म को अपनाना मानव का स्वभाविक गुण है। जो लोग परम्परागत धर्मों को नहीं स्वीकारते, वे भी किसी न किसी मानवतावादी धर्म को अपनाते हैं। भारतीय परम्परा प्राचीन है। प्रारम्भ से ही इसके धर्म सिद्धान्त व्यापक रहे हैं। किसी भी धर्म के अनुयायी के लिए निम्न प्रार्थना स्तुत्य कही जायेगी-

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मामृतं गमय। बृह0उप0 1, 3.28।।

''अर्थात् मुझे असत् से सत्, अन्धकार से ज्योति और मृत्यु से अमरता की ओर ले जाओ।

वर्तमान समय में धर्म को लेकर भारत में ही नहीं वरन् पूरे विश्व में एक विवाद उभर रहा है। प्राय: विभिन्न धर्मों के लोग एक दूसरे के प्रति कहते हैं कि मेरा धर्म सत्य है और तुम्हारा धर्म असत्य है। सत्यता-असत्यता की कसौटी वहीं काम में लायी जाती है जहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा किसी कथन का सत्यापन-मिथ्यापन किया जाता है। जहाँ इन्द्रियज्ञान की सम्भावना नहीं है वहाँ सत्यापन-मिथ्यापन की कसौटी भी लागू नहीं होती। धर्म समाज के लिए हितकर-अहितकर, कल्याणकारी-अकल्याणकारी, हृदयस्पर्शी-बनावटी इत्यादि मूल्यों के द्वारा ही आंका जा सकता है। प्रोफेसर एडवार्ड (द फिलासफी ऑफ रेलिजन) ने कहा कि धर्म के प्रति लोगों की व्यक्तिगत धारणा चाहे जो भी रही हो परन्तु मानव ज़ीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। सचमुच धर्म विश्व में हर तरह से बहुत बड़ी चीज है।''-

धर्म शब्द हम सबके लिए ऐसा परिचित शब्द है जिसका हम सब अपने दैनिक जीवन में प्राय: प्रयोग करते हैं। सामान्य व्यक्ति को इस शब्द के अर्थ के विषय में कोई कठिनाई महसूस नहीं होती है। सामान्यत: धर्म का नाम आते ही हम हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, जैन धर्म, बौद्ध, सिक्ख एवं इस्लाम धर्म का नाम लेते हैं। साधारण व्यक्ति के लिए धर्म शब्द विशेष उपासना स्थल और साधु सन्तों की ओर संकेत करता है। पूजा पाठ, पवित्र ग्रन्थ, उपासना स्थल, धार्मिक अनुष्ठान, पूजा पाठ सम्बन्धी कर्म काण्ड धर्म का वाह्य पक्ष है। यह द्वेष संघर्ष का प्रमुख कारण बनते हैं। अत: धर्म क्या है इसे समझना आवश्यक है।

संस्कृत के देववाणी होने के कारण उसके प्रत्येक शब्द में उसका पूर्व अर्थ समाया हुआ होता है। धर्म शब्द में घृञ्' धातु है जिसका अर्थ है धारण करना। धर्म सम्पूर्ण जीव जगत् को धारण करने वाली शक्ति है। इसकी व्यापकता अद्भुत है। इस व्यापकता में यह ईश्वर का ही पर्याय बन जाता है। ईश्वर धर्म की स्थापना भी करता है वही स्वयं धर्म रूप

भी है। श्रुति भी कहती है-''धर्मों विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा''। सारे पदार्थ सम्पूर्ण प्राणी समुदाय अपने-अपने अस्तित्त्व के लिए धर्म पर ही निर्भर है। महाभारत में कहा गया है जो समाज को धारण करे वह धर्म है 'ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः''। ''धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः।'' महर्षि कणाद द्वारा रचित 'वैशेषिक दर्शन' में कहा गया है कि धर्म वह है जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति तथा उसके कल्याण में सहायक हो ''यतोभ्युदयनिः श्रेयसिद्धि स धर्मः।'' अर्थात् धर्म सम्पूर्ण मानव समाज के सर्वांगीण विकास का साधन है। मनु के अनुसार धर्म के निम्न दस अनिवार्य लक्षण है। 1. धृति अथवा धैर्य 2. क्षमा 3. संयम अथवा मनो निग्रह 4. अचौर्य अथवा चोरी न करना 5. शौच या सभी प्रकार की स्वच्छता 6. इन्द्रिय निग्रह 7. विवेकशीलता 8. विद्या सभी प्रकार का ज्ञान 9. सत्य बोलना 10. अक्रोध। ''धृतिः क्षमा दमो अस्तेयम् शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्मलक्षणम्'' (मनुस्मृति-6.92) ये लक्षण मानव के व्यक्तिगत तथा सम्पूर्ण जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए अनिवार्य है।

धर्म के लिए अंग्रेजी भाषा में प्रचलित शब्द 'रेलिजन' है। यह शब्द लेटिन भाषा के 'रिलिजेयर' नामक शब्द से निकलता है जिसका अर्थ है 'बांधना'। अर्थात् रिलिजन वह है जो मनुष्य तथा ईश्वर में सम्बन्ध स्थापित करता है और मनुष्यों को परस्पर बांधता या संगठित करता है। यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि 'धर्म' तथा 'रिलिजन' दोनों शब्दों को प्रायः संकुचित साम्प्रदायिक अर्थ में ग्रहण किया गया है और मानव समाज में संघर्ष पैदा किया गया। 'दर्शन' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है देखना, खोजना। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से इसका अर्थ है सत्य का अनुसंधान। जब दर्शन धर्म से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की सुव्यस्थित एवं निष्पक्ष परीक्षा करता है तो उसे धर्म दर्शन की संज्ञा दी जाती है। धर्म दर्शन उन सभी समस्याओं, मान्याताओं, सिद्धान्तों और विश्वासों का तर्क संगत अध्ययन तथा निष्पक्ष मूल्यांकन करता है जिनका सम्बन्ध धर्म से हैं।

सम्प्रदाय, पंथ, मजहब और रेलिजन को भी ठीक-ठीक समझने की जरूरत है। सम्प्रदाय (Sect) का तात्पर्य है किसी संस्था के अन्तर्गत सामान्य रुचि के साथ व्यक्तियों का समूह है। वेद मूलक मानव धर्म के अन्तर्गत किसी गुरु या महापुरुष स्वयं अनुभूत या परम्परा उपलब्ध विशेष उपासना-पद्धति, आचार-पद्धति बतायी जा सिखायी तो उस उपासना और आचार-पद्धति को सम्प्रदाय कहा जायेगा। गुरु ने ठीक समझकर बताया है-''सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदाय।:'' अर्थ में न कोई संकीर्णता है न ही कोई अहंकार। भारत में ही वैदिक सनातन धर्म की शाखाओं की तरह कई सम्प्रदाय जैसे सौर, शाक्त, जैन, सिक्ख आदि है। लगभग सभी सम्प्रदाय यह मानकर चलते हैं कि परमात्मा का प्रसाद व्यक्ति के निजी विश्वास नैतिक सदाचार द्वारा प्राप्त किया जाता है। बात तब बिगड़ती है जब एक सम्प्रदाय के लोग यह दुराग्रह करने लगते हैं कि उनका गुरु तो ठीक है बाकी सब गलत। अर्थात् जब एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय या अन्य धार्मिक समूहों के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार अपनाता है। इस प्रकार साम्प्रदायिक होना और शाश्वत मानव धर्म अपनाना दो

अलग-अलग विचार हैं। कुछ सम्प्रदाय अपने को धर्म के नाम से ही विख्यात करते हैं।

'पंथ' 'मजहब' और 'रेलिजन' उस उपासना एवं जीवन पद्धति के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं जो किसी पैगम्बर या विशिष्ठ महापुरुष के द्वारा प्रवर्तित की गयी है। संस्कृत में ऐसे पुरुषों को आप्त पुरुष कहा गया है। ये मत धर्म की सार्वभौम, सार्वजनीन कल्याण भावना के अनुकूल नहीं है। इनमें संकीर्णता का भाव व्याप्त है। इस कारण शान्ति एवं सद्भाव के स्थान पर विद्वेष ही फैलता है। इससे पूरा मानव समाज, पूरा विश्व आक्रान्त है।

धर्म निरपेक्षता क्या है इसे समझना आवश्यक है। अपने आपको धर्म निरपेक्ष कहना आधुनिकता एवं प्रगतिशीलता का चिह्न समझा जाता है। अत: राजनैतिक एवं धार्मिक नेता अपने संगठन के लिए 'धर्म निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग करके गर्व का अनुभव करते हैं। कुछ भारतीय विचारक धर्म निरपेक्षवाद का एक विशेष सकारात्मक अर्थ बताते हैं। इसका सम्बन्ध आध्यात्मिकता, धार्मिक सहिष्णुता तथा सभी धर्मों की समानता से हैं। डॉ0 राधाकृष्णन् के अनुसार उपर्युक्त विचार भारत की प्राचीन परम्परा (धार्मिक) के अनुरूप है। यह व्यक्तिक गुणों को समुदाय के सदस्यों के अधीन मानने के स्थान पर उनमें परस्पर सामान्जस्य स्थापित करके धर्मपरायण व्यक्तियों में एकता अथवा सौहार्द्र उत्पन्न करने का प्रयास करता है।'' (रिकबरी ऑफ फेथ पृ0 202) डॉ0 आबिद हुसैन कहते हैं कि ''धर्म निरपेक्षता का अर्थ अधार्मिकता या अनीश्वरवाद अथवा भौतिक सुखों को बल देना नहीं है।..............यह अध्यात्मिक मूल्यों की सार्वभौमता पर बल देता है जिन्हें विभिन्न उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।'' (द नेशनल कल्चर ऑफ इण्डिया पृ0 8)

प्रो0 वेद प्रकाश वर्मा धर्म निरपेक्षतावाद की उपर्युक्त कारकों से सन्तुष्ट नहीं है उनका कहना है कि धर्मनिरपेक्षतावाद को 'धार्मिक' अथवा 'आध्यात्मिक' कहना निश्चय ही स्वतोव्याघात पूर्ण है।'' (धर्म दर्शन की मूल समस्याऐं, पृ0 489) इस सिद्धान्त का मूल आधार यह भौतिक जगत् और इसमें मनुष्य का वर्तमान जीवन ही है। इसी कारण इसे 'इहलौकिक सिद्धान्त' माना जाता है। जो सिद्धान्त सामान्य अर्थ में धर्म का निषेध करता है, उसे प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा का समर्थक और धर्मों का समान रूप से आदर करने वाला सिद्धान्त मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। इसी कारण गांधी जी ने सभी धर्मों का समान रूप से आदर करने वाले अपने सिद्धान्त को ''सर्व धर्म समभाव'' की संज्ञा दी है।'' धर्म निरपेक्षता एवं 'सर्व धर्म समभाव' दोनों को समान अर्थ में प्रयोग करना बड़ी भूल है। धर्म निरपेक्षता सभी धर्मों का समान रूप से निषेध करने अथवा कम से कम उन सबके प्रति समान रूप से तटस्थ या उदासीन रहने का सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में दोनों को एक ही मान लेना भ्रामक है।

''धर्म निरपेक्षता'' में 'धर्म' शब्द का प्रयोग इसके सामान्य प्रचलित अर्थ में ही किया जाता है जिसके अनुसार हम हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, जैन, बौद्ध, इस्लाम आदि को धर्म कहते हैं। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ ''अभ्युदय'' अथवा 'स्वकर्तव्य' पालन नहीं है जिसे प्राचीन मनीषियों ने स्वीकार किया है। धर्म निरपेक्षवाद मानव जीवन में धर्म का पूर्णत:

निषेध करता है यह इस सिद्धान्त का नकारात्मक पक्ष है। धर्मनिरपेक्षतावादी नैतिकता को धर्म से पूर्णत: पृथक् एवं स्वतंत्र मानते हैं यह उचित नहीं है मनुस्मृति में वर्णित धर्म के दस अनिवार्य लक्षण नैतिकता के उद्गम है।

आज मानव समाज वैज्ञानिक अनुसन्धानों के कारण विकास के सर्वोच्च शिखर पर है लेकिन इसके साथ-साथ धर्मान्धता, कट्टरता, साम्प्रदायिकता के झगड़ों ने पूरे विश्व समाज की नींव को हिला दिया है। उदाहरण के रूप में तालिबान संकट, विश्व व्यापार केन्द्र पर हमला इसी प्रकार अन्य घरेलू झगड़े एवं साम्प्रदायिक घटनाऐं। आतंकवादी क्रियाकलापों से पूरा मानव समाज आतंकित है। ऐसे में सामाजिक सद्भाव का विकास आवश्यक है। विभिन्न धर्मों के बीच सद्भाव का होना ही धार्मिक सहिष्णुता है। महात्मा गांधी ने धार्मिक सहिष्णुता और उदारता पर आधारित विचारधारा को ''सर्व धर्म समभाव'' की संज्ञा दी है। अपने एकादश व्रतों में एक अनिवार्य व्रत के रूप में स्वीकार करते हैं। स्वामी विवेकानन्द भी इसके समर्थक थे। इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए गांधी जी ने लिखा है-''अपने-अपने धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करते हुए हमें एक दूसरे के उत्तम सिद्धान्तों को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार ईश्वर तक पहुँचने के मानव प्रयास में अपना योगदान देना चाहिए। हमें दूसरे धर्मों का उसी प्रकार आदर करना चाहिए जिस प्रकार हम अपने धर्म का सम्मान करते हैं। मेरे विचार में विभिन्न धर्म एक ही उद्यान के सुन्दर फूल तथा एक ही महावृक्ष की शाखाएं हैं। अत: वे समान रूप से सत्य हैं।'' (महात्मा गांधी 'हिन्दू धर्म' सम्पादक भारतन कुमारप्पा पृ0 260-261)

यदि सभी मनुष्य अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का भी सम्मान करना सीख ले तो संसार से वह धार्मिक कट्टरता दूर हो सकती है जो विभिन्न धर्मावलम्बियों में शत्रुता उत्पन्न करती है जिसके कारण उनमें निरन्तर रक्त रंजित संघर्ष चलता रहता है। इस दृष्टि से गांधी जी के सर्व समभाव सम्बन्धी सिद्धान्त का मानव जाति के लिए विशेष व्यावहारिक महत्त्व है। यह सिद्धान्त विभिन्न धर्मावलम्बियों में स्नेह एवं सौहार्द उत्पन्न कर सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि इसे सच्चे हृदय से स्वीकार किया जाए।

विश्व में जो भिन्न-भिन्न धर्म पाये जाते हैं उनमें कुछ समानताऐं हैं तो कुछ अन्तर भी हैं किन्तु किसी धर्म को निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। निन्दनीय है धर्मान्धता। सभी धर्म सम्मान के पात्र हैं। विभिन्न धर्मों के प्रति सद्भाव होना ही धार्मिक सहिष्णुता है। धार्मिक सहिष्णुता का भाव ही सच्चे रूप से मानव धर्म की रक्षा एवं सेवा कर सकता है। सभी धर्मों का मूल मन्तव्य मानव जाति का विकास एवं रक्षा करना है। विभिन्न धर्मों की विधियाँ इस उद्देश्य को पाने के लिए अलग-अलग हो सकती हैं लेकिन कोई भी धर्म मानवता के विकास को नकार नहीं सकता। अत: धर्म को लेकर विभिन्न विवादों को छोड़कर मनुस्मृति में वर्णित धर्म के दश लक्षणों का जो वर्णन किया गया है वे मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ मानव जाति के सर्वांगीण विकास-कल्याण के लिए निश्चय ही अनिवार्य हैं।

कोई धर्म छोटा या बड़ा नहीं है। आज आवश्कयता है धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा और समर्पण का भाव जगाने की। मानव को अपने संस्कार के अनुसार धर्म को धारण करना चाहिए। साथ ही सभी धर्मों के प्रति समादर की दृष्टि रखनी चाहिए। गांधी जी का मन्तव्य है-''मेरी आस्था जैसी गीता में है वैसे बाइबिल में भी है। मैं अपने धर्म के समान विश्व के अन्य महान् धर्मों का सम्मान करता हूँ। यदि कोई धर्माचारी अपने ही धर्म का उपहास करता है तो मुझे बहुत दु:ख होता है।'' (एस. राधाकृष्णन् इस्टर्न रेलिजन एण्ड वेस्टर्न थाट पृ0 313)

सन्दर्भ ग्रन्थ

1.वेद प्रकाश वर्मा-धर्म दर्शन की मूल समस्यायें
2.दुर्गादत्त पाण्डेय-धर्म दर्शन का सर्वेक्षण
3.हृदय नरायन मिश्र-धर्म दर्शन परिचय
4.याकूब मसीह-तुलनात्मक धर्म दर्शन
5.पी0वी0काणे-धर्म शास्त्र का इतिहास खण्ड-1
6.याकूब मसीह-समकालीन धर्म दर्शन

डॉ0 मृगेन्द्र कुमार सिंह
दर्शन-विभाग
हे0न0ब0 गढ़वाल विश्वविद्यालय
श्रीनगर गढ़वाल (उत्तरांचल)

युद्ध एवं शांति स्थापना

कार्ल मार्क्स के अनुसार "मानव इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।[1]" मानव जीवन ही संघर्षपूर्ण है जिसकी परिणति क्रांति है। सभी समाज-दार्शनिक यह मानते हैं कि युद्ध मानव की स्थाई प्रक्रिया है। जब हम विकासवाद का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि युद्ध केवल मानव या प्राणियों में ही नहीं बल्कि अविकसित प्राणियों एवं पौधों में भी अनवरत चलता रहता है। इसे विकासवादियों ने "बलवान् ही जीवित रहेंगे" की संज्ञा दी है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध स्थाई प्रक्रिया है अर्थात् युद्ध अनवरत चलते रहते हैं परन्तु समयानुसार इसका स्वरूप बदलता रहता है। विलड्यूरण्ड कहते हैं कि विश्व के इतिहास में ऐसा कोई क्षण नहीं जबकि युद्ध न हुआ हो।[2] अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति कनेडी कहते हैं "जब से इतिहास का आरम्भ हुआ है युद्ध मानव जाति का साथी रहा है। यह मानव प्रकृति का नियम रहा है न कि अपवाद।[3]" युद्ध स्थाई प्रक्रिया होने के कारण दार्शनिक इसे एक संस्था मानते हैं। किम्बल यंग के अनुसार "युद्ध मनुष्य का मानवीय संघर्ष का सबसे अधिक हिंसक रूप रहा है अत: यह प्राचीन मानवीय संस्थाओं में से एक है।[4]"

प्रश्न विचारणीय है कि युद्ध क्यों होते हैं, इसका कारण क्या है? जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों के विचारों में विषमता आ जाये वहीं से युद्ध की भूमिका की शुरूआत हो जाती है। रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक 'कुरुक्षेत्र' में लिखा है कि 'युद्ध कभी भी एकदम शुरू नहीं होते। ये तो उस प्रलयंकारी तूफान की तरह है जो सब कुछ नष्ट करता चला जाता है। तूफान के लिए पहले कोई परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं फिर तूफान अपना रूप धारण करता है।"[5] इस प्रकार युद्ध के लिए भी पहले परिस्थितियाँ बनती हैं चाहे वह राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक ही क्यों न हों। जब तक इन परिस्थितियों को अनुकूल वातावरण नहीं मिलता तब भी ये आन्तरिक एवं धीमी गति से सक्रिय रहती हैं। जिस दिन अनुकूल वातावरण व परिस्थितियाँ बन जाती है युद्ध शुरू हो जाते हैं। युद्ध हमेशा हर समय, हर स्थान पर होते रहते हैं। पशुओं में प्रकृति के अनुरूप तथा मानव में बुद्धि से युद्ध लड़ा जाता है। सर्वप्रथम युद्ध व्यक्तिगत रूप में होता है जिसे 'सत्-असत् निवारण युद्ध कहा जाता है।' धीरे-धीरे विकसित होता हुआ वर्ग, राष्ट्र एवं विश्व के सभी व्यक्ति अपने अस्तित्त्व को बचाने के लिए संघर्ष व युद्ध में लगे रहते हैं। इस पर चर्चिल ने कहा है "मानव जाति का इतिहास युद्ध पूर्ण है।"[6] अर्थात् मानव हमेशा ही अपने अस्तित्त्व के लिये

---

1. Karl Marks, Communist Manifesto.
2. उद्धृत, डॉ., एस.के.मिश्रा, युद्ध का अध्ययन, पृ0 3
3. उद्धृत, डॉ., एम.पी.वर्मा. सामारिक सिद्धान्त, पृ0 5
4. Kimball Young A Hand book of Social Psychology, P. 589
5. डॉ. रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र पृ0 5
6. उद्धृत, डॉ. एस.के.मिश्र, पूर्वोक्त

युद्ध करता आया है चाहे वह प्रकृति से हो या प्राणियों से। किसी विद्वान् ने नये इतिहास की शुरूआत के बारे में लिखा है कि "इतिहास का भव्य जुलूस हमेशा ही तलवारों की खनखनाहट और गड़गड़ाहट से शुरू होता है।[7]" इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव जाति के जन्म से ही युद्ध शुरू हुआ था यानि कि युद्ध उतना ही प्राचीन है जितनी कि मानव जाति। दार्शनिक यह भी मानते हैं कि सभ्यता का विकास युद्धों से ही होता है जिसके कारण अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई, इसलिए हेराक्लाईटस कहते हैं, युद्ध सब वस्तुओं का जनक हैं, युद्ध सबका राजा है,[8] इसी के कारण नयी-नयी सभ्यताएं जन्म लेती हैं और नष्ट होती हैं परन्तु युद्ध हमेशा से बरकरार हैं। समाज-दार्शनिक यह भी स्वीकार करते हैं कि युद्ध एक राजनैतिक घटना है परन्तु यह मानवीय व्यवहार से भी सम्बन्धित है। युद्ध क्यों होते हैं, इसका क्या कारण है, क्या इसे रोका जा सकता है? उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए राजनैतिक अध्ययन की अपेक्षा दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक दिखाई पड़ता हैं।

समाज-दर्शन केवल सामाजिक परिस्थितियों का ही अध्ययन नहीं करता बल्कि उनका दार्शनिक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से भी अध्ययन करता है। समाज-दर्शन युद्ध के मूल उद्देश्यों और कारणों का पता लगाता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि युद्ध कभी भी एकदम शुरू नहीं होते, उनके पीछे भी एक दर्शन छुपा हुआ है। कुछ मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि मनुष्य में आक्रमकता की मूलप्रवृत्ति है जिस कारण युद्ध की पृष्ठभूमि बनती है। इसलिए युद्ध हमेशा से चल रहे हैं और चलते रहेंगे। कुछ दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा मानवशास्त्री यह भी मानते हैं कि यदि युद्ध के कारणों का पता लगाया जाये तो युद्ध को रोका जा सकता है। इसलिए कहा जा सकता है कि युद्ध मानव की प्रवृत्ति नहीं है। दार्शनिक इसके साथ यह भी मानते हैं कि युद्ध के सिद्धान्त स्थाई होते हैं परन्तु देश-काल परिस्थिति अनुरूप इनका स्वरूप बदलता रहता है (जैसे प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग (परमाणु युग) के युद्धों का इतिहास)। आज सारा विश्व इस बात के लिए चिन्तित है कि आग के ढेर पर बैठे विश्व को कैसे बचाया जाये? इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध और शान्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए लिडिल हार्ट कहते हैं कि "यदि आप शान्ति चाहते हैं तो युद्ध को समझना आवश्यक है।[9]"

युद्ध की परिभाषा

युद्ध हमेशा चलने वाली प्रक्रिया है परन्तु देश-काल परिस्थिति अनुसार बदलते रहते हैं। इसलिए समाज दार्शनिकों, युद्ध नेताओं व राष्ट्राध्यक्षों द्वारा युद्ध की परिभाषाएं समयानुसार दी गई हैं जो निम्नलिखित हैं:-

---

7. वही
8. वही
9. Lidil Hart, Detterence or Defence,P. 247

रूसों के अनुसार" युद्ध दो राज्यों के मध्य सशस्त्र सेनाओं द्वारा किया जाने वाला संघर्ष होता है।[10]"

सिसरो के अनुसार" युद्ध वह दशा है जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग का शस्त्रों द्वारा विरोध करते हैं।"[11]

हाब्स के अनुसार" युद्ध वास्तविक संघर्ष में निहित नहीं होता, बल्कि शान्ति का आश्वसन मिलने के समय से पहले चलते रहने वाले शत्रुतापूर्ण भावों में निहित होता है।[12] सन-जू के अनुसार "युद्ध राज्य का एक श्रेष्ठ कार्य है, जीवन मरण का क्षेत्र है, सुरक्षा एवं विनाश का मार्ग है; इसका अध्ययन विशेष परिश्रम से करना चाहिए।"[13] रूसी मानवशास्त्री मेलिनोव्सकी के अनुसार "युद्ध वह है जिसमें दो स्वतन्त्र राजनैतिक दल अपनी संगठित सैनिक शक्ति के बल पर अपनी-अपनी नीतियों का पालन करवाने की कोशिश करते हैं।[14]"

क्विन्स के अनुसार "युद्ध एक ऐसी वैधानिक स्थिति है जो दो या दो से अधिक शत्रु देशों को समान रूप से सशस्त्र सेना द्वारा अपने संघर्ष को चलाते रहने की अनुमति प्रदान करता है।"[15]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि युद्ध वह स्थिति है जिसमें दो या दो से अधिक राज्य या राष्ट्र सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग करते हुए हिंसक कार्यवाही करते हैं तथा अपना-अपना उद्देश्य पूरा करके हारे हुए राष्ट्र पर अपनी इच्छा थोपते हैं।

यहाँ पर भी यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि कुछ दार्शनिक क्रान्ति, संघर्ष, लड़ाई तथा अभियान को युद्ध का ही रूप मानते हैं जबकि इनमें बहुत अन्तर हैं। यह सभी मानते हैं कि समाज परिवर्तनशील है। कई बार समाज में धीरे-धीरे परिवर्तन होता है और कभी-कभी आकस्मात्। इसमें पहले को उद्विकास तथा दूसरे को क्रान्ति कहते हैं। क्रान्ति में परिवर्तन एकदम दिखाई पड़ता है। किम्बल यंग कहते हैं "जब राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एकदम नये रूप परिवर्तन करता है क्रान्ति कहलाती है।" संघर्ष युद्ध का छोटा रूप है। संघर्ष केवल एक समुदाय, समूह तक सीमित होता है। जब यह संघर्ष भयानक हो जाये और विकराल रूप धारण कर ले तब उसे युद्ध की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। लड़ाई व्यक्तिगत या समूह के रूप में लड़ी जाती है जिसमें कोई एक उद्देश्य होता है। यह भी संघर्ष की तरह युद्ध का छोटा भाग है। अभियान को भी युद्ध की कार्यवाही का ही एक हिस्सा माना जाता है। जब युद्ध होता है तो राष्ट्र अपने उद्देश्यपूर्ति हेतु अनेक प्रकार की

---

10. वही, पृ0 5
11. उद्धृत, डॉ. हरवीर सिंह, भारत की सुरक्षा समस्या, पृ0 278-79
12. वही
13. उद्धृत, डॉ. एस.के. मिश्र, पूर्वोक्त, पृ05
14. उद्धृत, डॉ. हरवीर सिंह, पूर्वोक्त, पृ0 279
15. वही, पृ0 278

कार्यवाही करता है जिसे अभियान कहते हैं। यदि दर्शनिक रूप से देखा जाये तो युद्ध अभियान, क्रान्ति, संघर्ष, लड़ाई, छापे आदि युद्ध के छोटे रूप हैं लेकिन युद्ध के दो भयंकर रूप युद्ध तथा शीत युद्ध ही माने गये हैं।

युद्ध की विशेषताएं

विभिन्न समाज एवं सैन्य दार्शनिकों द्वारा दी गई परिभाषाओं से कुछ विशेषताएं स्पष्ट झलकती हैं जो निम्नलिखित हैं:-

1 युद्ध सब वस्तुओं का जनक व राजा है।

2 युद्ध समाज के विकास का आधार तथा कारण है, इस कारण यह समाज एवं राज्य का श्रेष्ठ कार्य है।

3 युद्ध में एक पक्ष दूसरे पक्ष पर अपनी इच्छायें थोपने की कोशिश करता है।

4 युद्धों की शुरूआत दो या दो से अधिक देशों के वैचारिक मतभेदों का कारण है।

5 युद्ध के कुछ स्वार्थ निहित होते हैं।

6 युद्धों द्वारा समाज तथा राज्य के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक तकनीकी की पूर्ति की जाती है।

7 युद्धों के भय से राष्ट्रों में शक्ति सन्तुलन बना रहता है। जिस कारण विकास तथा अनुसन्धनों में तेजी आती है जैसा आज सारे विश्व में दिखाई पड़ रहा है।

8 युद्ध के कारण युद्ध में प्रयोग होने वाले शस्त्रों एवं साधनों की परीक्षा की जाती है जैसे कारगिल युद्ध में बोफोर्स तोप की परीक्षा हुई और भारत सरकार ने उसे युद्ध के लिए शामिल कर लिया।

9 लिडिल हार्ट के अनुसार शान्ति को जानने से पहले युद्ध को समझना आवश्यक है क्योंकि युद्ध की जानकारी ही शान्ति का मार्ग-दर्शन करता है।

10 युद्ध के द्वारा नागरिकों एवं सैनकों में आत्मत्याग, कर्त्तव्य-परायणता, बलिदान आदि मानवीय गुणों का पता चलता है।

11 युद्ध के दौरान की गई भूल का बाद में सुधार किया जाता है राष्ट्र उसके प्रति जागरूक भी रहता है।

जनरल लिंडसे ने उपर्युक्त विशेषताओं को कुछ ही शब्दों में सीमित कर दिया है "युद्ध द्वारा मानसिक प्रेरणा मिलती है जिस कारण आविष्कार होते हैं, वैज्ञानिक और बुद्धिजीवी वर्ग शान्ति स्थापना में लग जाते हैं लेकिन जब युद्ध शुरू हो जाये तो यह वर्ग

अपनी सारी शक्ति को उसमें झोंक देते हैं, फिर वे इतनी ताकत के साथ तकनीकी सुधार और भौतिक साधनों में वृद्धि करते हैं कि शान्तिकाल में उसकी कल्पना नहीं की जा सकती।" इसी प्रकार मोल्टेक ने भी युद्ध की विशेषताएं बताते हुए कहा है, "स्थाई शान्ति केवल स्वप्न मात्र है और यह स्वप्न बहुत बुरा हैं। युद्धों द्वारा गुणों का विकास तथा अन्त दोनों होते हैं। इसके साथ लोगों की देश के प्रति साहस, कर्त्तव्य परायणता, त्याग, समर्पण की भावना प्रकट होती है।[16]"

युद्ध की भयावह स्थिति को देखते हुए आज सारा विश्व चिन्तित है कि युद्धों को कैसे रोका जाये और विश्व में शान्ति स्थापित हो। इस पर समाज एवं नीति-दार्शनिकों तथा सैन्य एवं सुरक्षा विशेषज्ञो ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं।

शांति स्थापना

समाज दार्शनिकों के समक्ष एक बड़ी विडम्बना यह है कि एक देश अपने नागरिकों में शांति चाहता है, परन्तु जब विश्व शांति की बात उठती है तो वह उसके विरोध में अपना मत सबसे पहले देता है और तरह-तरह की बातें, वायदे, सीमाओं, आदि की बातों को उठा देता है, कटाक्ष करता है या किसी देश की मध्यस्ता करवाता है या करता है जो शांति भंग करने के मुख्य मुद्दे हैं। इस कारण सभी राष्ट्र किसी न किसी राष्ट्र के दुश्मन बने बैठे हैं। ऐसा क्यों? यह समझना अति कठिन है। यदि इसे समझना है तो हमें लिडिल हार्ट की बात, "यदि हम शांति चाहते हैं तो सबसे पहले युद्ध को समझना होगा" को जानना अति आवश्यक है। जनरल क्लाजविट्स कहते हैं "विजय का मूल्य रक्त है। युद्ध एक हिंसात्मक कार्यवाही है जिसे अधिक सीमा तक प्रयोग करना चाहिए।" इसी तरह किसी अन्य ने भी कहा है कि युद्ध शत्रु को पूर्णतः नष्ट करना नहीं बल्कि अन्य तरीकों से उसे नष्ट करना है। क्लाजविट्स की परिभाषा द्वितीय विश्व युद्ध की याद दिलाता है। जब जापान के हिरोशिमा, नागासाकी नगर नष्ट कर दिये गये तब लिडिल हार्ट की बात को जाना गया कि युद्ध तो विनाशक है विश्व में शांति हो और U.N.O. की स्थापना हो गई। अर्थात् युद्ध के बारे में जाना गया कि युद्ध क्या है। यदि हम विश्व शांति चाहते हैं तो हमें सबसे पहले युद्ध के कारणों को जानना होगा जिसका समाधान वैज्ञानिक अध्ययन से किया जा सकता है।[17] यह सभी जानते हैं कि ठीक ही कहा है कि विश्व में युद्ध की समस्या को उस समय तक हल नहीं किया जा सकता जब तक इस समस्या की वैज्ञानिक खोज न कर ली जाये और मानव सम्बन्धों के बारे में अधिक ज्ञान उपलब्ध न हो जाये।

आज सारे विश्व में लोगों की भलाई के लिए साधनों को बहुत कम खर्च किया जाता है जबकि सुरक्षा के मामलों में अधिक। यही कारण है कि आज तक इस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया कि युद्ध के कारण क्या हैं', क्यों होते हैं? कुछ लोग कहते हैं कि

---

16. विस्तृत द्रष्टव्य, डॉ. रोहतास कुमार, युद्ध और युद्ध के कारण (शोध पत्र)
17. डॉ. रामधारी सिंह दिनकर, पूर्वोक्त, संदर्भ, 5

केवल एक व्यक्ति युद्ध के लिए उत्तरदायी होता है। जैसे अकेले नेपोलियन ने सारे यूरोप में तबाही मचा दी थी और 'शैतान की उपाधि' से विभूषित किया गया। इसी प्रकार कैशर को प्रथम विश्वयुद्ध तथा हिटलर को द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। इसके विरोध में रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं कि केवल एक व्यक्ति युद्ध के लिए जिम्मेदार नहीं हो सकता इसके लिए समाज, राष्ट्र, परिस्थितियाँ, समय आदि की भूमिका भी प्रमुख होती है। जिन्हें कभी भी नकारा नहीं जा सकता। इसलिए व्यक्ति विशेष युद्ध के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकता।[18]

शांति स्थापना हेतु G.W.Allport महोय ने Psychological Bulletin अपने शोध-पत्र में Human Nature and peace (मानव प्रकृति एवं शांति) में दस सुझाव दिये हैं और बहुत से लोगों ने उसकी सराहना की जो निम्नलिखित है:-

१.युद्ध कोई जरूरी नहीं तथा नैतिक शिक्षा का प्रचार:- कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि कुछ लोग स्वभाव से युद्धप्रिय होते हैं अर्थात् युद्ध जन्मजात प्रक्रिया है। इसे 'बुरा खून' भी कहा जाता है। लेकिन मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि युद्ध कोई जन्मजात प्रक्रिया नहीं है क्योंकि कोई भी प्रजाति, समाज या समूह आवश्यक रूप से युद्ध प्रेमी नहीं होता। युद्ध के लिए लोगों के स्वार्थ, हताशायें, बदले की भावना, इर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि निहित होते हैं। यदि समाज में युद्ध को समाप्त करना है तो सुचारु रूप से लोगों में नैतिक शिक्षा का प्रचार करना होगा।

२.भावी पीढ़ी और भविष्य:- यदि हम विश्व शांति चाहते हैं तो हमें ऐसी योजनाओं को कार्यान्वित करना पड़ेगा जिसमें भावी पीढ़ी का भविष्य भी सामने रखना होगा। यह सभी दार्शनिक मानते हैं कि बालक गीली छड़ी के समान होता है जिसे चाहो किसी तरह मोड़ा जा सकता है। इसके लिए सभी देशों को एक मत होकर साम्राज्यवाद, पक्षपात, असुरक्षा और अज्ञानता का विरोध करना होगा तथा भावी पीढ़ी के भविष्य को उज्ज्वल करना होगा।

३.समानता का प्रचार:- विश्व शांति स्थापना हेतु यह अति आवश्यक है कि कोई भी राष्ट्र, संस्थायें एक दूसरे के प्रति पक्षपात नहीं करेंगे, सभी समानता का व्यवहार करेंगे। जब सभी देशों में समानता का प्रचार होगा, भेदभाव दूर होगा तो विश्व में शांति स्थापना का पहला कदम होगा। यह सभी जानते हैं कि धर्म, प्रजाति तथा राष्ट्र भेदभावपूर्ण नीति अपनाते हैं तो वे तनाव को बढ़ा देते हैं और युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।

४.घृणा एवं पक्षपात पर रोक:- विश्व शांति के लिए सभी राष्ट्रों को एक दूसरे के प्रति घृणा एवं पक्षपात पर रोक लगानी होगी। इसके लिए लोगों को शिक्षित करना आवश्यक है तथा साथ में युद्ध अनुभवों से शिक्षा लेनी होगी। जब लोग इस बात को

---

18. G.W. Allport, Human Nature and Peace, Psychological Bulitin.

स्पष्टतः जानेगें कि सभी लोगों की समस्याएं आवश्यकतायें, इच्छायें, आकांक्षायें समान है तो वे अपने आप ही युद्ध से दूर भागेंगे और भाईचारे की भावना बढ़ेगी।

५.उचित दण्ड एवं पुरस्कारः- जब युद्ध होता है तो हम एक व्यक्ति विशेष को दोषी नहीं ठहरा सकते। इसके लिए सूझबूझ का सहारा लेते हुए यह जानना होगा कि कौन सा राष्ट्र दोषी है जो राष्ट्र युद्ध के लिए दोषी है उसे उचित दण्ड देना होगा और निर्दोष को उचित पुरस्कार।

६.राष्ट्र एक दूसरे के स्वशासन में हस्तक्षेप न करें:- यदि युद्ध को रोकना है तो सभी देशों को इस बात का पालन करना पड़ेगा कि वे किसी दूसरे देश या राष्ट्र के स्वशासन में हस्तक्षेप नहीं करेगें। जब कोई राष्ट्र किसी एक दूसरे राष्ट्र के स्वशासन में हस्तक्षेप करते हैं तो लोगों में एक दूसरे राष्ट्र के प्रति घृणा, द्वेष की भावना पनपती है और युद्ध की भूमिका तैयार होती जाती है। जैसे भारत के स्वशासन में पाकिस्तान द्वारा टांग अड़ाना। हो सकता है कि यह कभी युद्ध में परिवर्तित हो जाये।

७.आत्म सम्मान व पुनर्वासः- जब युद्ध के बाद हार जीत का निर्णय हो जाये या आत्म समर्पण किया जाता है तो शत्रुपक्ष के लोगों का पूर्ण सम्मान करते हुए उनकी पुनर्वास की उचित व्यवस्था करनी चाहिए। इससे उनके आत्मसम्मान को ठेस नहीं पहुँचेगी। जो देश या राष्ट्र ऐसा नहीं करते हैं तो हारे हुए लोग कभी भी भड़क सकते हैं और युद्ध शुरू हो सकता है। जब हम किसी का सम्मान करते हैं तो हो सकता है कि वे हमारी विचारधारा में शामिल हो जायें और शांति की राह पर चलें। आज जब भी युद्ध शुरू होता है तो विजित देश सबसे पहले पुनर्वास की योजना को प्राथमिकता देता है। यह उसका कर्त्तव्य भी है।

८.सर्वसाधारण का सम्मानः- यदि हम विश्व शांति चाहते हैं तो हमें सर्वसाधारण का सम्मान करते हुए उनकी आवश्यकताएं, इच्छाएं, आंकाक्षाओं को ध्यान में रखना होगा। इस प्रकार वे अपना जीवन शांतिपूर्वक बीताते हुए शांतिपूर्वक जीवन निर्वाह करते रहें।

९.सामूहिक सुरक्षा के लिए बड़ी-बड़ी ईकाइयों की स्थापना करनाः- आज विश्व वैश्वीकरण की तरफ अग्रसर हो रहा है। सभी लोग संचार साधनों के माध्यम से एक दूसरे के इतने नजदीक आ गये हैं कि वे अन्यों को पहचानने लगे हैं। यदि सभी राष्ट्र वैश्वीकरण ध्यान में रखते हुए राष्ट्र की सीमाओं को सुरक्षा दें, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारें स्थापित हों तो विश्व शांति को बढ़ावा मिल सकता है। इसका उदाहरण यूरोप की एक समान मुद्रा 'यूरो' तथा जर्मनी का एकीकरण इसका पहला कदम है।

१०.वायदे और सच्चाईयाँ:- जब युद्ध समाप्त होता है तो दोनों राष्ट्र अपने-अपने नागरिकों से किये वायदे पूरे करें तथा सच्चाई सभी देशों के सम्मुख प्रकट की जायें। इससे एक दूसरे राष्ट्र के लोगों में घृणा, द्वेष की भावना दूर होगी तथा शांति स्थापना में योगदान मिलेगा।

शांति स्थापना के अन्य सुझाव

समाज दार्शनिकों ने शांति स्थापना के कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किये हैं जो निम्नलिखित हैं:-

१.विश्वशांति की शिक्षा प्रदान करना:- दार्शनिक यह मानते हैं कि मानव मन कोरी पट्टी के समान होता है। वह केवल अपने अनुभवों द्वारा जीवन जीने की पद्धति सीखता है। जिस प्रकार वह युद्ध सीखता है उसी प्रकार शांति से रहना भी सीख सकता हैं। आज यदि लोगों को आग में जलते विश्व की तस्वीर दिखाई जाये तथा शांति की शिक्षा दी जाये तो लोग अपने अस्तित्त्व के बारे में सचेत हो जायेंगें। ऐसा केवल एक देश न करके विश्व के सभी देश करे तो विश्व में शांति स्थापना कायम की जा सकती है।

२.अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बढ़ावा देना:- यह सभी जानते हैं कि युद्ध दो देशों के बीच तनाव की स्थिति है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी देश अपने पूर्वाग्रहों, रूढ़ियों को त्यागें और सम्बन्धों में अच्छी प्रकार सुधार लायें तो विश्व के लोग एक दूसरे के नजदीक आयेंगें इस कारण लोग भी शांति से रहना चाहेंगे। इसी मत का समर्थन दो हजार साल पहले बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने भी किया था।[19]

३.सामाजिक आर्थिक कल्याण:- यदि विश्व में शांति स्थापित करनी है तो सभी देशों को मिल कर अपने रक्षा बजट में कटौती करके मूल समस्याओं जैसे गरीबी, बेरोजगारी, बीमारी, भूखमरी, असुरक्षा की भावना, हताशायें दूर करें। जब सभी देश ऐसा सोचेगें तो विश्व अपने आप शांति के पथ पर अग्रसर होगा। हमारे महामहिम राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम ने विश्व शांति हेतु उपर्युक्त बातों को तीन सूत्रों में बांध दिया है यथा प्रारम्भिक स्तर पर बच्चों को नैतिक शिक्षा दी जाये, आर्थिक सम्पन्नता हो, सभी आध्यात्मिक आन्दोलन में सम्मलित हों। जब समाज इनका पालन करेगा तो विश्व में शांति स्थापित हो सकती है।

गहराई से अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि जहाँ भारतीय दर्शन, ऋतु, ऋण, ज्ञान की बात करता है, यदि इनको सही रूप में समझा जाये और प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में धारण करे तो विश्व शांति स्थापित हो सकती है। सारा भारतीय दर्शन इस बात पर आग्रह करता है कि संसार के सभी लोग सुखी व नीरोग रहें जो विश्व शांति का रूप है। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन कहते हैं कि जहां पर 'मैं' और 'तुम' हम और 'वे' आ जाते हैं वहीं सामाजिक संघर्ष तथा राग-द्वेष पैदा होते हैं जिससे व्यक्विादी तथा अहम् जन्म ले लेते हैं जो अशांति का प्रतिफल है। वर्तमान में दूसरे खाड़ी युद्ध का यही मुख्य कारण रहा है। नागार्जुन कहते हैं यदि हम स्वार्थ की जगह परार्थ, व्यक्ति की जगह समाज को रखेंगे तो

---

19. डॉ. हरनारायण मिश्र, नागार्जुन की शून्यता की अवधारणा में विश्व शांति, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के 48वे अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण, 27 से 30 [illegible] 2003.

शांति स्थापना होगी अन्यथा नहीं। फिर कहते हैं एक सीमित दृष्टि से अपने को बांध कर न रखो वरना विश्व शांति एक स्वप्न बन कर रह जायेगी।[20]

शोध पत्र के अन्त में हम यह कहना चाहेंगे कि U.N.O. ने आलपोर्ट महोदय की बातों को तो स्वीकार किया है परन्तु अफगानिस्तान-अमेरिका युद्ध तथा दूसरे खाड़ी युद्ध में U.N.O. क्या अमेरिका को उचित पुरस्कार या दण्ड देगा। अमेरिका ने आम जनमानस का सम्मान नहीं किया और शहरों पर बम्बारी की, क्या उचित था? क्या U.N.O. इनका पुनर्वास करेग? जब अमेरिका ने U.N.O. के नियमों की अवहेलना ही है, क्या यह U.N.O. के अस्तित्त्व पर प्रश्न चिह्न नहीं है? यदि विश्व में ऐसे देशों पर अंकुश न लगाया गया तो विश्व शांति की बात तो दूर हो सकता है पृथ्वी वाष्प बन जायेगी।

निष्कर्ष तौर पर यह कहा जा सकता है कि शांति स्थापना के लिए मानव को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक क्षेत्र में परिवर्तन करने होंगे तथा समानता लानी होगी। सभी क्षेत्रों में मानव का सम्मान करते हुए उसे साध्य समझेंगे तो विश्व में शांति स्थापना अवश्य होगी।

डॉ. रोहतास कुमार सुथार
एम.फिल. पीएच.डी., डी.लिट् (दर्शनशास्त्र)
प्रवक्ता, राजकीय महाविद्यालय आदमपुर
हिसार (हरियाणा) 125052

20. वही.

प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा

किसी भी समाज अथवा देश की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि उस समाज अथवा देश में स्त्रियों की दशा कैसी है? इस दृष्टि से भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही स्त्रियों को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इस सम्बन्ध में अल्तेकर का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि विश्व की लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन करते समय हम जितने प्राचीनतम काल की ओर जाते हैं, स्त्री का स्थान समाज में उतना ही असन्तोषजनक पाते हैं। जबकि इसके विपरीत जब हम भारतीय सभ्यता के प्राचीनतम काल पर दृष्टिपात करते हैं, तो स्त्रियों का स्थान समाज में उतना ही महत्त्वपूर्ण पाते हैं।[1]

भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति शिक्षा प्राप्त करती थी। ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में वे किसी भी प्रकार पुरुषों से कम नहीं थी। वैदिक साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि पुरुषों की भाँति उनका भी उपनयन संस्कार होता था और वे विना किसी भेदभाव के उच्चतम आध्यात्मिक और सांस्कृतिक ज्ञान प्राप्त करती थी। ऋग्वेद में लगभग 20 ऐसी विदुषी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने अनेकानेक सूक्तों की रचना की थी। इनमें लोपामुद्रा, विश्ववारा, आपाला, इन्द्राणी, रोमशा, सिकता, निवावरी, काक्षीवती घोषा तथा उर्वशी आदि स्त्रियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] अन्यत्र ऋग्वेद में विदुषी पुत्री का विवाह विद्वान् पति के साथ करने की अनुमति दी गई है।[3] यजुर्वेद के अनुसार कन्या का विवाह ब्रह्मचार्यवस्था समाप्त कर लेने के पश्चात् ही करना चाहिए।[4] जबकि अथर्ववेद के अनुसार विवाहोपरान्त वही स्त्री सफल हो सकती है जिसे ब्रह्मचर्य काल में भली-भाँति शिक्षित किया गया हो।[5] चूँकि इस काल में यज्ञों एवं धार्मिक अनुष्ठानों का बहुत महत्त्व था और व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ ही यज्ञ कर सकता था।[6] इसलिए स्त्रियों को विशेष रूप से वैदिक साहित्य की शिक्षा दी जाती थी ताकि वे धार्मिक क्रियाओं में अपने पति के साथ भाग ले सकें उपनिषदों में भी अनेक ऐसी विदुषी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं जो दर्शन, तत्त्वज्ञान और तर्क में निपुण थी। वृहदारण्यक उपनिषद् में विदेहराज जनक की राजसभा में गार्गी और याज्ञवल्क्य के बीच वाद-विवाद का वर्णन मिलता है जिसमें गार्गी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा, विलक्षण तर्क शक्ति, मेधा और सूक्ष्म विचार तन्तुओं से दुरूह प्रश्नों की बौछार करके याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान् महापुरुष को मूक

1. ए० एस० अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० 155
2. ऋग्वेद, 1/179, 5/28, 8/91, 9/86, 10/39-40, 10/95, 1/126/7, 10/86
3. वही, 3/5/65
4. यजुर्वेद, 8/1, 'उपयाम गृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा' विष्णऽउरूगायैष सोमस्तं रक्षस्व मा त्वादभन।।
5. अथर्ववेद, 9-5-18, 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'।
6. शतपथ ब्राह्मण, 5/1/6/10, 'अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः'।

कर दिया था।[7] याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी अत्यन्त विदुषी और ब्रह्मवादिनी महिला थी जो सांस्कृतिक मोहमाया से दूर रहकर आध्यात्मिक चिन्तन में लीन रहती थी।[8] इसके साथ-साथ उपनिषदों में कुछ ऐसी विशिष्ट क्रियायों का उल्लेख मिलता है जिसे लोग विदुषी कन्याओं को पुत्री के रूप में प्राप्त करने की कामना से करते थे।[9] इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में स्त्रियाँ पुरुषों के समान ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थी और विना किसी भेदभाव के उच्चतम बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करती थी।

सूत्रसाहित्य में भी स्त्री शिक्षा का उल्लेख मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार स्त्रियों का भी समावर्तन संस्कार होता था, यह स्पष्ट करता है कि उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था।[10] आपस्तम्ब ने भी पण्डिता स्त्रियों के परिपक्व ज्ञान और उनकी विद्वत्ता की चर्चा की है।[11] गोभिल और काठक गृह्यसूत्र से पता चलता है कि दुल्हिने पढ़ी-लिखी होती थी, क्योंकि विवाह संस्कार के समय उन्हें मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता था।[12] काठक गृह्यसूत्र के अनुसार स्त्रियों को संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी।[13] मानव गृह्यसूत्र में भी इसका उल्लेख मिलता है।[14] इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकाल में पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती थी। हारीत के अनुसार इस काल में दो प्रकार की स्त्रियाँ होती थी- एक सद्योवधू और दूसरी ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू स्त्रियाँ वे होती थी जो विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन करती थी। इन्हें प्रार्थना और यज्ञों के लिए आवश्यक महत्त्वपूर्ण मन्त्र पढ़ाये जाते थे तथा संगीत और नृत्यकला की भी शिक्षा दी जाती थी। तत्पश्चात् वे विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थी। जबकि ब्रह्मवादिनी वे होती थी जो विवाह एवं गार्हस्थ्य जीवन का त्याग कर आजीवन विद्याध्ययन करती हुई अनवरत तपस्या और अनुशासन का जीवन व्यतीत करती थी।[15] पाणिनि के अनुसार स्त्रियाँ मीमांसा एवं व्याकरण शास्त्र जैसे जटिल विषयों का भी अध्ययन करती थी।[16] उनके अनुसार आपिशलि आचार्य के व्याकरण को पढ़ने वाली 'आपिशला' और काशकृत्स्नि आचार्य की मीमांसा का अध्ययन

---

7. बृहदारण्यक उपनिषद, 3/6/8
8. वही, 3/4/3, 4/51,
9. वही, 6/4/17, 'अथ या इच्छेत-दुहिता में पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै।'
10. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3/8/11,
11. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, 2/2/29/12,15,
12. गोभिल गृह्यसूत्र, 2/1/19-20, काठक गृह्यसूत्र, 25/23,
13. काठक गृह्यसूत्र, 17/2,
14. मानव गृह्यसूत्र, 1-9-29
15. हारीत धर्मसूत्र, 21/20-24, 'द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च।'
16. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 103

करने वाली स्त्री 'काशकृत्स्ना' कहलाती थी।[17]

महाकाव्यों से ज्ञात होता है कि स्त्रियों की शिक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। रामायण में राम के युवराज पद पर अभिषेक के अवसर पर कौशल्या के यज्ञ करने का[18] और बालि के युद्ध में प्रस्थान करने से पूर्व उसकी पत्नी तारा के द्वारा यज्ञ का उल्लेख मिलता है।[19] जिससे पता चलता है कि ये दोनों नारियाँ मन्त्रविद् (वैदिक साहित्य की ज्ञाता) थी। सीता प्रतिदिन वैदिक सूक्तों द्वारा सन्ध्या-पूजन करती थी।[20] महाभारत के अनुसार कुन्ती अथर्ववेद[21] में गान्धारी अर्थशास्त्र[22] में द्रौपदी नीतिशास्त्र[23] में तथा सुभ्रदा, दमयन्ती, विदुला एवं सत्यवती राजनीतिशास्त्र[24] में प्रवीण थी। महाभारत में द्रौपदी और अरुन्धती को पण्डिता और ब्रह्मवादिनी कहा गया है।[25] वैदिक शिक्षा के अतिरिक्त स्त्रियों को इतिहास एवं पुराण आदि विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी।[26] क्षत्रिय स्त्रियों को सैन्य विद्या की शिक्षा भी दी जाती थी ताकि आवश्यकता पड़ने पर युद्ध क्षेत्र में वे अपने पति का साथ दे सके। कैकेयी इसका उदाहरण है। कौटिल्य अर्थशास्त्र मे भी स्त्रियों द्वारा सैन्य शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों को संगीत, नाट्य, वाद्य तथा चित्र आदि ललित-कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा को अर्जुन से संगीत की शिक्षा दिलाई थी।[27] शुक्र ने भी अपनी पुत्री देवयानी को अपने आश्रम में संगीत, नृत्य एवं वाद्य की शिक्षा दी थी।[28]

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में भी स्त्रियों के विदुषी एवं सुपण्डिता होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। बुद्ध द्वारा स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दिये जाने के कारण भी अनेक स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर मिला। जिससे बहुत सी स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों में ज्ञान प्राप्त करने लगी। थेरीगाथा में लगभग 50 ऐसी थेरियो (स्थविर-स्त्रियों) के उल्लेख मिलते हैं जो कवियत्रियाँ थी। इनमें

---

17. वही, पृ0 103
18. रामायण, 2/20/15, 'सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।' अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवित् कृतमंगला।।
19. वही, 4/16/12, 'ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्धिजथैषिणी।'
20. वही, 5/15/48, 'सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।' नदीं चेमां शुभ्रजलां सन्ध्यार्थ वरवर्णिनी।।
21. महाभारत, 3/305/20,
22. वही, 1/57/94,
23. वही 3/33/57-58,
24. वही, 1/96/1, 3/57/11, 5/130/5, 5/88/74, 5/134/12, 17/1/7,
25. वही, 4/1/3, 12/2/83, 12/14/6-39
26. वही, 13/5/2, रामायण, 2/26/4, 2/39/8-9
27. वही, 4/11/8,
28. वही, 1/17/28, 4/20/12,

से 32 ऐसी थी जो आजीवन ब्रह्मचारिणी रही थी और 18 ने वैवाहिक जीवन के पश्चात् भिक्षु व्रत ग्रहण किया था। इनमें शुभा, सुमेधा और अनोपमा के नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये महिलाएं सम्भ्रान्त कुलों में उत्पन्न हुई थी और अनेक राजकुमार इनसे विवाह के लिए उत्सुक रहते थे, परन्तु इन्होंने सांसारिक जीवन का परित्याग कर भिक्षुणी जीवन व्यतीत करना स्वीकार किया।[29] इनके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों में खेमा, सुभद्रा, अमरा, उदुम्बरा, भद्रकण्डलकेशा, चन्दना, सुक्का, जयन्ती तथा धम्मदिन्ना आदि स्त्रियों के नाम मिलते हैं जो अपने ज्ञान, विद्वता एवं तर्कविद्या के लिए प्रसिद्ध थी। भिक्षुणी खेमा विनय में पारगंत थी। वह अत्यन्त विदुषी, बुद्धिमती, वाग्मी, सुशिक्षिता तथा प्रतिभाशाली महिला थी। उसकी ख्याति इतनी दूर-दूर तक फैली हुई थी कि उसकी विद्वता की प्रशंसा सुनकर कोशल नरेश प्रसेनजित स्वयं उसकी सेवा में गये ओर अनेक दर्शनिक विषयों पर उससे विचार-विमर्श किया।[30] सयुक्तनिकाय के अनुसार भिक्षुणी सुक्का वाग्मिता में अत्यन्त प्रवीण थी। धम्मदिन्ना 'धम्म' में पारंगत महिला थी और उसे उन भिक्षुणियों में सर्वप्रधन माना जाता था जो महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करने के लिए उपयुक्त क्षमता रखती थी। जयन्ती ने स्वयं महावीर स्वामी से वाद-विवाद किया था और बाद में जैन धर्म में दीक्षित हो गयी थी।[31] चन्द्रना नामक स्त्री ने सांसारिक भोग-विलास का त्याग कर जैन धर्म स्वीकार कर लिया था और अपनी विद्वता के कारण महावीर स्वामी के समय मे जैन स्त्री संघ की अध्यक्षा बन गयी थी। भद्रकुण्डलकेशा एक अत्यन्त उच्चकोटि की विदुषी महिला थी। वह पहले जैन धर्म की अनुयायी थी परन्तु बुद्ध के अन्यतम शिष्य सारिपुत्र के सम्पर्क में आने पर उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी।[32] एक जातक में उदुम्बरा को शिक्षिता कहा गया है।[33] वही दूसरे जातक में अमरा को एक विदुषी एवं गृह कार्य में कुशल महिला के रूप में प्रदर्शित किया गया है। एक अन्य जातक के अनुसार एक जैन पिता की चार पुत्रियाँ देश भर में भ्रमण करती हुई लोगों से दर्शन-शास्त्र पर वाद-विवाद करती थी।[34] इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में संघमित्रा, अंजली, उत्तरा, काली सुपत्ता, चन्ना, पटच्चरा, उपाली और रेवती आदि अनेक ऐसी विदुषी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं जो विनयपिटक में पारंगत थी और उसका अध्यापन भी बड़ी योग्यता के साथ कर सकती थी। स्त्रियाँ केवल साहित्यिक शिक्षा ही प्राप्त नहीं करती थी अपितु वे नृत्य, संगीत एवं चित्रकला आदि विद्याओं में भी निपुणता प्राप्त करती थी। राजा रुद्रायन की पत्नी चन्द्रप्रभा प्रसिद्ध नृत्यागंना थी।[35]

---

29. जे. आई0 एच0, 32/3
30. सयुक्तनिकाय, 12-20,
31. भगवतीसूत्र, भाग 3, पृ0 257,
32. ज़ातक संख्या, 542
33. जातक, 6/25,
34. जातक संख्या, 301,
35. रुद्रायणावदान, पृ0 470,

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी शिक्षण कार्य करती थी। पाणिनि के अनुसार जो स्त्रियाँ अध्यापन कार्य करती थी वे 'आचार्या' और 'उपाध्याया' कहलाती थी।[36] पाणिनि ने महिला-विद्यालय (छात्रीशाला) का भी उल्लेख किया है।[37] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्त्री आचार्यो का उल्लेख मिलता है।[38] शांखायन गृह्यसूत्र में भी गार्गी, वाचक्नवी तथा वडवा आदि स्त्रियों के विषय में कहा गया है कि वे शिक्षिकाएं थी।[39] बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार भी स्त्री अध्यापिकाएं होती थी।[40] अवदानशतक में पद्मावती नामक एक उपाध्यायिका का उल्लेख मिलता है।[41] पतंजलि ने भी महिला अध्यापिकाओं का उल्लेख किया है। उन्होंने तो यहाँ तक कहाँ है कि इन अध्यापिकाओं से पुरुष छात्र भी पढ़ते थे जैसे 'औदमेध्या' आचार्या से पढ़ने वाले छात्र अपनी आचार्या के नाम से 'औदमेध' कहलाते थे।[42] कात्यायन ने अपने वार्तिक मे स्त्री शिक्षिकाओं को उपाध्यायी कहा है। उनके अनुसार समाज में स्त्री अध्यापिकाओं की संख्या बहुत अधिक थी। अगरकोष में स्त्री 'उपाध्याया' और वैदिक मन्त्रों की शिक्षिता 'आचार्या' का उल्लेख मिलता है।[43] इससे स्पष्ट होता है कि महिलाओं में केवल प्रभूत शिक्षा का प्रचार ही नहीं था वरन् वे विभिन्न विषयों में विशेषज्ञता भी प्राप्त करती थी।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक काल से लेकर ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी तक स्त्रियों को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार था, लेकिन शनैः शनैः ह्रास होने लगा। स्त्रियों को उपनयन संस्कार के अधिकार से वंचित कर दिया गया। जिसके परिणामस्वरूप वे वैदिक शिक्षा प्राप्त करने की अधिकारिणी नही रही। फलतः वैदिक ग्रन्थों का ज्ञान न होने के कारण वे न तो शूद्रों के समान वेदमन्त्रों का उच्चारण कर सकती थी और न यज्ञों में भाग ले सकती थी। बाल विवाह के कारण उनकी दशा और भी अधिक दयनीय हो गयी क्योंकि कम आयु में विवाह हो जाने के कारण उनके लिए यह सम्भव नहीं रहा कि वे ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर शिक्षा प्राप्त कर सके। मनु के अनुसार पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उनका उपनयन संस्कार तथा पति की सेवा और गृहकार्य ही उनकी धार्मिक क्रियाएँ बन गयी।[44] यम के अनुसार शिक्षण संस्थाओं में जाना

---

36. अष्टाध्यायी, 4/1/59, 3/3/21,
37. वही, 6/2/86, '6/2/86, 'छात्र्यादयः शालायाम्।'
38. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/7/21/9,
39. शांखायन गृह्यसूत्र, 4/10/3,
40. महावस्तु, 2/225/2, सौन्दरानन्द, 18/20,
41. अवदानशतक, 2/51/7,
42. महाभाष्य, 4/1/47, 'औदमेध्यायाश्छात्रा औदमेद्या:।'
43. अमरकोष, 2/6/14,
44. मनुस्मृति, 2/67, वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मतः' पतिसेवा गुरौर्वासौ गृहार्थोग्नि परिक्रिया।।'

कन्या के लिए अतीत की बात हो गयी थी, वह केवल घर पर ही पिता, भाई तथा बन्धु आदि से शिक्षा प्राप्त कर सकती थी।[45] परवर्ती टीकाकारों में मेधातिथि तथा अपरार्क ने भी इसका समर्थन किया है। यही कारण है कि नालन्दा और विक्रमशीला जैसे विश्वविद्यालयों में जहाँ सहस्रों पुरुष छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे वहाँ एक भी स्त्री छात्र का उल्लेख नहीं मिलता।

इस प्रकार समाज में स्त्रियों के ऊपर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये जिसके कारण साधारण परिवारों में स्त्री-शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध हो गया। लेकिन उच्च परिवारों तथा राजघरानों में अब भी स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यद्यपि अब उन्हें वैदिक शिक्षा नहीं दी जाती थी पर साहित्य की शिक्षा उन्हें पर्याप्त मात्रा में मिलती थी जिससे वे संस्कृत और प्राकृत भली-भाँति पढ़ और समझ सकती थी। हाल की गाथा सप्तसती में रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहई, बद्धवाही तथा शशिप्रभा आदि सात कवित्रियों की रचनाएँ संग्रहित है।[46] पुराणों में अनेक ऐसी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं जो ब्रह्मवादिनी थी। इनमें अपर्णा, एकपर्णा, एकपटला, मेना, धारिणी, संनति तथा शतरूपा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कतिपय संस्कृत ग्रन्थों में भी अनेक स्त्रियों की उच्चकोटि की रचनाएँ मिलती है, इनमें शील भट्टारिका, देवी, इन्दुलेखा, सुनन्दा, मल्लामोरिका, तिरुमबांला, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, मरुला, भवदेवी, पद्मश्री, लक्ष्मी, प्रियंवदा, वैजयन्ती, कमला, गंगादेवी, त्रिवेणी, विकटनितम्बा एवं विजयाङ्का के नाम विशेष उल्लेखनीय है।[47] राजशेखर के नाटकों से ज्ञात होता है कि राजसभा की स्त्रियों और रानियों की सेविकाएँ संस्कृत और प्राकृत में मनोहारी श्लोकों की रचना कर सकती थी।[48] स्वयं राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी संस्कृत साहित्य में पारंगत थी। वाचस्पति मिश्र की पत्नी भामती
धार्मिक और दार्शनिक विषयों में रुचि रखती थी।[49] उपमितिभवप्रपंचकथा मे दी गई कथाओं से स्पष्ट होता है कि अनेक राजकुमारियाँ चित्रकला, संगीत और कविता करने में निपुण होती थी।[50] इसके अतिरिक्त कुछ स्त्रियाँ तर्क-वितर्क में भी रुचि रखती थी। भागवत् पुराण के अनुसार राजा 'प्राक्षायण' की दो पुत्रियाँ मीमांसा तथा दर्शनशास्त्र की विद्वान् थी।[51]

---

45. संस्कारप्रकाश, पृ0 402-03
46. गाथासप्तशती, 1/70, 86-87, 90-91, 2/63, 3/28, 63, 74, 76, 4/4,
47. कृष्णमाचारी, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ0 391-379,
48. काव्यमीमांसा, 10/53 'पुरुषवद्योषितोऽपि कवी भवेयुः श्रूयन्ते च राजपुत्र्यो महामात्र दुहितरो गणिकाः कौटुंबिकभार्याश्च शास्त्रप्रहितबुद्धयः कवयश्च।'
49. राजबली पाण्डेय, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ0 146,
50. उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 345, 453-59, 875-92,
51. भागवतपुराण, 4/1/64, 'तेभ्यो दधार द्वे कन्ये वयुनां वयुनां धारिणी स्वधा। उभे ते ब्रह्मवादिन्यो ज्ञानविज्ञानपारगे।।'

मण्डनमिश्र की पत्नी भारती अपनी विद्वता और तर्क के लिए प्रसिद्ध थी। मण्डनमिश्र और शंकराचार्य के बीच जो शास्त्रार्थ हुआ था उसका निर्णय करने के लिए मण्डनमिश्र की पत्नी निर्णायक नियुक्त हुई थी।[52] उत्तररामचरित के अनुसार आत्रेयी ने बाल्मीकि तथा अगस्त्य से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण की थी।[53] भवभूति के दूसरे नाटक मालती माधव से पता चलता है कि भूरिवसु तथा देवराट् के साथ कामान्दकी भी विद्या का अध्ययन करती थी।[54] कतिपय महिलाओं ने आयुर्वेद पर भी पाण्डित्यपूर्ण और प्रामाणिक ग्रन्थों की रचनाएं की थी जिसमें रूसा का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[55] बारहवीं सदी के गणितज्ञ भास्कर द्वितीय ने अपनी पुस्तक की रचना की थी। इससे सिद्ध होता है कि कुछ स्त्रियाँ गणित में भी रुचि रखती थी।

स्त्रियों को साहित्यिक शिक्षा के साथ-साथ गृह-विज्ञान तथा ललित-कलाओं यथा संगीत, चित्रकला, नृत्य, माल्य ग्रंथन आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। वात्स्यायन के अनुसार कन्याओं को पुस्तकवाचन, काव्य, पुराण, प्रहेलिका, नृत्य, संगीत तथा चित्रकला आदि चौषठ कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।[56] कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्रम् के अनुसार मालविका की नाट्य-परीक्षा की मध्यस्थता करने वाली भी एक स्त्री थी जो विदर्भ के राजा माधवसेन के मन्त्री की बहिन थी।[57] हर्षचरित में राज्यश्री द्वारा नृत्य, संगीत तथा अन्य कलाओं में प्रवीणता प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है।[58] इसी प्रकार कादम्बरी में राजकुमारी कादम्बरी तथा महाश्वेता के एक साथ नृत्य, संगीत तथा अन्य विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। साधारण परिवारों में कन्याओं को मुख्य रूप से गृह-विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी क्योंकि यह माना जाता था कि स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम की कर्णधार होती है और आदर्श स्त्री हीं आदर्श पुत्र, आदर्श परिवार और आदर्श समाज का निर्माण कर सकती है।

राजपरिवार की कन्याओं को साधारण शिक्षा के साथ-साथ प्रशासकीय और सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे इससे लाभ उठा सके। भारतीय इतिहास में ऐसी अनेक महिलाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होनें आवश्यकता पड़ने पर सफलतापूर्वक शासन किया तथा युद्ध में सेना का नेतृत्व किया। इनमें सातवाहन राजवंशी नागानिका तथा वाकाटकवंशी प्रभावती गुप्ता ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अपने अल्पव्यस्क पुत्रों की संरक्षिका बनकर कुशलतापूर्वक शासन का संचालन किया। चालुक्य

---

52. शंकरदिग्विजय, 8/51, 'विधाय भार्या विदुषी सदस्यां विधीयतां वादकथा सुधीन्द्र।'
53. उत्तररामचरित, अंक 2, 'तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वदिह संचरामि।'
54. ए0 एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 159,
55. सुलेमान नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ0 122,
56. कामसूत्र, 1/3/16,
57. मालविकाग्निमित्रम्, अंक 2,
58. हर्षचरित, (अनुवाद) पृ0 141-142,

वंश की अनेक रानियों तथा महिलाओं ने जिनमें विजयभट्टारिका, अक्कादेवी मैला देवी, कुङ्कुम देवी तथा लक्ष्मी देवी के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है साम्राज्य के प्रान्तों तथा जिलों के शासकों के रूप में कार्य किया।[59] इसी प्रकार कश्मीर की अनेक रानियों दिट्टा, सुगन्धा, सूर्यमती तथा रत्नादेवी ने कुशलतापूर्वक शासन का संचालन किया और युद्ध में सेना का नेतृत्व किया।[60]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम शताब्दी के बाद जहाँ साधारण परिवारों की कन्याएँ घर पर ही पिता, भाई एवं अन्य सम्बन्धियों से थोड़ी बहुत साहित्यिक शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हो जाती थी, वहाँ उच्चवर्ग की कन्याएँ साधन उपलब्ध हो जाने के कारण सभी प्रकार की उच्च साहित्यिक, कलात्मक, राजनीति तथा युद्ध सम्बन्धी शिक्षाएँ प्राप्त कर लेती थी। सामाज में इस प्रकार की स्त्रियों की संख्या लगभग पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं थी।[61]

डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्रवक्ता
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

---

59. एपिग्राफिया इण्डिका, 9/274, 18/37,
60. राजतरंगिणी, 7/905, 909, 931, 1137, 1139
61. ए0 एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 1666।

हिन्दी भाषा व साहित्य को महर्षि दयानन्द की देन

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा गुजराती होते हुए भी देश को एक सूत्र में बांधने व उसके विकासोन्मुखी होने के लिए प्रचार-प्रसार के लिए संस्कृत के स्थान पर जनसंख्या की भाषा हिन्दी को अपनी लेखनी के लिए अपनाना एक क्रांतिकारी कदम था। यह सत्य विशेष रूप से उस समय और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब कि इस हिन्दी साहित्य के आदिकाल के उन्नायक महर्षि दयानन्द सरस्वती हिन्दी के पूर्व साहित्यक काल **'रीतिकाल'** या **'श्रृंगार काल'** तथा **'आधुनिक काल'** के संधि समय में ही हुए थे तथा श्रृंगारिकता के दुष्परिणाम स्वरूप देश को जो पराधीनता का मुंह देखना पड़ा था उससे जनमानस को बचाने के लिए उन्होंने न केवल जनभाषा **हिन्दी की खड़ी बोली में प्रचार प्रारम्भ किया अपितु हिन्दी साहित्य का मुख स्वाधीनता, स्वावलम्बन, देशभक्ति, पूर्व वैभव के स्मरण व अन्धविश्वासों को समूल ऊखाड़ने की ओर भी मोड़ दिया।**

इसके कारण तत्कालीन युगाचार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जोश्रृंगार काव्य द्वारा ही अपना लेखन कार्य आरम्भ कर चुके थे को भी इसी उल्टी गंगा के बहाव में बहने के लिए बाध्य होना पड़ा। सर्वप्रथम महर्षि ने तथा उनके उत्तराधिकारी आर्य समाज ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में कोई कसर न छोड़ रखी थी। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि यदि आप हमारे साहित्य को पढ़ना चहाते हो तो **हिन्दी सीखो,** विदेशियों को भी ऐसी ही शिक्षा उन्होंने दी। सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना के साथ ही सर सैयद अहमद खां, फ्रांसीसी विद्वान् मार्सा-द-तासी, संयुक्त प्रांत शिक्षा विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष मि0 हैवल, काशी के राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द आदि उन लोगों को जो हिन्दी को गंवारों की भाषा कहते हुए इसका विरोध कर रहे थे तथा इसमें फारसी शब्द मिला रहे थे के झूठ का भण्डा चौराहे में फोड़ कर जनसामान्य को हिन्दी-विरोधी होने से बचाते हुए उन्होंने बताया की हिन्दी एक सशक्त भाषा है। इस देश के प्रत्येक कोने में उसे समझने वाले लोग रहते हैं। इसमें हर प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति हो सकती है। उनकी इस बात को राजनारायण बसु, भूदेव मुखर्जी तथा कालीचरण काव्यविशारद जैसे युग के उन महान् नेताओं की प्रेरणा कह सकते हैं जो हिन्दी को स्वाधीनता का मार्ग मानते थे। स्वामीजी द्वारा स्थापित आर्य समाज इस प्रकार का एक प्रथम आन्दोलन था' जिसने हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार और हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का सर्वप्रथम प्रयास किया। मिश्रबन्धु विनोद तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य ग्रंथों में इस तथ्यों को भली भांति स्वीकार किया है हिन्दी अपनाने के पश्चात् स्वामी दयानन्द सरस्वती केवल कुछ ही समय जीवित रहे इस सूक्ष्म समय में उन्होंने हिन्दी भाषा, वेद प्रचार के अतिरिक्त अनेक ग्रंथों का लेखन कर हमें धरोहर के रूप में दे गए। जिनमें उनकी वह आत्मकथा भी एक है जिसको हिन्दी समुदाय हिन्दी गद्य साहित्य की प्रथम प्रकाशित आत्मकथा के रूप में स्वीकार कर चुका है। इन ग्रंथों में सत्यार्थ प्रकाश एक अद्भुत ग्रंथ है जिसे विश्व की अनेक भाषाओं में

अनुवाद कर लाखों की संख्या में छपवाया गया, और लोगों ने करोड़ो की संख्या में पढ़ा है।

हिन्दी साहित्य को महर्षि दयानन्द ने नई दिशा दी उन्होंने **वीरोचित** मार्ग अपनाते हुए जहाँ इसे शांत, वीर व उत्साह के भाव प्रदान किए वहाँ साहित्य में उपहासात्मक वृत्ति का भी उदय किया, यथा अन्धविश्वासी ब्राह्मण को पोप, अभिमानी को गवर्गंड सरीखे शब्द देकर हिन्दी में नए शब्दों का सृजन भी किया (पाखण्डी ब्राह्मणों को पोप की संज्ञा देना वस्तुत: उस ईसाइयत पर एक चोट थी जिसका सर्वप्रमुख आदर्श धार्मिक नेता पोप था। ऋषि दयानन्द ने उस पोप के साथ पाखण्ड का स्थायी सम्बन्ध जोड़ दिया-जयदेव आर्य) पुनरपि, पुनश्च, नैरोग्य आदि तथा सर्वतन्त्र, भुषुन्डी, विडालाक्ष आदि **संस्कृत के शब्दों का जो उनके संस्कृतज्ञ** होने तथा उनके गाम्भीर्य को दर्शाता है। वह संस्कृत के अनुसार ही हिन्दी में लिंगों का प्रयोग करते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व प्रताप नारायण मिश्र ने भी यही शैली स्वीकार की।

स्वामी जी अपनी भाषा को सशक्त बनाने के लिए मुहावरों व लोकोक्तियों का अत्यधिक प्रयोग करते थे। उन्होंने 'आंख का अंधा गांठ का पूरा', 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे' जैसे मुहावरों व लोकोक्तियों का भरपूर प्रयोग किया।

स्वामी जी ने गद्य के गुणों यथा ओज, सरलता, प्रवाह व रोचकता आदि को अपने साहित्य में विशेष स्थान दिया है। वह स्वदेश, स्वधर्म, स्वजाति व देशाभिमान की भावना भरने हेतु **ओज** युक्त शब्दों का प्रयोग करते थे। देवनागरी के महत्त्व को समझते हुए तो यहां तक कह जाते हैं कि विश्व भाषाओं की कोई भी लिपि इसकी प्रतिस्पर्धी नहीं हो सकती तथा तो रामधारी सिंह दिनकर ने उन्हें 'रणारूढ़ हिन्दुत्व का निर्भीक नेता' कहा है। स्वामी जी भाषा की सुबोधता व स्पष्टता के भी बहुत पक्षघर थे। उनकी भाषा में प्रसाद गुण प्रधान है, स्वामी जी में श्रोताओं व पाठको को अपने भाव प्रवाह में बहाने की क्षमता भी थी अत: वह प्रवाह गुण का भी समीचीन प्रयोग करते थे। वह अपने उद्धरणों को शास्त्रों प्रमाणों से पुष्ट भी करते थे। जिससे सुधि श्रोताओं का शास्त्रों से सम्बन्ध जुड़ता था। उनकी इस प्रवृत्ति का हिन्दी साहित्य पर दूरगामी प्रभाव पड़ा है। यहीं से हिन्दी साहित्य में प्रमाण ग्रन्थों के आधार पर विवेचना की प्रथा चली। स्वामी जी की शैली गाम्भीर्य एवं तर्कपूर्ण रही है, जिससे पाठकों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हजारों व्यक्ति इनके ग्रन्थ पढकर अंधविश्वासों से मुक्त हुए। स्वामी जी ने अपने लेखन व व्याख्यानों में कुरीतियों का खण्डन करते हुए रोषपूर्ण शब्दों में क्षोभ प्रकट किया है। स्वामी जी तथा आर्यसमाज की जिस शैली को उस काल के तथा अनुगामी युग के साहित्यकारों ने बड़े जोश के साथ अपनाया है वह है व्यंग्यात्मक शैली, यथा जन्म पत्र के लिए शोक पत्र, मन्त्र शक्ति पर कहना, अगर तुम्हारे मन्त्र में शक्ति है तो कुबेर क्यों नहीं बन जाते? तपोवन को भिक्षुक वन, पोपलीली के गपोड़े आदि का प्रयोग करते हुए अपनी विनोद वृत्ति का अच्छा प्रदर्शन किया है।

स्वामी जी ने गूढ़ विषयों को पाठकों के समक्ष बड़े सरल ढंग से रखने के लिए

दृष्टांत शैली का अवलम्बन किया। उन्होंने अनेक कथाओं, कहानियों आदि का भी समावेश किया है।

स्वामी जी ने एक नवीन साहित्यिक शैली आरम्भ की जिसे अनुगामी साहित्यकारों ने भी अपनाया है। वह शैली है "प्रश्नोत्तरी शैली" इसमें स्वयं एक प्रसंग रखकर उसका उत्तर विस्तार से समझाया जाता है। आप शास्त्रार्थों व व्याख्यानों में भी इसका प्रयोग करते थे।

स्वामी जी के प्रभाव से हिन्दी गद्य को भी नई दिशा मिली तथा अब तक अछूते रहे विश्व पर भी साहित्यिक कलमें उठने लगी। कथा कहानियों में दर्शनिकता भी पैदा हुई। समाज-सुधार, शास्त्रीय व वैज्ञानिक विषयों की विवेचना के साथ-साथ ही राजनीतिक प्रश्नों को भी हिन्दी साहित्य ने उठाना आरम्भ कर दिया। उनके साहित्य में दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक व राजनीतिक प्रश्नों की विवेचना की गई। वह लोकप्रिय है।

इस प्रकार से हजारों व्यक्तियों ने सत्यार्थ प्रकाश के माध्यम से हिन्दी सीखी बाबूश्याम सुन्दर दास के अनुसार सत्यार्थ प्रकाश और आर्य समाज के प्रभाव से पंजाब में हिन्दी का वह असर हुआ जिसकी कदापि आशा नहीं थी। इससे हिन्दी में गंभीर विवेचना की पद्धति आई तथा रोचक विनोदात्मक शैलियों का विकास हुआ और हिन्दी को जन-जन की भाषा बनाने में अनेक स्रोतों का सूत्रपात हुआ इसलिये आज मानव के चहुमुखी विकास में हिन्दी भाषा समाहित है।

डॉ0 संजील कुमार

''प्रबन्धन''-एक वैदिक दृष्टिकोण

प्रबन्धन की जिस अवधारणा को आज हम प्रयोग में लाते हैं, वह पश्चिमी देशों में विकसित हुई है। हम सभी जानते हैं, कि भारतीय एवं पश्चिमी सामाजिक जीवन की प्राथमिकतायें भिन्न हैं। इसी प्रकार भारतीय समाज संरचना पश्चिमी परिवारों से सर्वथा भिन्न है। प्रबन्धन की परिकल्पना तब ही कारगर हो सकती है, जब यह सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरूप हो। भारतवर्ष में इसीलिए, हमें अपनी प्रबन्धन शैली विकसित करनी होगी, जोकि हमारी श्रेष्ठताओं पर आधारित हो। हमारी भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठतायें वैदिक संहिताओं में निहित हैं, इसलिए भारतीय प्रबन्धन अवधारणा विना वैदिक विचारों के सम्भव ही नहीं हो सकती है।

पश्चिमी विद्वानों के अनुसार ''प्रबन्धन सभी उपलब्ध संसाधनों के समुचित उपयोग से योजना, नियोजन, नेतृत्व एवं नियंत्रण द्वारा संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति करना है।''[1] इसके अनुसार प्रबन्धन के चार मुख्य स्तम्भ हैं।[2]

1. योजना
2. नियोजन
3. नेतृत्व
4. नियंत्रण

योजना के अन्तर्गत एक परिस्थिति का विश्लेषण, उद्देश्यों का निर्धारण और ऐसे कार्यपदों का अग्रिम निर्धारण करना होता है जो कि उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हों, योजना पूरे संगठन के लिए, विभिन्न इकाइयों के लिए और व्यक्तिगत कर्मियों के लिए भी बनाई जाती है। ये योजनायें लम्बे समय से लेकर बहुत छोटे समयकाल के लिए बनाई जाती है।

नियोजन का अर्थ है मानवीय, आर्थिक, शारीरिक एवं सूचना संसाधनों को एकत्र करना और अधिकतम उद्देश्य प्राप्ति के लिए कर्मचारियों, लक्ष्य एवं संसाधनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना।

नेतृत्व कला द्वारा प्रबंधक अपने कर्मचारियों में उच्च प्रदर्शन की इच्छा को जागृत करता है।

---

1 "Management is the process of planning, organizing, leading, and controlling the work of organization members and of using all available organizational resources to reach stated organizational goals." Management by Stoner, Freeman and Gilbert, Jr. PHI-1996.

2 "The key management functions include planning, organizing and staffing, leading and controlling." Management Functions &strategy by Bateman/zeithaml, Irwin-1993.

नियंत्रण द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठन की प्रगति का आकलन और यदि आवश्यक हो तो आवश्यक सुधार के उपाय।

वैदिक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय का विशेष स्थान है। पुरुषार्थ का अर्थ है जीवन का उद्देश्य। पुरुषार्थ है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष[3]। ज्ञान, मान, रति आदि मानव-जीवन की समस्त मूल प्रवृत्तियाँ, जिन्हें आज का पाश्चात्त्य-मनोविज्ञान भी अस्वीकार नहीं कर सकता-वे पुरुषार्थ-चतुष्टय में परिगणित अर्थ और काम में आ जाती है। परन्तु पाश्चात्त्य मनोविज्ञान के पीछे चल कर यदि अर्थ और काम को ही सारे जीवन की बागडोर सौंप दी जाए-तो मानव जीवन की गाड़ी किस अज्ञात और अथाह गर्त में गिरेगी, इसकी कल्पना असम्भव सी है।

पुरुषार्थ चतुष्टय में से 'अर्थ' का स्थान धर्म के पश्चात् एवं काम से पहले हैं। क्योंकि अर्थ, धर्म के मार्ग पर चलकर, इच्छाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। अर्थ की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों एवं आर्थिक गतिविधियाँ वैदिक काल से ही चल रही हैं। उन्हीं गतिविधियों के सुचारु संचालन के लिए विभिन्न आदर्श एवं नीतियाँ समय-समय पर विकसित हुई।

स्वप्रबन्धन

वेदान्त में वर्णित ''राजर्षि'' सिद्धान्त प्रभावी प्रबंधक के लिए आदर्श उदाहरण है। यह बताता है कि एक प्रबंधक को राजा जो कि नेतृत्व में सक्षम हो और साथ ही ऋषि, जो कि दैवीय गुणों से युक्त आदर्श मानव होता है, के समान होना चाहिए।

इस संतुलन से प्रबंधक स्वयं को भली प्रकार व्यवस्थित कर सकेगा। स्व प्रबंधन (Self Management) द्वारा व्यक्ति अपने विचारों, भावनाओं और कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकता है। स्व प्रबंधन के द्वारा एक प्रबंधक अपने प्रतिष्ठान को इसके उद्देश्यों के अधिक निकट ले जाता है। सभी प्रतिष्ठानों के कुछ अल्पावधि लक्ष्य होते हैं, लेकिन परम लक्ष्य हमेशा ध्यान में रखना चाहिए जो कि व्यक्तिगत प्रगति, संस्था की प्रगति और समाज की उन्नति है। उल्लेख है कि सफल प्रबंधक होने के लिए योग्यता, अनुभव, ज्ञान और कार्य कुशलता आवश्यक है, परन्तु इसके भी ऊपर आदर्श और भावानात्मक प्रौढ़ता अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही प्रबंधक का चिंतन सन्तुलित एवं विकसित होना चाहिए। भावनात्मक रूप से अव्यवस्थित प्रबंधक के ज्ञान, कार्यकुशलता एवं अनुभव का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय अवधारणा के अनुसार कार्य और कर्मचारियों का प्रबंधन ही सब कुछ नहीं प्रबंधक के लिए स्व प्रबंधन अत्यावश्यक है। नियमित ध्यान

---

3. The first three are in the Vedas and the Fourth is in the Vedic tradition.

से आन्तरिक प्रबंधन के लिए शक्ति मिलती है। सत्य ही कहा गया है, जो स्वयं को व्यवस्थित रख सकता है, वह ही दूसरी वस्तुओं को प्रभावशाली प्रकार से प्रबंधित कर सकता है।

संगठित कार्य

किसी भी कार्य की सफलता उस प्रयोजन में लगे हुए प्रत्येक व्यक्ति की सफलता है, इस हेतु Team Work का विशेष महत्त्व है। प्रबंधक स्वयं ही सभी निर्णय नहीं ले सकता। उसे एक अच्छे संगठन को खड़ा करना चाहिए जिससे समय-समय पर अन्य सदस्यों से विचार विमर्श किया जा सके, और प्रबंधक पर ही सम्पूर्ण बोझ न आ जाए। मनुस्मृति के अनुसार-

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम्।। 55/7।।

''इसके अनुसार सहायता लिए विना साधारण काम भी करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता है? इसलिए एक को राजा बनाना और उसी की बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमत्ता नहीं है।''

यदि यहाँ पर राजा की तुलना एक बड़े प्रतिष्ठान के CEO से करें तो उपरोक्त तथ्य एकदम सटीक बैठता है। CEO स्वयं प्रत्येक निर्णय नहीं ले सकता। आजकल व्यापारिक वातावरण अत्यन्त गतिशील है, और ऐसे में शिव के तृतीय नेत्र की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे CEO भविष्य को समझ सके, यहाँ पर उसकी Team निर्णय लेने में सहायता प्रदान करती है।

वैदिक संहिताओं में भी मानवीय प्रयासों में सहयोगात्मक रवैये के महत्त्व को बतलाया है, इसके द्वारा ही छोटे-छोटे प्रयास समाज की उन्नति में सहायक हो पाते हैं। प्रसिद्ध संगठन सूक्त इसी भावना को आलोकित करता हुआ संगठनों के प्रति वैदिक अवधारणा का चित्रण करता है।

संगच्छध्वं सं वदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी संमानं मनः सहचित्तमेषाम्
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये व समानेनं वो हविषा जुहोमि।। (ऋग. 10.191.2-3)

अर्थात् हमें सहयोगी के रूप में कार्य करना चाहिए, समान प्रयास करने चाहिए, समवाणी बोलें और समान विचार होवें। जो भी सहयोग में कार्य करता है, उसे अपना भाग अवश्य मिलता है। जो व्यक्ति संगठन में कार्य करते हैं, उनका एक ही लक्ष्य होना चाहिए जो कि सभी परामर्श द्वारा निर्धारित करना चाहिए।

कार्य विभाजन (Division of Labour)

हेनरी कियोल और आदम स्मिथ जैसे पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा प्रबंधन का सिद्धान्त Division of Work भारतीय परम्परा में प्राचीन काल से विद्यमान है। Division of Work अर्थात् एक बड़े लक्ष्य को छोटे-छोटे लक्ष्यों में विभाजित करना, और तदनुसार छोटे लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रयास करना। इसमें मुख्य रूप से कार्य के अनुसार कर्मियों का नियोजन है, अर्थात् उपयुक्तता के अनुसार कार्य का वितरण करना। शुक्रनीति में कहा गया है-

बहुसाध्यानि कार्याणि तेषामप्यधियांस्तथा।
तत्तत्कार्येषु कुशलाञ्ज्ञात्वा तांस्तु नियोजयेत्।।123।।

अर्थात् कार्य उसी को सौंपा जाना चाहिए जो उसमें निपुण हो। शुक्रनीति की उपरोक्त नीति को ही वर्तमान Divsion of Work and Division of Labour जैसे सिद्धान्तों का नाम दिया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि कार्य केवल उसी को दिया जाये, जो उसमें निपुण हो, लेकिन अगले ही श्लोक में यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी क्षेत्र में निपुण होता है, आवश्यकता है, तो उसे पहचानने की।

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः।। शुक्र 124।।

अर्थात् प्रत्येक शब्द एक मन्त्र है, प्रत्येक वनस्पति एक औषधि है, प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी कार्य में उपयोगी है। हाँ केवल कमी है तो एक ऐसे योजक की जो उन्हें गुणों के अनुरूप नियोजित कर सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कार्य विभाजन, नियोजन के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट एवं मानवीय था, जिसमें सकारात्मकता थी। यहाँ Rejection जैसे शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है, जो कि नकारात्मक हैं। निश्चित रूप से प्रबंधक से यही अपेक्षित रहता है कि आप अपने Resoures का कितना प्रभावशाली उपयोग करते हैं। हमारे पास उपलब्ध संसाधन सीमित है और प्रायः सभी संसाधनों का एक से अधिक प्रकार से उपभोग किया जा सकता है। इस लिए उपभोग इस प्रकार किया जाए जिससे संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने में अधिकतम सहायता मिले।

निरंतरता एवं जागरूकता

वर्तमान समय में एक कुशल प्रबंधक के लिए अत्यन्त आश्वयक है कि वह चारों ओर के वातावरण को लगातार ध्यान में रखे। व्यापार के लिए प्रतिष्ठान के बाहर और अन्दर दोनों का वातावरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आन्तरिक वातावरण पर प्रबंधक का नियंत्रण सम्भव है, किन्तु बाह्य वातावरण जिसके मुख्य कारक राजनैतिक, वित्तीय, जनसंख्या, विदेश नीति आदि हैं, किसी भी एक प्रतिष्ठान के नियंत्रण में नहीं रहते हैं। इन

बाह्य वातावरण में आए परिवर्तन सभी प्रतिष्ठानों को प्रभावित करते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में इन परिवर्तनों की गति अत्यन्त तीव्र हो गई है। प्रबंधक से अपेक्षित रहता है कि वह इन परिवर्तनों पर लगातार दृष्टि बनाए रखे और तदनुसार निर्णय ले। इसलिए आवश्यकता है निरतंरता एवं जागरूकता की। कहा गया है-

''इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।

यन्ति प्रमादमतन्द्रा:।।[4] ऋ0 8.2.18।।

अर्थात् जो मनुष्य जागकर यज्ञ कर्मों में तत्पर होता है, उसी को देवता चाहते हैं। वे सोने वाले से प्रीति नहीं करते। देवजन स्वयं अतन्द्रालु होते हैं, अत: तन्द्रालु प्रमादी को दण्डित करते हैं।

यज्ञ कर्म अर्थात् शुभ कर्म हैं, एक प्रबंधक के लिए शुभ कर्म है कि वह किस प्रकार अपने प्रतिष्ठान के सभी Stakeholders के ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति की वृद्धि कर सके। इसके लिए उसे निरंतर जागरूक होकर कार्य करना होगा। जागरूक प्रबंधक को ही ग्राहक भी पसन्द करते हैं। एक जागरूक प्रबंधक ही अपने ग्राहकों को सन्तुष्ट रख सकता है। जागरूक होने का अर्थ ग्राहकों के बदलते व्यवहार एवं मांग को ध्यान में लगातार बनाए रखना। जब आप जागरूक होकर यह कार्य करते हैं, तो सफलता निश्चित है। पुन:श्च

यो जागार तमृच: कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।

यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योका:।।[5] ऋ0 5.44.14

अर्थात् जो जागता है उसी से ऋचाएं प्यार करती हैं, जो जागता है उसी से साम प्यार करते हैं। जो जागता है उसी का सोमप्रभु सखा बनता है।

इस प्रकार वेदों में जागरूकता के महत्त्व को समझाया गया है। वेद कहता है कि जागरूकता जीवन का धन है। सम्भव है कि उपरोक्त वर्णन का एक पहलू आध्यात्मिक हो, किन्तु वेदमाता यहाँ हमें इसका भौतिक लाभ उठाने के लिए प्रेरित कर रही है। जागरूक व्यक्ति अथवा प्रबंधक द्वारा बदलती हुई परिस्थितियों से सामंजस्य बैठा सकता है। सामंजस्य के विना आपका प्रतिष्ठान वर्तमान प्रतियोगी दौर में अस्तित्त्वहीन हो सकता है। अत: वैदिक चिन्तन के अनुसार जागरूकता सफल प्रबंधन की कुंजी हो सकती है।

---

4. (देवा:) विद्वान् लोग (सुन्वन्तम्) जागकर यज्ञ करने वाले को ही (इच्छन्ति) चाहते हैं, (स्वप्नाय) निद्रालुता की, आलस्य की (न स्पृहयन्ति) चाह नहीं करते। (अनन्द्रा:) स्वयं निद्रालु न होने वाले वे (प्रमादम्) प्रमादी को (यन्ति) दण्डित करते हैं।
5. (य: जागार) जो जागता है (तम्) उसे (ऋच:) ऋचाएं (कामयन्ते) चाहती हैं, (य: जागार) जो जागता है (तम् उ) उसे (सामानि) साम (यन्ति) प्राप्त होते हैं। (य: जागार) जो जागता है (तम्) उसे (अयं सोम:) यह सोम प्रभु (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (न्योका:) घर बनाये हुए (अस्मि) हूँ।

दृढ़ संकल्पता

किसी भी गुरुतर कार्य को करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होना बड़ा महत्त्वकारी है। उदाहरण के तौर पर जो Project Management के सन्दर्भ में यह तथ्य अत्यन्त उपयोगी है कि Project की सफलता का सूत्र नेतृत्व की दृढ़ संकल्पता के कारण ही सम्भव हो पाया। 'The Makin of Lagan' पुस्तक इस भाव को अत्यन्त प्रभावशाली तरीके से बतलाती है।

वैदिक जीवन में व्रत ग्रहण का बहुत महत्त्व है। व्रत ग्रहण और दृढ़ संकल्पता जब किसी शुभ लक्ष्य के लिए किया जाता है, तब उसके अन्दर उस कार्य का सफलता पूर्वक निर्वाह करने की अपूर्व क्षमता आ जाती है। श्रुति कहती है-

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते।।[6] यजु0 19.30

'व्रतग्रहण' से मनुष्य दीक्षा को प्राप्त करता है। दीक्षा ले लेने पर कार्यपूर्ति या फल प्राप्ति रूप दक्षिणा मिलती है। दक्षिणा या फलप्राप्ति से उस कार्य के प्रति अन्यों की भी श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।'

अग्नि- समिन्धन की दीक्षा-सी लेता हुआ वैदिक स्तोता उद्गार प्रकट करता है-

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम्।।[7] यजुं0 20.24

हे व्रतपति अग्नि, मैं तुझमें समिधा का आधान करता हूँ। मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त करके दीक्षित होकर तुझे प्रज्वलित करता हूँ।''

यह केवल अग्निहोत्र की अग्नि का ही प्रदीपन नहीं है, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अग्नि-प्रदीपन तथा समिधाधान होता है। अग्नि प्रदीपन महारंभ का उपक्रम है। किसी भी महान् कार्य को आरम्भ करना अग्नि प्रदीपन है और उसे बढ़ाने के लिए तन, मन या धन अर्पण करना समिदाधान तथा आहुति प्रदान है।

प्रबंधन के क्षेत्र में किसी नये प्रतिष्ठान को प्रारंभ करना, कोई नया उपक्रम स्थापित करना, कोई उद्यम स्थापित करने का संकल्प ही अग्नि प्रदीपन है। यह अग्नि प्रदीपन शुभ कार्य के लिए जब होता है तब व्रत धारक में भी कार्य सम्पन्न कराने की असीम शक्ति आ जाती है। रिलायंस समूह द्वारा जामनगर स्थित रिफाइनरी दृढ़ संकल्पता का ऐसा उदाहरण है,

---

6. (व्रतेन) व्रत ग्रहण से (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है, (दक्षिणा) किसी व्रत में दीक्षित होने से (दक्षिणाम्) दक्षिणा को, फल-समृद्धि को (आप्नोति) प्राप्त करता है। (दक्षिणा) फल-समृद्धि से (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (आप्नोति) प्राप्त करता है, (श्रद्धया) श्रद्धा से (सत्यम्) सत्य (आप्यते) प्राप्त होता है।
7. (व्रतपते अग्ने) हे व्रतपति यज्ञाग्नि, मैं (त्वयि) तुझमें (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) रखता हूँ। मैं (व्रतं च श्रद्धां च) व्रत और श्रद्धा को (उपै) प्राप्त होता हूँ, (दीक्षितः अहम्) यज्ञकर्म में दीक्षित हुआ मैं (त्वा) तुझे (इन्धे) प्रज्वलित करता हूँ।

जो समस्त प्रबंधन छात्रों के लिए आदर्श होना चाहिए। समूह ने अपनी दृढ़ संकल्पता के कारण प्रतिष्ठान को समय से पूर्व प्रारम्भ किया तथा साथ ही उच्च मापदण्डों को बनाएं रखा। वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार व्रत ग्रहण से जो शक्ति मिलती है उससे ही कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जब व्रतों से कार्य सिद्ध होता हैं, तो सभी लोगों के लिए यह अनुभव आदर्श का कार्य करते हैं। और इस प्रकार सभी संस्थाएं एवं प्रतिष्ठान अपने-अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

अन्त में यह कहना प्रासांगिक होगा कि वैदिक संहिताओं में बिखरे हुए यह जीवन सूत्र सही प्रकार से एक माला में पिरोये जाए तो भारतीय प्रबंधन का एक अच्छा स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। चूंकि प्रबंधन विज्ञान और कला का एक ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण है जो कि संस्कृति-सभ्यता पर आधारित होता है, और भारतीय परिवेश के लिए हमें एक ऐसे ही माडल की आवश्यकता है, जो वैदिक मूल्यों पर आधारित हो।

संदर्भग्रन्थ

1.रामनाथ वेदालंकार (1991), वैदिक मधुवृष्टि, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली

2.सुरेन्द्र कुमार (1990), विशुद्ध मनुस्मृतिः, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली

3.महावीर (2001), वैदिक अर्थव्यवस्था, समानान्तर प्रकाशन नई दिल्ली

4.कृष्ण कुमार (1993), प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, प्राच्य विद्या अकादमी, हरिद्वार

5.दिलीप वेदालंकार (1982), वेदों में मानववाद, अमर भारती अन्तर्राष्ट्रीय बड़ोदरा

6-Bateman T.S., Zeithaml C.P., (1993), Management: Functions& Strategy, Irwin Boston. (2/e)

7-Stoner, Freeman, Gilbert Jr. (6/e), (1996), Management PHI New Delhi

8.वन्दना (शोध प्रबन्ध) (2002), संस्कृत के प्राचीन आचार्यों की आर्थिक दृष्टि एक समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ0 भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

9.रजत अग्रवाल (शोध प्रबन्ध)(2002), Planning and Organizing:A Comparative Study of Indian and westernApproaches, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

10.स्वामी सोमेश्वरानन्द (1996), Indian Wisdom for Management, अहमदाबाद प्रबंधन संघ एवं विवेकानन्द केन्द्र (भारतीय प्रबंधन)

रजत अग्रवाल

प्रवक्ता-अभियांत्रिकी

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में सिक्कों का अमूल्य योगदान

इतिहास की संरचना साक्ष्य सापेक्ष होती है। इतिहासकार अतीत की घटनाओं का स्वयं साक्षी नहीं होता, अतः वह पुरावशेषों से ज्ञात तथ्यों के आधार पर इतिहास का निर्माण करता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में शाब्दी परम्परा तथा पदार्थी परम्परा के अवशेष समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। शाब्दी परम्परा प्राचीन भारतीय साहित्य में सुरिक्षत है। जबकि पदार्थी परम्परा पुरातत्त्व से ज्ञात विविध उपकरणों के रूप में उपलब्ध है। यद्यपि ये दोनों ही इतिहासकार के लिए अत्यन्त उपयोगी है, तथापि पुरातात्विक साक्ष्य अपने अविकल रूप में प्राप्त होने के कारण अधिक विश्वसनीय माने जाते हैं।

पुरातात्विक साक्ष्यों के अन्तर्गत प्राचीन सिक्कों या मुद्राओं का एक विशिष्ट स्थान हैं। यद्यपि सिक्कों का निर्माण अपने समय की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति, क्रय-विक्रय तथा लेन-देन को दृष्टि में रखते हुए हुआ था। लेकिन कालान्तर में ये प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायक सिद्ध हुई थी। सिक्कों के अध्ययन द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक अज्ञात एवं अल्पज्ञात पक्ष उद्घाटित हुए थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास में अनेक काल ऐसे हैं जिनका ज्ञान 'तत्कालीन सिक्कों से ज्ञात होता हैं सिक्कों के अध्ययन से अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य एवं प्रश्न हल हो जाते हैं। भारतीय इतिहास के अनेक राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, कलात्मक, साहित्यिक तथा दूसरे अन्य कई प्रकार के अमूल्य तथ्य सिक्कों से ही ज्ञातव्य हैं।[1]

सिक्कों के गहन अध्ययन द्वारा कतिपय अमूल्य तथ्यों को प्रकाशित कर प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में सिक्कों का महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय योगदान निम्न प्रकार से अग्रलिखित हैं।

1.प्राचीन भारतीय राजनैतिक इतिहास की संरचना में सिक्कों का योगदान:-

सिक्कों के विविध आकार, प्रकार, उन पर अंकित प्रतीक, आकृतियाँ, अभिलेख आदि प्राचीन भारतीय राजनैतिक इतिहास के निर्माण में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक अंधकार युग जिनके संबंध में साहित्य तथा अभिलेख अधिकांशतः मौन है, सिक्कों के माध्यम से ही प्रकाशित हुए हैं। 206 ई0 पू0 से लेकर 300 ई0 तक के भारतीय इतिहास का पूर्णतः ज्ञान हमें मुख्यतः सिक्कों की सहायता से ही होता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम हमारा ध्यान पश्चिमोत्तर भारत में शासन करने वाले बाख्त्री यवनों के इतिहास की ओर आकृष्ट होता है। क्योंकि इस वंश के अधिकाश शासकों का ज्ञान हमें सिक्कों से ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार शक-पहलव शासकों के राजनैतिक

---

1 वासुदेव उपाध्याय -''प्राचीन भारतीय मुद्रायें'', पृ0-25

इतिहास की जानकारी के विषय में मुद्रायें ही ज्ञातव्य रही है।

उत्तर भारत में प्राग्-गुप्त युग में शासन करने वाले अनेक स्थानीय एवं जनजातीय राज्यों के इतिहास पर भी मुख्यत: मुद्राओं से ही प्रकाश पड़ता है। यौधेय, शिवि, कौशांबी, मथुरा आदि के स्थानीय राजवंशों का इतिहास भी मुख्यत: मौद्रिक साक्ष्यों के माध्यम से ही उद्घाटित हुआ है। सातवाहन एवं कुषाण राजवंशों के अनेक शासक मुद्राओं द्वारा ही ज्ञातव्य है। इसी प्रकार गुप्तवंशी शासक काच एवं प्रकाशादित्य तथा अनेक अन्य प्राचीन भारतीय शासकों के इतिहास के संदर्भ में ज्ञान एकमात्र साधन इनके तत्कालीन सिक्के ही है।[2]

सिक्कों पर प्राय: राजाओं की उपाधियाँ तथा कभी-कभी तिथियाँ भी अंकित मिलती है। इनसे राजनैतिक इतिहास का अध्ययन ओर अधिक स्पष्ट तथा प्रमाणिक हो जाता है। उदाहरणार्थ:- कुषाणों एवं गुप्त शासकों की मुद्राओं पर अंकित तिथियाँ तिथिक्रम के निर्धारण में सहायक सिद्ध हुई है। मुद्राओं से कतिपय महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का भी ज्ञान होता है।

"डी0 आर0 भण्डारकर"[3] तथा "एस0 के0 मैती"[4] ने मुद्राओं के आधार पर अनेक राजनैतिक महत्त्व की घटनाओं को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है।

परवर्ती गुप्त सम्राटों के उत्तराधिकार क्रम के निर्धारण में उनकी मुद्रायें अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है।[5]

सिक्कों के प्रसार से किसी राज्य के विस्तार का पता आंशिक रूप से लगाया जा सकता है। सिक्कों के अध्ययन से ही शासकों की तत्कालीन पद्धति का पता चलता है। सिक्कों द्वारा ही प्राचीन भारतीय इतिहास के सभी कालों में प्रचलित आर्थिक संस्थाओं "श्रेष्ठी-निगम" के संदर्भ में ज्ञात होता हैं। क्योंकि कतिपय सिक्कों पर "श्रेष्ठी निगमस्य" अंकित है। अतएव उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि सिक्के प्राचीन भारतीय राजनैतिक इतिहास के निर्माण में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए है।

2.प्रशासन एवं राज्यशास्त्र इतिहास के निर्माण की दृष्टि से सिक्कों का योगदान:-

मुद्रायें प्राचीन भारत के संवैधानिक एवं प्राशासनिक इतिहास के निर्माण की दृष्टि से भी उपयोगी सिद्ध हुई है। यौधेयों एवं मालवों की मुद्राओं पर **"यौधेय गणस्य जय:"** तथा **"मालव गणस्य जय:"** अंकित मिला है। जो इन राज्यों में गणतान्त्रिक शासन पद्धति के प्रचलित होने की पुष्टि करता है। कतिपय मुद्रायें नगर शासन द्वारा प्रचलित दिखाई देती है।

---

2 डॉ0 राजवंत राव, डॉ0 प्रदीप कुमार राव -''प्राचीन भारतीय मुद्रायें'', पृ0-5
3 डी0आर0भण्डारकर-''एन्श्येन्ट इण्डियन न्यूमिसमेटिक्स'' (कार्माइकेल लेक्चर) 1921, पृ0408-94
4 एस0के0मैती -''अर्ली इण्डियन क्वायन्स एण्ड करेन्सी सिस्टम'', अध्याय-1/3
5 श्री राम गोयल -''हिस्ट्री ऑफ द इम्पीरियल गुप्ताज'' पृ0-20 और आगे

जिससे यह संकेत मिलता है कि पश्चिमोत्तर भारत में कदाचित नगर राज्य भी अस्तित्त्व में थे। कतिपय शक-पह्लव मुद्राओं पर शासक के नाम के साथ-साथ उसके पुत्र अथवा भतीजे का नाम भी अंकित मिलता है। जिससे उनके सहशासन का संकेत मिलता है। उज्जैन के शक शासकों की मुद्राओं से यह प्रमाणित होता है कि महाक्षत्रप पिता के साथ-साथ उनका पुत्र क्षत्रप के रूप में उसकी सहायता करता था और पिता की मृत्यु के पश्चात् जब वह स्वयं महाक्षत्रप बनता था तब वह अपने पुत्र को क्षत्रप नियुक्त करता था।[6] यत्र-तत्र मुद्राओं से पति-पत्नी के सह शासन का भी संकेत मिलता हैं। "ए0एस0 अल्तेकर" के अनुसार-गुप्त मुद्राओं में "चन्द्रगुप्त प्रथम-कुमार देवी प्रकार की मुद्रा" इस बात का संकेत करती है कि कुमार देवी लिच्छवियों की उत्तराधिकारिणी होने के कारण चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ सहशासिका के रूप में प्रतिष्ठित थी।[7]

अनेक प्राचीन भारतीय मुद्रायें शासकों की महत्त्वकांक्षाओं तथा उनके राजत्च संबंधी आदर्शो को प्रकट करती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की "चन्द्र-विक्रम प्रकार" की मुद्रा पर राजा को विष्णु अथवा चक्रपुरुष से तीन गोलाकार वस्तुएँ ग्रहण करते हुए दिखाया गया है। "वासुदेव शरण अग्रवाल" इन तीन वस्तुओं को प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति का प्रतीक मानते हैं।[8] "ए0के0 नारायण"[9] ने ठीक ही कहा है कि जहाँ विदेशी शासकों ने अपनी मुद्राओं पर अपने भौतिक ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति करने वाली उपाधियाँ अंकित कराई वहीं भारतीय शासकों ने सदाचार और सत्कर्म को सूचित करने वाली उपाधियाँ भी अंकित कराई। भारतीय राज दर्शन में धर्म को शक्ति की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया।[10]

3.प्राचीन भारतीय धार्मिक इतिहास की संरचना में सिक्कों की एक अहम् भूमिका:-

प्राचीन भारत के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के इतिहास पर भी सिक्कों से रोचक प्रकाश पड़ता है। आहत मुद्राओं तथा जनजातीय मुद्राओं पर अंकित प्रतीक धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मुद्राओं पर अंकित धार्मिक महत्त्व के प्रतीकों से इस बात का संकेत मिलता है कि किस भौगोलिक क्षेत्र अथवा जनसमुदाय में कौन सा धार्मिक सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय था।[11] मुद्राओं पर अंकित राजाओं की कतिपय उपाधियाँ उनके धार्मिक विश्वासों की अभिव्यक्ति करती है। सिक्कों पर निर्मित चित्र (चिन्ह) तथा खुदे हुए लेखों से उस काल में प्रचलित धार्मिक मत के विषय में अनेक बातों का पता लगता है।

---

6 श्री राम गोयल-''हिस्ट्री ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज'', पृ0 -20 और आगे
7 ए0एस0 अल्तेकर -''गुप्तकालीन मुद्रायें'', पृ0-22
8 एस0के0 मैती -''अर्ली इण्डियन क्वायन्स एण्ड करेन्सी सिस्टम'', पृ0-8
9 ए0के0 नारायण का मत-''हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान एण्ड सीलोन'', सम्पादक, ''सी0एच0 फिलिप्स'', पृ0-96
10 जे0एन0एस0आई0 ''(जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक्स सोसाइटी ऑफ इण्डिया)'' 16 पृ0-97 और आगे
11 डॉ0 राजवंत राव, डॉ0 प्रदीप कुमार राव-''प्राचीन भारतीय मुद्रायें'', पृ0-7-8

"विमकैड़फिसेस" की मुद्राओं पर अंकित "माहेश्वर" उपाधि तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमाद्वितीय की मुद्राओं पर अंकित "परम-भागवत्" उपाधि इन शासकों के धार्मिक विश्वासों को स्पष्ट करती है।

कुषाण शासकों में कनिष्क की मुद्राओं पर बुद्ध का स्पष्ट अंकन तो मिलता ही है साथ ही उनका नाम भी "**बोदो**" उत्कीर्ण है। कनिष्क की मुद्रायें जिन पर यूनानी, पारसीक एवं भारतीय देवी-देवताओं के नाम मिलते हैं, उसकी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता की द्योतक है। परवर्ती काल में भारत पर शासन करने वाले हूणों ने शैव मत को स्वीकार किया था, जिसकी पुष्टि उनकी मुद्राओं से होती है। हूण नरेश मिहिरकुल की मुद्राओं पर शिव के वाहन नंदी का अंकन प्राप्य है।[12]

गुप्त सम्राटों की स्वर्ण मुद्रायें इस काल में भागवत् धर्म की लोकप्रियता का स्पष्ट संकेत करती हैं। उनकी मुद्राओं से यह प्रमाणित होता है कि विष्णु और लक्ष्मी गुप्त सम्राटों के उपास्य देवता थे। मुख्यतः वैष्णव मतावलंबी होते हुए भी गुप्त सम्राट् पौराणिक सम्प्रदायों के प्रति अपनी पूर्ण आस्था रखते थे। जिसका पता उनकी मुद्राओं से लगता हैं। जैसे:- दुर्गा तथा अम्बिका का अंकन चन्द्रगुप्त प्रथम-कुमार देवी प्रकार की मुद्रा के पृष्ठ भाग पर हुआ है। जिसमें उसे सिहंवाहिनी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार समुद्रगुप्त के व्याघ्रनिहन्ता प्रकार की मुद्रा पर मकरवाहिनी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय धार्मिक इतिहास अपनी विविधता के साथ प्राचीन भारतीय मुद्राओं में प्रतिबिम्बित दृष्टिगत होता है।

4.आर्थिक इतिहास के निर्माण की दृष्टि से सिक्कों का महत्त्वः-

यदि वास्तव में देखा जाये तो सिक्कों की उत्पत्ति मूलतः आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु हुई। अतः मुद्राओं से आर्थिक इतिहास पर प्रकाश पड़ना सर्वथा स्वाभाविक है।

"लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी" ने इस तथ्य का विस्तृत विवेचन किया है कि मुद्राओं की धातु, उनका आकार, उनकी तौल तथा उन पर अंकित प्रतीक, उनके प्राप्ति स्थल आदि किस तरह न्यूनाधिक रूप से आर्थिक इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।[13] मुद्रा के लिए आवश्यक धातु कहाँ से प्राप्त होती थी, इस तथ्य का विवेचन भी आर्थिक इतिहास के अध्ययन में सहायक सिद्ध हुआ है।[14] भारतीय इतिहास के किसी भी काल में सिक्कों का अधिकाधिक प्रचुर मात्रा में मिलना यह सिद्ध करता है कि वह काल अर्थिक समृद्धि का काल था। जैसे:- गुप्त वंशी सम्राटों में समुद्रगुप्त द्वितीय की शुद्ध स्वर्ण से निर्मित विविध प्रकार की मुद्रायें गुप्त शासनान्तर्गत व्याप्त आर्थिक समृद्धि को प्रकट करती है। भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्र तटों पर समृद्ध बन्दरगाह थे, जिन पर विजय के उपरान्त समुद्रगुप्त

---

12 एस0के0 मैती-पूर्ष उद्धृत ग्रंथ-

13 एल0के0 त्रिपाठी-''क्वायन्स एज सोर्स ऑफ इंकानोमिक हिस्ट्री'' (जे0एन0एस0आई0) 33, पृ0-1-14

14 आर0एस0शर्मा -''क्वायन्स एण्ड प्राबलम्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री'' (जे0एन0एस0आई0) 31, खण्ड, 1 पृ0-1-8

और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने प्रभूत स्वर्णराशि प्राप्त किया होगी। यह वैभव कुमार गुप्त के शासनकाल तक दिखाई देता है। किन्तु स्कन्दगुप्त के काल से गुप्त स्वर्ण मुद्राओं में मिलावट दिखाई देती है। जो प्रकट करती है कि स्कन्दगुप्त के शासन काल से ही अर्थिक ह्रास की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। इस ह्रास की प्रक्रिया के कारण ही गुप्तोत्तर काल में मुद्राओं के अभाव का एक प्रमुख कारण सामन्तवाद के बढ़ते प्रभाव एवं व्यापार-वाणिज्य तथा नगर जीवनके ह्रास को भी माना गया है।[15] इस प्रकार मुद्राओं की प्रचुरता या अधिकता किसी भी काल की आर्थिक समृद्धता को स्पष्ट करती है। जिससे उस समय की आर्थिक दशा एवं स्थिति का सही पता चलता है।

५.सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की संरचना की दृष्टि से सिक्कों की महत्ता

प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण की दृष्टि से भी सिक्कों का बहुमूल्य योगदान रहा है। मुद्राओं पर अंकित माठरीपुत्र, भारद्वाजी पुत्र आदि उपाधियाँ इस बात का संकेत करती हैं। कि कुछ क्षेत्रों में विवाह के उपरान्त भी वधू का गौत्र परिवर्तित नहीं होता था। मुद्राओं से समकालीन समाज में प्रचलित वस्त्र, आभूषण, मनारंजन के साधानों आदि के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। "विद्या-प्रकाश" ने गुप्त मुद्राओं के अध्ययन के आधार पर तत्कालीन भौतिक जीवन के विविध पक्षों का विवेचन किया है।[16] इसी प्रकार "एम0के0 धवलिकर" ने बाख्त्री यवन, कुषाण एवं गुप्त मुद्राओं के आधार पर प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया है तथा समकालीन समाज में प्रचलित वस्त्र, आभूषण केश-सज्जा के उपकरण, आयुध, कवच, रथ आदि के प्रकारों का विस्तृत विवेचन किया है।[17] गुप्त शासकों की मुद्राओं से उनके सांस्कृतिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जैसे :- समुद्रगुपत को अपनी एक स्वर्ण मुद्रा पर वीणा बजाते हुए प्रदर्शित किया गया है। जिससे उसके महान् संगीतज्ञ होने तथा संगीत प्रेम का पता चलता है। इसी प्रकार अन्य शासकों की मुद्राओं से उनके सांस्कृतिक जीवन की अन्यतम विशेषतायें परिलक्षित होती है।

६.कलात्मक एवं साहित्यिक इतिहास के निर्माण में सिक्कों का योगदान

प्राचीन भारतीय मुद्रायें कलात्मक एवं साहित्यिक इतिहास की संरचना में भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। इस दृष्टि से मुख्यत: जे0एन0 बैनर्जी[18] एवं भाष्कर चट्टोपाध्याय[19] ने मुद्राओं का गहन अध्ययन किया है कि नंदी के साथ शिव का स्पष्ट अंकन पहली बार विमकैड़फिसेस की मुद्राओं पर ही मिलता है। इस मुद्रा पर अंकित शिव प्रतिमा लक्षण प्रतिमा विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी है। इसी प्रकार कनिष्क की

---

15 आर0एस0शर्मा-''इण्डियन फ्यूडलिज्य'', पृ-63-65

16 सम आस्पेक्टस ऑफ मेटीरियल लाइफ ऑन गुप्ता क्वायन्स (जे0एन0एस0आई0), खण्ड-23 पृ0-267-296

17 एम0के0 धवलिकर-क्वायनेज एण्ड कल्चरल लाइफ, (जे0एन0एस0आई0), 35, पृ0-194-95

18 जे0एन0 बैनर्जी -''दि डेवलेपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्रैफी'', पृ0-108-117

19 भास्कर चट्टोपाध्याय-''क्वायन्स एण्ड आइकन्स, ए स्टडी ऑफ मिथ्स एण्ड सिम्बल इन इण्डियन न्यूमिसमेटिक्स'' आईस'', पृ0-110-15

मुद्राओं पर बुद्ध का अंकन बुद्ध प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कुषाण शासक कनिष्क और हुविष्क की मुद्राओं पर विविध देवी-देवताओं के अंकन मिलते हैं। जिनका अध्ययन प्राचीन भारतीय कला एवं प्रतिमा शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। गुप्त शासकों की मुद्रायें भी कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। गुप्त सम्राटों की स्वर्ण-मुद्रायें मुद्राशास्त्रीय कला का एक अभूतपूर्व एवं सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है।

भारतीय सिक्कों ने कलात्मकता के अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास के निर्माण में भी अपनी एक अहम् भूमिका निभाई है।

मुद्राओं से समकालीन भाषा, लिपि और साहित्य पर भी पूर्णतः प्रकाश पड़ता है तथा साथ ही यदा-कदा शासकों की साहित्यिक अभिरुचि का भी ज्ञान प्राप्त होता है। सातवाहन मुद्राओं पर प्रायः प्राकृत भाषा का प्रयोग मिलता है। जो तत्कालीन समाज में प्रचलित प्राकृत भाषा की लोकप्रियता को प्रकट करता है। गुप्त मुद्राओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में संस्कृत भाषा मुख्यतः प्रचलित रही थी। गुप्त मुद्राओं पर अंकित काव्यमय विरूद् (उपाधि) तत्कालीन शासकों की काव्यप्रियता को दर्शाती है।[20] इस प्रकार सिक्कों ने साहित्यिक इतिहास की संरचना में भी अपनी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय इतिहास की संरचना या निर्माण में सिक्कों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

प्राचीन भारतीय मुद्राओं का यह योगदान सर्वथा एक अमूल्य एवं अविस्मरणीय ही रहा है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक अंधकार युगों के प्रकाशन में तथा अनेक ऐतिहासक गुत्थियों को सुलझाने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई है। अपने मौलिक रूप में प्राप्त होने के कारण ये मुद्रायें सभी पुरातात्विक साक्ष्यों में अधिक उल्लेखनीय एवं विश्वसनीय रही है। प्रायः प्रतिवर्ष कुछ न कुछ नई मुद्रायें मिल रही है जिनके माध्यम से इतिहास के अनेक महत्त्वूपर्ण पक्षों के साथ-साथ स्थानीय राजवंशों का इतिहास भी क्रमशः उजागर होता जा रहा है।

डॉ0दीपा गुप्ता
प्रवक्ता- प्राचीन भारतीय इतिहास
संस्कृति, एवं पुरातत्त्व विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

---

20 डॉ0 राव, पूर्वोद्धत-पृ0-11-12

Moulsri (*Mimusops elengi*): A Valuable medicinal plant

Mimusops elengi is a large ornamental tree found in south India. It is cultivated in gardens for its fragrant flowers. It is commonly known in Hindi as Moulsari, in Sanskrit as Bakula and in English as Bulletwood.

बकुलो मधुगन्धश्च सिंहकेसरकस्था (Bhavprakash)1

In this shloka, this is synonymous to mathugandha, simkakeshara sthirapushpa and madhugandha. It belongs to family Sapotaceae.

Description of Plant:

It is a large glabrous ever green tree, 10-15m high with a compact leafy head and short erect trunk, bark smooth, scaly. Leaves 6.3-10 by 3.2-5cm elliptic shortly acuminate, glabrous, base accute, or rounded petioles 1.3-2-5cm long. Flowers white, fragrent, nearly 2.5cm, across, solitary or in fascicles of 2.6, buds ovoid acute pedicels 6.2mm long, appressedly, pubescent often deflexed2. The calyx-lobes are 8 and ovate-lanceolate. The corolla lobes are in 2 circles in 2 series the inner one is consisting of 8-10 lobes. The stamens are 8. The ovary is hairy and 6-8 celled. The fruits are ovoid 1.7-2.0cm long and 1 seeded berries and reddish yellow when ripe. Flowering is in March-April and fruiting during April-June 3.

Phytochemistry:

Bark contains tannin, some eaoutchouc, wax, colouring matter starch and ash, flowers contain a volatile oil. Seeds contain a fixed fatty oil, pulp of the fruit contains a large proportion of sugar and saponin4. The seeds contains arachidic, behenic, capric, lauric, linoleic, oleic, myristic, palmitic and stearic acids, polysaccharide composed of L-arabinase, D-glucuronic acid, L-rhamnose and D-xylose, dihydroquercetin, quercitol and a spinasterol. 3 Two new pentacyclic triterpenes, mimusopgenone and mimugenone were isolated from the seeds of plant and characterized as 2-beta, 23-trihydroxy-28 oleana-5 12dien-16-one and 3-β, 23-dihydroxyoleana-5, 12dien-16-one, respectively based on their spectroscopic properties. 5 Two new steroidal glycosides (1&2) have been isolated from plant and characterized as the 3-0-b -D-galacto pyranoside of (24 R) stigmast-7,22 (E)-dien 3-alpha-01, respectively. 6A new triterpense, 3 beta hydroxy-1 lup-20(29)-ene-23, 28-dioic acid has been

isolated from plant. Its structure was established through chemical and spectroscopic studies. The known triterpenes, b amyrinlupeol, a taraxerol were also isolated. 7 The triterpene mimusopic acid possessing the novel migrated cleance skeleton, mimusopene, exhibits anti H.I.V. reverse transcriptase activity and modification of this novel compound may lead to more potent bioactive substance the saponins presents also demonstrated to be isolated, characterized and bio activity evaluated are persented. 8 The roots on extraction with ethanol gave lupeol, acetate, taraxerol, a spinoasterol and b -D glucoside of b sitosterol. The plant has been reported to contain calcium (21. 2mg) and phosphorus (30mg) per 100gm.

Pharmacology:

The leaf extract of plant showed antibacterial activity against *Bacillus, anthrasis, B. mycoides, B. subtilis, Salmonella typhi and Staphylococcus aures*. The inhibition being significant against *Xanthomonas comperstris* and *B. anthracis*.

The aqueaus extract of the plant was mildly active against second stage juveniles of *Meloidogyne incognita*. 9 The saponin had spasmolytic action on isolated guinea pig ileum prepration against acetycholine histamine and barium chloride. It was most active against histamine. 10 Fruit and flowers together with other astringents are used to prepare a lotion for wounds and ulcers. Powder of dried flowers produces copious.

Discharge from the nose, it is sniffed to relieve headache. Seeds bruished into a paste and mixed with oil or ghee are made to from suppositories in cases of obstinate constipation, especially in children. Unripe fruit is a useful masticatory and therfore, recommended to be chewed for fixing loose teeth. Bark infusion or decoction is similarly useful as gargle in salivation in diseases of the gums and teeth and to strength them. It is useful in fevers as a general tonic, pulp of the ripe fruit is eaten as diet in convalescence after diarrhoea, and is used in snake bite, it is also applied to relieve headache. The ripe fruit promotes delivery, flowers yield an oil which is used in perfumery. The root is sweet aphrodisiac, diuretic, astringent to the bowels, good for gonorrhoea, as a gargle cures relexation of the gums.A snuff made from the dried and powderded flowers is given in a disease called "Ahwah" common in Bengal. 7The pulp of the ripe fruit is sweetish and astringent and

has been sucessfully used in curing chronic dysentery.4

Reference:

1.Chuneker, K.C. Bhav Praksah Nighantu, 1969, Chaukhambha Sanskrit Sansthan Varanshi.

2.Kaushik, P., Dhiman, A.K., 2000, Medicinal Plants and Raw Drugs of India

3.Kirtikar, K.R. Basu B.D., 1965. Indian Medicinal Plants.

4.Nadakarni,A.K. 1976 Indian materia Medica, Bombay Popular Prakashan.

5.Sen, S Sahu, N.P. Mahato, S.B.C. 1995, Pentachclic triteerpenoides frm M. elengi, v [38] ;205-207

6.Johan, N.Ahmed, W, Malik,A. 1995 New Steroidal glycosides from *M. elengi*. Journal of Natural Products 58 (8) ; 1244-1247

7.Johan, N.Ahmed, W, Malik,A 1995.A lupene type triterpene from *M elengi* Phytochemistry V 39 (1) ; 255-257

8.Sahu N.P., Mandal N.B. Banerjee, S, Siddique K.A.I. 2001 Chemistry and Biology of triterpenes and saponins from seeds of *M. elengi* Journal of herbs, spices& medicinal plants v.8 (4); 29-33

9.Satyanarayana, T. Rao., D.P.C. and Singh, B.S. 1977,Antibacterial activity of six medicinal plants extracts. Indian drugs 14, 209.

10.Banerji, R. Prakash D. Patnaik, G.K., and Nigam, S.K. 1982 Spasmolytic activity of saponins. Indian Drugs 20, 51.

Navneet, Prabhat and Shri Krishna*
Department of Botany& Microbiology
*Department of Chemistry
Gurukul Kangri University, Haridwar (U.A)

चक्रेश्वरी

(भारत कला भवन की अद्भुत मध्यकालीन मूर्ति)

भारत कला भवन, वाराणसी में हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्म से सम्बन्धित विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियां संगृहित हैं। जैन धर्म से सम्बन्धित प्रस्तर मूर्तियों का विशिष्ट संग्रह यहाँ विद्यमान है। तीर्थकर ऋषभनाथ,पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी की प्रस्तर मूर्तियों के साथ ही साथ यक्ष-यक्षी मूर्तिया भी यहाँ संगृहित हैं। इन्हीं जैन मूर्तियों में से एक स्वतन्त्र अष्टभुजी चक्रेश्वरी की है, जो मध्य काल की है। इस मूर्ति की पंजीयन संख्या 364.81 है तथा इसकी माप 72×39½ सेमी. है। भारत कला भवन की संचय पंजिका में इस मूर्ति से सम्बन्धित कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। अत: प्रतिमा शास्त्र के आधार पर तथा अन्य स्थानों से प्राप्त चक्रेश्वरी की मूर्तियों के साथ तुलनात्मक विवेचन करके इस मूर्ति का वर्णन करना आवश्यक है।

जैन देव समुदाय में देवता के समान माने जाने वाले यक्ष-यक्षियों को शासन देवताओं एवं रक्षक देवताओं के रूप में स्वीकार किया गया है। शासन देवताओं के रूप में हमेशा 'जिनों' के समीप रहने के कारण ही जैन देव कुल में यक्ष-यक्षियों को 'जिनों' के बाद सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली।[1] सहायक देवताओं के रूप में पूजित यक्ष-यक्षियों का उल्लेख आचारदिनकर में 'जिन शासन रक्षाकारकाय' अर्थात् जैन धर्म के रक्षक के रूप में किया गया है। जैन परम्परा के अनुसार 'जिन' मूर्तियों के सिहांसन या सामान्य पीठिका के दाहिनी तरफ यक्ष तथा बाँयी तरफ यक्षी अंकित होनी चाहिए।[2]

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का यक्ष गोमुख तथा यक्षी चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा हैं। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों परम्परा के ग्रन्थों में चक्रेश्वरी का वाहन गरुड़ है और उनकी भुजाओं में चक्र के प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में चक्रेश्वरी को अष्टभुजी एवं द्वादशभुजी उल्लिखित किया गया है। निर्वाणकलिका के अनुसार अष्टभुजी अप्रतिचक्रा का वाहन गरुड़ है। उनके दाहिने हाथों में वरदमुद्रा,बाण,पाश एवं चक्र तथा बाँयें हाथों में धनुष, वज्र, चक्र एवं अंकुश होना चाहिए।[3] त्रिशष्टिशलाकापुरुष चरित,पद्मानन्दमहाकाव्य तथा मन्त्राधिजसकल्प में भी अप्रतिचक्रा से सम्बन्धित इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।[4] रूपमण्डन तथा देवतामूर्तिप्रकरण में द्वादशभुजी चक्रेश्वरी का वर्णन है, जिनकी आठ भुजाओं में चक्र,दो में वज्र तथा दो में मातुलिंग एवं अभयमुद्रा का उल्लेख

---

1 हरिवंश पुराण, 66.43-44; तिलोयपण्णति, 4.934-39

2 प्रतिष्ठासारसंग्रह, 5.12

3 अप्रतिचक्राभिधानां यक्षिणी हेमवर्णां गरुडवाहनामष्टभुजां। वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणकरां धनुर्वज्र-चक्रांकुशवामहस्तां चेति।। (निर्वाणकलिका, 18.1)

4 त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.3, 682-683; पद्मानन्दमहाकाव्य, 14.282-283; मन्त्राधिराजकल्प, 3.51

हैं।[5] आचारदिनकर में अष्टभुजी चक्रेश्वरी की दो भुजाओं में धनुष के प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है।[6] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में चक्रेश्वरी को चतुर्भुजी तथा द्वादशभुजी उल्लिखित किया गया है।[7] श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों परम्पराओं में द्वादशभुजी चक्रेश्वरी के हाथों में समान आयुधों के प्रदर्शन का निर्देश है।

चक्रेश्वरी-अष्टकम् नामक तान्त्रिक ग्रन्थ में चक्रेश्वरी के भयानक रूप का ध्यान है। इस ग्रन्थ में देवी के हाथों की संख्या का उल्लेख है। तीन नेत्रों वाली भयंकर दिखने वाली देवी की पूजा गुह्यकों तथा डाकिनियों से रक्षा एवं अन्य बाधाओं को दूर करने तथा समृद्धि के लिए की गयी है।[8] दक्षिण भारत में गरुड़वाहना चक्रेश्वरी का उल्लेख द्वादशभुजी तथा षोडशभुजी के रूप में किया गया है। दिगम्बर परम्पराओं में षोडशभुजी चक्रेश्वरी के बारह हाथों में युद्ध के आयुध, दो गोद में, एक वरमुद्रा तथा एक अभयमुद्रा में होने का उल्लेख है। दक्षिण भारत के श्वेताम्बर परम्पराओं (अज्ञातनाम) में द्वादशभुजी यक्षी की तीन आँखें बतायी गयी है। इनके आठ हाथों में चक्र, एक में शक्ति, एक में वज्र, एक में पद्म तथा एक वरदमुद्रा में प्रदर्शित होने का उल्लेख है।[9]

प्रारम्भ में जैन शिल्प में तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों में उनके यक्ष-यक्षियों की छोटी आकृतियां उत्कीर्ण की जाती थी, जिनका आकार समय के साथ-साथ बढ़ता गया। 9वीं-10वीं सदी ई0 तक यक्ष-यक्षियों की स्वन्तत्र मूर्तियाँ निर्मित होने लगी, जिनमें उनके तीर्थंकरों की संक्षिप्त आकृति शीर्षभाग में चित्रित होने लगी।[10] चक्रेश्वरी की मूर्ति ऋषभनाथ के साथ तथा सर्वाधिक मूर्तियाँ देवगढ़ में उत्कीर्ण हुई। चक्रेश्वरी की प्राचीनतम स्वतन्त्र मूर्ति देवगढ़ के मन्दिर 12 (862 ई.) की भित्ति पर है। चतुर्भुज मूर्ति त्रिभंग में खडी़ है। देवी का वाहन गरुड़ दाहिने पार्श्व में नमस्कार मुद्रा में खड़ा है। लेख में देवी को 'चक्रेश्वरी' कहा गया है।[11] दसवीं सदी ई. में चक्रेश्वरी की चार से अधिक भुजाओं वाली मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुई। दो अष्टभुजी मूर्तियां (10वीं सदी ई.) ग्यारसपुर के मालादेवी मन्दिर के शिखर पर उत्कीर्ण हैं। दोनों उदाहरणों में गरुड़वाहना यक्षी ललितासन मुद्रा में विराजमान है। दक्षिण

---

5 रूपमण्डन 6.24; देवतामूर्तिप्रकरण, 7.66

6 'स्वर्णाभा गरुडासनाष्टभुजयुग्वामे च हस्तोच्चये वज्रं चापमथांकुशं गुरुधनुः सौम्याशया बिभ्रती' (आचारदिनकर, 34.1)

7 प्रतिष्ठासारसंग्रह, 5.15.-16; प्रतिष्ठातिलकम्, 7.1; प्रतिष्ठासारोद्धार 3.156; अपराजितपृच्छा, 211.15-16

8 शाह, यू.पी. आइकोनोग्राफी ऑफ चक्रेश्वरी, जर्नल ऑफ दि ओरियन्टल इन्स्टीट्यट, बडौ़दा, खण्ड-20 अंक-3, पृ0-279, 306

9 रामचन्द्रन, टी. एन. तिरूपरूत्तिकुणरम ऐण्ड इट्स टेम्पल्स, बुलेटिन ऑफ मद्रास गर्वनमेण्ट म्यूजियम, नंबर-1, भाग-3, मद्रास, 1934, पृ.-197-198

10 तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, उत्तर भारत में जैन यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तिगत अवतारणा, अनेकान्त, वर्ष-25 अंक-1, 1972, पृ0-35

11 तिवारी मारूतिनन्दन प्रसाद जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981, पृ0 168

शिखर की मूर्ति में यक्षी के सुरक्षित हाथों में छल्ला, वज्र, शंख और तीन हाथों में चक्र प्रदर्शित है। उत्तरी शिखर की दूसरी मूर्ति यक्षी के अवशिष्ट हाथों, में खड्ग, आम्रलुम्बि, चक्र, खेटक, शंख और गदा प्रदर्शित है।[12] राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में एक अष्टभुजी चक्रेश्वरी (संख्या 67.152) की कास्य प्रतिमा सुरक्षित है। इसमें चक्रेश्वरी एक पूर्ण विकसित कमल पर ललितासन मुद्रा में विराजमान हैं। इनके आठ हाथों में से छः हाथों में चक्र है, निचला दाहिना हाथ वरदमुद्रा में व बाँयें हाथ में फल प्रदर्शित है। शीश के पीछे बनी प्रभा में ध्यानी आदिनाथ की मूर्ति है। इनका वाहन गरुड़ आलीढ़मुद्रा में पीठिका पर अंकित है। यह मूर्ति प्रतिहार कला, 10 वीं सदी ई. की बनी प्रतीत होती है।[13] चक्रेश्वरी की एक अष्टभुजी मूर्ति चित्तौड़गढ़ में पद्मिनी महल के निकट बने जलाशय की दीवार पर उत्कीर्ण है। 'चक्रेश्वरी' अभिलेखयुक्त इस मूर्ति में अष्टभुजी देवी मानवकृति गरुड़ पर ललितासन मुद्रा में विराजमान है। उनके सबसे नीचे तथा सबसे ऊपर के दो-दो हाथों में कोई अस्पष्ट आयुध हैं मूर्ति जटामुकुट, कुण्डल, हार केयूर, कटक आदि आभूषणों से विभूषित है। वाहन गरुड़ की ग्रीवा में भी सर्पहार का प्रदर्शन है। यहाँ गरुड़ का दायाँ जानु ऊपर उठा हुआ और बायाँ मुड़कर धरा पर रखा हुआ है। वह अपने हाथ से देवी के दायें पैर को और बायें हाथ से देवी के मुड़े हुए बायें पैर के नीचे बने पद्मपीठ को आश्रय दिये हैं।[14]

खुजराहो के घण्टई मन्दिर में 10 वीं सदी ई. की एक अष्टभुजी चक्रेश्वरी की प्रतिमा विद्यमान है, इसकी भुजाओं में फल, घण्टा, चार हाथों में चक्र, धनुष तथा कलश प्रदर्शित है।[15] करीमनगर जिले (आन्ध प्रदेश) के कुरिक्याल नामक स्थान से 10वीं सदी ई. के लगभग मध्य की कुछ जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई। उनमें से एक मूर्ति आदिनाथ की शासनदेवी यक्षी चक्रेश्वरी की है। इस मूर्ति के नीचे कन्नड़ कवि पम्प (लगभग 950 ई.) के भ्राता जिनवल्लभ का अभिलेख है, जिसमें लिखा है कि इस मूर्ति का निर्माण जिनवल्लभ ने कराया।[16] चक्रेश्वरी अर्धपर्यकासन मुद्रा में मानवाकृति गरुड़ पर आसीन हैं। गरुड़ की आकृति नमस्कार मुद्रा में दिखायी गयी है। अष्टभुजी चक्रेश्वरी के बायीं तरफ के दो हाथ में चक्र, एक में वज्र पद्मकलिका (?) एक में कलश तथा दाहिनी तरफ के दो हाथ में चक्र, एक में वज्र तथा एक में शंख प्रदर्शित है। देवी सिर पर किरीटमुकुट धारण किए हैं, जिसमें 'जिन' की आकृति उत्कीर्ण है। यह आकृति अस्पष्ट है। सिर के पीछे प्रभामण्डल का भी अंकन है। इनके गले में हार तथा कानों में कुण्डल प्रदर्शित है।

भारत कला भवन की चक्रेश्वरी यक्षी मानवकृति गरुड़ पर अर्धपर्यंकासन मुद्रा में

---

12 नागर, शान्तिलाल, आंइकोनोग्राफी ऑफ जैन डेइटीज, दिल्ली, 1999, वालयूमन-1, पृ0 257
13 शर्मा, ब्रजेन्द्र नाथ, जैन प्रतिमायें, दिल्ली, 1979, पृ.-52
14 श्रीवास्तव, पंकजलता, हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, लखनऊ, 1990, पृ.-378-379
15 नागर, शान्तिलाल, आइकोनोग्रफ़ी ऑफ़ जैन डेइटीज, दिल्ली-1999 वाल्यूम-1, पृ. 257
16 घोष, अमलानन्द, जैन कला एवं स्थापत्य, नई दिल्ली, 1975, खण्ड 3, पृ0 463, चित्र-302

आरूढ़ है। अष्टभुजी देवी के ऊपरि चार हाथों (दो बाँये तथा दो दाँये हाथ) में चक्र प्रदर्शित है। दाहिना एक हाथ व्याख्यान मुद्रा में तथा एक हाथ वरदमुद्रा में हैं। बाँयें एक हाथ की हथेली का कुछ भाग खण्डित है। ऐसा प्रतीत होता है कि देवी इस हाथ में कुछ धारण किए रही होंगी, जो स्पष्ट है। इनका बायाँ एक हाथ खण्डित है। इस प्रकार देवी के छः हाथों के आयुध ही स्पष्ट हैं(चित्र संख्या-1)। चक्रेश्वरी के सिर पर किरीटमुकुट है, जिन पर 'जिन' की आकृति निर्मित है। यद्यपि आकृति स्पष्ट नहीं है। किन्तु ऐसी सम्भावना है कि यह आकृति ऋषभनाथ की होगी। यक्षी के सिर के पीछे प्रभामण्डल है, जिसमें कमल पंखुड़ियाँ अंकित की गयी हैं (चित्र संख्या-2। इनके कान में कुण्डल बाजुओं में केयूर, हाथों में कंगन का अंकन स्पष्ट दिखायी पड़ता है। गले में उपग्रीवा तथा हारसूत्र प्रदर्शित है जब कि कमर में कटिसूत्र तथा उरुद्याम प्रदर्शित किया गया है। चक्रेश्वरी का स्तन गोल तथा पुष्ट है। ये शरीर के ऊर्ध्वभाग में उत्तरीय तथा अधोभाग में धोती धारण किए हैं (चित्र संख्या-1)।

मानवाकृति गरुड़ ने चक्रेश्वरी को अपने ऊपर धारण किया है। गरुड़ अपने सिर पर देवी का मुड़ा हुआ बायां पैर धारण किए है, जब कि बाँयें हाथ से उनका बाँयां घुटना उठाया हुआ है। यक्षी का दाहिना पैर गरुड़ के वक्षस्थल पर विराजमान है। गरूड़ के कान में कुण्डल, गले में हार, दिखायी पड़ता है। गरुड़ के दाहिनी तरफ बैठी हुई एक नारी आकृति का अंकन है, जिसका मुखाकृति भाग पूर्णतः खण्डित है। सम्भवतः यह चक्रेश्वरी की पार्श्वचर होगी (चित्र संख्या-3)।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में ही अष्टभुजी चक्रेश्वरी का उल्लेख मिलता है। इनकी अष्टभुजी मूतियाँ उत्तर भारत से प्राप्त हुई हैं। करीमनगर नामक स्थान के अतिरिक्त दक्षिण भारत में इनकी अष्टभुजी मूर्तियाँ सम्भवतः नहीं प्राप्त हुई हैं। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्परा की निर्मित की गयी चक्रेश्वरी मूर्तियां का तुलानात्मक अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर तथा मध्य भारत के क्षेत्रों में इनकी दो से बीस भुजाओं वाली मूर्तियाँ 9वीं-12वीं सदी ई. के मध्य निर्मित की गयीं। इनकी सर्वाधिक मूर्तियाँ चार भुजाओं वाली प्राप्त हुई हैं। इनकी दो, चार, आठ, दस तथा बीस भुजाओं वाली मूर्तियाँ ही पर्याप्त मात्रा में मिली हैं।[17] इसके अतिरिक्त बारह तथा सोलह भुजाओं वाली मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। चार से अधिक भुजाओं वाली चक्रेश्वरी की मूर्तियाँ 10 वीं सदी ई. में उत्कीर्ण हुई। चक्रेश्वरी की अष्टभुजी आरम्भिक स्वतंत्र मूर्ति 10 वीं सदी ई. की प्राप्त हुई है। अतः 10वीं सदी ई. के पूर्व अष्टभुजी चक्रेश्वरी की मूर्ति निर्मित नहीं की गयी है। अतः 10 वीं सदी ई. के पूर्व अष्टभुजी चक्रेश्वरी की मूर्ति निर्मित नहीं की गयी थी। इनकी सर्वाधिक मूतियाँ 10वीं-11 वीं सदी ई. में बनीं। इस विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत कला भवन की चक्रेश्वरी यक्षी की प्रतिमा श्वेताम्बर परम्परा की है। यह उत्तर भारत में निर्मित की गयी होगी और इसका समय 10वीं-11 वीं सदी ई. रहा होगा।

चक्रेश्वरी के नाम, उनके आयुध चक्र और वाहन गरुड़ के आधार पर इनका सम्बन्ध वैष्णवी से स्थापित किया जाता है। जैन देवकुल में अप्रतिचक्रा नाम वाली देवी का उल्लेख जैन महाविद्या के रूप में हुआ है। जैन ग्रन्थों में चतुर्भुजी अप्रतिचक्रा के चार हाथों

---

17 नागर, शान्तिलाल, आइकोनोग्राफी ऑफ जैन डेटीज, दिल्ली, 1999, वाल्यूम-1, पृ.-257

में चक्र के प्रदर्शन का निर्देश है किन्तु शिल्पकला में इसका पालन नहीं किया गया है। इसी कारण से गुजरात और राजस्थान क्षेत्र में चक्रेश्वरी यक्षी एवं अप्रतिचक्रा महाविद्या के मध्य स्वरूप से सम्बन्धित अन्तर स्पष्ट कर पाना अत्यन्त कठिन है। इन स्थानों पर महाविद्याओं की विशेष लोकप्रियता देवी के चक्र, गदा तथा शंख आयुधों तथा उसके साथ रोहिणी, वैरोट्या, महामानसी एवं अच्छुप्ता महाविद्याओं की विद्यमानता के आधार पर उसकी पहचान महाविद्या से ही की गयी है। कुम्भारिया के शान्तिनाथ मन्दिर के वितान के सोलह महाविद्याओं के सामूहिक चित्रण में चतुर्भुजी अप्रतिचक्रा भी अंकित है। अप्रतिचक्रा के दो हाथ में चक्र, एक में शंख तथा एक वरदमुद्रा में है। विमलवसही की देव कुलिका, संख्या 10 पर अष्टभुजी चक्रेश्वरी की मूर्ति निर्मित है। इसकी तिथि 1230 ई. निर्धारित की गयी है। यक्षी की पीठिका के समीप पक्षी रूप में गरुड़ की आकृति बनी है। चक्रेश्वरी के दो हाथों में चक्र, दो में छल्ला, एक में पद्मकलिका, एक में फल, एक वरद मुद्रा तथा एक व्याख्यान मुद्रा में प्रदर्शित है।[18]

उपर्युक्त विवरण से यह प्रमाणित होता है कि चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा यक्षी की पूजा ऋषभनाथ के साथ संयुक्त रूप से अथवा स्वतन्त्र रूप से की जाती थी। उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक इनकी दो, चार, छः आठ, दस, बारह, सोलह तथा बीस भुजाओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। देवशक्तियाँ जितने रूपों में कार्य करती हैं, अस्त्र उन्हीं के काल्पनिक संकेत हैं। चक्रेश्वरी की भुजाओं में प्रदर्शित लांक्षन या आयुध उनकी बहुमुखी शक्तियों की परिचायक हैं।

इनकी भुजाओं में विभिन्न प्रकार के आयुध मिलते हैं, जिससे शक्ति का आभास होता है। हिन्दू मातृका वैष्णवी की मूर्तियाँ इतनी अधिक मात्रा में नहीं प्राप्त होती। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि चक्रेश्वरी यक्षी वैष्णवी की अपेक्षा अधिक मान्य थीं और उनकी पूजा वैष्णवी की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्रों तक होती थी। चक्रेश्वरी केवल शक्ति की ही प्रतीक नहीं थीं बल्कि महाविद्याओं में भी इनकी गणना अप्रतिचक्रा के रूप में हुई है। वैष्णवी, लक्ष्मी तथा दुर्गा नामक हिन्दू देवियों के आयुध चक्रेश्वरी की भुजाओं में धारण करने का उल्लेख है तथा मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा में इन देवियों के गुण विद्यमान थे। अतः जैन देव समुदाय में चक्रेश्वरी काफी महत्त्वपूर्ण देवी के रूप में मान्य रही हैं।

डॉ. अनिल कुमार सिंह
सहायक संग्रहाध्यक्ष
भारत कला भवन
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

18 वही, पृ०-255-256

पुस्तक-समीक्षा

वैदिक साहित्य एवं संस्कृति

प्रसिद्ध भाषाविद् एवं पद्मश्री डॉ. कपिल देव द्विवेदी का नाम विद्वज्जगत् में अपरिचित नहीं है। इनकी जगच्छ्रेयोविधायिनी लेखनी से विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थप्रसून निःसृत हुए है। आप जहाँ व्याकरण और भाषाविज्ञान के मर्मज्ञ हैं वहीं वैदिक साहित्य के भी अद्भुत पंडित हैं। आपने दो वेद संहिताओं को कण्ठाग्र कर द्विवेदी नाम को सार्थक किया है।

यों तो वैदिक वाङ्मय के इतिहास और संस्कृति पर अनेकों ग्रन्थ लिखे गये हैं। जिनमें मैक्समूलर, वेबर, मैक्डॉनल, विक्टरनित्स, कीथ, रूडोल्फ रोठ, पं. भगवद्दत्त, पं. बलदेव उपाध्यायय, पं. कुन्दनलाल शर्मा, राम गोविन्द त्रिवेदी, डॉ. मुन्शीलाल शर्मा, डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय, प्रो. बी.बी. चौबे, डॉ. राममूर्ति शर्मा, डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर आदि के द्वारा समय-समय पर प्रणीत ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। परन्तु, डॉ. द्विवेदी द्वारा लिखित यह ग्रन्थ प्रबुद्ध वेदप्रेमी पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है, इसका उद्देश्य है- संक्षेप में समग्र वैदिक वाङ्मय का दिग्दर्शन कराना। साथ ही सांस्कृतिक पक्ष को भी प्रस्तुत करना। इसके लिए ग्रन्थकार ने सूत्रशैली को अपनाया है। ग्रन्थकार ने इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा है कि कोई उपयोगी तथ्य छूटने न पावे। नवीनतम अनुसंधानों को भी इसमें समाविष्ट किया गया है। भारतीय और पाश्चात्त्य विद्धानों ने वैदिक वाङ्मय की जो महनीय सेवा की है, उसका भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

यह ग्रन्थ 13 अध्यायों में विभक्त है। इसमें वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् और 6 वेदांगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रस्तावना में वेद संबन्धी विविधविषयों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उसमें वेदों का महत्त्व, वेदों का रचनाकाल, वेदों की विविध व्याख्या-पद्धतियाँ, वेदों की अपौषेयता, आदि का विवेचन है। भारतीय विद्वानों के विचारों के साथ ही पाश्चात्त्य विद्वानों के मत का भी यथास्थान उल्लेख किया गया है।

प्रारम्भ के 6 अध्यायों में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनषिद् और वेदांगों के विषय में सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक वेद के विवेचन के अन्त में महत्त्वपूर्ण सूक्त, मन्त्र और सूक्तियों का भी उल्लेख किया गया है।

अध्याय 7 और 8 में वैदिक का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। इसमें भूगोल, सामाजिक जीवन, आर्थिक स्थिति और राजनीतिक अवस्था का परिचय दिया गया हैं। अध्याय 9 में वैदिक देवों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक देव की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख है। अध्याय 10 में वैदिक यज्ञ-प्रक्रिया का महत्त्व, आध्यात्मिक स्वरूप और विविध भागों एवं दृष्टियों के क्रिया कलाप का विवेचन है।

अन्त के तीन अध्याय परिशिष्ट रूप में हैं। अध्याय 11 में संक्षेप में वैदिक व्याकरण की प्रमुख विशेषताएँ दी गई हैं। स्वर सम्बन्धी नियम विशेष रूप से दिए हैं। संहितापाठ से पदपाठ बनाना और पदपाठ से संहितापाठ बनाने की विधि समझाई गई हैं। अध्याय 12 इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण अंश है। वेदों में आचारशिक्षा, नीतिशिक्षा आदि ही नहीं हैं, अपितु कुछ महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य भी सूत्र रूप में विद्यमान हैं। उनके निर्देशनार्थ कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकलन भी प्रस्तुत किया गया है। अध्याय 13 में वेदों में विद्यमान काव्य, सौन्दर्य के कुछ उदाहरण दिए गए हैं।

मेरी दृष्टि में इस ग्रन्थ में लेखक ने 'गागर में सागर' इस उक्ति का सफल प्रयोग प्रदर्शित किया है। ग्रन्थ का मुद्रण बहुत अच्छा है। कवर पृष्ठ भी आकर्षक है। निश्चय ही यह ग्रन्थ वेदप्रेमी पाठकों की जिज्ञासाओं को पूर्ण करने में सफल होगा। बहुत समय के बाद ऐसा अद्भुत ग्रन्थ पढ़ने को मिला है। स्वाध्याय करने वालों को यह ग्रन्थ एक हैण्ड बुक के रूप में स्वीकृत होगा। मेरी लेखक और प्रकाशक दोनों को हार्दिक बधाई और शुभकानाएं हैं।

निबन्ध भेजने वाले विद्वानों से निवेदन

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिन लेखों में शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, उनको प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाण एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये।
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- सभी विद्वानों से अनुरोध है कि वे गुरुकुल-शोध-भारती के लिये कम्प्यूटर से टंकण कराये गये शोध-निबन्ध ही भेजें, जिससे लेख तथा उसके उद्धरणों को शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति ही प्रकाशित करने के लिये भेजें।
- वैदिक साहित्य से सम्बन्धित शोध-लेख प्रेषित करने वाले विद्वानों से अनुरोध है कि वे मन्त्र पर उदात्त, अनुदात्तादि स्वरों को अवश्य अङ्कित करें।

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका

(A Half-yearly Research Journal)

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

2004

सम्पादक-मण्डल

मुख्यसंरक्षक	प्रो. स्वतन्त्र कुमार कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
संरक्षक	प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
सम्पादक	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
अस्याङ्कस्य निर्णायकः	डॉ. गणेशदत्त शर्मा पूर्व प्राचार्य, एल. आर. (पी.जी.) कालेज, साहिबाबाद, उ.प्र.
व्यवसाय-प्रबन्धक	डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
प्रकाशक	प्रो. ए.के. चोपड़ा कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
मूल्य	२०० रुपये वार्षिक

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका

सम्पादकीयम्

वैदिक अग्निहोत्र और ब्रह्माण्ड

भारतीय वैदिक दर्शन की मान्यता रही है कि '**यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**' जिस प्रकार पिण्ड में है, उसी प्रकार का ब्रह्माण्ड में है। यदि हम ब्रह्माण्ड को जानना चाहें तो उसका सरल उपाय यह है कि हम अपने शरीर को जान लें, शरीर से भी बहुत छोटी इकाई अणु को जान लें। जो एक अणु में विद्यमान है, वही समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान है।

आज के भौतिकतावादी युग में विज्ञान के तीव्र गति से होने वाले विकास ने समस्त विश्व का पर्यावरण प्रदूषित कर दिया है। इस प्रदूषण ने ध्वनि, वायु और जल आदि को पूरी तरह से न केवल प्रदूषित कर दिया है, अपितु उसे जीवन जीने योग्य भी नहीं रहने दिया है। आज स्थिति यह है कि जीवन की आधारभूत वायु शुद्ध रूप में उपलब्ध नहीं हो पा रही है। पृथिवीस्थित जल की बात जाने दीजिए, मानव ने अन्तरिक्षस्थ जल को भी इतना अधिक प्रदूषित कर दिया है कि वर्षा से विश्व के कतिपय भागों के जंगल जलने लग गए हैं। जो जल अन्न का मूल कारण माना जाता रहा है,[१] वह अब अन्न और वनस्पतियों का विनाशक हो रहा है। सूर्य की पराबैंगनी किरणों से पृथिवीस्थित प्राणियों की रक्षा करने वाला सुरक्षाचक्र (ओजोन परत) मानव की अनियन्त्रित अभिलाषाओं का शिकार होकर छिन्न-भिन्न होता जा रहा है और जानते हुए भी प्रगतिशील कहलाए जाने वाले सभ्य देश इस दिशा में यथोचित प्रयास नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शनैः शनैः पृथिवी प्राणियों के रहने के अयोग्य होती जा रही है। आज का विज्ञान, भले ही, सुख-सुविधा के जुटाने का माध्यम हो, लेकिन वह तीव्रता के साथ मानवता के विनाश का पथ भी प्रशस्त कर रहा है और मनुष्य को मानसिक एवं शारीरिक रूप से रोगग्रस्त बना रहा है।

लेकिन सृष्टि के आदि में परमात्मा के द्वारा प्रदान किया गया वेद और उसमें निहित यज्ञविज्ञान उक्त समस्या का समाधान करता हुआ स्पष्ट रूप से कहता है कि यज्ञ से सत्याचरण, अमृत की प्राप्ति, यक्ष्मा रोग का निवारण, नीरोगता, दीर्घजीवन, शत्रुत्व का अभाव, अभय, सुख, निद्रा, सुन्दर उषःकाल, दिन का शुभारम्भ प्राप्त होते हैं।[२] एक अन्य मन्त्र में यज्ञ के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यज्ञ का आचरण करो। आयु यज्ञमय बनाओ, प्राण यज्ञमय बनाओ.......... आत्मा यज्ञमय बनाओ। यहाँ तक कि अन्त में मन्त्र कहता है कि देव अर्थात् विद्वान् भी इस प्रकार का जीवन जीकर अमृत अर्थात् अमर हो गए। इसके अतिरिक्त अन्तिम चरण में वेद कहता है कि प्रजापति की हम प्रजा बनें, इसलिये हमारा जीवन यज्ञमय

---

१. गीता-३.१४. 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥'

२. यजु०१८.६. 'ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥'

होना चाहिए।[३]

प्रजापति ने स्वयं इस ब्रह्माण्ड को यज्ञ के द्वारा प्रादुर्भूत किया है। पुरुषसूक्त सृष्टि के प्रारम्भ में होने वाले यज्ञ का चित्रण करता करता हुआ कहता है कि सृष्टि के आरम्भ में होने वाले इस यज्ञ में परमपुरुष ने वसन्त को आज्य, ग्रीष्म को समिधायें और शरद् को हवि बनाकर प्रस्तुत किया था।[४] इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड का मूल उद्गम यज्ञ ही है। पुरुषसूक्त के एक अन्य मन्त्र में इस यज्ञ की सात परिधियाँ[५] और २१ समिधायें[६] प्रतिपादित की हैं।[७] यह यज्ञ भौतिक होता हुआ भी आध्यात्मिक है, सृष्टिविद्या के रहस्य का प्रतिपादन करता हुआ भी मानव की आज की समस्याओं का युक्तिसङ्गत समाधान प्रस्तुत करता है।

महर्षि दयानन्द भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के एकमात्र ऐसे विचारक हुए हैं, जिन्होंने वेद और विज्ञान को एक साथ देखा। उनकी दृष्टि में विज्ञान का ही एक युक्तिसङ्गत नाम **यज्ञ** है। इसका कारण यह रहा है कि वेद की दृष्टि में यज्ञ भुवन की नाभि है-**'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।'**[८] वेद प्रतिपादित यज्ञविद्या हो अथवा आज का विज्ञान, दोनों का मूल ऊर्जा है। इसीको वेद की भाषा में अग्नि कहा गया है। इस अग्नि का न केवल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, अपितु वैदिक देवताओं में भी प्रथम स्थान है, इसलिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में **'अग्निः सर्वा देवताः'**[९] कहा गया है। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'**[१०] के रूप में अग्नि का ही कथन किया गया है। सम्भवतः इसलिये ऋग्वेद का प्रारम्भ अग्नि की स्तुति के साथ होता है-**'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।'**[११] मन्त्र में अग्नि को यज्ञ का देव बताया गया है। इसकी एक व्याख्या ब्राह्मण **'वाग्वै यज्ञः'**[१२] के रूप में भी करता है। इस प्रकार अग्नि ही वाक् है, विद्या के समस्त प्रकार एक प्रकार से अग्निहोत्र ही हैं, यदि वे पुरोहित अर्थात् प्राणिमात्र के कल्याण की भूमिका को अङ्गीकार करते हुए विकसित होते हैं। यज्ञ का तात्पर्य ही प्राणिमात्र का कल्याण है। जो विज्ञान प्राणिमात्र के प्रति समर्पित होता है, वही यज्ञ है। इसी को ध्यान में रखकर ऋषियों ने **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**[१३] कहा है। यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है और

---

३. यजु०१८.२९. 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳩं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳩं स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा॥'

४. ऋ०१०.९०.६. 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

५. तै०३.८.१८.४. 'इमे वै लोकाः परिधयः।' (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्-इति सप्त लोकाः परिधयः।)

६. श०ब्रा०९.२.३.४९. 'प्राणा वै समिधः। ता०२.१४.२. 'प्राणा इन्द्रियाणि।' (१० इन्द्रियाँ+१०प्राण+१ मन=२१ समिधाएँ।)

७. ऋ०१०.९०.१५. 'सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।'

८. ऋ०१.१६४.३५.

९. ऐ०ब्रा०२.३.

१०. ऋ०१.१६४.४६.

११. ऋ०१.१.१.

१२. ३.१.३.२७.

१३. शत०ब्रा०१.७.१.५.

या यह भी कह सकते हैं कि जो भी श्रेष्ठतम कर्म है, वही यज्ञ है।

प्राचीन काल में यज्ञ का उपयोग अनेक रूपों में होता रहा है, जहाँ यह यज्ञ चिकित्सा का माध्यम था, वहीं यह प्राणिमात्र के लिये पर्यावरण को सुरक्षित भी बनाता था। इसमें जहाँ एक ओर मनुष्य की आयु बढ़ाने के साधनों का प्रतिपादन किया गया है, जिसे कालान्तर में आयुर्वेद भी कहा गया है, वहीं यह सूक्ष्मजीवों की रक्षा और हानिकारक कृमियों से प्राणियों को सुरक्षित करने का भी एक प्रयास रहा है। अथर्ववेद कहता है कि जिस प्रकार नदी फेन को बहाकर ले जाती है, उसी प्रकार यह हवि यातनादायक रोगकारक कृमियों को हमसे दूर ले जाए। इस अग्निहोत्र को करने वाले स्त्री-पुरुष स्तुत्य अर्थात् अनुकरणीय हैं, जिस प्रकार वे हवि के द्वारा रोगकारक कृमियों से मुक्त हो गये, उसी प्रकार अन्यों को भी अग्नि का स्तवन करना चाहिये।[१४]

महर्षि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में तीन प्रकार के यज्ञों का सङ्केत किया है-प्रथम-अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्य्यन्त, द्वितीय-प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त जगद् का रचनरूप यज्ञ तथा शिल्पविद्या और तृतीय-सत्सङ्ग आदि विज्ञान से अध्यात्म एवं योगरूप यज्ञ। वेदभाष्यकारों में महर्षि दयानन्द ही अकेले ऐसे वेदभाष्यकार हैं, जो इतने व्यापक सन्दर्भ में वेद और यज्ञ को ग्रहण करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण कहता है कि अग्नि से धूम, धूम से मेघ, मेघ से वर्षा होती है। अत: अग्नि ही वर्षा का कारण है।[१५] आचार्य मनु कहते हैं कि अग्नि में दी गयी आहुतियाँ सूर्यमण्डल में पहुँचती हैं, उससे मेघ बनते हैं, मेघ से वर्षा और उससे अन्न उत्पन्न होता है।[१६] गीता में भगवान् कृष्ण यज्ञ विषयक सत्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि अन्न से भूत उत्पन्न होते हैं, वर्षा से अन्न होता है, यज्ञ से पर्जन्य होते हैं और श्रेष्ठ कर्मों से यज्ञ होता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि यज्ञ न केवल जीवन को सुखमय बनाता है, अपितु वह जीवन का आधार भी है। जब भी इस पृथिवी पर जीवन अवतरित हुआ होगा, वैज्ञानिकों के अनुसार उस समय पृथिवी के वातावरण में प्राणवायु की बहुलता रही होगी। जब भी जीवन इस धरा पर समाप्त होगा, उसका भी एकमात्रं कारण यह होगा कि उस समय पृथिवी पर प्राणवायु की न्यूनता हो जायेगी। इस प्रकार जीवन की आधारभूत आवश्यकता जो प्राणवायु है, उसका भी आधार यज्ञ है। इसलिये समस्त पुरातन भारतीय प्रज्ञा यज्ञ को जीवन के आधार रूप में प्रस्तुत करती है।

जहाँ यज्ञ जीवन का आधार है, वहीं यज्ञ से अन्य अनेक भौतिक व आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होते हैं। यज्ञ में जिन घटक द्रव्यों का प्रयोग होता है, वे सभी वायुशोधक तथा रोगनाशक होते हैं। इन सब में सबसे मुख्य घृत है। शास्त्रों में घृत को **'आयुरेव घृतम्'** कहकर सम्बोधित किया है। मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसा क्या कारण है कि यज्ञ का सबसे प्रमुख घटक द्रव्य घृत है। जहाँ तक आध्यात्मिक और

---

१४. अथर्व०१.८.४. 'इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्। य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः॥
१५. शत०ब्रा०५.३.५.१७. अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः।
१६. मनु०३.७६. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

व्यावहारिक उत्तर है, यह कहा सकता है कि घृत में स्नेहन है, जीवन का प्रारम्भ भी स्नेह से होता है। स्नेहरहित जीवन मरुस्थल से भी अधिक कष्टदायक है। परन्तु जहाँ तक वैज्ञानिक उत्तर का सम्बन्ध है, कहा जा सकता है कि यह रोगनाशक है। घृत को विषनाशक के रूप में प्रयोग भी किया जाता है। प्लेग के सम्बन्ध में यज्ञ के प्रभाव का उल्लेख करते हुए डॉ. हैम्पकिन का कहना है कि घृत के परमाणु से जो वाष्प बनती है, वह रोग के कीटाणुओं को नष्ट कर देती है। मद्रास के 'सेनीटरी कमिश्नर' कर्नल किंग ने सन् १८९८ में विद्यार्थियों को सलाह दी थी कि उन्हें चावल में घृत और केशर मिलाकर हवन करना चाहिये, उसकी गैस से रोग के कीटाणु मर जाते हैं। उनका तो यहाँ तक कहना था कि अंग्रेजी शब्द 'हाईजीन' सम्भवतः 'हवन' से निकला होगा।[१७] उक्त सम्भावना को आगे बढ़ाते हुए यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी भाषा में ऐसे अनेक शब्द हैं जो यह संकेत करते हैं कि प्रतिदिन के जीवन में हवन का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसे-होम (Home) शब्द गृहवाचक है, परन्तु यदि हम उक्त शब्द का निर्वचनपरक अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि वह घर होम है, जिसमें प्रतिदिन हवन होता हो। इसी प्रकार का एक ओर शब्द होली (Holy) है, यद्यपि अंग्रेजी में यह पवित्रता का वाचक है, परन्तु वह पवित्रता कैसे आ सकती है, यह जानना हो तो वह मार्ग हवन से होकर गुजरता है। जहाँ हवन होता है, वहाँ स्वाभाविक रूप से वातावरण पवित्र हो जाता है। ऋग्वेद में अग्नि को विश्वशुच् अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को पवित्र करने वाला, बुद्धि को धारण करने वाला तथा असुरघ्न अर्थात् आसुरी=पर्यावरण को प्रदूषित करनी वाली शक्तियों के हनन करने वाले के रूप में चित्रित किया गया है।[१८] एक अन्य मन्त्र में अग्नि को कवितम (विद्वत्तम) और पावक नाम से सम्बोधित किया गया है।[१९] वाजसनेयि-संहिता में यज्ञ को वसु अर्थात् निवासयोग्य संसार को पवित्र करने वाला कहा गया है।[20] महर्षि दयानन्द अग्निहोत्र का एक प्रमुख उद्देश्य जल और पवन की शुद्धि मानते हैं। वे कहते हैं-

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते 'तदग्निहोत्रम्'। सुगन्धिपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्य्यबलकरैर्रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगादत्यन्तोत्तमतया सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव। अतस्तत्कर्मकर्तृणां जनानां तदुपकारतयाऽत्यन्तसुखलाभो भवतीश्वरप्रसन्नता चेत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम्।

अग्नि वा परमेश्वर के लिये जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञा पालन के अर्थ होत्र जो हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे **'अग्निहोत्र'** कहते हैं। केशर, कस्तूरी आदि सुगन्ध; घृत, दुग्ध आदि पुष्ट; गुड़, शर्करा

---

१७. डॉ. श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, यज्ञों की उपयोगिता, पृ०८६.

१८. ऋ०७.१३.१. प्राग्नये विश्वशुचे धियन्धेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्।

१९. ऋ०७.१०.१. मन्द्र कवितमः पावकः।

२०. यजु०१.२. वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि। शत०ब्रा०१.७.१.९. यज्ञो वै वसुर्यज्ञस्य पवित्रमसि।

आदि मिष्ट तथा सोमलतादि ओषधि रोगनाशक, जो ये चार प्रकार की के बुद्धिवृद्धि, शूरता, धीरता, बल और आरोग्य करने वाले गुणों से युक्त पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि करके शुद्ध पवन और जल के योग से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उससे सब जीवों को परम सुख होता है। इस कारण उस अग्निहोत्र कर्म्म करने वाले मनुष्यों को भी जीवों के उपकार करने से अत्यन्त सुख का लाभ होता है। तथा ईश्वर भी उन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है। ऐसे ऐसे प्रयोजनों के अर्थ अग्निहोत्रादि का करना अत्यन्त उचित है।[२१]

इस प्रकार यज्ञ न केवल प्राणिजगत् की उत्पत्ति का मूल है, वरन् वह आज उसके अस्तित्व का मूलाधार भी है। इस तथ्य को हृदयङ्गम करने के लिये आज के परिप्रेक्ष्य को समझना होगा। उर्दू भाषा में वायु के लिये 'हवा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह हवा शब्द हवन को संकेतित कर रहा है, हवन की गन्ध लेकर आने वाला वायु ही 'हवा' है। लोक में 'हवा खायी जाती है' यह प्रयोग प्रायः सुनने को मिलता है। आज के प्रदूषित युग में शुद्ध हवा (ऑक्सीजन) का भक्षण करने की डॉक्टर सलाह देते हैं और बाकायदा कैफे में उस ऑक्सीजन को लेने के लिये रु०१०० प्रति घण्टा के हिसाब भुगतान करना होता है। वातावरण जब तक अधिक प्रदूषित नहीं था, हम यज्ञ की उपयोगिता की उपेक्षा कर रहे थे, लेकिन आज हम उस स्थान पर खड़े हैं, जहाँ अग्निहोत्र की उपेक्षा करने पर मनुष्य की तो क्या सम्पूर्ण प्राणिजगत् का अस्तित्व संकट में पड़ सकता है। अतः हमको न चाहते हुए भी ऐसे उपायों को अपनाना होगा, जिनसे पर्यावरण सुरक्षित होता हो। पृथिवी के इतिहास में प्राणिजगत् पर इससे बड़ा संकट इससे पहले कभी नहीं आया था। आज जब हम विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ा हुआ मानवजाति को मान रहे हैं, तब भी हम कोई ऐसा समाधान प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है, जो आम के आम और गुठलियों के दाम की कहावत को चरितार्थ करता हो, जो सबके लिये सुलभ हो, जो व्यक्ति के सामाजिक आचरण में सन्तुलन स्थापित करने के साथ-साथ भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति भी सुनिश्चित करता हो। हमारे ऋषियों की दूरदृष्टि ने न केवल वर्तमान युग के अभिशाप का ही प्रत्यक्ष किया था, वरन् उसका ऐसा समाधान भी प्रस्तुत किया था, जो सर्वसुलभ होने के साथ-साथ मानव की सर्वाङ्गीण प्रगति का संवाहक भी हो। उन्होंने इसको अग्निहोत्र नाम से अभिहित किया था। इस नामकरण में अग्नि की प्रधानता है। इस नामकरण के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि जीवन में यदि **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** के संदेश को चरितार्थ करना है तो अग्नि की शरण में आओ, जीवन में यदि आगे बढ़ना हो, प्रगति का पथ प्रशस्त करना हो, अग्नि की उपासना करो, इसलिये ऋषि बार **'अग्ने नय सुपथा राये'**[२२] का पाठ करता है।

---

२१. प०म०य०वि०
२२. यजु०४०.१६.

अन्त में एक बार पुनः यज्ञ के वेद यजुर्वेद के माध्यम से यह कहना उचित प्रतीत होता है कि जो विश्व को धारण करने वाले इस श्रेष्ठतम कर्म को करते हुए, सुख से निरपेक्ष होकर यज्ञ का सम्पादन करते हैं, वे दुःख से ऊपर उठकर प्रकाशलोक को प्राप्त करते हैं।[२३] लेकिन जो यज्ञीय नाव पर आरूढ़ नहीं हो पाते हैं, ऐसे शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वाले पतन के गर्त में धँसते चले जाते हैं।[२४] इसलिये यदि दिव्य शक्तियों से अभिमण्डित होना चाहते हो और ऐसा कार्य करना चाहते हो जो असाधारण, विशिष्ट और सबके लिये कल्याणकर हो तो हमें अग्निहोत्र का आश्रय लेना चाहिये।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
सम्पादक
गुरुकुल-शोध-भारती

---

२३. यजु०१७.६८. 'स्वर्य्यन्तो नापेक्षन्तऽआ द्याꣳ रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारꣳ सुविद्वाꣳसो वितेनिरे॥'
२४. ऋ०१०.४४.६. न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः।

अग्निहोत्र-ब्रह्माण्डयोः शाश्वतिकः सम्बन्धः

प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री

सकलब्रह्माण्डनिर्मात्रा परमेष्ठिना परमेश्वरेण जगत्सृष्टिक्रमेण मानवा यज्ञकर्मकरणाय वेदविद्यया संदिष्टाः। सृष्टौ प्रतिक्षणं दृश्यते यज्ञपद्धतिः। परमात्मा यज्ञरूप एव, तेन यज्ञरूपेण परमात्मना निखिलं जगत् सर्वा विद्या सर्वे वेदाः सर्वा ऋचः सर्वे प्राणिनश्च निर्मिताः। यजुर्वेदस्यैकत्रिंशदध्याये सर्वेषु मन्त्रेषु परमात्मा यज्ञपुरुषरूपेणैव वर्णितः। यथा-

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।।[1]
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।[2]
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।[3]
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।[4]
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।[5]

इमे मन्त्रा यज्ञशब्देनाग्निहोत्रस्य ब्रह्माण्डस्य च अविच्छिन्नं सम्बन्धविशेषं परिपुष्णन्ति। दिने दिने मे जना अग्निहोत्रविधौ प्रवृत्तिमुद्भावयन्ति ते विष्वक् प्रसृतिमुपगच्छन्तो लभन्ते सुखमूलम्। स्वर्गमथ तत्सुखञ्च कामयमाना ये मानवा अग्निहोत्रे श्रद्धां वितेनिरे ते लेभिरे समीप्सितं सुखम्। समुद्घोषयति वेदमन्त्रः-

---

१. यजु०३१.६.
२. यजु०३१.७.
३. यजु०३१.९.
४. यजु०३१.१४.
५. यजु०३१.१६.

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे।।[६]

ऋग्वेदस्य प्रथमे मन्त्रे अग्निरेव देवैरीडितोऽथ मनुष्यैरीडितो वर्धितश्च। अग्निपदस्य यान्यपि गुणप्रकल्पितानि पदानि प्रयुक्तानि तानि सर्वाणि सन्ति होमविधानप्रख्यापकानि, यथा-

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।[७]
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवानेह वक्षति।।[८]

निखिले ब्रह्माण्डे खल्वग्निरेव शक्तिसञ्चारकः। अग्निरेव समेषां देवतानां मुखमस्तीति वेदेष्वभिहितम्। अग्निरेव सर्वान् देवान् अपवित्रान् पवित्रयति दुर्बलान् करोति सबलान्। जलवायुपृथिव्याकाशादीनां शोधनं अग्निनैव क्रियते। अग्नौ हुतं शुद्धं द्रव्यं सकलं ब्रह्माण्डं शोधयति न केवलं पावयति परिपुष्टमपि करोति। सर्वे देवा ये भौतिकदेवाः सन्ति ते अग्निमेव स्तुवन्ति, यथा शरीरे मुखस्य मुख्यं स्थानं तथैव सकलब्रह्माण्डदेहे मुखमिव मुख्यं स्थानमग्नेर्विद्यते, अत एवोक्तम्-**अग्निमुखं प्रथमं देवतानां सुतोत्तमानामुत्तमो विष्णुरासीत्।**

अग्निहोत्रप्रक्रिया-विनिमयवादिनी

यथा द्वयोः पुरुषयोर्द्वयोः प्रान्तयोर्द्वयोर्देशयोः पारस्परिकविनिमयेन सुखप्रदा व्यवस्थास्थिरतामुपैति तथैव द्यावापृथिव्योर्द्वयोर्लोकयोर्विनिमयं निःसंशीतिपुरस्सरमग्निहोत्रपद्धतिरेव कर्तुं प्रभवति। आदान-प्रदानव्यवस्थाविनिमयपदबोध्या। अत एव 'हु' दानादानात्मकधातोर्निष्पन्नं होत्रपदं अग्निपदेन सह सार्थकतामासाद्यावबोधावदानसम्पृक्तिमावहति। द्युस्थानीया देवा पर्जन्येन भूलोकं पालयन्ति, पृथिवीस्थानीया देवा अग्निनाग्निहोत्रेण द्युलोकं तोषयन्ति। अथर्ववेदे प्रकृतार्थवाचको मन्त्रः समुपलभ्यते-

पर्जन्या भूमिं जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्ति चाग्नयः।[९]

श्रुतिगामिनाऽद्येन मनुना अग्निहोत्रस्य महत्त्वं प्रकटयतोभयोर्लोकयोर्विनिमययोर्विवित्कैः सुवर्णाभरणैर्विभूषितः। यथा-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायतेर्वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।[१०]

द्यावापृथिव्योरमुमेवाग्निहोत्रसम्पाद्यं विनिमयं वेदशास्त्रमर्मज्ञो यज्ञानुष्ठानपरम्परापरिपोषको नीतिनिपुणो धर्मध्वजोत्तोलको गीतोद्गायको भगवान् श्रीकृष्णः समुवाच-

---

६. अथर्व०१.१४.४.
७. ऋ०१.१.१.
८. ऋ०१.१.२.
९. अथर्व०
१०. मनु०३.७६.

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।[११]

अत्रास्मिन् पद्ये समभिव्यज्यते यज्ञगज्जीवनदायिनी शक्तिरग्निहोत्राश्रिता। कवितावनिताविलासेन महाकविना कालिदासेन स्वकीये रघुवंशमहाकाव्ये विनिमयप्रसङ्गे यज्ञस्याद्भुतं वर्णनं कृतम्। स कथयति यद्राजा गोरूपधरां धरित्रीं नक्तन्दिवं दोग्धि यज्ञाय अर्थाद् अग्निहोत्रमेव समुद्दिश्य राजा पृथिव्या दुग्धान्नादिकं लभते। अग्निं दूतमिव मत्वा तन्माध्यमेन पृथिवीप्रोद्भूतमन्नादिकं द्युलोकं प्रेषयति तथैव द्युलोकाधिपो मघवापि प्रभूतमन्नोद्भवमभिलक्ष्य समग्रं द्युलोकं दोग्धि पर्जन्यपयः। पर्जन्यं भूलोके सम्प्रेषयति सहस्रपरिवर्धयितुमन्नम्। यथोक्तम्-

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्-विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्।।[१२]

अग्निहोत्रपद्धतेः प्रसारयिता रक्षिता च भूपतिरेव नृणां मध्ये परिगण्यते। राज्ञः कर्तव्यमिदं यत्स सर्वदैव प्रजानामभ्युदयं सर्वतोभावेन समभिकाङ्क्षमाणो निस्तन्द्रो भवेदग्निहोत्रविधानाभिरक्षणे। स एव राजा भवति प्रशस्यो यस्य राज्ये सस्यश्यामला भूमिर्विभाति। सस्यानि न जलं विना, जलं न जायते अग्निहोत्रं विना। अत एव पूर्वपूर्वतमा राजानो विहिताग्निहोत्रा पर्जन्यकृतां पृथिव्याः सस्यश्यामलतां कामयन्ते स्म। यथोक्तम्-

राजा त्वर्थान् समाहृत्य कुर्यादिन्द्र महोत्सवम्।
प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिं समावहत्।।

यजुर्वेदीयं **'देहि मे ददामि ते'** वाक्यमिदं परस्परं भावयन्तः गीतावाक्यमिदं पारस्परिकं विनिमयमेवाभिव्यनक्ति।

अग्निहोत्रपद्धतिर्व्याप्तिवादिनी

अग्निहोत्रं जना यज्ञनाम्नापि व्यपदिशन्ति शास्त्रे यज्ञो विष्णुपदवाच्यः। अत एव **'यज्ञो वै विष्णुः'** इति निगद्य विष्णुयज्ञयोः साम्यमवधारितम्। वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् यः स एव विष्णुः परमात्मा, यथा विष्णुर्निखिलं ब्रह्माण्डं व्याप्य वर्तते तथैव यज्ञोऽपि सर्वं ब्रह्माण्डं व्याप्नोति। **'यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः'** श्रुतिवचसा यज्ञो भुवने नाभिवद् विराजते। यथा शरीरे नाभिमण्डलं मध्ये वर्तते, नाभिगतं अन्नजलादिकं सर्वं समग्रे शरीरे व्याप्तं भवति, शरीरस्य रोम्णि रोम्णि अङ्गे अङ्गे नाड्यां नाड्यां स्थूलेषु सूक्ष्मेषु च सर्वेषु भागेषु नाभिगृहीतं वस्तु स्वसत्तया तिष्ठति प्रभावं च जनयति। नाभिगतममृतं मरणासन्नमपि सञ्जीवयति तथैव नाभिगतं विषं जीवितमपि हन्ति। एतेन प्रतीयते नाभिगतः पदार्थः समग्रे शरीरे व्याप्तिमान् भूत्वा प्रभावं जनयति। मुखमाध्यमेन स्थूलं द्रव्यं उदरस्थं नाभिदेशमभिसरति पाचनक्रियया सूक्ष्मातिसूक्ष्मामवस्थामभ्युपेत्य प्राणशक्त्या सर्वत्र प्रसरति। व्यानवायुरेव द्रव्यगुणत्वं शरीरस्य द्वासप्ततिकोटिसंख्यासु नाडिषु प्रसारयति। यथा-

---

११. गीता-३.१४.
१२. रघु०१.२६.

'हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडी सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।।'[१३]

अग्निहोत्रकाले यदाग्नौ होमद्रव्यं हूयते तदाग्निः स्वदाहपाकप्रकाशशक्त्या द्रव्यं कोटिधा विभज्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मतया वायुना आकाशे प्रसारयति, स वायुरेव व्यानो भूत्वा समग्रे ब्रह्माण्डे चरति। एतेन प्रतीयते यदग्नौ हुतं द्रव्यं वायुविभावसुसम्पर्केण पृथिवीस्थानीयेषु जलेषु वनस्पतिषु कीटपतङ्गपक्षिपशुमानवेषु देवेषु, अन्तरिक्षस्थानीयेषु सर्वेषु प्राणिषु देवेषु, द्युस्थानीयेषु सर्वेषु देवेषु च प्रसरति। यावदग्नौ न हूयते तावदेकत्र स्थितं वस्तु दृश्यते यदा हूयते तदा अग्निना दह्यते न दृश्यते घ्राणशक्त्यानुभूयते परमाणुतामुपेत्य सकलब्रह्माण्डगामी भूत्वा वेद्येषु चावेद्येषु स्थानेषु व्याप्तिं वदति। यथा समग्रवृक्षजीवनसञ्चाराय तत्पर्णेषु जलसेचनं क्रियते, तरोर्मूले कृतं जलसेचनं समग्रे वृक्षे तिष्ठति। मूलस्थितं जलं यथैव मूले सक्रियं तथैव स्कन्धेषु शाखासु प्रतिशाखासु पर्णेषु पुष्पेषु फलेषु च क्रियां करोति। यथा घ्राणेन्द्रियेणान्तर्गृहीतः प्राणः पञ्चधा दशधा वा प्रभूय सकलकामसञ्चारी भवति तथैव समग्रस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डस्थानां सर्वेषां देवानां चेतनानामचेतनानां वा विधाधर-रक्ष-गन्धर्व-किन्नर-सिद्ध-गुह्यक-भूत-पिशाच-यक्षाप्सरसां देवयोनिनां मनुष्याणां दानवानां समेषां प्राणिनाञ्च समर्चनं सञ्जीवनं वा युगपदेव अग्निहोत्रेण कर्तुं शक्यते। केनापि कविना समुचितं पद्यमुदीरितम्-

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च तथेन्द्रियाणां सर्वदेवार्हणमच्युतेज्या।।[१४]

अग्निहोत्रप्रथा सदा सुखप्रदा

संसारे नित्यमग्निहोत्ररता मनुष्या दुःखमपाकृत्य सुखभाजो भवन्ति। **'स्वर्गकामो यजेत्'** इत्यनुसारं कृताग्निहोत्रा जनाः सुखं प्राप्नुवन्ति। योऽपि शास्त्रविधिमनुसृत्य यथाकालं यज्ञकुण्डाग्नौ शुद्धां मन्त्रपूतामाहुतिं प्रयच्छति तामाहुतिं सूर्यस्य रश्मयो देवलोकं नयन्ति, यजमानस्य सुखविवृध्यर्थं देवान् उद्बोधयन्ति, यतो हि तेन यजमानेनाग्निहोत्रविधिना सर्वे देवाः संतृप्ताः कृताः। सूर्यस्य रश्मिभिः सह यज्ञनिर्मितिं स्वर्गमार्गमारुह्य यजमाना स्वर्गसुखं लभन्ते। अर्थादिह लोके क्रियमाणो यज्ञो नित्यं सुखं प्रयच्छति जगत्कल्याणाय। प्रतिदिनमाहिताग्नीनां मानवानां यज्ञफलविषये देवकुलाधिवासविषये पुण्यलोकगमनविषये चोपनिषदि या सुखबोध्या अवधारणा कृता साऽतीव रम्या-

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः।।
एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः।।[१५]

---

१३. प्रश्नोपनिषद् ३.६.
१४. अज्ञात।
१५. मुण्डक-१.२.५-६.

ब्रह्मलोक एव महान् लोको विद्यते तत्प्राप्तिर्यज्ञेन निर्विघ्नतया प्रजायते। अधिगताग्निहोत्रजन्मसुखा ब्रह्मलोकमुपेत्य चिरं वसन्ति। उपनिषदामृषिभिरवितथमेवोच्यते, यथा-

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत् शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्।।[१६]

अग्निहोत्रकाले यदाग्नाविष्टमिष्टपुष्टसुगन्धितद्रव्यमिश्रिता मन्त्रपूताहुतिर्दीयते तदाग्नेः सप्तजिह्वाः स्फुटतया विलोक्यन्ते। सप्तजिह्वाभिरग्निर्यजमानस्य समन्त्रोच्चारणप्रदत्तामाहुतिं परिगृह्णाति तृप्तिमनुभवन् सर्वेभ्यो देवेभ्यो वितरति। यज्ञाग्निः क्रमश इद्धः, समिद्धः, सुसमिद्धश्च भवति। सुसमिद्धे जाते ह्यग्नौ घृतमिश्रितान्नाहुतिर्देया, यथा-

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्।।[१७]

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।

स्फुलिङ्गिनी विश्वरूची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः।।[१८]

यद्यपि सर्वाणि भौतिकाग्निद्रव्याण्यनित्यानि परमग्निहोत्रविधिमुपेत्यानित्यान्यपि द्रव्याणि नित्यसुखसृष्टिं कुर्वन्ति। ये जना अग्निहोत्रे रुचिं न चिन्वन्ति तेऽस्मिन्नेव लोके चिरं रजोगुणप्रभूतं कष्टमनुभवन्ति। परं ये खल्वस्माल्लोकात् परलोकयानमिच्छन्ति ते त्वग्निहोत्रशक्त्याऽनित्यैर्द्रव्यैर्नित्यं प्राप्नुवन्ति। यथोच्यते-

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।[१९]

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।

ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।।[२०]

अग्निहोत्रवेलायां यजमानेन ये मन्त्राः पठ्यन्ते तेषु सुखधनधान्यप्राप्तये कामना-प्रार्थना वा विद्यते। एतेन प्रतीयते यदग्निहोत्रेण सर्वे कामाः सिद्ध्यन्ति, यथा-

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।[२१]

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

---

१६. मुण्डक-३.२.१०.

१७. मुण्डक-१.२.२.

१८. मुण्डक-१.२.४.

१९. कठो०१.२.६.

२०. कठो०१.२.१०.

२१. ऋ०१०.१२१.१०.

यत्र देवा ऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।।[२२]

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः।

स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु।।[२३]

शतपथ-ब्राह्मणे स्पष्टतयाग्निहोत्राख्यो यज्ञः सर्वेषां देवानां भूतानां च आत्मा कथ्यते। अग्निहोत्रं प्रकुर्वाणस्य नरस्य नित्यं सुखवृद्धिर्भवति, स सर्वथा विद्यया वपुषा वर्चसा ब्रह्मणा प्रजया यशसा पशुभिश्च दिने दिने वर्धते। योऽग्निहोत्रविरहितो भवति सः शनैः शनैः परिहीयते, यथा-

सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानात्मा यद्यज्ञः, तस्य समृद्धिमनु यजमानः प्रजया पशुभिर्ऋध्यते। वि वा एष प्रजया पशुभिर्ऋध्यते, यस्य धर्मो विदीर्यते।।[२४]

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूत्।[२५]

मतिश्च सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।[२६]

अथर्ववेदस्य येन मन्त्रेण देवानामभिलक्ष्याग्नौ आहुतिः प्रदीयते तस्मिन् मन्त्रे या कामना कृता सा सर्वसुखप्रदायिनी, मनोहारिणी, यशः प्रदायिनी, उल्लासकारिणी, सत्त्वोन्मेषकारिणी, भवभयहारिणी, वैमनस्यविघातिनी, सौमनस्यप्रसारिणी च विद्यते, यथा-

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।

मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।।[२७]

अग्निहोत्रपद्धतिरघविघातिनी

अग्निहोत्रेण पापभावना शाम्यति। मनुष्याणां मनसि ये सन्ति दुर्विचारास्त एव पापरूपाः। यज्ञवेद्यां स्थितो मानवो यदा मन्त्रमुद्गायति तदा पापवृत्तिस्तन्मानसं परित्यज्य दूरं प्रयाति। पापपदं **'अंहस्'** पदबोध्यमपि भवति यज्ञेनाघहतिर्भवति। कदाचित् पुरुषः पापं जानाति पश्यति च परं कदाचित् आत्मकृतां परवेदनां हिंसनं वा न जानाति नापि च पश्यति। तस्य पापस्य नाम सूनादोषः शास्त्रेषु विद्यते। सूनादोषनिवृत्त्यर्थं शास्त्रेषु यज्ञस्याग्निहोत्रस्य नियमो विद्यते। यथास्मदवेद्यानि पापानि प्रादुर्भवन्ति तथैव अस्मदवेद्यानि पुण्यानि स्युरेतदर्थमेवाग्निहोत्रव्यवस्था शास्त्रेषु मनीषिभिर्महर्षिभिर्वेदानुसारिणी प्रकल्पिता। मनुष्यः कदापि गृहे प्राङ्गणे वा नगरे वने वा समाजे एकान्ते वा वदनकाले मौनकाले वा गमने संवेशने वा प्रवेशे निष्क्रमणे वा स्वभाववशात्

---

२२. यजु०३२.१०.

२३. अथर्व०७.५.२.

२४. शत०ब्रा०१४.३.२.१.

२५. ऋ०३.३२.१२.

२६. यजु०१८.११.

२७. अथर्व०१९.७१.१.

किमप्यकरणीयमनिच्छन्नपि अननुभवन्नपि अपश्यन्नपि करोति, यत्करोति तदेवाकलयति पापरूपम्। मनुना स्मृतिग्रन्थे सूनादोषवारणायैवाग्निहोत्रस्याख्यानं कृतम्। तेन पञ्चमहायज्ञविधाने समुदीरितम्, यथा-

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन्।
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।।[२८]
पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।।[२९]

यजमानो यज्ञकाले यदाग्नौ मन्त्रेण सहाहुतिं प्रददाति तदा मन्त्रे पापविनाशाय तत्प्रार्थना प्रकाशते। मन्ये सः प्रायश्चित्तपूर्वकं मन्त्रमुच्चार्य निजात्मशुद्ध्यर्थं जगतश्च शुद्ध्यर्थं होमं करोति, यथा-

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे।।[३०]

महाकविना कालिदासेनापि मन्त्रं स्वबुद्धौ निधाय सुविचार्य अग्निहोत्रस्याक्षय्यं प्रभावं प्रकाशयितुं अभिज्ञानशाकुन्तले सहृदयहृदयवेद्यं यज्ञप्रेरकं सूक्तियोग्यं वाग्विदां विदुषां कण्ठाभरणमिव पद्यं प्रकल्पितम्, यथा-

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु।।[३१]

ऋषयो महर्षयो मानवानां पापवारणाय स्वकीयया वाचा चिन्तनेन कर्मणा च अग्निहोत्रस्य महत्त्वं न केवलं शब्दैरेव कथयामासुरपितु सार्थकतया सफलतया च तत्प्रभावं प्रदर्शयामासुः। शरभङ्गमुनिनाऽग्निहोत्रशक्त्या सकलमपि तपोवनं त्रिविधपापतापसंतापवितानरहितं कृतम्, यथा-

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्।।[३२]

अग्निहोत्रे श्रद्धामेधयोः समन्वयः

वेदैरादिष्टा जना यदग्निहोत्रस्यादौ मध्ये तथान्ते पूर्णतया श्रद्धामेधयोः समन्वयभावेन जीवितव्यम्। श्रद्धामेधयोरसमन्वयेन हुतमप्यहुतमिव वा जायते। अत एव श्रीमता भगवता गीतायामुद्गीतम्-

---

२८. मनु०३.६८-६९.
२९. मनु०३.७१.
३०. यजु०३.४५.
३१. अभिज्ञानशा०४.८.
३२. रघु०१३.४५.

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह।।[३३]

श्रद्धया भक्तिरुत्पद्यते भक्त्या देवाः प्रसीदन्ति प्रसन्ना देवा प्रसादेन सर्वान् प्रीणयन्ति। वेदेषु श्रद्धामेधयोः समन्वयकरणे ये मन्त्राः सन्ति त एव प्रस्तूयन्ते-

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः। श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।[३४]

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः। प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधिः।।[३५]

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे। एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि।।[३६]

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।।[३७]

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।।[३८]

प्रातःकाले मध्याह्नकाले सायंकाले च त्रिष्वपि कालेषु शास्त्रैरग्निहोत्रव्यवस्था प्रदत्ता। सर्वेषु कालेषु यज्ञे स्यात् श्रद्धामेधयोः समन्वयः। अत एव यज्ञस्य कालत्रयं श्रद्धया दीप्तं तथैव मेधया दीप्तं स्यात्। श्रद्धामेधासमन्वयेन संदीपितो जातवेदाग्निः सदैव यजमानस्य श्रद्धामेधे वर्धयति।

---

३३. गीता-१७.२८.

३४. ऋ०१०.१५१.१.

३५. ऋ०१०.१५१.२.

३६. ऋ०१०.१५१.३.

३७. ऋ०१०.१५१.४.

३८. ऋ०१०.१५१.५.

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे।।[३९]
मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे।।[४०]
श्रद्धां सायं श्रद्धां प्रात: श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामसि।।
समिधमहमहार्षं बृहते जातवेदसे।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेद: प्रयच्छतु।।

अग्निहोत्रेण पर्यावरणप्रदूषणवारणम्

सम्प्रति भौतिकं मानसिकं तथाध्यात्मिकं पर्यावरणं दोषयुक्तं जातम्। पर्यावरणसमस्याया: समाधानमेकमेव शास्त्रज्ञैर्मनीषिभिर्दृष्टम्। अग्निहोत्रं विना पार्थिवं दोषम् अन्तरिक्षीयं दोषं द्युलोकीयं दोषं च केनाप्यन्येनोपायेन शमयितुं न शक्नुवन्ति जना:। अद्य जलमप्यपवित्रं वायुरप्यपवित्र: पृथिवी सदोषा वनस्पतय: सारहीना: प्रभावोत्पादनमन्दगतयश्च दृश्यन्ते। निखिलमपि व्योमजगत् दुर्गन्धदूषितं विद्यते। प्रदूषिते पर्यावरणे प्रायशो विभिन्ना रोगा उत्पद्यन्ते यैर्न केवलं जीवहानिरेव भवति स्थावरजगदपि सरोगं जायते। यत्र जना वसन्ति यदि तद्गृहमेव दोषग्रस्तं जायेत्तर्हि गृहवासिनामवस्था कीदृशी भवतीदं तु सर्वविदितमेव। सृष्टेरादावेव सूक्ष्ममतिभिर्ऋषिभि: सुदूरं विलोक्य पर्यावरणसमस्याया: स्थिरं समाधानं केवलमग्निहोत्रे परिदृष्टम्। पर्यावरणे दूषिते सति भोज्यमपि पेयमपि दूषितं भवति रोगयुक्तमशुद्धं भुक्त्वा पीत्वा मानव: सरोगो भूत्वा चिन्तनं मननं भाषणं वदनं व्यवहरणं दर्शनादिकं सर्वं नक्तन्दिवमपवित्रमेव करोति। अत एव विष्वग् अशान्ति:, कलह:, कोलाहल:, उद्वेजनं, प्रतारणं, मारणं, हरणं, व्यभिचरणञ्च परिश्रूयते परिदृश्यते च। अग्निहोत्रे सा शक्तिर्विद्यते यया मनसि शान्ति:, कायरोगहति:, सौमनस्यभाव:, उद्वेजनविनाश:, चित्तविकास:, भ्रान्तिनिरास: कर्तुं शक्यते। पृथिव्यामग्नौ हुतस्य हव्यस्य गन्धमाघ्राय सुदूरस्थो व्योमस्थो मनुष्य आत्मतृप्तिं प्राप्नोति। रघुवंशमहाकाव्ये यदा राम: सीतया सह अयोध्यामायाति तदा अग्निहोत्रस्य सुगन्धं यज्ञधूमं नासा निपीय नितरां तृप्तो भवति। यथा-

त्रेताग्निधूमाग्रमुदग्रकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्त: समश्नुते मे लघिमानमात्मा।।[४१]

यज्ञकाले समिद्धमग्निमालोक्य तस्मिन् हुतं द्रव्यं विलोक्य श्रुतिवाक्यानि समाकर्ण्य सारगर्भितानि महतां वचांसि श्रुत्वा सगन्धं वातावरणमीक्ष्य तत्रोपस्थितानामनुपस्थितानां च मनसि वचसि काये कापि वैलक्षण्यावहा शोभाकान्ति: शान्तिश्चोदेति। यज्ञेन मनुष्यो हिरण्यचक्षु:, हिरण्यपाणि:, हिरण्यजिह्व:, हिरण्यवाक्, हिरण्यमतिश्च

---

३९. अथर्व०६.१०८.२.
४०. अथर्व०६.१०८.५.
४१. रघु०१३.३७.

भवति।

अग्निहोत्रेण वितरणव्यवस्था

अग्निहोत्रपद्धतेरेकसमानवितरणव्यवस्थां प्रयच्छति, यथा पञ्चभूतानि पञ्चभूतोद्भूतं सकलं ब्रह्माण्डं समेषां कृते समत्वमावहति तथैव अग्निदेवो द्रव्यं गृहीत्वा समतया समग्रं ब्रह्माण्डं समर्पयति। मनुष्यस्वबुद्ध्या न भवति समः, अत एव यदि स वितरकस्तर्हि समतया वितरणं कर्तुं कथं प्रभवेत्? भवतीच्छा यन्मम द्रव्यं भवतु नाम सर्वगतं पर स मानवनिर्मितयन्त्रस्य शक्यत्वात् कर्तुं न शक्नोति। अत एव परमात्मना अग्नियन्त्रं प्रदाय प्रबोधिता जना यदग्नियन्त्रमेव समवितरकं मत्त्वा अग्निहोत्रकाले तन्माध्यमेनैव समग्रे जगति ब्रह्माण्डे वस्तु प्रेषणीयम्। अग्नौ हुतं हव्यं विश्वव्यापि क्षणेनैव भवति।

एवं प्रकारेण वेदप्रदत्ताग्निहोत्रपद्धतिर्यथापूर्वैः स्वीकृतास्तथैवाद्यापि सर्वजगद्रक्षणार्थं प्रदूषणवारणार्थं त्रिविधतापदोषशमनाय ज्ञाताज्ञाताघविघाताय सुखलाभाय भौतिकाधिभौतिकाध्यात्मिकशान्त्यर्थं ब्रह्माण्डस्थसर्वलोकानामादानप्रदानार्थं च निस्तन्द्रैः श्रद्धायुक्तैः सद्भावपूरितहृदयैः सर्वैरेव जनैरग्निहोत्रब्रह्माण्डयो सम्बन्धः सर्वाभ्युदयाय रक्षणीयो वर्धनीयश्च।

प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुककुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

अग्निहोत्र का सैद्धान्तिक और क्रियात्मक पक्ष

आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार

अग्निहोत्र ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्यापक है। किसी वस्तु में दूसरी वस्तु की आहुति देकर शतगुणित लाभ प्राप्त करने का नाम अग्निहोत्र है। प्रलयकाल में परब्रह्म परमेश्वर ने भी अग्निहोत्र किया था। ब्रह्म और प्रकृति अलग-अलग विद्यमान थे। ब्रह्म ने प्रकृति में अपनी शक्ति की आहुति दी, जिससे शान्त प्रकृति में हलचल उत्पन्न होकर जगत् की रचना होगयी। इस प्रकार यह सकल सृष्टि अग्निहोत्र से ही उत्पन्न हुई है। सूर्यकिरणों या सूर्यताप की आहुति जब समुद्र-जल में पड़ती है, तब इस अग्निहोत्र से बादल बनने रूप महान् लाभ की प्राप्ति होती है। बादल के वृष्टिजल की भी जब पृथिवी पर आहुति पड़ती है, तब ओषधि-वनस्पतियों की उत्पत्ति-रूप महती उपलब्धि होती है।

सैद्धान्तिक पक्ष

यही स्थिति मनुष्यों द्वारा किये जाने वाले अग्निहोत्र की भी है। अग्नि में जब तक हव्य द्रव्यों की आहुति नहीं पड़ती, तब तक पृथक्-पृथक् रहते हुए वे बहुत कम लाभ पहुँचा पाते हैं। जब घृत एवं अन्य हवनीय ओषधियों की अग्नि में आहुति डाली जाती है, तब उससे उठी हुई औषधगन्ध वायु के माध्यम से श्वास द्वारा हमारे फेफड़ों में पहुँचती है, जहाँ पतली-पतली रक्त-नलिकाओं का जाल फैला हुआ है। इस प्रकार औषध सीधे रक्त में पहुँच जाती है। अन्दर लिया हुआ श्वास अपनी औषध रक्त में छोड़कर और रक्त की मलिनता को अपने में लेकर बाहर निकल जाता है। बार-बार यज्ञिय सुगन्ध में श्वास-प्रश्वास करने से रक्तशोधन होता है और औषध शरीर में पहुँचकर रोग को दूर करती है। यही प्रक्रिया वेद में इस रूप में वर्णित है-

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥[1]

दो वायुएँ चल रही हैं, एक बाहर से रक्त समुद्र की ओर, दूसरी रक्त-समुद्र से बाहर की ओर। इनमें से पहली शरीर में बल लाये और दूसरी शरीरे के मल को बाहर निकाले। हे अग्निहोत्र की औषध से युक्त वायु! तू शरीर के अन्दर औषध का संचार कर, शरीर का जो मल या रोग है, उसे बाहर कर। तू सब रोगों की दवा है, तू देवों का दूत होकर विचर रहा है। आजकल चिकित्सा में अन्तःश्वासयन्त्र (इन-हेलर) का प्रयोग बहुत किया जा रहा है। उसमें भी औषध सीधे रक्त में पहुँच जाती है। जो पद्धति 'इन-हेलर' की है, वही अग्निहोत्र की है।

---

१. ऋ०१०.१३७.२-३. अथर्व०४.१३.२-३

राजयक्ष्मा आदि की चिकित्सा

इस अग्निहोत्र-प्रक्रिया का अवलम्बन करके बहुत से रोगों के निवारण का वर्णन वेदों में मिलता है। उदाहरणार्थ-

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥ [२]

इस मन्त्र में चिकित्सक रोगी को कह रहा है कि मैं तुझे अज्ञात रोग से अर्थात् उस रोग से जिसका निदान नहीं हो पाया है और राजयक्ष्मा रोग से भी अग्नि में हवि डाल कर मुक्त कर दूँगा। यदि तुझे गठिया रोग ने जकड़ लिया है, तो उसे भी इन्द्र और अग्नि उस रोग से तुझे छुटकारा दिला देंगे। यहाँ अज्ञात रोग, राजयक्ष्मा रोग और गठिया जाति के रोगों का अग्निहोत्र द्वारा उपचार करने का वर्णन है। गठिया रोग के प्रसङ्ग में अग्नि के साथ इन्द्र को भी जोड़ा गया है। इन्द्र विद्युत् और सूर्य दोनों का नाम है। गठिया जाति के रोगों में अग्निहोत्र-चिकित्सा के साथ सूर्य-चिकित्सा और विद्युत्-चिकित्सा भी उपयोगी है, यह इससे सूचित होता है।

ज्वर-चिकित्सा

अधोलिखित मन्त्र में अग्निहोत्र द्वारा ज्वर-चिकित्सा का प्रतिपादन है-

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु॥ [३]

अर्थात् अग्निहोत्र की अग्नि रोगी के शरीर से ज्वर को दूर कर दे। सोम बूटी का रस, बादल और पवित्र बल वाला वरुण (वायु या सूर्य) भी ज्वर-चिकित्सा में सहायक हों। यज्ञवेदि, कुशा घास और प्रज्वलित समिधाएँ भी ज्वर दूर करें। इस प्रकार इस रोगी के शरीर से ज्वर के सब उपद्रव दूर हो जायें।

उन्माद-चिकित्सा

अग्निहोत्र द्वारा उन्माद-चिकित्सा का वर्णन भी वेद में मिलता है। यथा-

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि॥ [४]

वैद्य उन्मादरोगग्रस्त मनुष्य को आश्वासन देता हुआ कह रहा है कि यदि तेरा मन उन्मत्त हो गया है, तो अग्निहोत्र उसे शान्त कर दे। मैं यज्ञाग्नि में औषध का प्रयोग करता हूँ, जिससे तू उन्मादरहित हो जायेगा। इस रोग में ब्राह्मी बूटी आदि शामक ओषधियों की हवि दी जायेगी।

---

२. ऋ०१०.१६१.१
३. अथर्व०५.२२.१
४. अथर्व०६.१११.२

कीटाणु-विनाश

वेद में रोग के कीटाणुओं को या रोगकृमियों को यातुधान (यातना पहुँचाने वाले), अत्रि (शरीर की शक्ति को खा जाने वाले), पिशाच (मांसभक्षक), क्रव्याद (मांसभक्षी), सपत्न (शत्रु) आदि नामों से स्मरण किया गया है। उन्हें भी अग्निहोत्र से नष्ट करके रोगों से बचा जा सकता है, ऐसी वेद की प्रेरणा है। निम्न ऋचा द्रष्टव्य है–

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः॥[५]

अर्थात् अग्निहोत्र में डाली हुई हवि रोग के कीटाणुओं तथा रोगकृमियों को ऐसे ही दूर बहा ले जाती है, जैसे नदी झाग को। जो कोई स्त्री या पुरुष अग्नि में हवि दे, उसे चाहिये कि मन्त्रपाठ भी करे।

पुत्र-प्राप्ति

जिन दम्पती के सन्तान न होती हो, मृत पैदा होती हो, विकृत पैदा होती हो, या जन्म से किसी रोग से ग्रस्त उत्पन्न होती हो, तो उसकी भी चिकित्सा अग्निहोत्र द्वारा की जा सकने का संकेत वेद में उपलब्ध होता है। पुत्र-प्राप्ति का निम्न मन्त्र देखिये–

अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।
अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे॥[६]

अर्थात् यज्ञाग्नि में उपयुक्त ओषधियों की हवि देकर ऐसा पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है, जो अतिशय यशस्वी बने, बहुत बुद्धिमान् और ज्ञानी बने, सब बातों में उत्तम हो, किसी से हिंसित न हो सके और गृहपति की कीर्ति फैलाने वाला हो।

इसके लिये अथर्ववेद ६.११.१. में विधान है कि शमी वृक्ष के ऊपर पीपल उग आया हो, उसकी समिधा, पत्र, पुष्प, फल, छाल आदि की आहुति दी जानी चाहिये, तथा इनका औषध रूप में सेवन भी करना चाहिये। अथर्व० ४.१७.६. में एतदर्थ अपामार्ग ओषधि का प्रयोग भी लिखा है।

वृष्टि

ऋग्वेद १०वें मण्डल के ९८वें सूक्त को निरुक्तकार यास्क ने वर्षकामेष्टि सूक्त कहा है। उसके अनुसार बारह वर्ष तक अनावृष्टि रहने पर आर्ष्टिषेण देवापि वृष्टियज्ञ द्वारा शन्तनु के राज्य में वर्षा कराता है। इस सूक्त का केवल एक मन्त्र हम यहाँ दे रहे हैं–

---

५. अथर्व०१.८.१
६. ऋ०५.२५.५

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि॥[7]

इस मन्त्र का भाव यह है कि बादल बरसाने की विद्या जानने वाला देवापि वृष्टियज्ञ में पुरोहित बन कर बैठता है और आकाश में रुके हुए जलों को ऊपर के समुद्र अन्तरिक्ष से निचले पार्थिव समुद्र की ओर बरसा देता है।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता काण्ड २, प्रपाठक ४, अनुवाक ७-१० तथा काठकसंहिता स्थानक ११, अनुवाक ९-१०, मन्त्र २१-३२ में वृष्टि कराने के लिये कारीरी इष्टि का विधान किया गया है, जिससे वृष्टियज्ञ में करीर वृक्षों की जड़, समिधा एवं फलों की आहुति अभीष्ट प्रतीत होती है।

अग्निहोत्र द्वारा वर्षा कराने में अग्नि, समिधा, हवनीय द्रव्य, मन्त्र-ध्वनि, आहुति देने में समय के अन्तर आदि का महत्त्व तो है ही, परन्तु इसके साथ यजमान और ऋत्विजों का मनोबल भी काम करता है। शतपथ-ब्राह्मण १.५.२.१९. में लिखा है कि यजमान यदि वर्षा की कामना वाला हो, तो वह 'अध्वर्यु' को कहे कि आप मानसून वायु और बिजली का मन से ध्यान करो, 'अग्नीध' को कहे कि आप बादलों का ध्यान करो, 'होता' को कहे कि आप स्तनयित्नु और वर्षा का ध्यान करो, 'ब्रह्मा' को कहे कि आप उक्त सबका एक साथ ध्यान करो। जब सब ऋत्विज् इस प्रकार मिलकर मनोबल का प्रयोग करते हैं, तब अवश्य वर्षा होती है। शतपथ १.८.३.११-१२. और ३.३.४.११. में भी वृष्टि के कुछ प्रयोगों का वर्णन है।

पर्यावरण-शोधन

अग्निहोत्र से पर्यावरण भी शुद्ध हो सकता है। जब वायुमण्डल इतना अधिक दूषित हो कि सांस लेना कठिन हो रहा हो, तब आग जला दीजिए। उससे प्रदूषण का वह घटाटोप फट जायेगा और कुछ राहत मिलेगी। अग्नि में सुगन्धित हवि की आहुति भी दें, तब और भी अधिक विश्रान्ति की अनुभूति होगी। अग्नि और सूर्य दोनों अशुद्धि के घटाटोप को फाड़ते हैं। रात्रि में वायु-प्रदूषण के कारण बेचैनी होती है, तो वह सूर्योदय से कम हो जाती है। यह शंका मत कीजिये कि अग्नि जलाने से वातावरण और भी अधिक अशुद्ध हो जायेगा, क्योंकि कार्बन डायोक्साइड गैस की वृद्धि होगी। परीक्षण करके देख लीजिए। अग्नि स्वयं भी शुचि है और शुचिता प्रदान भी करता है। उसे वेद में शुचि, शुचिजिह्व, शुचिदन्, शुचिपा, शुचिव्रत, शुचिव्रततम, पावक, पावकवर्चस् आदि विशेषणों से स्मरण किया गया है।

प्राचीन अग्निहोत्रियों ने बड़े पैमाने पर अग्निहोत्र द्वारा पर्यावरण-शोधन एवं पर्यावरण-परिवर्तन के परीक्षण किये थे। गोपथ-ब्राह्मण उत्तरभाग १.१९ में लिखा है कि जो चातुर्मास्य यज्ञ हैं, वे भैषज्य-यज्ञ कहलाते हैं, क्योंकि वे रोगों को दूर करने के लिये होते हैं। वे ऋतुसन्धियों में किये जाते हैं, क्योंकि ऋतुसन्धियों में ही व्याधियाँ फैलती हैं-

---

७. ऋ०१०.९८.५

भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।

ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते।।

ये सब अग्निहोत्र के भौतिक लाभ हैं। आध्यात्मिक या भावनात्मक लाभ भी बहुत हो सकते हैं-त्याग की भावना, ऊर्ध्वगामिता की शिक्षा, तेजस्विता की प्राप्ति, दुर्गुणों का भस्मीकरण आदि। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से देखें, तो अग्निहोत्र अनेक प्रकारों से लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

क्रियात्मक पक्ष

अभी हमने देखा है कि अग्निहोत्र द्वारा ज्वर, राजयक्ष्मा, गठिया, उन्माद आदि रोगों की चिकित्सा हो सकती है, रोग के कीटाणुओं का विनाश हो सकता है, वन्ध्या को पुत्र-प्राप्ति हो सकती है, अनावृष्टि-काल में वृष्टि करायी जा सकती है, पर्यावरण-शोधन हो सकता है, यह सब सिद्धान्ततः ठीक है। किस प्रक्रिया से ऐसा हो सकता है, इस पर भी हमने विचार किया है। किन्तु अग्निहोत्र का सिद्धान्त-पक्ष जितना सुदृढ़ है, क्रियात्मक पक्ष उतना ही निर्बल है। रोग होने पर रोगी ऐलोपैथ डाक्टर, होमियोपैथ, आयुर्वेद के ज्ञाता वैद्य या प्राकृतिक चिकित्सक के पास तो चिकित्सा के लिये जाते हैं, पर अग्निहोत्री के पास कोई नहीं जाता। हम श्रद्धा से अभिभूत होकर अग्निहोत्र का महिमागान तो करते हैं, परन्तु हमने परीक्षण नहीं किये। जो औषध मुख द्वारा खाने या पीने से रोग दूर करती है, वही अग्नि में जलाने से भी करेगी, ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि हम ऐलोपैथी, होमियोपैथी या आयुर्वेद की गोलियों से अग्निहोत्र करने लगें तो उससे रोगविनाश में सफलता नहीं मिलेगी। यह अनुसन्धान और परीक्षण करने की आवश्यकता है कि किन जड़ी-बूटियों के अग्नि में होम करने से ज्वर, राजयक्ष्मा, गठिया, उन्माद आदि रोगों की निवृत्ति हो सकती है। इसका अनुसन्धान वैद्यजन ही कर सकते हैं, और वह किसी समर्थ संस्था से सम्बद्ध अथवा राजकीय प्रयोगशाला में ही किया जा सकता है। किसी रोगी को हम दैनिक अग्निहोत्र में कुछ दिन तक अपने साथ बैठा लें और उसका रोग दूर हो जाये, उससे यह परिणाम निकाल लेना उचित नहीं है कि अग्निहोत्र से अमुक रोग दूर हो सकता है। यह शोध का वैज्ञानिक तरीका नहीं है। ऐसे तो कोई रोगी श्रद्धापूर्वक कुछ दिन मन्दिर में जाकर शिवलिंग की पूजा करने से भी स्वस्थ हो सकता है। यदि हम अग्निहोत्र को वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति सिद्ध करना चाहते हैं, तो वैज्ञानिक ढंग से परीक्षण करके परिणामों पर पहुँचना होगा कि अमुक ओषधियों का होम अमुक रोग से स्वस्थ करने के लिये उपयोगी है।

कुछ ओषधियाँ ऐसी होती हैं, जो सभी रोगों को दूर करने में सहायक होती हैं। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि ग्रन्थ में होम के चार प्रकार के द्रव्य परिगणित किये हैं-'प्रथम सुगन्धित कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि। द्वितीय पुष्टिकारक घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि। तीसरे मिष्ट शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि। चौथे रोगनाशक सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ।' इनके साथ उस-उस रोग के निवारण में विशेष उपयोगी ओषधियाँ भी ली जानी चाहियें। ऋतुओं के अनुकूल होम द्रव्यों में परिवर्तन भी किया जा सकता है। वेदों में ऋत्वनुकूल हविर्द्रव्यों का विधान मिलता है- **'देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि'** (अथर्व० ५.१२.१०) अर्थात् ऋतुओं के अनुसार देवयज्ञ

या अग्निहोत्र में अन्न और हवियाँ होनी चाहिएं।

अथर्ववेद १९.३८. में गूगल (गुल्गुलु) को सर्वरोगहर कहा गया है। इसी वेद के ८.७.२० मन्त्र में अश्वत्थ (पीपल) दर्भ, सोम, व्रीहि और यव की हवि का भी विधान है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में जिस रोग के लिये जिन ओषधियों के चूर्ण, स्वरस, क्वाथ, अवलेह, आसव आदि का विधान किया गया है, उस रूप में भी उनका सेवन करें और उनके फल, फूल, पत्र, निर्यास, छाल, समिधा का होम भी करें, यह परीक्षण भी करके देखना चाहिये। बादाम का सेवन पुष्टिकारक होता है, किन्तु बादाम का अग्नि में होम करने से वैसी पुष्टि नहीं मिल सकती। तथापि बादाम के होम से अन्य किस प्रकार के लाभ हो सकते हैं, यह अन्वेषणीय है। परीक्षणों से दृष्टि से अग्निहोत्र अभी शैशवावस्था में है।

अग्निहोत्र के पुरोहित

बहुत से विद्वान् अग्निहोत्र का प्रचार करते हैं। वे अग्निहोत्र के पक्ष में भाषण करते हैं, लेख लिखते हैं, पुरोहित बन कर यज्ञ करते हैं और दक्षिणा लेते हैं। उनके विषय में यह द्रष्टव्य है कि वे अपने घर पर स्वयं भी अग्निहोत्र करते हैं या नहीं। यदि घर पर दैनिक अग्निहोत्र करते भी हैं, तो कितने घृत तथा अन्य हविर्द्रव्य से करते हैं। ऐसा तो नहीं है कि अन्यों का यज्ञ तो कराते हों कई पीपे शुद्ध घृत से, और स्वयं करते हों एक चम्मच घी से बूंद-बूंद की आहुति देकर। भोजन में प्रयोग करते हों घर से निकले शुद्ध घी का और अग्निहोत्र करते हों डालडा घी से। यदि ऐसा है तो दाल में कुछ काला है। उन्हें अग्निहोत्र पर सच्चा विश्वास नहीं है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी संस्कारविधि पुस्तक में घृत की प्रत्येक आहुति न्यूनतम छह माशे की लिखी है। वह घृत भी कस्तूरी, केशर, चन्दन, कपूर, जावित्री, इलायची आदि से सुगन्धित किया होना चाहिये। इसके अतिरिक्त सुगन्धि, मिष्ट, पुष्ट एवं रोगनाशक द्रव्यों की हवनसामग्री होनी चाहिये। समिधाएँ भी चन्दन, पलाश, आम आदि की होनी चाहिये। स्वामी जी ने अग्निहोत्र के जो लाभ अपने ग्रन्थों में लिखे हैं, वे इसी प्रकार के अग्निहोत्र को दृष्टि में रखकर हैं। इस प्रकार का अग्निहोत्र हो तो उसमें दोनों समय का मिलाकर पचास रुपये से अधिक ही दैनिक व्यय बैठेगा। जो विद्वान् स्वयं ऐसा अग्निहोत्र प्रतिदिन अपने घर में करते हैं, वे ही दूसरों के यहाँ बहुव्ययसाध्य यज्ञ का पौरोहित्य करने के अधिकारी हैं। पुरोहितों के जो अन्य गुण स्वामीजी ने लिखे हैं, वे भी उनमें होने चाहियें।

बहुकुण्डी यज्ञ

स्वामी दयानन्द का स्वप्न था कि घर-घर में अग्निहोत्र हो, जिससे समग्र देश का वातावरण यज्ञिय सुगन्ध से परिप्लावित होकर स्वस्थ एवं पवित्र हो उठे। अब बहुकुण्डी यज्ञ का प्रचलन प्रबलता से हो रहा है, जिसमें विभिन्न स्थानों के यजमान एक स्थान पर एकत्र होकर अपने अलग-अलग यज्ञकुण्डों में एक ही पुरोहित या ब्रह्मा की अध्यक्षता में यज्ञ करते हैं। मन्त्रपाठ वे स्वयं नहीं करते, उनके बदले सबके लिये समान रूप से अन्य वेदपाठी करते हैं। उनमें ऐसे यजमान भी होते हैं, जो शिक्षित नहीं होते, न मन्त्रोच्चारण कर सकते हैं, न मन्त्रों का अर्थ समझ सकते हैं। हां, दक्षिणा देने का सामर्थ्य उनमें होता है। यज्ञ के प्रति श्रद्धा उन

यजमानों में होती है, या पैदा कर दी जाती है। वे समझते हैं कि दैनिक अग्निहोत्र हम न भी करें, बहुकुण्डी यज्ञ में आहुतियाँ देकर हमें पुण्य की प्राप्ति हो गयी और हम स्वर्ग या मोक्ष के अधिकारी हो गये। जहाँ शतकुण्डी या सहस्रकुण्डी यज्ञ होता है, उसके आस-पास कुछ दूर तक का ही वातावरण वायु के माध्यम से विशेष शुद्ध हो पाता है। आगे हविर्गन्ध बहुत हल्की होकर पहुँचती है। यही यज्ञ यदि एक-एक कुण्ड में सौ या सहस्र स्थानों पर अलग-अलग होता, तो वे सब स्थान हविर्गन्ध से स्वच्छ-पवित्र होते। अब बताइये कि एक स्थान का ही वातावरण शुद्ध करना अभीष्ट है या अनेक स्थानों का। प्रचार यह किया जाना चाहिये कि एक सहस्र यजमान एक स्थान पर आकर यज्ञ न करें, किन्तु अपने-अपने नगरों, ग्रामों में अलग-अलग यज्ञ का आयोजन करें। बहुकुण्डी यज्ञ में अल्प परिश्रम से तुरन्त दस, बीस, चालीस, पचास हजार या एक लाख रुपयों की दक्षिणा मिल जाती है। इसी कारण बहुकुण्डी यज्ञ का प्रचार हो रहा है। कहा जा सकता है कि अधिक दक्षिणा मिलना किसी को क्यों बुरा लगता है। कल्पना कीजिये, कोई छोटी सी संस्था है। वह अपने विकास के लिये शतकुण्डी यज्ञ का आयोजन करती है। पाँच-पाँच हजार रुपये की दक्षिणा देने वाले दो सौ यजमान दम्पती उसमें बैठते हैं। इस आयोजन से तत्काल दस लाख रुपये संस्था को अपने विकास के लिये मिल जाते हैं। इसमें क्या बुराई है? परन्तु यज्ञ का उद्देश्य धन कमाना नहीं है। यज्ञ कोई सरकस का खेल नहीं है। इसी यज्ञ को एककुण्डी बना कर दो सौ स्थानों पर करें, तो कितना अधिक उपकार होगा।

आर्थिक दृष्टिकोण

वातावरण की शुद्धि का उपाय केवल अग्निहोत्र ही नहीं है, अन्य भी बहुत से उपाय हैं। यज्ञ-अग्निहोत्र कीजिए, किन्तु सारा धन उसी में मत लगा दीजिए। किसी नगर में आप दस लाख रुपये से कई महीने चलने वाला विशाल अग्निहोत्र करते हैं। अग्निहोत्र समाप्त होने पर क्या देखते हैं? यज्ञशाला के पड़ोस में ही गन्दी नालियों से वैसी ही दुर्गन्ध उठ रही है, नगर में जो लोग किसी रोग के रोगी थे, वे वैसे ही रोगी बने हुए हैं, जो कूड़े-कर्कट के ढेर लगे थे, वे पूर्ववत् अपवित्रता फैला रहे हैं, वातावरण में कुछ भी सुधार नहीं हुआ। अग्निहोत्र में दस लाख लगाने की अपेक्षा यदि आप केवल एक लाख से अग्निहोत्र करते, शेष धन नगर की सफाई तथा अन्य वैज्ञानिक उपायों में लगाते, तो नगर का कायापलट ही हो जाता।

वेद सब बातों में श्रद्धा और मेधा के समन्वय का उपदेश करते हैं- **'स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु'** (अथर्व०१९.६४.१)। निरुक्त में लिखा है कि जब ऋषि होने बन्द हो गये, तब मनुष्यों को चिन्ता हुई कि अब हमारा मार्गदर्शक ऋषि कौन होगा। देवों ने उन्हें कहा कि तर्क को ही तुम अपना ऋषि समझो, जो तर्कानुकूल हो वही करो। यज्ञ और अग्निहोत्र के विषय में भी हम इस सूत्र को लागू करें। आइये, वेदों का प्रमाण, प्राचीन ऋषियों का अनुभव, आधुनिक विज्ञान का समर्थन, श्रद्धा, तर्क और वैज्ञानिक परीक्षणों का संबल लेकर हम आगे बढ़ें और अग्निहोत्र के यथोचित प्रयोग से लाभान्वित हों।

आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार

वेद मन्दिर, ज्वालापुर

हरिद्वार.

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में अग्निहोत्र

महर्षि दयानन्द ऐसी सीमा रेखा हैं, जिनसे युग का निर्धारण होता है। दयानन्द से पूर्व यह देश न केवल दासता की गहन शृङ्खला में जकड़ा हुआ था, अपितु वह धर्म, समाज, यहाँ तक कि, अध्यात्म के क्षेत्र में भी उसका दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी था। उस युग में वेद के विषय में यह मान्यता थी कि वास्तविक वेद तो भस्मासुर ले गया है या फिर कुछ लोगों का मानना था कि वेद जर्मनी में हैं। जब वेद के विषय में, जो हमारे संस्कृति के प्राणस्वरूप हैं, यह मान्यता थी तब अग्निहोत्र किस प्रकार के होते होंगे, इसकी मात्र कल्पना की जा सकती है। वर्तमान में होने वाले अनेक यज्ञ ऐसे हैं, जिनको वेद की निकषा पर यज्ञ कहा ही नहीं जा सकता। कोई किसी देवी या देवता को लक्ष्य कर, विना मन्त्र के कुछ श्लोकों से, कभी-कभी तो रामचरितमानस की चौपाइयों से यज्ञ करते देखे जा सकते हैं। महर्षि दयानन्द ही वे व्यक्ति हैं जिन्होंने विश्व को वेद का मार्ग दिखाया और उसके आधार पर दैनिक पञ्चमहायज्ञ का विधान करते हुए विश्व के समक्ष अग्निहोत्र का महत्त्व स्थापित किया।

महर्षि दयानन्द अग्निहोत्र की परिभाषा देते हुए कहते हैं:-**'अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च, होत्रं हवनं दानं, यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम्'** जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ, होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे 'अग्निहोत्र' कहते हैं।[1] उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि अग्निहोत्र वह है जिसमें अग्नि और परमेश्वर के लिये आहुति दी जाती है। यहाँ महर्षि ने अग्निहोत्र का प्रथम प्रयोजन परमेश्वर की स्तुति और उपासना को माना है और अग्निहोत्र का दूसरा आनुषङ्गिक प्रयोजन जल और पवन की शुद्धि को बताया है। साथ ही यह कहा है कि अग्निहोत्र ईश्वर की आज्ञा पालन करने के लिये करना चाहिये।

उपर्युक्त क्रम पर विचार करने पर मन में अनेक शङ्कायें उठना स्वाभाविक है। प्रथम शङ्का यह है कि अग्नि और परमेश्वर के लिये अग्निहोत्र क्यों किया जाये? इसका उत्तर ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से प्राप्त हो जाता है। पुरुषसूक्त में परमात्मा को यज्ञरूप में चित्रित किया गया है:-

---

१ ऋ०भा०भू० (पञ्चमहायज्ञविषयः)

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।।[२]
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।[३]
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।[४]
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।[५]
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।[६]

जिस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति करने के लिये परमात्मा ने अग्निहोत्र किया, उसी प्रकार का आयोजन मनुष्य को भी करना चाहिये। परमात्मा का यज्ञ निष्कामभाव से किया गया है, उसी प्रकार मनुष्य को भी निष्कामभाव से यह यज्ञ करना चाहिये। इसका कारण पुरुषसूक्त में स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि जो ऐसा करते हैं वे उसी प्रकार नाक (दुःखरहित लोक मोक्ष) को प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार साध्य देवों ने प्राप्त किया है।[७] अतः महर्षि दयानन्द उपर्युक्त निर्देश के माध्यम से मनुष्य को पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तिम सोपान मोक्ष पर पहुँचने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

जीवन में विद्या और अविद्या दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[८] परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास विद्या है, जबकि जीवन के लिये भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने का मार्ग अविद्या है। इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा दुःख का कारण हो सकती है। अतः महर्षि दयानन्द परमेश्वर के लिये यज्ञ करने के साथ यह भी निर्देश देते हैं कि यह यज्ञ जल और पवन की शुद्धि करने के लिये भी किया जाना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि अग्निहोत्र से जल और वायु की शुद्धि होती है। महर्षि दयानन्द जिस युग में हुए थे, उस समय पर्यावरण-प्रदूषण कोई समस्या नहीं थी, लेकिन ऋषि की दृष्टि ने आने वाले संकट को पहिचानते हुए अग्निहोत्र को

---

२. यजु०३१.६.
३. यजु०३१.७.
४. यजु०३१.९.
५. यजु०३१.१४.
६. यजु०३१.१६.
७. ते ह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।
८. यजु०४०.१४. विद्यां चाविद्यां यस्तद्वेदोभयँ सह।

मनुष्य के लिये आवश्यक करणीय कर्तव्य बताया। जिस प्रकार शौचादि आवश्यक नैत्यिक कर्तव्य हैं, उसी प्रकार अग्निहोत्र भी आवश्यक करणीय कर्तव्य है। इसकी उपेक्षा कितनी भयङ्कर हो सकती है, यह आज किसी के लिये भी रहस्य नहीं रह गया है। पर्यावरण-प्रदूषण के प्रभाव से महानगरों में रहने वालों का जीवन नरक हो रहा है। ये वस्तुतः महानगर न होकर महानरक ही हैं। समस्या इतनी गम्भीर हो चुकी है कि स्थिति को सुधारने के लिये उच्चतम न्यायालय को हस्तक्षेप करते हुए सरकारों का दिशा निर्देश देने पड़ रहे हैं। समाचार पत्रों में प्रायः यह पढ़ने को मिलता है कि पर्यावरण-प्रदूषण के प्रभाव से ताजमहल के पत्थर अपनी चमक खोते जा रहे हैं और उनकी आयु कम होने लगी है। जब पर्यावरण प्रदूषण के प्रभाव से पत्थर प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते, तब जीव जगत् की इससे कितनी हानि हो रही है, इसका अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है।

भोपाल गैस त्रासदी से हममें से कौन परिचित नहीं है। वहाँ गैस के प्रभाव से कुछ ही क्षणों में चार हजार लोग मृत्यु के ग्रास बन गये थे और उसके दंश से न जाने कितने आज भी भयङ्कर व्याधियों से ग्रस्त होकर मृत्यु का शिकार बन रहे हैं। जिस क्षेत्र में यह भयानक घटना घटित हुई, उसमें कुछ परिवार नित्य यज्ञ करने वाले थे, जिन पर इस विभीषिका का प्रभाव नहीं पड़ा। यह तथ्य इससे बात को पुष्ट करने के लिये पर्याप्त है कि यज्ञ मनुष्य के लिये आवश्यक करणीय कर्तव्य है। एक बार यह सम्भव है कि हम विना भोजन के जीवित रह लें और हमारा अस्तित्व भी बचा रह जाये, परन्तु आज जिस स्थान पर हम खड़े हुए हैं, वहाँ से साफ दिखायी देर रहा है कि अग्निहोत्र के अभाव में जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। तभी तो आज कहा जाने लगा है कि वन ही जीवन है। जीवन का भाषावैज्ञानिक मूल स्रोत कुछ भी हो, परन्तु जीववैज्ञानिक मूल निश्चित रूप से वन है। वन है तो प्राणवायु है और उस वन का भी आधार यज्ञ है। तभी तो आचार्य मनु कहते हैं कि अग्नि में दी गयी आहुतियाँ सूर्यमण्डल में पहुँचती हैं, उससे मेघ बनते हैं, मेघ से वर्षा और उससे अन्न उत्पन्न होता है।[९] गीता में भगवान् कृष्ण यज्ञ विषयक सत्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि अन्न से भूत उत्पन्न होते हैं, वर्षा से अन्न होता है, यज्ञ से पर्जन्य होते हैं और श्रेष्ठ कर्मों से यज्ञ होता है। इस प्रकार जहाँ जीवन का आधार वन है, वहाँ उस वन की उत्पत्ति का कारण यज्ञ है।

सन् १९१२ में 'इण्डियन रिव्यू' में हवन पर एक लेक निकला था, जिसमें प्रयोगों के आधार पर डॉ. ट्रिलिट ने प्रतिपादित किया था 'कि चीड़ की लकड़ी के धुएँ से ३२ प्रतिशत, शाहबलूत की लकड़ी से ३५ प्रतिशत, शुद्ध खाण्ड के जलने से ७० प्रतिशत अंश में 'आल्डिहाइड' नामक गैस उत्पन्न होती है, यह गैस बहुत रोगनाशक होती है। इससे रोगियों के कमरे शुद्ध किये जाते हैं।'[१०]

उपर्युक्त वक्तव्य से यज्ञ की उपयोगिता विज्ञान के आधार पर सिद्ध होती हुई देखी जा सकती है। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के पर्यावरण तथा सूक्ष्मजीवविज्ञान विभागों के विद्वान् प्रोफेसर भी इस दिशा में गम्भीर प्रयास कर रहे हैं। उनके प्रयासों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मधुमेह और यक्ष्मा जैसे घातक रोगों की चिकित्सा यज्ञ से सफलतापूर्वक की जा सकती है।

---

९. मनु०३.७६. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।

१०. इण्डियन रिव्यू, १९१२

मेरी दृष्टि में ऐसा कोई दूसरा मार्ग नहीं है जिसमें विद्या और अविद्या, आध्यात्मिकता और भौतिकता, इहलोक और परलोक, सकाम और निष्काम दोनों मार्गों का समन्वय हो, जिसमें मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास निहित हो, जहाँ सृष्टि का प्रारम्भ और अन्त हो। अत: वेद यज्ञ को समस्त भुवन की नाभि घोषित करता है- **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।'**[११] इसी कारण शतपथ-ब्राह्मण यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म के रूप में प्रतिपादित करता है।[१२]

जो निष्काम भाव से निरन्तर अग्निहोत्र करता रहता है, एक दिन ऐसा आता है कि उसका जीवन ही यज्ञ बन जाता है। अथर्ववेद कहता है-

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः।।[१३]

परमात्मा स्वयं यज्ञरूप हैं, उनका दिया यह जीवन भी एक यज्ञ है। उसमें जीवन के सर्वस्वभूत वाणी, श्रोत्रादि की आहुति देने वाले मानव का जीवन भी यज्ञमय हो जाता है। विश्वकर्मा प्रभु द्वारा रचित इस यज्ञ में समस्त देव शुभविचारों की आहुति प्रदान करें।

डॉ. रामप्रकाश शर्मा
रीडर संस्कृत विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

---

११. ऋ०१.१६४.३५.
१२ शत०ब्रा०१.७.१.५. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।
१३ अथर्व०२.३५.५.

श्रौत एवं महर्षि दयानन्दाभिमत अग्निहोत्र-विवेचन

डॉ0 वेदपाल

वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र यज्ञ को प्रथम धर्म कहा है।[1] ब्राह्मणग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों में विहित राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अश्वमेध, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र आदि यज्ञों का नामोल्लेख संहिताओं में प्राप्त होता है।[2] संहिताओं में यज्ञ शब्द व्यापक अर्थों में प्रयुक्त है। इसीलिए इसे भुवन की नाभि (केन्द्र) कहा गया है।[3] अथर्ववेद के अनुसार-प्रजापति ने तैंतीस (33) लोकों का निर्माण किया तथा उनके प्रज्ञान के लिये यज्ञ का सृजन किया[4] अर्थात् ब्रह्माण्ड का परिज्ञानयज्ञ का प्रयोजन है। संभवतः इसीलिए यज्ञ शब्द की मूल 'यज्' धातु भी देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान इन विविध अर्थों में पढ़ी गयी है।[5]

ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ को सोम, हविः एवं पाक इस संस्थात्रय में विभक्त किया गया है।[6] प्रत्येक संस्था में सात-सात यज्ञ हैं। संस्थात्रय के अतिरिक्त पञ्चमहायज्ञों का वर्णन भी उपलब्ध होता है।[7] सोम एवं हविः संस्थान्तर्गत यज्ञ श्रौतयज्ञ तथा पाक संस्थान्तर्गत यज्ञ स्मार्तयज्ञ कहलाते हैं। पञ्चमहायज्ञ भी स्मार्त की श्रेणी में ही हैं।

हविः संस्थान्तर्गत अग्न्याधान के अनन्तर द्वितीय स्थान पर वर्णित यज्ञ है-अग्निहोत्र। वहाँ अग्न्याधान एवं अग्निहोत्र दोनों पृथक्-पृथक् हैं। सभी यज्ञों को नित्य नैमित्तिक एवं काम्य इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। अग्निहोत्र यावज्जीवन क्रियमाण नित्यकर्म है।[8] इससे यजमान की मुक्ति शिथिलगात्र अथवा मृत्यु होने पर ही होती है। इसीलिये इसे जरामर्य सत्र भी कहा गया है।

अग्निहोत्र शब्द विशिष्ट कर्म तथा हविः दोनों का बोधक है[9]-(1) अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन्

---

1. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ऋ.1.164.50; अथर्व.7.5.1; यजु.31.16.; तै.सं. 3.5.11.5; तै. आ.3.2.7; श0ब्रा0 10.2.2.2
2. राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः।। अग्न्याधेयमथो दीक्षा.......................।। अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः।। षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः।। अथर्व.11. 7.7-9,11
3. क-इयं वेदिः परोअन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। ऋ.1.164.35 ख-अयं यज्ञो विश्वस्य भुनवस्य नाभिः। अथर्व.9.10.14; यजु.23.62
4. एतस्माद्वा ओदनात्त्रयस्त्रिंशतं लोकान्निरमिमीत प्रजापतिः।। तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत।। अथर्व.11.3.52-53
5. यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु।
6. सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः। गो.ब्रा.1.5.25
7. पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति-श0ब्रा011.5.6.1
8. क-यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति-आप.श्रौ.3.14.11 ख-दीर्घसत्त्रं ह वा एतऽउपयन्ति ये अग्निहोत्रं जुह्वत्येतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युर्न वा। श0ब्रा0 12.4.1.1 ग-अग्निहोत्रं॰ सायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः -तै.आ.6.63
9. डॉ. मनोहरलाल द्विवेदी-'कात्यायन यज्ञपद्धति विमर्श'-पृ.69

कर्मणि, इति बहुव्रीहि व्युत्पत्त्या अग्निहोत्रमिति कर्म नाम। (2) अग्नये होत्रमिति तत्पुरुष व्युत्पत्त्या हविर्नाम।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में अग्निहोत्र शब्द विशिष्ट कर्म का वाचक है। तद्यथा-**''अग्नये परमेश्वराय जलवायु शुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते' तदग्निहोत्रम्।''**[10] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में हवन के पश्चात् **'दानं'** तथा अन्त में **'ईश्वराज्ञापालनार्थं वा'** शब्द अधिक हैं।[11] अग्निहोत्र की महर्षिकृत परिभाषा अन्य पूर्वाचार्य कृत परिभाषा से व्यापक है। महर्षि की दृष्टि में ईशस्तवन के साथ ही जल, वायु तथा पृथिवीस्थ पदार्थों का शुद्धिकरण -पर्यावरण की शुद्धि एवं समाज व्यवस्था में सन्तुलन बनाए रखने के लिये दान भी अग्निहोत्र के महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं।

देवता-अग्निहोत्र के दो प्रमुख देवता हैं-1.अग्नि, 2.सूर्य। यतः अग्निहोत्र का प्रारम्भ सायंकाल होने पर होता है। रात्रि का देवता 'अग्नि' है। अतः सायं अग्नि देवता को उद्दिष्ट कर आहुति दी जाती है। प्रातः (दिन) का देवता 'सूर्य' है। अतः प्रातः काल सूर्य को उद्दिष्ट कर द्रव्य त्याग करना होता है। महर्षि ने सायं एवं प्रातः उभयकाल अग्नि-सूर्य के पश्चात्-**'सजूरात्र्येन्द्रवत्या'** तथा **'सजूरुषसेन्द्रवत्या'** आहुति विहित की हैं। इससे प्रतीत होता है कि-वायु अथवा इन्द्र तृतीय देवता के रूप में महर्षि को अभिमत हैं।

अग्निहोत्र प्रारम्भ करने से पूर्व क्रियमाण कर्म है-अग्न्याधान। आधान से पूर्व आधान हेतु वेदी निर्माण भी किया जाता है। इसमें ऊपर की सामान्य मिट्टी हटाकर-(1)जलसिञ्चन, (2)वराह विहत-सूअर से खोदी गई मिट्टी, (3) वल्मीकवपा-दीमक की बांबी मिट्टी, (4)ऊष-ऊसर भूमि की मिट्टी-रेह, (5)सिकता-बालू, (6) शर्करा-रोडी,[12] (7) स्वर्ण।

अग्न्याधान के पश्चात् प्रसङ्ग प्राप्त सायंकालीन यज्ञ क्रियमाण कर्म है। **'अग्निहोत्रं सायमुपक्रमं प्रातरपवर्गम् आचार्या ब्रुवते'**-इस बौधायनीय[13] परिभाषानुसार अग्निहोत्र सायं प्रारम्भ होकर प्रातः पूर्णता को प्राप्त होता है। अतः उभयकालिक कर्म को उभयकाल साध्य एक ही कर्म होने के कारण मीमांसा वर्णित तत्प्रख्य न्याय से अग्निहोत्र कहा जाता है।[14]

अग्निः-अग्न्याधान में गार्हपत्यागार में अरणि मन्थन द्वारा उत्पन्न अग्नि को गार्हपत्यखर में

---

10. पञ्चमहायज्ञविधि-अग्निहोत्र प्रकरण.पृ. 65
11. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-अग्निहोत्र विषयः-पृ.264
12. विस्तरेण द्रष्टव्य-मैत्रायणी सं0 1.6.3 आधान प्रकरण; श0ब्रा0 2.1.4-8 के अनुसार-जल, हिरण्य, ऊष, आखुकरीष, शर्करा; का.श्रौ.4.8.14-15 के अनुसार-'स्थानमुल्लिख्याभ्युक्षान्वाब्धे हिरण्यं निधायोषाखूत्करान्निवपत्यन्तेषु शर्कराः। हिरण्यमुपर्येके।।; वैखा.श्रौ.1.7 के अनुसार-सिकता, ऊष, आखुकरीष, वल्मीक वपा, सूद-गीली मिट्टी, वराह विहत, शर्करा ये सात हैं।
13. बौ.श्रौ.24.30; 'सायमारम्भणमग्निहोत्रं प्रागपवर्गम्'-वाराह. श्रौ.1.5.2.7
14. अपि वा नामधेयं स्यादुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात्; यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः, तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम्-मीमांसा 14.2-4

स्थापन किया जाता है। अग्निहोत्र के समय यजमान गार्हपत्यखर से अग्नि लेकर उसे आहवनीय खर में स्थापित कर यज्ञ सम्पन्न करता है। काम्य अग्निहोत्र गार्हयत्य एवं दक्षिणाग्नि में सम्पन्न होता है।[15]

हव्य:-आश्वलायन श्रौतसूत्र[16] एवं शतपथ-ब्राह्मण[17] के अनुसार नित्य अग्निहोत्र का मुख्य हव्य 'पय:' है। शांखायन श्रौतसूत्र में पय, यवागू, दधि और आज्य को हव्य रूप में स्वीकार किया गया है।[18] वैखानसश्रौतसूत्र में उक्त के साथ-साथ तण्डुल, ओदन एवं सोम भी हव्य रूप में परिगणित हैं,[19] किन्तु-**'पयसा स्वर्गकामः पशुकामो वा, यवाग्वा ग्रामकामः, तण्डुलैर्बलकामः, दध्नेन्द्रियकामः, घृतेन तेजस्कामः'**[20] कात्यायन सूत्रानुसार ये काम्य अग्निहोत्र के हव्य हैं। आश्वलायन के अनुसार भी-यवागू, ओदन, दधि, घृत काम्य हव्य हैं।[21] महर्षि दयानन्द ने **सुगन्धित**-कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि पुष्टिकारक-घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि, **मिष्ट**-शक्कर, शहद, छुआरे, दाख आदि, **रोगनाशक**-सोमलताअर्थात् गिलोय आदि **औषधियाँ**-उक्त चतुर्विध द्रव्यों को हव्य कहा है।[22]

यहाँ यह स्मरणीय है कि अग्निहोत्र में सम्पूर्ण हव्य का होम नहीं होता है, अपितु कुछ हव्य भक्षणार्थ अग्निहोत्र हवणी में बचाकर रखते हैं।

ऋत्विक्-अग्निहोत्र को यजुर्वेद से सम्पाद्यमान कर्म कहा गया है।[23] अत: इसका एकमात्र ऋत्विक् भी अध्वर्यु है।[24] किसी ऋत्विक् का वरण किये विना यजमान स्वयं भी अग्निहोत्र कर सकता है अथवा उसकी अनुपस्थिति में उसका शिष्य भी इसका अनुष्ठान करने का अधिकारी है।[25]

काल-ऋग्वेदीय आश्वलायन एवं शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन श्रौतसूत्रानुसार सायं अग्निहोत्र का समय सूर्यास्त होने पर है।[26] कृष्ण यजुर्वेदीय वैखानस एवं सामवेदीय सत्याषाढ़ श्रौतसूत्रानुसार जब सूर्य अस्त हो रहा हो, वह सायं अग्निहोत्र का समय है।[27] ऋग्वेदीय शांखायन श्रौतसूत्रानुसार सूर्यास्त के

---

15. क-अपराग्न्यो: काम्यमग्निहोत्रं नित्यम् इत्याचार्या:-वैतान. श्रौ. 2.3.16 ख-इतरयोश्च पुष्टिकाम:............ दक्षिणाग्नौ-का.श्रौ.4.14.22.24
16. पयसा नित्यहोम:-आश्व.श्रौ.पूर्वषट्के 2.3
17. किमिति। पय एवेति-श0ब्रा011.3.12.4
18. पयोयवागूर्दध्याज्यमित्यग्निहोत्रहवींषि-शां.श्रौ.2.7.9
19. पयसाघृतेन दध्नातण्डुलैर्यवाग्वौदनेन सोमेन वाग्निर्ज्योतिरग्नि: स्वाहेति सायम्-वैखा.2.4
20. का.श्रौ.4.15.20-25
21. यवागूरोदनो दधिसर्पिग्रामकामान्नाद्यकामेन्द्रियकामतेजस्कामानाम्-आश्व.पूर्वषट्के 2.3
22. क-संस्कारविधि-सामान्यप्रकरण, पृ.14 ख-पञ्चमहायज्ञविधि- 'बुद्धिवृद्धिशौर्यधैर्यबलकरै.........गुणयुक्तानाम्' इत्यधिक: पाठ:-1.65
23. यजुर्वेदेनाग्निहोत्रम्-सत्याषाढ़ श्रौ. 1.1
24. क-एकर्त्विजमग्निहोत्रम्-बौ.श्रौ. 2. 3 ख-अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोरेक ऋत्विगध्वर्यु:-वैखा.श्रौ. 2.1
25. क-स्वयं वा जुहुयात्-का.श्रौ. 4. 15. 34 ख-अहरहर्यजमान: स्वयमग्निहोत्रं जुहुयाच्छिष्यो वा-वैखा.श्रौ. 2. 9
26. क-अस्तमिते होम: -आश्व.श्रौ. 2. 2; ख-अस्तमिते जुहोति-का.श्रौ. 4.14. 6
27. क-सायमधिवृक्षसूर्येऽर्धास्तमिते वा-वैखा.श्रौ.2.1 ख-अधिवृक्षसूर्ये सायमग्निहोत्रायोषसि प्रातरग्निहोत्राय-सत्याषाढ़ श्रौ.

पश्चात् नक्षत्र दिखायी देने पर सायं अग्निहोत्र का काल है,[28] किन्तु अथर्ववेदीय वाराह श्रौतसूत्रानुसार नक्षत्र दिखाई देने के साथ-साथ सूर्यास्त से पूर्व का भी विकल्प है।[29] इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामान्यतः सूर्यास्त होने पर सायं अग्निहोत्र का काल है।

प्रातःकालीन अग्निहोत्र के विषय में ब्राह्मण एवं श्रौतकारों के (1) **उदिते होतव्यम्**-सूर्योदय होने पर, (2) **अनुदिते होतव्यम्**-सूर्योदय से पूर्व जब नक्षत्र दिखाई दे रहे हों, (3) **समयाध्युषिते होतव्यम्**-नक्षत्र दिखाई देने बन्द हो जायें तथा सूर्योदय न हुआ हो-ये तीन मत उपलब्ध हैं। ऋग्वेदीय श्रौतसूत्रों में तीनों विकल्प स्वीकार किये गए हैं।[30] ऐतरेय ब्राह्मण में उदित[31] तथा कात्यायन श्रौतसूत्र[32] एवं शतपथ-ब्राह्मण[33] में अनुदित पक्ष स्वीकार किया गया है। वाराह को उदित एवं अनुदित दोनों पक्ष स्वीकार हैं।[34]

प्रातःकालीन अग्निहोत्र के लिए उदित, अनुदित और समयाध्युषित इन तीन कालों का विधान होने के कारण यजमान को किसी एक काल में ही अग्निहोत्र का संकल्प करना होता है। संकल्पित कालातिक्रमण करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। न्यायदर्शन के- **'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः'** तथा **'अभ्युपेत्यकालभेदे दोषवचनात्'**[35] सूत्रों के वात्स्यायन भाष्य में संकल्पित कालातिक्रमण होने पर दोष विधायक निम्न निन्दावचन उपलब्ध होते हैं-

(१) श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति-जो यजमान अनुदित अथवा समयाध्युषित काल का संकल्प करके सूर्योदय होने पर अग्निहोत्र करता है, काले रंग का कुत्ता उसकी आहुति खा जाता है।

(२) शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति-उदित अथवा समयाध्युषित काल का संकल्प करके अनुदित काल में अग्निहोत्र करने पर सफेद रंग का कुत्ता उसकी आहुति खा जाता है।

(३) श्यावशबलौ वास्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति-उदित अथवा अनुदित काल का संकल्प करके समयाध्युषित काल में अग्निहोत्र करने पर काले और सफेद रंग के कुत्ते उसकी आहुति खा जाते हैं।

वात्स्यायन के उक्तवचन वस्तुतः मीमांसकों के न्याय-**'नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु**

3. 7
28. प्रभान्त्यां रात्र्याम्-शां.श्रौ. 2. 6. 3
29. प्रदोषमग्निहोत्रं जुहुयान्नक्षत्रं दृष्ट्वानस्तमिते वा-वाराह श्रौ.1. 5. 2. 7
30. उपोदयं व्युषित उदिते वा-आश्व.श्रौ.2.4, शां.श्रौ. 2. 7. 3-4
31. तस्माद् उदिते होतव्यम्-ऐ.ब्रा. 5. 5. 4. 6
32. प्रातर्जुहोत्यनुदिते - का.श्रौ. 4. 15. 1
33. श0ब्रा0 2. 2. 3. 4-5, 9
34. व्युच्छन्त्यां प्रातर्व्युष्टायामुदितेऽनुदिते वा वाराह श्रौ. 1. 5. 2. 8
35. न्यायदर्शन 2.1.56, 58

विधेयं स्तोतुम्'[36] के परिप्रेक्ष्य में संकल्पित समय पर अग्निहोत्र करने की प्रशंसा में हैं-

विधि:-अग्निहोत्र की विधि वा पद्धत्ति के दो भाग हैं-

(1) सामान्य अथवा अनिवार्य अग्निहोत्र विधि।

(2) विशिष्ट अथवा काम्य अग्निहोत्र विधि।

अनिवार्य अग्निहोत्रविधि का संक्षिप्त विवेचन निम्नवत् है। उन्नीसवीं सदी में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मृतप्राय यज्ञसंस्था का पुनरुद्धार किया। महर्षि ने अनेकत्र अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों के प्रचार-प्रसार की बात कही है। संस्कारविधि के गृहाश्रमसंस्कार, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पञ्चमहायज्ञ प्रकरण तथा पञ्चमहायज्ञविधि में दैनिक अग्निहोत्र की विधि वर्णित है। संस्कारविधि का सामान्यप्रकरण श्रौतसूत्रों के परिभाषा प्रकरण से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। अत: विधि के दो भाग किये जा सकते हैं-

(1) श्रौत प्रतिपादित विधि

(2) महर्षि दयानन्दाभिमत विधि

श्रौत प्रतिपादित विधि:-यजमान (उपवीती) आचमन करके गार्हपत्य से अग्नि लेकर आहवनीय में स्थापित करता है। गार्हपत्य से ही दक्षिण खर में भी अग्नि स्थापन होता है। गार्हपत्य से अग्नि ले उत्तर में रख उस पर पय/हव्य-को तप्त करके उसमें से चार आहुतियों के लिए पय: अग्निहोत्रहवणी में पृथक् कर लेता है।[37] चतुर्गृहीत हव्य को लेकर आहवनीय के समीप पहुँचकर 'अग्नि ज्योतिषं त्वा वायुमतीं प्राणवतीꣳ स्वर्ग्याꣳ स्वर्ग्यायोपदधामि भास्वतीम्'[38] मन्त्र से समिदाधान करता है। यजमान पत्नी का स्थान नैर्ऋतिकोण (यजमान के दक्षिण में दायीं ओर) है।[39] प्रक्षिप्त समिधा के प्रदीप्त होने पर-

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि: स्वाहा[40] अथवा

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा[41]

यन्त्र से प्रथम आहुति[42] तथा-

प्रजापतये स्वाहा[43]-पूर्व मौन द्वितीयाहुति देनी होती है।

---

36. मीमांसा 1.4.26-'प्रशंसा' सूत्र पर शाबर भाष्य

37. चतुर: स्रुवानुन्नयति-का.श्रौ.4.14.10

38. मध्ये निगृह्योद्गृह्योपविश्य समिधमादधात्यग्निज्योतिषं...... भास्वतीमिति का.श्रौ.4.14.13; आश्व.श्रौ. पूर्वषट्क 2.3-4 के अनुसार-समिदाधान-'भूर्भुव: स्वरोम्' पूर्वक वैतान श्रौ. 2.3.9-'सूर्य ज्योतिषमिति प्रात:'

39. पत्नी च पूर्ववत्-का.श्रौ.2.13.13; पत्नी च यथादेशम्-वही 4.15.3 तथा 'दर्शपौर्णमास' प्रसङ्गे पत्नीसन्नहनम्-2.7.1 भी द्रष्टव्य है।

40. यजु.3.9

41. यजु 3.10

42. प्रदीप्तामभि जुहोत्यग्निर्ज्योतिरिति सजूरिति वा-का.श्रौ. 4.14.14

यदि ब्रह्मवर्चस् की कामना हो तब-**अग्निर्वर्चोज्योतिर्वर्चः स्वाहा**[44] से प्रथम आहुति देवे।[45]

यह सायंकालीन नित्य अग्निहोत्रविधि है। प्रातः काल-

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा[46] अथवा सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा[47] मन्त्र से प्रथमाहुति[48] तथा द्वितीय मौन प्राजापत्याहुति दे।

ऋग्वेदीय आश्वलायन श्रौतसूत्रानुसार-गार्हपत्य अग्नि में मौन समिदाधान करके-'अग्नये गृहपतये स्वाहा' कहकर गार्हपत्य में भी आहुति दी जाती है। इसी प्रकार दक्षिणाग्नि में भी मौन समिदाधान पूर्वक-'अग्नये संवेशपतये स्वाहा' अथवा 'अग्नयेऽन्नादानान्नपतये स्वाहा' से आहुति विधान है।[49]

सत्याषाढ़ श्रौतसूत्रानुसार-एक, दो या तीन समिधाएँ हैं। **'एषा ते अग्ने समित्'** कहकर प्रथम समिदाधान, शेष दो समिधाओं में मन्त्र-विकल्प है। समिदाधान के पश्चात् सायं अग्निहोत्र की-**''भूर्भुवःसुवः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा** ''एवं **''अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा'** दो ही प्रधान आहुतियाँ हैं। प्रातः काल प्रथमाहुति सायं के सदृश तथा द्वितीयाहुति-**'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'**[50] है। इस प्रकार इन चार आहुतियों से सायं प्रातः सम्पाद्यमान अग्निहोत्र एक कर्म है। काम्य अग्निहोत्र की आहुतियाँ व मन्त्र वही द्रष्टव्य हैं। प्रायः सभी श्रौतकारों को सायं प्रातः की दो-दो, कुल चार आहुतियाँ ही अभिप्रेत हैं।

संसृष्ट होम-सत्याषाढ़ में संसृष्टहोम स्वीकृत है। इसमें सायं की द्वितीयाहुति के अन्तिम पद 'अग्नि' के स्थान पर 'सूर्य' पद तथा प्रातः द्वितीयाहुति के अन्तिम पद 'सूर्य' के स्थान पर 'अग्नि' पद का पाठ होता है। यद्यपि सूत्रकार ने **'संसृष्टहोममेके समामनन्ति'** कहकर संसृष्ट का विकल्प दिया है, किन्तु टीकाकार महादेव का कथन है कि-इस शाखा में असंसृष्ट होम की विधि भी नहीं है। इस शाखा में संसृष्ट होम ही होता है।

कृष्णयजुर्वेदीय वैखानस श्रौतसूत्रानुसार-आपत्काल में प्रातःकालीन आहुति से पूर्व सायंकालीन आहुति का समय है। इसी प्रकार सायंकालीन आहुति से पूर्व प्रातःकालीन का[51] अर्थात् किसी कारण वश यदि सायंकालीन अग्निहोत्र न किया जा सका हो, तब आने वाले प्रातः अग्निहोत्र से पूर्व सायं होम किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी विशेष कारण वश प्रातर्होम के छूटने पर

---

43. क-तूष्णीमुत्तरां भूयसीम्-का.श्रौ.4.14.17 ख-प्रजापतिं मनसाध्यायात्तूष्णीं होमेषु सर्वत्र- आश्व.श्रौ.पूर्वषट्के 2.3
44. यजु. 3.9
45. अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य-का.श्रौ.4.14.15
46. यजु. 3.9
47. यजु.3.10
48. अग्निशब्दे सूर्यः, रात्र्युषसान्हेति वा- का.श्रौ.4.15.8-9
49. आश्व.श्रौ.पूर्वषट्के 2.4
50. सत्याषाढ़ श्रौ.3.7
51. आ प्रातराहुतिकालात् सायमाहुतिकाल आ सायमाहुति कालात् प्रातराहुतिकाल इत्यापत्कल्पः - वैखा.श्रौ. 2.2

सायं होम से पूर्व वह किया जा सकता है। यह स्थायी व्यवस्था न होकर मात्र आपत्कल्प है। यद्यपि '**संसृष्टहोममेके समामनन्ति**'[52] सूत्रानुसार वहाँ संसृष्ट होम पक्ष भी उपलब्ध है, किन्तु आपत्कल्प व्यवस्था को देखते हुए संसृष्ट होम कृष्णयजुर्वेदियों का अभिमत प्रतीत नहीं होता है।

महर्षि दयानन्दाभिमत विधि-सन्ध्योपासन के अनन्तर[53] अर्थात् सायं सूर्यास्त तथा प्रातः सूर्योदय के पश्चात् समन्त्रक अग्न्याधान-यह ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला उससे कपूर में लगा कर करे। अग्नि के प्रज्वलित होने पर समन्त्रक ही समिदाधान के पश्चात्-'**अदितेऽनुमन्यस्व**' आदि गोभिलीय तथा '**देव सवितः प्रसुव यज्ञं..... स्वदतु**'[५४] से वेदी के चारों ओर जलप्रोक्षण करके-आघारावाज्यभागाहुति चार, सायंकालीन[55] अथवा प्रातःकालीन[56] चार, '**भूरग्नये प्राणाय**' आदि चार, '**आपो ज्योतिरसोऽमृतम्**'[५७] से एक, '**यां मेघां देवगणाः**'[५८] '**विश्वानिदेव**'[५९] तथा '**अग्ने नय सुपथा०**'[६०] से एक-एक कुल मिलाकर सोलह (4+4++4+1+1+1+1=16) आहुति देकर '**ओ३म् सर्वं वै पूर्णं स्वाहा**' से तीन पूर्णाहुति देवे।

पञ्चमहायज्ञविधि एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अनुसार-वेदी में समिधाचयन कर, अग्नि प्रज्वलित करके-'**सूर्योज्योतिः**'० आदि चार प्रातःकालीन अथवा-'**अग्निर्ज्योतिः०**' आदि चार सायंकालीन तथा '**भूरग्नये प्राणाय**' आदि चार उभयकालार्थ एवं '**आपोज्योति०**' से एक आहुति देकर '**ओ३म् सर्वं वै पूर्णं स्वाहा**' से पूर्णाहुति दे। '**एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा**'[61] के अनुसार तत्काल की चार आहुतियाँ बढ़ाकर यह एक समय भी सम्पन्न हो सकता है।

वैश्वदेव (देवयज्ञ) एवं औपासन होम भी अग्नि होम के सदृश नित्य कर्त्तव्य हैं, किन्तु इनका अनुष्ठान आवसथ्य अग्नि पर होता है। अतः ये स्मार्त यज्ञ के अन्तर्गत आते हैं। पञ्चमहायज्ञ विधि का देवयज्ञ एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का यज्ञ स्मार्त यज्ञों के ही समीप हैं तथा इनकी विधि संसृष्ट होम की है। संस्कारविधि वर्णित यज्ञ श्रौतयज्ञों की श्रेणी में आता है।

---

52. वैखा.श्रौ. 2.4
53. क-तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्याः-पं.म.य. विधि.पृ.22, ख-प्रकाश में और प्रकाश के दर्शन तक यह इसका सन्ध्या समय है-वही पृ.59, ग-सन्ध्योपासनकरणानन्तरमेतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वा0 वही.पृ.65 घ-...तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करें-संस्कार विधि-सन्ध्योपासनविधौ पृ.183
54. यजु.30.1
55. यजु.3.9.10
56. यजु.3.9.10
57. तै.आ.6.27
58. यजु.31.4
59. यजु. 30.3
60. यजु.40.16
61. ऋग्वेदादि भा.भू. पञ्चमहायज्ञविषयः, पञ्चमहायज्ञविधि-अग्निहोत्र प्रकरण-पृ. 62

श्रौत एवं संस्कारविधि के विधिभाग में प्रमुख अन्तर-

श्रौत	संस्कारविधि
1. अग्न्याधान गार्हपत्य से आहवनीय में। आश्व. श्रौ.2.2 के अनुसार वैश्यगृह से अग्नि लाकर भी सम्भव है।	1. ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से लाकर अथवा दीपक से।
2. कात्यायन के अनुसार एक समिधा, वैसे- समिदाधान अग्न्याधान के अन्तर्गत ही हो जाता है।	2. तीन समिधाएँ सामिधेनी पाठ पूर्वक, यज्ञ की रूप समृद्धि।
3. व्याहृति से आहुतियों का वर्णन नहीं, मात्र प्रवर्ग्यान्तर्गत अग्निहोत्र में वैश्वा.श्रौ.13.14 सूत्रानुसार **'व्याहृत्या वा उभयत्र तूष्णीं वा'** से विकल्प।	3. व्याहृतियों की ब्रह्माण्ड एवं पिण्डविषयक व्याख्या पूर्वक- **'भूरग्नये प्राणाय'** आदि आहुति उभयकाल अनिवार्य।
4. चतुर्थ व्याहृति **'महः'** से कोई आहुति नहीं।	4. 'महः' की आध्यात्मिक व्याख्यानुसार ओ३म् आपो ज्योतिरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्' से उभयकाल आहुति।
5. सायंकाल 'अग्नि ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' से तृतीयाहुति नहीं	5. **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'** से सायं मौन रहकर तृतीयाहुति।
6. कात्यायन के **अस्तमिते, अनुदिते** के कारण उभयकालिक यज्ञ रात्रि में।	6. महर्षि विहित विध्यनुसार सायं रात्रि एवं प्रातः दिन में।
7. श्रौत यज्ञ अतिसंक्षिप्त होने पर भी दुरूह।	7. अति संक्षिप्त न होने पर भी सरल।
8. मात्र प्रतीक।	8. हव्य के कारण रोगनाशक, प्रदूषण का निवारक, बलवर्द्धक।

अतः सार रूप में कहा जा सकता है कि महर्षि द्वारा विहित विधि श्रौत अग्न्याधान एवं अग्निहोम दोनों का समन्वित, किन्तु महर्षिकृत व्याख्या, व्याहृति आहुति तथा हव्य की विशिष्टता आदि के कारण यह सर्वातिशायी विधि है, साथ ही यह महर्षि को कल्पकारों की श्रेणी में प्रतिष्ठित करती है।

डॉ0 वेदपाल, रीडर संस्कृत
जनता वैदिक कालेज, बडौत

दयानन्द यजुर्भाष्य में यज्ञ का स्वरूप

डॉ0 वीरेन्द्र कुमार अलंकार

स्वामी दयानन्द सरस्वती अद्भुत प्रतिभा के धनी हैं। वेद हो या दर्शन, लोक हो या धर्म-सर्वत्र वे समन्वयात्मक दृष्टि रखते हैं। ऐसी दृष्टि जिसमें तर्क उपकारक है तथा अपने मन्तव्य के प्रति वे पूर्वाग्रहग्रस्त दिखाई नहीं देते, बल्कि वेद का प्रामाण्य उपस्थापित करते हैं। किन्तु वेद के नाम पर निरंकुशता से वे अत्यन्त व्यथित हैं। वे सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक सर्वग्राह्य समाधान खोजकर उसे एक सूत्रता में बाँधना चाहते थे। उनकी विश्वात्मक दृष्टि में प्राणिमात्र समाया हुआ है, पुनरपि वे विखण्डित भारत से अतीव क्षुब्ध दिखाई देते हैं। उनके निष्कर्ष केवल गम्भीर ही नहीं, असन्दिग्ध भी हैं। वे नमन के लिए एक शब्द, एक उपास्य, एक भाषा की प्रमुखता, एक सम्राट्, एक मात्र वेद का ही सम्पूर्ण प्रामाण्य तथा एक ही उपासना पद्धति के पक्षधर थे। यह उपासना पद्धति वैदिक परम्परा में **'यज्ञ'** कहलाती है।

दयानन्द साहित्य में 'यज्ञ' एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। इसमें मनुष्य की प्रमुख प्रतिज्ञा है-**इदं न मम।** इस दृष्टि से जब कुछ भी आचरण किया जाता है, तब वह आचरण यज्ञ का रूप ले लेता है। इस दृष्टि से दयानन्द साहित्य में यज्ञ का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। यद्यपि वे वैदिक यज्ञ विधि के आचार्य हैं, किन्तु व वैदिक यज्ञ की जिस स्तर पर व्याख्या करते हैं, वहाँ वह केवल ईश्वरोपासना न होकर सामाजिक अभ्युदय भी हो जाता है। इस प्रकार लोक तथा अध्यात्म का विलक्षण तारतम्य दयानन्दसाहित्य में उपलब्ध होता है।

प्रस्तुत लेख का आधार यजुर्वेद के यज्ञदेवताक मन्त्र[1] ही हैं। यजमान देवताक मन्त्रों[2] का भी यथाशक्य उपयोग है। यद्यपि अन्यत्र भी यज्ञ सम्बन्धी प्रसङ्ग यजुर्भाष्य में भरे पड़े हैं, किन्तु अल्प-सामर्थ्यवशात् उनका यहाँ समावेश किंचिन्मात्र ही हो पाया है।

यजुर्भाष्य में यज्ञ शब्द का अर्थ है-विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिक पारमार्थिकसुखसम्पादनाय सत्करणं सम्यक् पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति।[3]

यजुर्वेद का विषय किसी यज्ञविशेष की विधि प्रदर्शित करना नहीं है। किन्तु यज्ञविषयक प्रसङ्ग अनेकत्र उपलब्ध हैं, जहाँ स्वामी जी ने यज्ञ के प्रयोजन, उद्देश्य और फल को इंगित किया है। यज्ञपरक इस विवेचन को निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है-

---

1. यज्ञदेवताक मन्त्र निम्न हैं-1.2, 1.7, 1.14, 1.15, 1.21, 1.22, 1.27-31, 2.1, 2.2, 2.5, 3.48, 3.49, 4.5, 4.6, 4.10, 4.24, 4.26, 4.37, 5.3, 5.13, 5.23, 5.25-28, 5.43, 6.34, 7.20, 7.26, 8.62, 8.63, 9.21,
2. यजमान देवताक मन्त्र निम्न हैं- 4.34, 9.40, 20.8, 20.20-14, 10.18, 10.28 यज्ञपतिदेवताक मन्त्र हैं - 7.27, 7.28।
3. दयानन्दयजुर्भाष्य- 1.2

(क) यज्ञ का अर्थ और अभिप्राय:-

स्वामी जी ने कई स्थलों पर त्रिविध यज्ञ का उल्लेख किया है। इन स्थलों में त्रिविध का अभिप्राय देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान प्रतीत होता है-**सर्वसुखोत्पादिकायै राजलक्ष्म्यै त्रिविधो यज्ञ:।**[4] देवपूजा से उनका अभिप्राय विद्या ज्ञान धर्म के अनुष्ठान में लगे विद्वानों का सत्कार है, संगति का भी अर्थ वे विज्ञानपरक करते हैं-पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से शिल्पविद्या का प्रत्यक्षीकरण और दान का अर्थ है-शुभगुण, विद्या, धर्म और सत्य का नित्य दान करना। ध्यातव्य है कि दयानन्द भाष्य में देवताओं के त्रिविध रूप गृहीत होते हैं। आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक वस्तुत: अग्नि में घी डाल देना यज्ञ नहीं है। **अग्निमीळे पुरोहितम्**[5] में हवनकुण्ड की अग्नि की उपासना ही अभिप्रेत नहीं है। एक साथ तीन यज्ञ यहाँ चलते है। एक भौतिक अग्नि की उपासना, किन्तु वहीं आत्मिक और पारमार्थिक अग्नि की प्रतीक भी है। इसलिए दूसरा यज्ञ आत्माग्नि को प्रज्वलित करना है तथा तीसरा यज्ञ ब्रह्म के साथ सम्पूर्ण तादात्म्य स्थापित करना है। इसके साथ ही अग्नि स्वरूप विद्वान् तथा प्रकाश स्वरूप ईश्वर की पूजा मनुष्यमात्र वा प्राणिमात्र के लिए दान करना भी है। इसी त्रिविध यज्ञ के नित्यानुष्ठान की चर्चा स्वामी जी करते हैं-**त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय:।**[6]

(ख) यज्ञसम्पादन एवं प्रक्रिया:-

यज्ञसम्पादन की प्रक्रिया का व्यवस्थित रूप निश्चयेन संस्कारविधि आदि में उपलब्ध है, पर कुछ संकेत यजुर्भाष्य में भी उपलब्ध हैं। यज्ञ की पहली व्यवस्था यह है कि वेदमन्त्रों से ही यज्ञ होना चाहिए, इतना ही नहीं, वेद-मन्त्र के अर्थ के साथ भी सम्पूर्ण भावात्मक सामञ्जस्य होना चाहिए, तभी यज्ञ की अर्थवत्ता है। इस सामञ्जस्य के लिए यह भी आवश्यक है कि इस पृथिवी में वायु, जल तथा औषधियों को दूषित करने वाले दुर्गन्ध अपगुण तथा दुष्ट मनुष्यों का भी निवारण हो।[7] यहाँ स्वामी जी ने स्पष्ट निर्देश किया है कि यज्ञीय सामग्री शुद्ध व रोगहारक होनी चाहिए। होमकर्त्ता एवं सामग्री दोनों में उत्तमता होनी चाहिए। उनका मानना है कि जो वेद आदि शास्त्रों के द्वारा यज्ञक्रिया और उसका फल जानके शुद्धि और उत्तमता के साथ यज्ञ करते हैं, तब वह सुगन्धि आदि पदार्थों के होम द्वारा परमाणु अर्थात् अति सूक्ष्म होकर वायु और वृष्टि जल में विस्तृत हुआ यज्ञीय पदार्थ सब पदार्थों को उत्तम करके दिव्य सुखों को उत्पन्न करता है।[8]

स्वामी जी ने मनुष्यमात्र को यज्ञ करने का उपदेश किया है-**यज्ञसम्पादनाय ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राणां चतुर्विधा वेदाध्ययनसंस्कृता सुशिक्षिता वाग् गृह्यते।**[9] वस्तुत: मनुष्य

---

4. वही-1.22
5. ऋ.1.1.1
6. वही-1.21
7. द्र0-वही-1.27, 2.16
8. द्र0-वही-1.25
9. वही-1.15

हो या राष्ट्रपुरुष-उसकी पूर्णता इन चार वर्णों के विना सम्भव ही नहीं है। यह चातुर्वर्ण्य संस्कृति ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। प्रत्येक मनुष्य में परात्पर तत्त्व के अन्वेषण की प्रवृत्ति उसका ब्राह्मणत्व है, असत्य के विरुद्ध लड़ने की प्रवृत्ति क्षत्रियत्व है, भोग और अपवर्ग की साधना के निमित्त संसाधनों को जुटाना वैश्यत्व है तथा कर्मशीलता शूद्रत्व है। इन सभी के समन्वय में शरीर-यज्ञ की पूर्णता है। इसीलिए प्रत्येक यज्ञ में प्रत्येक मनुष्य की भूमिका भी स्वीकार्य है। तभी यज्ञकर्ता की सन्तानें शारीरिक, मानसिक और वाचिक रूप से निश्चल सुखवाली होंगी। इसलिए यज्ञ से भागना अपनी प्रजा (सन्तान) को सुख से विहीन करना है-**नैव केनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचारविद्याग्रहणस्य सकाशाद् भेतव्यम्।**[10] पत्नी की पूर्णता यज्ञ में हैं। स्वामी जी ने पत्नी शब्द का अर्थ यज्ञसहायक किया है।[11]

(ग) यज्ञ के प्रयोजन तथा फल:-

यज्ञ किस प्रयोजन से किया जाए अथवा यज्ञ का फल क्या है-यह विचार दयानन्दभाष्य में केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही सुदृढ़ नहीं है। अमुक यज्ञ करके अमुक स्वर्गादि पारलौकिक फल का निर्देश स्वामी जी ने इन स्थलों में नहीं किया है। उनकी दृष्टि में यज्ञ का फल समस्त संसार में सुख की वृद्धि करना है-**अनुष्ठितोऽयं यज्ञो जगति रक्षाहेतुः।**[12] यह यज्ञ वृष्टि का हेतु है। इसलिए ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि सुख देने योग्य घर को बना के वर्षा का हेतु यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि होती है।[13] वेदचतुष्टयी ईश्वर की वाणी है और उस वाणी का प्रत्यक्ष यज्ञ और पुरुषार्थ से ही सम्भव है।[14] इस प्रकार स्वामी जी ने रोगनाश, जीवनधारण, बलप्राप्ति, शुभगुणों के धारण, पूर्ण आयुवर्धन, एवं अन्न-जल-वायु आदि शोधन को यज्ञ का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि यज्ञकार्य से कभी भी भागना नहीं चाहिए।[15] वस्तुतः भौतिक अग्नि के संयोग से वह यज्ञ सूर्य की किरणों में स्थिर होता और पवन उसको धारण करता है, वह सर्वोपकारक होकर हजारों सुखों को प्राप्त कराके दुःखों का विनाश करने वाला होता है[16] यज्ञ से आकाश और वायु की शुद्धि ही नहीं, बल्कि प्रकाश भी शुद्ध होता है[17] यह विचारणीय व अनुसन्धेय

---

10. वही-1.23
11. द्र0-वही-6.34
12. वही-1.4
13. द्र0-वही-1.14, 3.49
14. द्र0-वही-8.22
15. द्र0-वही-1.23
16. द्र0-वही-1.24
17. द्र0-वही-4.6

प्रसङ्ग है। विद्या और भौतिक विज्ञान की सिद्धि भी यज्ञ से करणीय है। यज्ञ से शिल्पविद्या की उत्पत्ति की चर्चा स्वामी जी ने अनेकत्र की है।[18] यह यज्ञ अपत्य और धन तथा उत्तम वीरों का योग कराने वाला है।[19]

वस्तुत: स्वामी जी की दृढ़ धारण थी कि यज्ञ के विना सुख-कल्पना व्यामोहमात्र है। यह यज्ञ मन्त्रोच्चारण मात्र नहीं है और न ही अग्नि में घृतादि आहुति डालना ही यज्ञ है। यज्ञ पहले अन्तस् में होना चाहिए। अन्धाधुन्ध आहुति डालना यज्ञ नहीं है। इसीलिए वे स्थाने-स्थाने **'विद्याक्रियामययज्ञ'** कहते हैं। पूरे ज्ञान पूर्वक यह प्रक्रिया होनी चाहिए। तभी वह लौकिक विज्ञान भी यज्ञीय प्रक्रिया हो जाएगा और ऐसा विज्ञान किसी के लिए भी विनाशक नहीं होगा।

(घ) यज्ञ अर्थ का विस्तार:-

नि:सन्देह दयानन्द से पूर्व यज्ञ के इतने पक्षों पर विचार सुदुर्लभ है। 'यज्ञ' अपने पारिभाषिक अर्थ अग्निहोत्रादि तक ही सीमित था। दयानन्द ने यज्ञ के जिस व्यापक स्वरूप पर उदारता से विचार किया है, उससे सब कुछ ही यज्ञमय सा हो गया है। दयानन्द की यज्ञीय व्याख्या ने ही यह सिद्ध किया कि-**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**[२०] यज्ञवाची शब्दों के अर्थों का संकलन किया जाए और उनकी दयानन्दीय व्याख्या का अनुशीलन किया जाए, तो उससे पर्याप्त याज्ञिक स्वरूप स्पष्ट होने की सम्भावना है। दयानन्द का यजुर्भाष्य यह संकेत करता है कि समष्टिभाव से किया जाने वाला कर्म यज्ञमय हो जाता है। इसलिए सम्पूर्ण सृष्टि ही यज्ञमय है। राजा का सुराज्य भी यज्ञ है। शिल्पविद्या भी यज्ञ है, स्वामी जी ने तो गृहस्थ जीवन को भी यज्ञ कहा है। ईश्वर, विद्वान् और ईश्वराज्ञा की पालना भी यज्ञ है। इतना ही नहीं दुष्टों का विनाश भी यज्ञ है, इन्द्र-वृत्र का युद्ध भी यज्ञ है, यन्त्रविद्या भी यज्ञ है।[21]

इस प्रकार स्वामी जी ने यज्ञ को एक संस्कृति, जीवन जीने की कला माना है। यज्ञ वेदी को आकाश किं वा ब्रह्माण्ड तथा यज्ञाहुति से उस ब्रह्माण्ड में होने वाले विज्ञान को भी स्वामी जी ने इङ्गित किया है।[22] ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्ड में होने वाली वैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रतीक ही यह यज्ञ है। यज्ञकुण्ड की गम्भीरता कदाचित् भूगर्भ विद्या की भी सूचिका है।[23]

---

18. द्र0-वही-2.16, 4.7, 4.10
19. द्र0-वही-4.37
20. शतपथ
21. द्र0-वही-1.25,1.29, 1.13, 2.3, 4.10, 8.62,8.63,
22. द्र0-वही-2.1, 2.2
23. द्र0-वही-5.23

'यज्ञ' के उपर्युक्त अर्थों का आधार खोजना कठिन कार्य भले ही हो, पर उन्हें नकारा भी नहीं जा सकता। इसमें तो निश्चय ही कोई सन्देह नहीं है कि दयानन्द ने जो यज्ञविषयक अर्थवाद पैदा किया है, उससे यज्ञीय अध्ययन में एक क्रान्ति ने जन्म लिया है। इस क्रान्ति में उनके प्रयास की सफलता को सहज ही देखा जा सकता है।

यजुर्वेद में उपलब्ध यज्ञपरक सभी सन्दर्भों का अध्ययन किया जाए तो यह विषय और अधिक व्यवस्थित होकर उभरेगा। 'यज्ञ' देवता अप्, सूर्य, अग्नि, सविता आदि देवताओं के साथ भी दिखाई देता है।[24] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यज्ञ देवताक मन्त्रों के भाष्य में निम्न निष्कर्ष तो रेखांकित किए ही जा सकते हैं।

1.पाणिनीय धात्वर्थ को स्वीकार करके 'यज्ञ' शब्द में यज् धातु के अर्थ देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थ की समन्विति सर्वत्र विद्यमान है।

2.अग्निहोत्र आदि यज्ञों की स्थापना की गई है।

3.यज्ञीय अर्थ का विस्तार करके प्रत्येक कर्म को यज्ञमय करने का सन्देश है।

4.शिल्प, यन्त्र, भूगर्भ, वृष्टि-पुत्रादि याग और अन्य अर्थ भी स्वामी जी ने गृहीत किए हैं।

5.अग्निहोत्रादि यज्ञ वेदमन्त्रों से ही सम्पादित होने चाहिएँ।

6.घृतादि सामग्री ही केवल शुद्ध नहीं होनी चाहिए, बल्कि सम्पूर्ण रूप से यजमान पवित्र होकर मन, वाणी और कर्म से यज्ञ करे।

7.यज्ञ केवल पारलौकिक सुख का ही साधन नहीं हैं, बल्कि ऐहलौकिक सुखों का मूल भी यज्ञ है।

8.याज्ञिक विधि में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और पारमार्थिक-ये त्रिविध यज्ञ एक साथ होने चाहिए।

9.यज्ञ के प्रयोजन वा फल पूर्णायुष्य-प्राप्ति, बलवृद्धि, अन्न, जल, वायु, आकाश और प्रकाश की शुद्धता, रोगनाश तथा अन्य सभी लौकिक सुख-समृद्धि हैं।

10.यज्ञकुण्ड को खगोल और भूगर्भ स्वीकार करके आहुतियों से ब्रह्माण्ड की गति और प्रक्रिया का प्रतीक माना है।

11.उपर्युक्त सभी अर्थ परमसुख की ओर ले जाते हैं।

---

24. द्र0-वही-1.21, 6.23

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि स्वामी जी ने जो यज्ञ शब्द का अर्थ विस्तार किया है, उसका आधार यजुर्वेद में विभिन्न प्रसङ्गों में आए 'यज्ञ' शब्द ही प्रतीत होते हैं, तद्यथा-

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा।

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा।।[२५]

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः इन दोनों मन्त्रों में क्या यज्ञ का एक ही अर्थ स्वीकार किया जा सकता है? इसी प्रकार **'यज्ञीयो गर्भः**[२६] यज्ञ के योग्य गर्भ' यहाँ यज्ञ शब्द अग्निहोत्रवाची नहीं है। इन प्रसङ्गनुरूप अर्थों को देखना ही दयानन्द का ऋषित्व है। इस प्रकार यज्ञ का व्यापक स्वरूप दयानन्द यजुर्भाष्य में निरूपित हुआ है।।

डॉ0 वीरेन्द्र कुमार अलंकार
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

---

25. यजु0 8.22
26. यजु-8.29

महर्षि दयानन्द और यज्ञ

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

अशेष लौकिक तथा वैदिक संस्कृत वाङ्मय में यज्ञ शब्द बहुव्यापी अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसीलिये समस्त ज्ञान-विज्ञान, चिकित्सा-आयुर्वेद, शासन-प्रशासन, सामाजिक-आर्थिक एवं शिक्षाक्षेत्र के सभी गूढ़ार्थ यज्ञपदवाच्य हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्यों तथा अन्य सभी ग्रन्थों में यत्र-तत्र-सर्वत्र इन्हीं अर्थों में इसका प्रयोग बहुधा किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन आचार्यों के बहुव्यापी दृष्टिकोण को समझते हुए उन्होंने अतिविस्तृत अर्थ किया है। यद्यपि पाणिनि व्याकरण की दृष्टि से यज्ञ शब्द यज् धातु से जिसका अर्थ देवपूजा, संगतिकरण एवं दान है, भाव में नङ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। धात्वर्थ तीन अर्थों में दृष्टिगोचर होते हुए भी देवपूजा, संगतिकरण, दान क्रियायें भी क्षेत्रभेद से अनेक अर्थों को अपने अन्दर समाहित करने में समर्थ हैं, इसलिये व्याकरण की दृष्टि से भी ऋषि दयानन्द का बह्वर्थक यज्ञ शब्द का मानना युक्तियुक्त है, क्योंकि अपने से वरिष्ठ व्यक्ति विविध गुणों से युक्त होने पर पूजा का अधिकारी है और उसका सभी प्रकार से सत्कार करना यज्ञ है। समवयस्कों तथा आप्तजनों के साथ संगति करना एवं कनिष्ठों को कुछ देना, वरिष्ठों को भी सेवा दान देना यज्ञपदवाच्य है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने बड़े-छोटे तथा समवयस्कों को अपने व्यवहार, कार्यकुशलता के द्वारा उन्हें अपने जीवन के लिए उपयोगी बनाता है, उसी प्रकार वह भी दूसरे के लिए उतना ही उपयोगी बन सके। यही नहीं जड-पदार्थों पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश को भी पूजा, संगतिकरण, दान के योग्य बना देने के क्रियाकलाप को यज्ञ कहते हैं। इन्हीं भावों को वैदिक वाङ्मय के उद्भट विद्वान् स्वामी समर्पणानन्द ने शतपथ-ब्राह्मण में इन शब्दों में कहा है-**सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायगतया क्रियमाणः कर्मयज्ञः।**[1]

इस प्रकार यज्ञ शब्द अनेक अर्थों से युक्त होते हुए भी मुख्यतया अग्नि में वेद-मन्त्रों से विशेष विधि से साकल्यों का हवन करने के अर्थ में सर्वाधिक प्रयुक्त है तथा इसी अर्थ में वह रूढ़ भी है। यास्क ने भी निरुक्त में यज्ञ का निर्वचन करते हुए कहा है-यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः अर्थात् यज्ञ वह है जिसमें यज् धात्वर्थक यज्ञकर्म जो अतिप्रसिद्ध है, पाये जावें।

महर्षि दयानन्द ने विषयभेद की दृष्टि से वेदों को चार भेदों में विभक्त किया है-विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। इनमें द्वितीय विषय कर्मकाण्ड क्रिया प्रधान होता है मुख्यरूप से इसके दो प्रयोजन है-परमपुरुषार्थ की सिद्धि और लोकव्यवहार की सिद्धि। यह कर्मकाण्ड चार प्रकार के द्रव्यों से किया जाता है, सुगन्धयुक्त, मिष्ठगुणयुक्त, पुष्टिकारकगुणयुक्त तथा रोगनाशकगुणयुक्त। इन चारों द्रव्यों को शुद्ध संस्कारित करके अग्नि में जब होम किया जाता है तो उससे सम्पूर्ण जगत् को सुख मिलता है-

स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक्

---

1. स्वामी समर्पणानन्द, शतपथ ब्राह्मण

संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते, स तद्द्वारा सर्वजगत् सुखकार्यैव भवति।[2]

क्योंकि इस यज्ञ से जो वाष्प उठता है वह वायु और वृष्टिजल को निर्दोष और सुगन्धित करता हुआ जगत् के लिये सुखदायक होता है। इसलिये यह यज्ञ परोपकार के लिये ही है-**तथैव यज्ञाद्यो वाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगति सुखायैव भवति।**[3] अतः यज्ञ से ही वायु, जल और औषधि आदि शुद्ध होते हैं तथा इसी यज्ञ से ही वृष्टि भी होती है-

जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं, उसमें धुँआ और वाष्प (भाप) उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उसको छिन्न-भिन्न कर देता है, फिर वे हल्के होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं, उनमें जितना जल का अंश है वह भाप (वाष्प) कहलाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, उन दोनों के योग का नाम धूम है। जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं, फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उससे वृष्टि, वृष्टि से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से धातु------[4]

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा वृष्ट्याधिक्यमपि करोति।

उनके निम्न पत्र से भी यही अभिप्राय व्यक्त होता है[5]-'आरोग्य और अधिक वर्षा होने के लिये एक वर्ष में 10,000/-दस हजार रुपये के घृतादि का जिस रीति से होम हुआ था, उसी रीति से प्रतिवर्ष होम कराइए परन्तु इनमें से पाँच हजार (5000) रुपये के सुगन्धित घृत मोहन भोग का होम वर्षा ही में कि जिस दिन वर्षा का आर्द्रा नक्षत्र उस दिन से लेकर विजयादशमी तक चारों वेदों के ब्राह्मणों का वरण कर एक सुपरीक्षित धार्मिक पुरुष उन पर रखकर होम कराइयेगा। सबसे मेरा आशीर्वाद कहियेगा और इस लेख को यथावत् सफल कीजिएगा।'[6]

इस देश में वर्षा प्रायः न्यून होती है। इसके लिये यदि मेरे कहे अनुसार एक-एक वर्ष में १०,००० (दस हजार रु.) का घृतादि का नित्य प्रति और वर्षाकाल में चार महीने तक होम करावें। यदि ऐसा प्रतीत होता रहे तो सम्भव है कि देश में रोग न्यून और वर्षा अधिक हुआ करे।[7]

''होम-हवन से वायु शुद्ध होकर सुवृष्टि होती है' उससे शरीर नीरोग और बुद्धि विशद होती है। पूना प्रवचन ''इस प्रकार हवन की विशेष योजना के कारण विशेष उष्णता होकर विशेष वृष्टि

---

2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ. 34
3. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ. 35
4. वही. पृ.36
5. वही. पृ. 41
6. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पत्र संख्या 486 पृ.सं. 449
7. वही पत्र सं.502 पृ.सं. 463

उत्पन्न होती है।[8] ''सुवृष्टि और वायुशुद्धि होम हवनादि से होती है, इसलिये होम-हवनादि करना चाहिये।'

''स्त्री-पुरुषों को चाहिये कि स्वयंवर विवाह करके अतिप्रेम के साथ आपस में प्राण के समान प्रियाचरण, शास्त्रों का सुनना और औषधि आदि के सेवन और यज्ञ के अनुष्ठान से वर्षा करावें।"[9]

''जैसे अच्छे प्रकार सेवन हुई गौ दुग्धादि के दान से सबको प्रसन्न करती है, वैसे ही वेदों में चयन की हुई ईंटें वर्षा की हेतु होके वर्षादि के द्वारा सबको सुखी करती हैं।"[10]

वर्षा का हेतु जो यज्ञ है, उसका अनुष्ठान करके नाना प्रकार के सुखों को प्राप्त करो।[11] अच्छी प्रकार पदार्थों को इकट्ठा कर यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये जो वृष्टि व बुद्धि बढ़ाने वाला है।[12]

''अग्नि में जो हवन किया जाता है तथा जिसकी सूर्य अपनी किरणों से खींच कर वायु के वेग से ऊपर मेघमण्डल में स्थापना करता है और फिर वह उसको वहाँ से मेघ द्वारा गिरा देता है।"[13]

मनुष्य लोगों को चाहिये कि जिस मेघ से सबका पालन होता है, उसकी वृद्धि वृक्षों के लगाने, वनों की रक्षा करने और होम करने से सिद्ध करें, जिससे सबका पालन सुख से होवे।[14]

महर्षि दयानन्द ने पर्यावरण के बिगड़ते सन्तुलन को ठीक रखने के लिए एकमात्र उपाय यज्ञ बताया है। उनके अनुसार जहाँ जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते है, वहाँ उतना ही अधिक दुर्गन्ध होता है, क्योंकि मनुष्य अपने स्वार्थवश वायु, वृष्टि और जल का दूषण करता है, अतः वही इसका निवारण कर सकता है-

क्योंकि जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग-अलग हो के आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुतः अभाव नहीं होता। इससे वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है, इसी पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके रोगों का नाश करने वाला होता है और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त कराता है। इसलिये महर्षि दयानन्द ने स्थान-स्थान पर बलपूर्वक कहा है-

---

8. वही
9. यजुर्वेद. 14/8
10. यजुर्वेद. 1/14
11. वही.1/14
12. वही 1/14
13. वही 2/8
14. ऋग्वेदादिभाष्य. 4.83.4

१.यज्ञः कर्त्तव्यः इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति, तामपि य उल्लंघयति, सोऽपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भवति।

२. अस्स्मात् कारणात् सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव।

३. अतः कारणाद्यज्ञः कर्त्तव्य एवेति।

४. तस्माद्धोमकरणमुत्तमेव भवतीति निश्चेत्तव्यम्।[१५]

अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में भी यज्ञ को नैरोग्य का कारण कहा है-''जब तक होम करने का प्रचार रहा तब तक आर्यावर्त्त देश रोगरहित और सुखों से पूरित था।'

यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए निम्न आयोजन करने पड़ते हैं या हमें निम्न वस्तुओं की आवश्यकता होती है-

1. कार्यकर्त्ता 2. स्थान 3. वेदी 4. उपकरण (साधन) 5. साकल्य 6. विधि औचित्य तथा विशेषता 7. उपयोगिता 8. वर्तमान समय में उसका 9. प्रचार प्रसार।

भावनाओं का प्रभाव समाज में चतुर्दिक् वातावरण पर क्या पड़ता है? यह बात अब भौतिक विज्ञान को एक मात्र प्रमाण मानने वाले व्यक्तियों के लिए अप्रत्यक्ष नहीं रहा। अनेक परीक्षणों के द्वारा यह सिद्ध होता जा रहा है कि भावनाओं का प्रभाव, कार्य एवं फल पर्यावरण पर विशेष रूप से प्रत्यक्ष रूप में पड़ता है। सम्मोहन, ध्यान, व्यायाम के समय श्रेयस्कर, अनुकूल चिन्तन मनुष्यों के ही नहीं, अपितु वृक्ष, वनस्पतियों के भी विकास में सहयोगी हो रहे हैं। इस कारण द्रव्ययज्ञ कर्त्ता यजमान, पुरोहित, ब्रह्मा आदि का शुद्ध, सरल, पवित्र, दृढ़संकल्पी, आत्मविश्वासी होना सुतरां आवश्यक है। जिस किसी प्रकार की अवस्था-परिवेश में होकर यज्ञ करने (अग्नि में आहुति देने) से यजमान को अभीष्ट फल की सिद्धि नहीं होती। या सिद्ध्यर्थ यजमान को वेद के-**शुद्धा पूता भवत यज्ञियासः**[१६] के अनुसार शुद्ध, पवित्र होना चाहिए, तभी यज्ञ अभीष्ट फल को प्रदान कर सकता है।

इसी यज्ञ को करते समय वेदमन्त्रों के स्थान पर अन्य किसी के पाठ का विरोध तथा वेदमन्त्रों के पाठ की आवश्यकता पर बल देते हुये वे कहते हैं कि ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है, वैसा अन्य का नहीं और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्तपुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है, उसका भी वचन सत्य ही होता है। और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इसलिए सब उत्तम कर्म वेद मन्त्रों से ही करने उचित हैं।

यज्ञ के अनुष्ठान में वेदिरचना, यज्ञशाला की आवश्यकता को बताते हुये स्वामी जी कहते हैं कि वेदि बनाके उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र छिन्न-भिन्न परमाणुरूप होके, वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने और होम का साकल्य

---

15. ऋ. भा. भू. 37-41
16. यजुर्वेद

इधर-उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये और वेदि त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणित विद्या भी जानी जाती है कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो। वैसे श्येन आदि आकार के वेदिनिर्माण का प्रतीकार्थ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में अन्य प्रकार से किया गया है, जो विभिन्न प्रकार की यज्ञवेदियों के निर्माण का निहितार्थ अवगत कराता है। स्थूल रूप से भी हम देखें तो जिस प्रकार आज कल के वैज्ञानिक विभिन्न आकार प्रकार के चूल्हों के निर्माण से स्वल्प काष्ठ-ईंधन आदि से अधिक ताप तथा दीर्घ काल तक स्थायी ताप उपभोक्ता को उपभोग के लिये प्राप्त कराते हैं, जिससे वह स्वल्प शाकल्य से अधिक लाभ यजमान को प्राप्त हो और वह अभीष्ट उद्देश्य को सद्यः प्रचुर मात्रा में प्राप्त कर सके, यही यहाँ परिलक्षित होता है। दैनिक अग्निहोत्री अपनी सुविधा के अनुसार ताम्र आदि धातुओं से निर्मित चतुष्कोण, छोटे-बड़े यज्ञकुण्डों में यज्ञ सम्पन्न कर सकता है। इससे उसको यज्ञकार्य में कभी भी प्रत्यवाय नहीं उपस्थित होगा। ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का एक प्रयोजन यह भी है कि जिससे अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे और वेदि में कोई पक्षी किं वा उनका मल भी न गिरे। क्योंकि यज्ञशाला ही देवालय होता है-**अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः।**[१७]

यज्ञ करने के उपकरणों के सम्बन्ध में भी ऋषि दयानन्द ने प्राचीन आचार्यों का अनुसरण करते हुए अपनी संस्कारविधि में विस्तृत उल्लेख किया है, जिसमें सामान्य अग्निहोत्र के लिए यज्ञकुण्ड, आज्यस्थाली-घृत रखने का पात्र, प्रणीता, प्रोक्षणी, स्रुवा-इन चार उपकरणों का विशेष रूप से सत्यार्थ-प्रकाश में निर्देश किया है। उपकरणों में दीपशलाका, दीपक, साकल्य रखने का पात्र भी अपेक्षित होते हैं, जो आनुषंगिक रूप से इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। यज्ञ में समिधा एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। वह समिधा इस प्रकार के वृक्ष की होनी चाहिए, जिसके जलने से दुर्गन्ध न निकलती हो, कोयला अधिक न बनता हो, अर्थात् वह समिधा स्वयं पूर्णरूप से जलकर साकल्य को भी साकल्येन भस्म कर दे।

यज्ञ के समय के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों ने पर्याप्त विवेचना प्रस्तुत की है कि यज्ञ किस समय करना चाहिए? प्रायः अधिकांश आचार्यों ने प्रातःकाल सूर्योदय के समय तथा सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व दिन रात की संधि वेला में अग्निहोत्र सम्पन्न करना चाहिए, इसका ही प्रतिपादन किया है। "अग्निहोत्र कर्म दोनों सन्धि वेला अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त को करने का समय है।"[18]

अब प्रश्न है कि क्या इस विज्ञान के भाग-दौड़ के जीवन में अग्निहोत्र करना सम्भव है? हमारा कथन प्राचीन आचार्यों के स्वर में स्वर मिलाते हुए यह है-जिस प्रकार सूर्य चन्द्र का उदय होना, नदियों का बहना, वायु का प्रवाहित होना जीवन के लिए अनिवार्य है, उसी प्रकार अग्निहोत्र का करना भी अनिवार्य है। वर्तमान समय में चिकित्सालयों की भाँति अग्निहोत्र गृहों की आवश्यकता बढ़ गयी है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है, इस अभियुक्त वचन के अनुसार यदि मनुष्य

---

17. वेदविरुद्धमतखण्डन. पृ. 787

18. सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास

अपने को स्वस्थ रखना चाहता है तो उसे अग्निहोत्र की शरण लेनी पड़ेगी। शतपथ-ब्राह्मण में इसे स्वर्ग नौका कहा गया है-**नौर्हवा स्वर्ग्य यदग्निहोत्रम्।**[१९]

ऋग्वेद में भी स्पष्ट कहा गया है कि जो लोग यज्ञरूपी नौका पर नहीं आरूढ़ होते हैं, वे दु:ख समुद्र में गिर जाते हैं-

न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः।[२०]

इसलिये इस यज्ञ को वेदभगवान् ने भी भुवन की नाभि कहा है -

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।[२१]

ऋग्वेद में तो यज्ञ को सर्वात्मना रूप से प्रतिपादित किया है -

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महाँ देवो मर्त्या आ विवेश।[२२]

इस परमेश्वर से व्याप्त संसार में यज्ञ के **चार** वेद और नाम आख्यात उपसर्ग और निपात, विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, तुरीय, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि चार शृंग हैं। **तीन** सवन अर्थात् त्रैकालिक यज्ञकर्म, तीन काल कर्म, उपासना, ज्ञान, मन, वाणी, शरीर इत्यादि पाद हैं, **दो**-व्यवहार और परमार्थ नित्यकार्य, शब्दस्वरूप उद्गयन और प्रापणीय, अध्यापक और उपदेशक इत्यादि शिर हैं गायत्री आदि सात छन्द, सात विभक्तियाँ, सात प्राण, पञ्चकर्मेन्द्रिय, शरीर और आत्मा हस्त हैं। **तीन** मन्त्र ब्राह्मण, कल्प और हृदय, कण्ठ शिर में श्रवण, मनन, निदिध्यासनों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ कर्म उत्तम विचारों के बीच सिद्ध यह व्यवहार महान् सत्कर्त्तव्य और मनुष्यों के बीच प्रविष्ट है, यह सब जाने।[23]

आचार्य यास्क ने तो इस मन्त्र की सर्वथा यज्ञपरक व्याख्या की है-इस यज्ञ ब्रह्म के चार वेद चार सींग हैं, इसके तीन लोक तीन पैर हैं, सृष्टि और प्रलय ये दो इसके शिर हैं और गायत्री आदि सात छन्द सात हाथ हैं। यह सुख पूर्वक यज्ञब्रह्म ऋक् यजु और साम अर्थात् स्तुति और उपासना इन तीन प्रकारों से बंधा हुआ तीनों लोकों में गर्जना करता है तथा यह महान् देव संगति के लिये मनुष्यों में प्रविष्ट होता है।

महर्षि दयानन्द ने स्वलिखित ग्रन्थ आर्योद्देश्यरत्नमाला, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि तथा ऋग्वेदादिभाष्य में जहाँ कहीं भी यज्ञ का प्रसंग आया है वहाँ सर्वत्र उन्होंने **अग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु** वाक्य का व्यवहार किया है। ये यज्ञ कौन से हैं? ऋषिकृत ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी का अभिप्राय श्रौतयज्ञों से ही होगा, क्योंकि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञाविषय में उन्होंने कहा

---

19. शतपथ ब्राह्मण।
20. ऋक् 10.44.6
21. यजुर्वेद
22. ऋग्वेद. 4.58.3
23. स्वामी दयानन्द यजुर्वेदभाष्य

है-**कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थ विनियोजितत्त्वात्।**[२४]

स्वामी जी ने इन सभी यज्ञों को कर्त्तव्य के रूप में करने का उपदेश किया है। इस प्रकार के संक्षिप्त विवेचन से प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मनुष्य के जीवन-निर्वाहार्थ भोजन, वसन, आसन एवं शिक्षा संस्कार आवश्यक है, उसी प्रकार से यज्ञ भी आवश्यक है। ऋषि दयानन्द की दृष्टि में यज्ञ केवल धार्मिक कृत्यमात्र नहीं है, अपितु सृष्टि को सन्तुलित बनाये रखने का एक आवश्यक अंग है।

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती
गुरुकुल प्रभात आश्रम
भोला-झाल टीकरी,
मेरठ-250501

24. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-प्रतिज्ञाविषय पृ. 263

स्वामी दयानन्द और यज्ञ शब्द का अर्थ-एक विवेचन

(दयानन्दयाजुषभाष्य के आलोक में)

डॉ0 (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी

लोकोपयोगी सकल ज्ञान विज्ञान के स्रोत चारों वेद भारतीय जनमानस में एक अनुपम स्थान रखते हैं। वैदिक सन्देश चिरन्तन काल से मानवमात्र के हृदयों को पवित्र करते आ रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में वेद-मर्मज्ञ स्वामी दयानन्द ने वेद ज्ञान के प्रचारार्थ और वेद तथा यज्ञादि के सम्बन्ध में तत्कालीन समय में फैली हुई भ्रान्तियों के निराकरण हेतु वेदभाष्य करने का संकल्प किया। स्वामी दयानन्द के ऋग्वेद के अपूर्ण भाष्य के अतिरिक्त वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता का पूर्ण भाष्य प्राप्त है। इससे पूर्व उब्बट तथा महीधर शुक्ल यजुर्वेद-संहिता पर भाष्य लिख तो चुके थे, परन्तु उनका भाष्य कात्यायन श्रौतसूत्र में विनियोजित कर्मकाण्ड का अनुसरण करता है, जिसके अन्तर्गत दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि, अग्निहोत्र और चातुर्मास्य, सोमयज्ञों, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध प्रभृति यज्ञों के विधिविधानों का उल्लेख आता है, परन्तु दयानन्द का भाष्य इन विनियोगों से स्वतन्त्र है। स्वमीजी ने प्रकरणानुसार मन्त्रों के भिन्न विनियोग निर्धारित किए हैं, जो अनेक स्थानों पर मन्त्र के आरम्भ में दी गई भूमिका में देखे जा सकते हैं।

ऋषि दयानन्द के अनुसार वेदों में अवयव रूप विविध विषयों के अतिरिक्त विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान ये चार विषय मुख्य हैं।[1] इनमें से वेदों का द्वितीय विषय 'यज्ञ' अर्थात् कर्मकाण्ड है तथा यह कर्मकाण्ड यजुर्वेद का प्रतिपाद्य है।[2] मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है अतः कर्मकाण्ड के विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते।[3] दयानन्द का मन्तव्य है कि विधिविधान पूर्वक किए जाने वाले दर्शपौर्णमासादि यज्ञ ही केवल कर्मकाण्ड नहीं है अपितु जीवन के सभी सद्व्यवहार कर्मकाण्ड में समाहित हैं। स्वामी जी लिखते हैं-**वह कर्म अनेक प्रकार का है किन्तु उसके भी दो भेद मुख्य हैं, एक परमार्थ की सिद्धि कराने वाला अर्थात् जो ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, ईश्वर की आज्ञा का पालन रूप धर्म का अनुष्ठान तथा ज्ञान के द्वारा मोक्ष की सिद्धि के लिए किया जाता है। दूसरा लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए किया जाने वाला जो धर्म के द्वारा अर्थ और काम की प्राप्ति हेतु किया जाता है।**[4] अतः स्पष्ट है कि स्वामी जी की दृष्टि में यह कर्त्तव्य-कर्मकाण्ड

---

1. अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासना ज्ञानकाण्डभेदात्। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार।
2. तत्र यद् यदङ्गं यद् यत् साधनं चापेक्षितं तत्तदत्र यजुर्वेदे प्रकाश्यते। यजुर्वेदभाष्य के आरम्भ में।
3. क-यावत् क्रियानिष्ठं ज्ञानं न भवति नैव तावच्छ्रेष्ठं सुखं कदाचित् जायते। यजुर्वेदभाष्य के आरम्भ में। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार, ख-नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञानेऽपि पूर्णे भवतः।
4. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार, परं तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः। एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते।

पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि से द्विविध है जो कि कर्त्ता की भावना के अनुरूप क्रमशः निष्काम कर्म और सकाम कर्म कहलाता है।

स्वामी दयानन्द की यज्ञविषयक धारणा:-

स्वामी जी ने श्रौतयज्ञों आदि के विषय में स्वतन्त्ररूपेण कहीं कुछ नहीं लिखा अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस विषय में उनकी क्या धारणा थी; परन्तु उनके ग्रन्थों में यत्र तत्र यज्ञ विषयक बहुत से विचार उपलब्ध होते हैं अतः उन्हीं के आलोक में इस विषय पर किंचित् विचार किया जा सकता है। दयानन्द के समय में क्रियमाण हवन यज्ञ के प्रयोजन के विषय में विशेष रूप से सन्देह किया जाता था। तत्कालीन पाश्चात्त्य विद्वान् और उन्हीं के मत का अनुसरण करने वाले पौरस्त्य विद्वान् अग्नि में घी आदि द्रव्यों से दी जाने वाली आहुतियों को प्राचीन मनुष्यों द्वारा कपोल-कल्पित और अज्ञान-मूलक मानते थे। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में अग्निहोत्रादि यज्ञ के द्वारा जल और वायु आदि के शुद्धि होने पर भौतिक लाभ को युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है।[5] स्वामी जी ने वेदों के आधार पर ब्रह्मयज्ञ, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव और अतिथियज्ञ इन पाँच महायज्ञों का विवेचन भी अपने ग्रन्थों में किया है।[6]

यद्यपि स्वामी दयानन्द ने ब्राह्मणग्रन्थ-प्रतिपादित दर्श और पौर्णमासादि यज्ञों के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं लिखा तथापि वे इन यज्ञों की करणीयता एवं औचित्य को निःसंकोच स्वीकार करते हैं। जैसा कि वे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं-'**इस वेदभाष्य में कर्मकाण्ड (याज्ञिक प्रक्रिया) का वर्णन शब्दार्थ रूप में करेंगे। कर्मकाण्ड में विनियोजित इन वेद मन्त्रों से जहाँ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त में जो-जो करना होता है उसका यहाँ विस्तार से वर्णन नहीं किया जाएगा; क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौतसूत्र आदि में यथार्थ विनियोग कहा हुआ है और उसके पुनः कथन से अनार्ष ग्रन्थों के समान पुनरुक्त और पिष्टपेषण दोष की प्राप्ति होने लगेगी। अतः युक्तिसिद्ध वेदादि प्रमाणानुकूल मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाला उन ग्रन्थों में कहा गया विनियोग भी ग्रहण करने के योग्य है।**[7] इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि स्वामी दयानन्द श्रौतयज्ञों व दर्शपौर्णमासादि यज्ञों के विषय में एक विशिष्ट विचारधारा के समर्थक थे, परन्तु वे मन्त्रार्थानुसारी विनियोग के पक्षधर थे।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के राजधर्म विषय के अन्तर्गत शतपथ-ब्राह्मण प्रतिपादित अश्वमेध प्रकरण में भी स्वामी जी ने अश्वमेध यज्ञ का जो तात्पर्य बतलाया है वह अपने आप में एक

---

5. द्रष्टव्य, सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास।
6. ये पञ्चमहायज्ञा मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पञ्चमहायज्ञविषय।
7. अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्तु एतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राश्वमेधान्ते यद् यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थ विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानपिऽत्रग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषण-दोषापत्तेश्चेति। तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय।

उपयुक्तता एवं नवीनता लिए हुए है। वहाँ वे ब्राह्मण वचन के प्रमाण से लिखते हैं-**'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'** अर्थात् राष्ट्र ही अश्वमेध है और जो न्याय से राज्य का पालन करना है, वही क्षत्रियों का अश्वमेध कहा जाता है, न कि घोड़े को मार कर उसके अंगों का होम करना।

स्वामी जी ने स्वकीय ग्रन्थ संस्कारविधि में भी कर्मकाण्डात्मक कार्यों की व्याख्या विस्तार से की है। वहाँ पर उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से क्रियमाण विविध कर्मों की विशिष्टता एवं उनके अनुष्ठान के प्रयोजन को भी स्पष्ट किया है। यथा-विवाहप्रकरण में 'अश्मारोहण' एवं 'ध्रुवदर्शनादि' क्रियाओं की संगति बिठाते हुए उन्होने सुस्पष्ट किया है कि यहाँ वर और वधू दोनों को सम्बोधन कर कहा गया है कि हे वर और वधू! जैसे ये दृढ़ और स्थिर हैं, इसी प्रकार आप एक दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़ स्थिर रहें।[8] इस सन्दर्भ से स्वामी जी ने सूचित किया कि गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी का एक-दूसरे के प्रति अटल प्रेम, सौहार्द्र और विश्वास होना चाहिए। यह भाव इस क्रिया में प्रयुक्त मन्त्रों से ही प्रकट होता है और यही स्वमी जी की धारणा है कि मन्त्रों का विनियोग अर्थानुसारी होना चाहिए। यहाँ पर उन्होंने प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा सम्मत विनियोग की परिपाटी को स्वीकार किया है और उसी को उचित भी ठहराया है। इस से अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने दर्शपौर्णमासादि यज्ञों के अनुष्ठानत्व को अंगीकार करके उनके औचित्य की ओर संकेत किया है।

दयानन्द सम्मत यज्ञ शब्द का अर्थः-

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य एवं अन्य ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि वे यज्ञ शब्द को सब प्रकार के श्रेष्ठ कर्मों का वाचक मानते हैं। **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**[९] और **'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे'**[१०] प्रभृति मन्त्रांश उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। उन्होंने पाणिनि-धातुपाठ में पठित यज् धातु के देवपूजा, संगतिकरण और दान[11] इन तीनों अर्थों का अनुसरण करते हुए स्वकीय याजुषभाष्य में 'यज्ञ' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि- **'धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिधा'** अर्थात् धात्वर्थ के कारण-शब्द का अर्थ तीन प्रकार का होता है।

(1) विद्या ज्ञान और धर्माचरण से वृद्ध विद्वानों का इस लोक और परलोक के सुख की सिद्धि के लिए सत्कार (देवपूजा है), (2)अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरोधज्ञान की संगति से शिल्प विद्या का प्रत्यक्ष करना एवं नित्य विद्वानों का संग करना (संगतिकरण है),(3) शुभ विद्या धर्मादि गुणों का नित्य दान करना (दान है)।[12] वे सत्यार्थप्रकाश में स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में भी लिखते हैं-**''यज्ञ उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात्**

8. आरोहमस्मानमश्मेव त्व स्थिरा भव। इत्यश्मारोहणे ध्रुवदर्शनञ्च ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम्। स्वामी दयानन्द, संस्कारविधि, विवाहप्रकरण।
9. शतपथ ब्रा.1.7.1.5.
10. यजुर्वेद 1.1.
11. पाणिनीयधातुपाठ, भ्वादिगण, सूत्र संख्या 724
12. यजुर्वेद 1.2, दयानन्दभाष्य, मन्त्रभाष्यपदार्थ, भावार्थ।

रसायन जो कि पदार्थ विद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु,वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना, उसको उत्तम समझता हूँ।'[१३]

यद्यपि वैयाकरण 'यज्ञ' शब्द की सिद्धि यज् धातु से **'यजयाचयतविच्छप्रच्छ रक्षो नङ्'**[14] सूत्र के द्वारा नङ् प्रत्यय करके करते हैं और यहाँ नङ् प्रत्यय, जैसा कि काशिकाकार ने इसी सूत्र में कहा है, भाव और अकर्तरि कारक में होता है परन्तु दयानन्दभाष्य में 'यज्ञ' शब्द कर्तरि कारक में भी व्युत्पन्न किया गया है। इसलिए स्वामी जी ने 'यज्ञ' शब्द की सिद्धि औणादिक प्रत्यय से भी की है क्योंकि यह औणादिक प्रत्यय **'ताभ्यामन्यत्रौणदयः'**[15] इस सूत्र के नियम के अनुसार औणादिक प्रत्यय कर्त्ता, कर्म, करण और अधिकरण कारकों में भी होते हैं। इस प्रकार व्याकरण की रीति से 'यज्ञ' शब्द असंख्य अर्थों को प्रकट करने में समर्थ है। शब्दार्थ करने की इसी प्राचीन रीति का अनुसरण करते हुए स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'यज्ञ' शब्द के अग्निहोत्र, दुष्ट गुणों का निषेध, ईश्वर, उपकार, पशुपालन, औषध से रोग निवारण, उत्तम शिक्षा, विद्यादाता गुरु, यजनशील मनुष्य आदि विविध अर्थों को प्रकाशित किया है।[16] अग्रिम पंक्तियों में स्वामी जी के याजुषभाष्य में से 'यज्ञ' शब्द के विविध अर्थों पर निदर्शनार्थ कुछ प्रकाश डाला जाएगा।

१. विद्वान्:-

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सोऽअष्टधा दिवमन्वाततान।

स यज्ञो धुक्ष्व महि मे प्रजायां रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा।[१७]

इस मन्त्र में सम्बोधनान्त 'यज्ञ' शब्द की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं- **यज्ञ-यः संगम्यते तत् सम्बुद्धौ** अर्थात् जो संगतिकरण को करता है, उसके संबोधन में। आगे भाषार्थ में उसी भाव को प्रकाशित करते हुए पुनः कहते हैं; ''हे (यज्ञ) संग करने के योग्य, यज्ञानुष्ठान करने वाले विद्वान् पुरुष!' स्पष्ट है कि यहाँ पर उन्होंने यज् धातु से कर्तृ कारक में प्रत्यय मानकर 'यज्ञ' शब्द की निष्पत्ति की है; अथवा तात्स्थ्य उपाधि नियम से यहाँ पर 'यज्ञ' शब्द से यज्ञ पर बैठे हुए लोगों ब्रह्मा या विद्वान् आदि का भी ग्रहण होता है, ऐसा मानकर उक्त मन्त्र की व्याख्या की है।

---

13. स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश
14. अष्टाध्यायी, 3.3.90.
15. वही 3.4.75
16. द्रष्टव्य, पं0 सुदर्शनदेव आचार्य, दयानन्द यजुर्वेदभाष्य-भास्कर, देवतार्थ सूची, पृ. 9. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-6, 1973 ई.
17. यजुर्वेद, 8.62.

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर यज्ञ का सम्पादन करने वालों के लिए 'यज्ञ' शब्द का ग्रहण किया गया है। तद्यथा-

(क) पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते।

(ख) पुरुषो यज्ञः पुरुषसम्मतो यज्ञः।

(ग) यज्ञो यजमानः। [१८]

२. गृहस्थः-

यज्ञो यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा।

एष ते यज्ञो यज्ञपते सह सूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा॥[१९]

इस मन्त्र की व्याख्या में भी 'यज्ञ' को कर्तरि कारक में औणादिक प्रत्ययान्त मानकर व्याख्यात किया गया है। अतः भाषार्थ में वे लिखते हैं, "हे (यज्ञ)= शुभ कर्मों से संगत होने वाले गृहस्थ पुरुष!'

३. गृहस्थधर्मः-

उपर्युक्त मन्त्रगत द्वितीयान्त 'यज्ञ' शब्द को स्वमी दयानन्द ने गृहस्थधर्म वाचक मानकर व्याख्या करते हुए लिखा है-"(यज्ञम्) अर्थात् विद्वानों के सत्कार नामक गृहाश्रम के धर्म को (प्राप्त हो)'

४. परमेश्वरः-

स्वामी जी स्वकीय याजुषभाष्य में अनेक स्थानों पर 'यज्ञ' शब्द को परमेश्वर का वाचक माना है। यथा-

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।

तेन देवाऽ अयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये॥[२०]

यहाँ पर 'यज्ञ' शब्द से परमेश्वर का ग्रहण करते हुए अन्वय में वे कहते हैं-**'यमग्रतो जातं यज्ञं पुरुषं बर्हिषि प्रौक्षन्'** अर्थात् जिस सृष्टि से पूर्व प्रादुर्भूत जगत् के कर्त्ता (यज्ञम्) पूजनीय (पुरुषम्)= पूर्ण ईश्वर को मानस ज्ञानयज्ञ में उत्तम रीति से सींचते हैं। आगे भावार्थ में वे और भी

---

18. शतपथ ब्राह्मण, क्रमशः 1.3.2.1; 3.1.4.23; 14.3.2.
19. यजुर्वेद, 8.22.
20. वही, 31.9.

स्पष्ट रूप से कहते हैं-विद्वान् मनुष्य सृष्टि के कर्त्ता ईश्वर का योगाभ्यास आदि से सदा हृदयाकाश में ध्यान करें और उसकी पूजा करें।

५. क्रियाकाण्डजन्य संसारः-

'.........................इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः'[२१]

इस मन्त्रांश में स्वामी जी ने 'यज्ञ' शब्द से क्रियाकाण्डजन्य संसार अर्थ ग्रहण किया है।

६. यात्रा, संग्राम और हवनः-

दैव्यावध्वर्यू ऽ आ गतं रथेन सूर्यत्वचा।

मध्वा यज्ञं समञ्जाथे।[२२]

मन्त्र की व्याख्या करते समय स्वामी जी ने 'यज्ञ' शब्द के बहुत से अन्य अर्थ दिखाए हैं। तद्यथा-संस्कृत पदार्थ में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ **''यात्राख्यं संग्रामाख्यं हवनाख्यं वा'** करके भाषार्थ में कहा गया है-हे विद्वानों वा दिव्य गुणों में कुशल अपने अहिंसा यज्ञ के इच्छुक दो राजपुरुषो! तुम सूर्य के तुल्य देदीप्यमान त्वक्=बाह्य आवरण वाले यान से आओ, और कोमल सामग्री से (यज्ञम्) यात्रा, संग्राम अथवा हवन नामक यज्ञ को सिद्ध करो। आगे भावार्थ में कहा गया है कि राजा आदि मनुष्य सूर्य के प्रकाश के तुल्य विमान आदि यानों, संग्राम तथा हवन आदि को बनाकर यात्रा आदि व्यवहारों को सिद्ध करें।

७. योगः-

स्वामी दयानन्द ने 'यज्ञ' शब्द से आध्यात्मिक पक्ष में 'योग' अर्थ का भी ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ-

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती।

तया यज्ञं निमिक्षतम्।[२३]

मन्त्र में 'यज्ञ' शब्द का 'योग' अर्थ करते हुए भावार्थ में उपमालंकार द्वारा कहा गया है-योगी लोग मधुर वाणी से शिष्यों को योग का उपदेश करें। वे योग को ही अपना सर्वस्व समझें; दूसरे लोग ऐसे योगी का सर्वत्र संग करें।

---

21. वही, 2.21.
22. वही, 33.33.
23. वही, 7.11.

८. गृहस्थाश्रमः-

देवा गातुविदो गतं वित्त्वा गातुमित।

मनसस्पतऽ इमं यज्ञं स्वाहा वाते धाः॥[२४]

मन्त्र में स्वमी दयानन्द ने 'यज्ञ' शब्द से 'सर्वविध सुखों को प्राप्त कराने वाले गृहस्थाश्रम' इस अर्थ को स्वीकार किया है। जैसा कि उन्होंने मन्त्र का पदार्थ करते हुए लिखा है-''**यज्ञं= सर्वसुखावहम् गृहस्थाश्रमम्।**' इसी प्रकार ऋग्वेदभाष्य में भी वे 'यज्ञ' शब्द से-विद्या की वृद्धि कराने वाला व्यवहार[25] अध्ययन अध्यापनादि[26] और धर्मानुष्ठान[27] प्रभृति अर्थ ग्रहण करते हैं।

इसी भाँति देखा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द ने स्वकीय वेदभाष्य में ब्राह्मणादि ग्रन्थों के प्रमाणपुरस्सर 'यज्ञ' शब्द से क्रियाकौशल, परोपकारी कर्म, प्रजापालन, संगति करने योग्य शिष्य, सूर्य इत्यादि अनेक अर्थों को ग्रहण किया है।

डॉ0 (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी
दयानन्द वैदिक शोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

24. वही, 8.21.
25. ऋग्वेद, 4.34.6. दयानन्दभाष्य।
26. वही, 4.33.3. वही
27. वही, 4.20.3. वही

महर्षि दयानन्द और यज्ञ

वेदरत्न डॉ. सत्यव्रत राजेश

अग्निहोत्र, जीवनोपयोगी तत्त्वों को वायुमण्डल में भरने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। काठक शाखा में कहा है कि-मैं यज्ञ को ऐसे दुहता हूँ जैसे कोई उत्तम दूध देने वाली गाय को दुहता है।[1] जैसे गाय से हम पुष्ट, मिष्ट, सुगन्धित तथा रोगनाशक दूध चाहते हैं तो हमें गाय को ऐसे ही पदार्थ खिलाने होंगे जो पुष्ट, मिष्ट, सुगन्धित तथा रोगनाशक हों। इसी प्रकार यदि हम वायुमण्डल से भी उपर्युक्त वातावरण चाहते हैं तो हमें उसमें पुष्टादि पदार्थ भरने होंगे। क्योंकि वायुमण्डल में रस या विष जो भी भरा जाएगा वही हमें वह लौटा देगा। उपर्युक्त तत्त्वों को वातावरण में कैसे भरा जाए, जब यह समस्या सम्मुख आती है तो हमारे मन में यह भी आ सकता है कि उपर्युक्त वस्तुओं को महीन पीस कर जल में मिलाकर अन्तरिक्ष में उसका छिड़काव कर दिया जाए। किन्तु इसमें दो समस्याएँ सामने आयेंगी। प्रथम तो किसमें इतनी सामर्थ्य है कि पूरे अन्तरिक्ष में उसे छिड़क सके। दूसरे अन्तरिक्ष का स्वभाव है कि वह सूक्ष्म वस्तु को तो धारण करता है, किन्तु स्थूल को नीचे फेंक देता है। जल जब तक वाष्प रूप में रहता है, तब तक अन्तरिक्ष उसे धारण करता है किन्तु स्थूल बूंद बनते ही उसे फेंक देता है। अत: हमारे द्वारा छिड़के जल को भी वह नीचे फेंक देगा तथा हमारा व्यय किया धन तथा पुरुषार्थ व्यर्थ जाएगा। इसके लिए हमें ऐसा उपाय करना होगा जो मिष्टादि पदार्थों को सूक्ष्म कर दे, जिससे वायुमण्डल उसे धारण कर सके।

वेद ने इसका उपाय बताते हुए एक मन्त्र में कहा है-समिधा से अग्नि को जलाओ, अतिथिवत् पूज्य इस अग्नि को घी से चेतन करो तथा इसमें हवि की आहुति दो।[2] यह है वस्तुओं के सूक्ष्मीकरण का प्रकार। इस विषय में महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं-

प्रश्न-चन्दनादि घिस के किसी को लगावें वा घृतादि खाने को देवें तो बड़ा उपकार हो, अग्नि में डाल के व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर-जो तुम पदार्थविद्या जानते तो कभी ऐसी बात न कहते। क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो, जहाँ होम होता है वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने से ही समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म हो के वायु के साथ दूर देश में जा कर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

प्रश्न-जब ऐसा ही है तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर (इत्र) आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु हो कर सुख कारक होगा।

उत्तर-उस सुगन्ध में वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु

---

1. काठक 31.14.
2. यजु03.1. समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन।।

का प्रवेश करा सके। क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश करा देता है।[3]

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस विषय पर विशद विचार किया गया है। वहाँ भी यही प्रश्न किया गया है कि-सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं, उनको अन्य द्रव्यों में मिला के अग्नि में डालने से उनका नाश हो जाता है, फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता। किन्तु ऐसे उत्तम पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिए देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है। फिर यज्ञ किस लिए करना है?

इसका उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं कि-**किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता, केवल वियोगमात्र होता है।** आगे वे वस्तु ज्ञान के लिए प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों का उल्लेख करने के पश्चात् लिखते हैं "नाश को समझने लिए यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मिट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फैंक दे, फिर जैसे वे छोटे छोटे कण आँख से नहीं दिखते, क्योंकि णश् धातु का अदर्शन ही अर्थ है। जब अणु अलग-अलग हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है। और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् बड़ा होता है तब देखने में आता है। और परमाणु उसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके। परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है। जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है उसका भी टुकड़ा हो सकता है। यहाँ तक कि जब पर्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जाएगा।[4]

वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग-अलग हो के आकाश में रहते ही है, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता। इससे वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है इस कारण से यज्ञ को करना चाहिये।"[5]

घरों को अतर और पुष्पादि रख कर सुगन्धित करने के उत्तर में वे लिखते-यह कार्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उसको छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उसमें हल्कापन नहीं होता। उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता। क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता। फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते।[6]

जब अग्नि उस वायु को वहाँ से हल्का करके निकाल देता है, तब वहाँ शुद्ध वायु भी

3. सत्यार्थप्रकाश-तृतीय समुल्लास।
4. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचार, पृ053-57.
5. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचार, पृ053-57.
6. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचार, पृ053-57.

प्रवेश कर सकता है। इस कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि जो होम के परमाणु युक्त वायु है, सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के, उस देशस्य वायु को शुद्ध करके, रोगों का नाश करने वाला होता और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त कराता है।

जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता और उससे वृष्टि भी अधिक होती है। क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्न और औषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती है। ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्य प्रति अधिक सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है। इससे होम करना अवश्य है और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहाँ सुगन्ध वायु है। इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग (विभक्त) होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त सूक्ष्म होके जाता आता है। परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है तब उसके नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्य को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा। परन्तु यह उनको अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है। इससे अन्य भी होम करने के बहुत से उत्तम फल हैं। उनको बुद्धिमान लोग विचार से जान लेवें।[7]

यह सब कुछ इतना स्पष्ट है कि इस विषय में कुछ भी कहने को स्थान नहीं रहता। मनु ने भी अग्नि में डाली आहुति के प्रसार का उल्लेख किया है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।[8]

अर्थात् अग्नि में अच्छी प्रकार डाली हुई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है। आदित्य से वृष्टि होती है तथा उससे अन्नादि तथा प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं।

एक अन्य यज्ञ का लाभ-

महर्षि दयानन्द ने यज्ञ से एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ का भी उल्लेख किया है। वे लिखते है-सो उनकी (वायु तथा वृष्टि जल की) शुद्धि में दो प्रकार का प्रयत्न है-एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का। उनमें से ईश्वर का किया हुआ यह है कि उसने अग्नि रूप सूर्य और सुगन्ध रूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है, वह भी दुर्गन्ध का निवारण करता रहता है। परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम कर देते हैं। उस जल

---

7. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचार, पृ053-57
8. मनु03.76

की वृष्टि से औषधि, अन्न, वीर्य और शरीरादि भी मध्यम गुण वाले होते हैं तथा उनके योग से बुद्धि, बल, पराक्रम, धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी मध्यम ही होते हैं। क्योंकि जिसका जैसा कारण होता है, उसका वैसा ही कार्य होता है। यह दुर्गन्ध से वायु और जल का दोषपूर्ण होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है। इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों को ही उचित है। जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है, मिथ्याभाषण की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है, वह अत्यन्त पापी होता है और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है, उसको जो नहीं करता वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है।[9]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर महर्षि ने ध्यान दिलाया है जिसकी ओर न विश्व के धार्मिकों का ध्यान है, न दार्शनिकों का और न वैज्ञानिकों का। वह है यज्ञ के भाव में बुद्धि, बल आदि का मध्यम होना, उत्तम न होना। जब बुद्धि आदि मध्यम होंगे तो उनसे चिन्तन आदि कार्य भी मध्यम होंगे और मानव उच्च तथा उत्तम कार्य करने से वंचित रहेंगे। यज्ञ का यह लाभ संसार के लोगों के सामने लाने का प्रयत्न करना अपेक्षित है।

दूसरे उन्होंने यज्ञ न करने वालों को पापी बतलाया है। उसके लिए वे तर्क देते है-क्योंकि सबका उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। जहाँ जितने मनुष्यादि समुदाय अधिक होते हैं, वहाँ उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है। क्योंकि हस्ती आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिए इकट्‌ठा करते हैं। इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है। इसस मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उसका निवारण करना भी उनको ही योग्य है।[10]

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उनमें से मनुष्य ही उत्तम है। इससे वे ही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिसके होने से मनुष्य नाम होता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोग विशेष इस प्रकार रचे हैं कि जिनसे उनको ज्ञान की उन्नति होती है। इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं। इससे सबके उपकार के लिए यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

महर्षि दयानन्द ने वैसे तो यज्ञ को पूर्णता प्रदान की है। उन्होंने यज्ञदेश, यज्ञशाला, यज्ञकुण्ड का परिमाण, यज्ञसमिधा, होम के चार प्रकार के द्रव्य, स्थालीपाक, चरु अर्थात् होम के लिए पाक बनाने की विधि, यज्ञपात्र, ऋत्विजों के लक्षण से लेकर यज्ञविधि आदि विषयों का संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में समग्रता से उल्लेख किया है। यहाँ यज्ञ से तात्पर्य देवयज्ञ से ही है, अतः यहाँ उसी पर उनकी ही भाषा में विचार किया गया है। अन्यथा वे ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वयज्ञ एवं

---

9. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचार, पृ053-57.
10. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचार, पृ052-53.

अतिथियज्ञ को तो महायज्ञों के अन्तर्गत मानते ही हैं, साथ ही उनकी दृष्टि में यज्ञ एक विस्तृतता को अपने अन्दर समाहित किए हुए है। मैं यजुर्वेदभाष्य 1.2 के पदार्थ में उनका यज्ञ का अर्थ देकर इस लेख को विराम देता हूँ। वे लिखते हैं कि धातु के अर्थानुसार यज्ञ तीन प्रकार का है। 1-विद्या, ज्ञान तथा धर्म के अनुष्ठान में अधिक बढ़े हुए विद्वानों की लोक तथा परलोक के सुख सम्पादनार्थ सेवा तथा सत्कार करना।

2-अच्छे प्रकार पदार्थों के गुणों को जान कर उनके मेल से, गुणों के मेल विरोध का ज्ञान करके शिल्पविद्या का प्रत्यक्ष करना।

3-नित्य विद्वानों का संग एवं शुभविद्या, सुख तथा धर्मादि गुणों का दान करना।

इनके अतरिक्त अन्य अनेक अर्थ उन्होंने यज्ञ तथा उसके पर्यायवाची मख शब्द के किए हैं, उन्हें जानने के लिए लेखक की पुस्तक-**महर्षि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य में समाज का स्वरूप** का पञ्चम अध्याय, करणीय यज्ञ एवं संस्कार देखें।

वस्तुतः महर्षि दयानन्द ने हमारे सम्मुख यज्ञ का वैज्ञानिक तथा लोक हितकारी विस्तृत रूप प्रस्तुत किया है जो प्रशंसनीय एवं ग्राह्य है।

वेदरत्न डॉ. सत्यव्रत राजेश
दयानन्द नगरी,
ज्वालापुर, हरिद्वार

यज्ञ का आयुसंवर्धन में महत्त्व वैदिक संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में

डॉ0 शशि तिवारी

यज्ञ वैदिक धर्म, संस्कृति और चिन्तन का आधार स्तम्भ है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में यज्ञ को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, तथापि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञिक परिकल्पनाओं और कल्पसूत्रों में उनके विशद एवं सर्वाङ्गीण विकास को देखा जा सकता है। भारतवर्ष में यज्ञसंस्था का विकास एक सांस्कृतिक संकल्पना के रूप में हुआ है। इसकी संरचना की सूक्ष्मता के अवबोधार्थ गम्भीर शोध अपेक्षित है। विद्वानों की सामान्य धारणा के अनुसार वैदिक यज्ञ आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक-तीनों रूपों में ग्रहणीय है। यज्ञप्रक्रिया ही सृष्टि की उत्पति और स्थिति का आधार है। यह वह विधि है, जिससे प्रकृति और प्राकृतिक जगत् में आवश्यक सन्तुलन बना रहता है। प्राकृतिक यज्ञ तो विश्व में प्रतिक्षण चलता है। इसीलिए यजुर्वेद और अथर्ववेद में यज्ञ को सृष्टिचक्र या विश्व की नाभि कहा गया है।[1] इसी प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि यज्ञ के द्वारा द्युलोक को प्रसन्न किया जाता है और द्युलोक वर्षा के द्वारा पृथ्वी को तृप्त करता है। यज्ञ से मेघ बनते हैं और मेघ से वर्षा होती है।[2] आदान-प्रदान, स्वाहा, समर्पण आदि यज्ञ की मूल भावनाएँ हैं।

'यज्ञ' शब्द की उत्पत्ति यज् धातु से की जाती है, जिसके तीन अर्थ हैं-देवपूजा, संगतिकरण और दान। अत: परमेश्वर और प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा, विविध कार्यों की सिद्धि के लिए अग्न्यादिक पदार्थों का संयोजन और विद्वानों या परमात्मा से संयोग तथा प्राणिमात्र के कल्याण के लिए स्वार्थरहित समर्पण यज्ञ के व्यापक त्रिविध अर्थ हैं-

तदनुसार यज्ञ वह शुभ कर्म है- जो प्राणिमात्र के कल्याण के लिए किया जाता है। यह परिभाषा ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पसाहित्य में वर्णित द्रव्ययज्ञ पर घटित नहीं होती है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार द्रव्ययज्ञ की परिभाषा है-'वह यज्ञ जिसमें देवता को उद्दिष्ट करके किसी पदार्थ का त्याग किया जाता है। यज्ञ की परिकल्पना ऋग्वेद-संहिता में अपने सम्पूर्ण रूप में प्राप्त होती है। वहाँ वह सृष्टि यज्ञों से अधिकांशतया सम्बद्ध है। अनन्तर वैदिक ग्रन्थों में द्रव्य यज्ञों के रूप में उसका विस्तार होता गया है। युधिष्ठिर मीमांसक का कथन उल्लेखनीय है-**'यज्ञ की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का बोध कराने के लिए की गयी है**-ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल वा सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिए अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि विभिन्न छोटे-मोटे यज्ञों की कल्पना की गयी। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का नाम 'कल्प' भी है **'कल्पनात् कल्पः।'**[3]

'यज्ञ' की अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की गयी है। इसे श्रुति में सर्वश्रेष्ठ कर्म घोषित किया

---

1. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। ऋग्वेद 1.164.35; यजुर्वेद 23. अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। अथर्ववेद 9.10.14.
2. भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः। ऋग्वेद 1.164.51.
3. युधिष्ठिर मीमांसक, श्रौतयज्ञमीमांसा, सोनीपत, पृ0 137-38

गया है-**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।'**[4] इसको सम्पूर्ण भुवन में निश्चय ही 'ज्येष्ठ' बताया गया है।[5] श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार यज्ञ बहुत **'वितत'** है, वहाँ अनेक प्रकार के यज्ञ बताए गए हैं।[6] यज्ञ की परिकल्पना वैदिक महर्षियों की सर्वोत्कृष्ट देन है। इसके विस्तृत पक्ष, विविध आयाम और नाना उद्देश्य ही इसकी गरिमा और महिमा के आधार हैं।

यज्ञ की उपयोगिता गरिमा और महिमा के उल्लेख अनेकशः हुए हैं। इसको विभिन्न सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का मुख्य साधन माना गया है।[7] दीर्घायु, तेज, ब्रह्मवर्चस्, स्वर्ग, श्री, यश, पराक्रम, भोजन,[8] पशु, अन्न,[9] प्रजा,[10] आदि कामनाओं की पूर्ति यज्ञ से सम्भव है। यज्ञ परम शक्ति का स्रोत है। वह यज्ञकर्ता को समस्त पापों से मुक्त करते हैं।[11] वेद में प्रजापति के सम्पूर्ण कार्य का निर्वाहक यज्ञ को बताया गया है। कौषीतकि-ब्राह्मण में भी मानवीय अंगों को यज्ञांग रूप में निरूपित करते हुए यज्ञपुरुष का सविस्तर विवेचन किया गया है।[12] पुरुषसूक्त में यज्ञ क्रियाओं से सृष्टि की उत्पत्ति का प्रतिपादन हुआ है।[13] अन्य लौकिक कामनाओं की पूर्ति के अतिरिक्त स्वर्ग प्राप्ति, शान्ति प्राप्ति, शत्रुनाश, लोकप्राप्ति आदि भी यज्ञों के उद्देश्य कहे गये हैं।[14]

फलाकांक्षा से किये गए यज्ञकर्म द्वारा फल प्राप्ति अवश्यम्भावी है, तो निष्काम भावना से किये गये यज्ञकर्म निःश्रेयस् के साधक हैं।[15] इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता ने यज्ञ को सर्वार्थसिद्धि का साधक बताते हुए कहा है कि-**एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।**[16] यज्ञ की उपयोगिता में बाह्य पर्यावरण के प्रदूषण से निदान जितना महत्त्वपूर्ण है, उतने ही उल्लेख्य हैं-उससे सम्भव होने वाले रोगनाशन, दीर्घायुष्य और अन्य शारीरिक एवं मानसिक उपलब्धियाँ। यहाँ इस पत्र में वेद की संहिताओं के आधार पर केवल यज्ञ के आयु एवं दीर्घायु से सम्बन्ध का अध्ययन और विश्लेषण करना अपेक्षित है।

ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त के अनुसार यज्ञप्रक्रिया सृष्टि का प्रथम धर्म है-देवताओं ने यज्ञ के सम्पादन द्वारा यज्ञस्वरूप प्रजापति का यजन किया था और वे 'धर्म' ही प्रथम हुए थे। आज भी जो

---

4 शतपथ ब्रा0 17.1.5.
5. यज्ञो वै भुवनेषु ज्येष्ठः। कौषीतकिब्राह्मण 25.1।
6. श्रीमद्भगवद्गीता 4.24-32
7. कौषीतकि ब्राह्मण 13.1,4.11,2; ऐतरेयब्राह्मण 25.2.
8. ऐतरेयब्राह्मण 1.5.
9. कौषीतकि ब्राह्मण 4.5.
10. ऐतरेयब्राह्मण 17.7.
11. कौषीतकि ब्राह्मण 18.7; शतपथ ब्राह्मण 2.3.1.6.
12. कौषीतकि ब्राह्मण 17.7.
13. ऋग्वेद 10.90., यजुर्वेद 31, अथर्ववेद 19.6.
14. बलवीर आचार्य, ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अध्ययन, दिल्ली, 1991 पृ0 235-270
15. आद्यादत्त ठाकुर, वेदों में भारतीय संस्कृति, जयपुर, पृ0 297
16 गीता 3.10

महात्मा उपासक उसी धर्म के अनुसार यज्ञ आदि कर्म करते हैं, वे उसी स्वर्ग को प्राप्त करते हैं जिसको प्रथम यज्ञकर्ता देवों ने सुप्राप्त किया था।[17] ऋग्वेद के मन्त्र में जहाँ यज्ञ की महत्ता स्थापित की गई है, वहीं उसको काम्यफल सिद्धि का साधन भी बताया है। इस मन्त्र में यजन साधन और यजनीय की तादात्म्य प्रतीति से वैदिक धर्म में आध्यात्मिक उपासना का सूत्रपात हुआ है, अनन्तर आरण्यक, उपनिषद् और गीता में इस विचार का विकास होता गया है। सृष्टि सर्जन कार्य पर यज्ञकर्म के आरोपण द्वारा ही ऋग्वेद ने सामान्य जीवन में यज्ञ की प्रधानता निर्दिष्ट की है।

ऋग्वेदीय ज्ञानसूक्त ने ज्ञान और वाणी के सम्बन्ध पर विचार करते हुए प्रतिपादित किया है कि **'धीरजनों ने यज्ञ के द्वारा वाक् के यातव्य पथ को प्राप्त किया, अनन्तर ऋषियों में प्रविष्ट उस वाक् को ढूँढ निकाला।'**[18] ऋषि प्रदत्त ज्ञान वाणी के माध्यम से यज्ञ के द्वारा ही विद्वानों को प्राप्त हो सकता है। 'यज्ञ' ज्ञान और वाक् का सम्बन्ध सेतु जैसा है। अतः ऋग्वेद में यज्ञप्रक्रिया देवों ऋषियों और मनुष्यों के मध्य आदान-प्रदान में एक विधान के रूप में परिकल्पनीय रही है। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार देवों के लिए इसकी उत्पति हुई, परन्तु ऋषियों ने अपने तपस् से उसे खोज निकाला और मनुष्यों तक फैलाया।[19]

ऋग्वेद-संहिता ने यज्ञ से मनुष्य के स्वास्थ्य, नीरोगता और आयु का सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए उसे कल्याण मार्ग बताया है। शुक्लयजुर्वेद की घोषणा है कि 'कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए'[20] के अनुकूल एक ऋचा में स्पष्ट निर्देश है-'हे मनुष्य प्रतिदिन बढ़ता हुआ सौ वर्ष तक-सौ शरद् ऋतु तक जीवित रह। सौ हेमन्त और सौ वसन्त ऋतु तक जी। इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति- ये सब सौ वर्ष की आयु को देने साधन हवि (हविषा) से इसकी जीवनी शक्ति पुनः प्रदान करें।'[21] 'हविष्' का शतायुष विशेषण यज्ञ द्वारा दीर्घ आयु प्राप्ति के ऋग्वैदिक दृष्टिकोण का प्रमाण है।

प्राजापत्य यक्ष्मनाशन का ऋग्वैदिक सूक्त मुख्यतया राजयक्ष्म आदि रोगों से मुक्ति की चर्चा कर रहा है, परन्तु सर्वत्र साधन 'हवि' को बताया गया है। इसके **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय'**[22] मन्त्रांश से नीरोगता और दीर्घजीवन के लिए हविर्द्रव्य की उपयोगिता से यज्ञ और आयु के अनिवार्य सम्बन्ध का तथ्य प्रकट होता है। सूक्त के प्रारम्भिक चार मन्त्र अथर्ववेदीय सूक्त 3.11 में पुनः पठित हैं। इन्द्राग्नी, आयुष्य और यक्ष्मनाशन को विषयीकृत करने वाले-आठ मन्त्रों के इस सूक्त में 'हवन से दीर्घ आयुष्य प्राप्ति का निर्देश मिलता है और आरोग्य, बल, दीर्घजीवन की प्राप्ति के लिए यज्ञ

---

17. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धार्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।। ऋग्वेद 10।90। 16
18. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। ऋग्वेद 10।71।3
19. वेदों में भारतीय संस्कृति, आद्यादत्त ठाकुर, पृ0 110 शतपथ ब्रा0 1.2.5.26.
20. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजुर्वेद 40.2
21. शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताच्छतमु वसन्तान्। शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः।। ऋग्वेद 10.161.4
22. ऋग्वेद 10.161.1.

यागों की शक्ति एवं सामर्थ्य की चर्चा की गई है। यजुर्वेद में अग्नि देव से मन, आयु, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि की प्राप्ति की प्रार्थनाओं का निहितार्थ भी यज्ञविधान से इष्ट कामनाओं की पूर्ति का विवरण ही है।[23] इसी का विस्तार उस यजुष् में दिखाई देता है, जहाँ कहा गया है-यज्ञ से आयु की वृद्धि हो, यज्ञ से प्राण बलिष्ठ हो, यज्ञ से नेत्र उत्कृष्टता को प्राप्त हों, यज्ञ से श्रोत्र इन्द्रिय उत्कर्षता को प्राप्त हो, यज्ञ से वाक् इन्द्रिय उत्कर्ष को प्राप्त हो। मन, आत्मा भी उत्कर्ष को प्राप्त हो। यज्ञ से स्वयं प्रकाश परमात्मा प्राप्त हो, यज्ञ से स्वर्ग प्राप्त हो........।'[24]

यज्ञ का अग्नि से साक्षात् सम्बन्ध है। अग्नि तत्त्व की प्रधानता जीवनी शक्ति का सार है अतः यज्ञकर्म को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का संपोषक मानना तत्त्वतः वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित विचार है। वैदिक संहिताओं ने यत्र-तत्र इस तथ्य को विविधतया प्रस्तुत किया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में अग्नि को सम्बोधित करते हुए जीवनी शक्ति, सामर्थ्य, पुष्टि और इनसे समवेत आयुवय का आधार जातवेदस् में प्रतिदिन **'समिधाएँ प्रदान करना'** कहा गया है।[25] अथर्ववेद में दीर्घायु प्राप्ति के उपायों के प्रकाशक सूक्त प्राप्त होते हैं। जिनका देवता 'आयु' है।[26] जातदेवस् से दीर्घायु की कामना की गई है, जिसको एक ओर ज्ञान की सहायता से आयु बढ़ाने का संकेत माना जा सकता है, तो दूसरी ओर जातवेदस् अग्नि के माध्यम से अनुष्ठानादिक क्रियाओं के विधिवत् सम्पादन द्वारा आयुष्य लाभ की सम्भावना के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है।[27] अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड में प्राप्त **'दीर्घायुत्वम्'** सूक्त का देवता सूर्य है-इसमें सौ वर्ष तक देखने, जीवित रहने, पुष्ट रहने की कामना व्यक्त की गई है।[28] यज्ञ की महिमा गाने वाले तीन सूक्त अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड में मिलते हैं।[29] एक मन्त्र में इन्द्रिय शक्तियों, प्राण और तेज के साथ आयु की अविच्छिन्नता के लिए यज्ञ की गरिमा का गुणगान किया गया है-'मन लगाकर' दैवी शक्तियों के साथ घी की अविच्छिन्न गति हवि से संवत्सर को बढ़ाती है। हमारी कान, आँख और प्राण की शक्तियाँ अविच्छिन्न रहें, आयु और तेज से हम अविच्छिन्न रहें।'[30]

ऋग्वेद-संहिता का मण्डूकसूक्त[31] एक पर्जन्य सूक्त है, जिसमें एक रूपक के माध्यम से वर्षाकाल आने पर अनुकारिणी वाणी बोलने वाले मण्डूकों की रूपकता व्रतचारी, तपस्वी ब्राह्मणों से

---

23. यजुर्वेद 4.153.63.
24. आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पताम्........। यजुर्वेद 18.29.
25. स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे। सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति।। ऋग्वेद 3.10.3.
26. अथर्ववेद 8.1, 2.5.30, 5.28, 1.35
27. आयुरस्मै धेहि जातवेदः। अथर्ववेद 2.29.2
28. पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। अथर्ववेद 19.67.1-8
29. अथर्ववेद 19.1, 58, 59
30. घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती।श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः।। अथर्ववेद 19.58.1
31. ऋग्वेद-संहिता-मण्डूकसूक्त 7.103

की गयी है, जो वर्ष पूरा होने पर सोमयाग में यज्ञ करते हुए एक साथ मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। सूक्त के अन्तिम मन्त्र में ऋषि वसिष्ठ की प्रार्थना है कि 'गो के समान शब्द करने वाला, अज के समान शब्द करने वाला, हरित वर्ण वाला, चितकबरा आदि सभी प्रकार के मण्डूक हमें धन दें और **'सहस्रसाव'** वर्षा ऋतु आने पर गायों को सैकड़ों की संख्या में देते हुए हमारी आयु को बढ़ायें।'[32] याज्ञिकों के समकक्ष गुणों और कर्म से प्रशंसित मण्डूकों से आयु वृद्धि की कामना इस ऋग्वैदिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त कर रही है कि यज्ञ का आयु से निश्चित सम्बन्ध है और विधिपूर्वक किये जा रहे यज्ञयागादि आयुष्यलाभ करने में समर्थ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक मन्त्रों में यज्ञ और आयु का सम्बन्ध अनेकशः दर्शाया गया है। यज्ञदर्शन और यज्ञविज्ञान की सूक्ष्म मीमांसा वैदिक संहिताओं का विषय नहीं है। पर यज्ञ के ज्ञान, प्राण, वाक् और अग्नि से सम्बन्ध की गवेषणा वैदिक मन्त्रों में हुई है और इसी आधार पर आयुष्य और जीवनीशक्ति की सिद्धि 'यज्ञ' से संयुक्त की गयी है। देवयजनात्मक, समर्पणात्मक, संयोगात्मक 'यज्ञ' के संहितागत निर्देशों से स्पष्ट है कि यज्ञों की परम्परा का विकास और अनन्तर उसके दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप का अनुचिन्तन भी वस्तुतः संहिताओं से ही प्रारम्भ हो गया था। उसमें परिवर्धन और परिवर्तन होते रहे-पर मूलाधार वही रहा। यज्ञों की परम्परा भारतीय चिन्तन की सार्वभौम परम्परा है, इसीलिए यज्ञ से आयुस्तत्त्व के सम्बन्ध की स्थापना भी सर्वप्रथम वैदिक ऋषियों द्वारा संहिताओं में ही की गयी है। वेद वाङ्मय में अनन्तर यज्ञविज्ञान के प्रयोजन और उद्देश्य में आयुष्य को सर्वोपरि स्थान दिया गया। यज् धातु के तीनो अर्थों में 'यज्ञ के स्वरूप' का ग्रहण करने पर भी इस उद्देश्य की संगति में विरोध नहीं दिखता है। अतः यजुर्वेद की उक्ति **आयुर्यज्ञेन कल्पताम्** स्वतः प्रमाण है।

डॉ0 शशि तिवारी

रीडर, संस्कृत विभाग

मैत्रेयी कालेज

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

दिल्ली.

---

32. गोमायुरदादजमायुरदात्पृश्निरदाद्हरितो नो वसूनि। गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्रतिरन्त आयुः।। ऋग्वेद 7. 103.10.

आयुष्यसम्वर्धने यज्ञस्य महत्त्वम्

डॉ0 रामकृष्ण शर्मा,

''यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' **''यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम'** सत्सु भारतीयचिन्तनाचारपरम्परापरमहाभारतादि-ग्रन्थानामीदृग्वचस्सु कस्यापि सश्रद्धस्य बुद्धिमतो जनस्य आयुष्यसम्वर्धनप्रसङ्गे यज्ञाचारं प्रति संशीतिलेशो न स्यात्। अत्र प्रत्यक्षानुमानाप्तवाक्यानि प्रमाणानि प्रयोक्तुमपि शक्यन्ते। अथ किन्नाम आयुस्त्वम्, किञ्च यज्ञत्वमिति चेद्-एतीति (गच्छति) आयुः, देवानां पूजनम्-सङ्गतिकरणम् दानञ्च यज्ञः। अथात्र प्रतिपाद्यते, यत् यज्ञः (यजनम्) आयुष्यं (आयुषः सम्वर्धनम्) प्रति कारणान्तरं अस्ति न वा।

श्रूयते यद् **''यज्ञो वै विष्णुः।'** विष्णुर्व्यक्ताव्यक्तः विष्णुपदमाकाशः। अत एव यज्ञो ब्रह्म इति स्यात्। तथैवोच्यते **''कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** अतः यज्ञरूपब्रह्मजन्यत्वान् कर्मणः स्वत एव यज्ञत्वम्। श्रीमद्भगवद्गीतानुसारमपि **''भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'** एतत् **''अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे'** इतिवचोऽपि सङ्गच्छते। एतावता यज्ञ एव करणीयत्वेन कर्म, धारणीयत्वेन धर्मः सुखात्मकत्वात् शर्म इति प्रतिपद्यते। अत एवोक्तम् **''यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धनः।'**

भगवता कृष्णद्वैपायनेन पञ्चसंख्याकाः यज्ञाः समुल्लेखायिताः। द्रव्ययज्ञः, तपोयज्ञः, योगयज्ञः, स्वाध्याययज्ञः, ज्ञानयज्ञः। एतेष्वेव यज्ञेष्वन्तर्भवन्ति हविष्यादिद्रव्यवितरणम्, श्रोत्रस्पर्शगन्धादीनां इन्द्रियाणां संयमाग्नौ हवनम्, समस्तानां भौमवैद्युतसौराग्नीनां यमनियमादियोगाङ्गाचारमाध्यमेन ब्रह्माग्नौ समसनम् (absolute sublimisation of ego) परिप्रश्नेनसेवयाब्रह्मचर्य्यया वा श्रवणं, मननं निबोधनञ्च, पवित्रतमस्य ज्ञानस्य सायुज्याप्तिः ''universalization of individuality & indivisiualization of universality'

एतदतिरिक्तमपि ये शब्दादीन् विषयान्निन्द्रियाग्नौ जुह्वति, बलिवैश्वादिकर्मकुर्वाणाः प्रजातन्तुं परिपालयन्ति तेऽपि यज्ञमेव समाचरन्ति। प्राणस्य अपाने, अपानस्य प्राणे वा यद्भवनम् प्राणापानगत्यवरोधनम्, नियताहारविहारादीनि यज्ञा एव मता शास्त्रेषु। तथा हि **''प्राणश्च मेऽपानश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्'** **''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'** इत्यादीनि वेदवाक्यानि भृशं साधयन्ति विश्वयज्ञस्य चतुरस्रव्यापकताम्। एतेनैव उक्तं भवति **''ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिनेति'** अथ चिरायुषो यज्ञेन सह कः सम्बन्धः, इति प्रश्ने सति उच्यते अयज्ञस्य मानवस्य तु सदायुरस्त्येव न हि। तस्य असदायुरित्युच्यते। **''नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'** इति गीतावचनम्। अयज्ञस्य मानवस्य वु अस्मिन्नपि लोके न शुचिता, न स्मितता, न स्वास्थ्यं, नो कीर्तिर्न सम्मानः। स तु धृतः शरीरेण मृतो जीवति। किन्नाम तादृशस्य चिरायुष्यम्? अत एव यजुर्वेदस्य नवमाध्यये एकविंशतितमेन मन्त्रेण काम्यते **''आयुर्यज्ञेन कल्पताम् प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'........ चक्षुरादीनि च।** यज्ञाचारानन्तरं याज्ञिकैः काम्यते; शरदः

शतं जीवेम........भूयश्च शरदः शतात्। तदेव तत्त्वज्ञेन तेन कविना कालिदासेन प्रणीतम् **''पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा'** यज्ञव्रतस्य प्रतिफलं दीक्षा, दीक्षायाश्च दक्षिणा इति वेदवाक्यम्। एतावता सर्वविधदाक्षिण्यम् सायु:सम्वर्धनं यज्ञस्यैव फलमिति।

आयुर्वेदग्रन्थरत्नं चरकसंहिता आयुः सम्वर्धनकारणतया सद्वृत्तमेव प्रस्तौति। देव-गो-ब्राह्मण-गुरु-वृद्ध सिद्धाचार्याणामर्चनम्, अतिथीनां पूजनम्, मङ्गलाचारशीलता, वश्यात्मता, धर्मात्मता, आस्तिकता अग्निहोत्रञ्च आयुष्कामेन धारणीयानि। अस्नात्वा, अजपित्वा, अहुत्वा कार्याणि नारभेत। तत्रोच्यते:- **अथाचम्य प्राणानायम्य हुत्वा आत्मानमाशीराशिभिराशंसेत्। तद्यथा-अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीरात्। वायुर्मे प्राणानादधातु। विष्णुर्मे बलमादधातु। इन्द्रो मे वीर्यम्। शिवा मां प्रविशन्त्वापः। अहं ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्ष-उपेक्षा प्रशमपरः स्याम, इति। वस्तुतः, ईदृग् यज्ञश्रद्धः, यमनियमादिबद्धः, सदाचारवृद्धः शतं समायुषा न वियुज्यते।**

भारतीयवाङ्मये यज्ञस्य पर्यायत्वेन सञ्चिताः प्रायशः सर्व एव शब्दा, सवः, अध्वरः, यागः, सप्ततन्तुः, मखः, क्रतुरादयैः ऐहिकसुखसम्प्राप्तिव्याख्यातृतयैव। स्वर्गादि सुख सन्दर्शकाः सन्ति। आयुष्यन्तु यज्ञानां प्रथम एव कल्पः। अत एव आयुः सम्वर्धनप्रक्रियायां उपर्युक्ताः यज्ञा एव प्रथमा क्रिया।

डॉ0 रामकृष्ण शर्मा,
चिद्विलास, हरिपुरकलां
जि. देहरादून, उत्तरांचल

यज्ञ का आयु-सम्वर्धन में महत्त्व

डॉ0 हरिगोपाल शास्त्री

''एति इति आयुः' क्षण-प्रतिक्षण, दिन-प्रतिदिन, वर्ष-प्रतिवर्ष क्रम से जो नियमित रूप से जीवन चल रहा है, उसे आयु शब्द से जाना जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में जहाँ यज्ञों की गणना की गई है, वहीं पर श्रोत्र आदि इन्द्रियों को संयम की अग्नि में, शब्द आदि विषयों को इन्द्रियों की अग्नि में हवन करने की गम्भीर चर्चा भी की गई है। इसके मनन से स्पष्ट होता है कि आयु की गति स्वयं में एक यज्ञ है। इस यज्ञ में जब जीवन असावधान होता है तो उसकी आयु अर्थात् जीवन गति लड़खड़ाने लगती है और मृत्यु निकट आने लगती है। यह तथ्य स्वयं ही इस सिद्धान्त का प्रतिबोधक है कि आयु सम्वर्धन में यज्ञ ही महत्त्वपूर्ण है।

वैयाकरणों ने देव पूजा, संगतिकरण और दानार्थक यज-धातु से नङ् प्रत्यय करके यज्ञ शब्द सिद्ध किया है। धात्वर्थ के आधार पर यज्ञ शब्द का प्रथम अर्थ देवपूजा है। सब देवों का देव परमपिता परमात्मा है, उसकी पूजा करना, उसके बनाये गये वेद का पढ़ना-पढ़ाना और तदनुकूल आचरण करना ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। वेदानुकूल आचरण करना, ईश्वर स्तुति करना, वेद का पढ़ना-पढ़ाना आयु सम्वर्धन में विशेष महत्त्व रखता है। ब्रह्म-यज्ञ ज्ञान की प्रथम सीढ़ी है। पञ्च महायज्ञों के अनुष्ठान के विना साधक को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। यज्ञ शुद्धिकारक होने के कारण योग के दूसरे अंग नियम से सम्बन्ध रखता है। यम, नियम आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन पाँच योगांगों के अनुष्ठान से ब्रह्मयज्ञ सफल होता है। नित्य होम करके अपने इष्ट को स्मरण किया जाता है, इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक को नित्य होम करना चाहिए।

विश्व व्यवस्था के सूक्ष्म पारखी कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत के भीष्म पर्व में स्पष्ट किया है-**''नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तमः।'** यज्ञ न करने वाले का यह लोक ही नहीं सधता फिर परलोक की तो बात ही क्या है? अतः परमात्मा की प्रसन्नता दीर्घ जीवन की आधारशिला है।

''अग्निर्वै देवानामवमः' ''अग्निर्वै देवताः' इत्यादि ब्राह्मण वचनों के अनुसार जड़ देवताओं में सर्वप्रथम स्थान अग्नि का है। अग्नि में प्रदान की गई हवि का भाग वायु आदि सभी देवताओं को प्राप्त हो जाता है। इसलिए सभी कार्यों के प्रारम्भ में अग्निहोत्र करने की परम्परा है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है-**''अग्निर्वै देवानां होता' ''अग्निर्वै देवानां गोपा'** इस अग्नि की पूजा अग्निहोत्र के द्वारा की जाती है। जाठराग्नि भी इसी अग्नि का स्वरूप है, अतः जाठराग्नि के प्रदीप्त होने से, उसमें किये जाने वाले हवि रूपी अन्न से रक्तरस का निर्माण होकर मानव को दीर्घजीवन प्राप्त होता है, ऐसा चरक का मानना है, अतः ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ करने में कोई अवकाश नहीं होता ऐसा मनु का विधान है-

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।

नित्य कर्मों में अनध्याय नहीं होता, गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं-

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानतपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥[1]

माता, पिता, गुरु ये तीनों जीवित देवता हैं, ये तीनों ही अपने पुत्र या शिष्य को उत्तम उपदेश, उत्तम संस्कार एवं उत्तम विद्या देने के कारण ही देवता कहलाते हैं। पुत्र अथवा शिष्य का कर्तव्य इनकी सेवा-सुश्रुषा करना है। नीति वाक्य है-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

अर्थात् माता, पिता, गुरुजनों की सतत सेवा से आयु, विद्या, यश एवं बल की प्राप्ति होती है, यह पितृयज्ञ का महत्त्वपूर्ण एवं प्रत्यक्ष फल है। इसी प्रकार बलिवैश्वदेव यज्ञ में सिद्धान्न का पाकाग्नि में होम, दिव्यगुणों के लिए किया जाता है। इस होम के करने से पाकशाला की वायु शुद्ध होती है और अनजाने में हुई अदृश्य जीवों की हत्या का प्रतिकार या प्रायश्चित्त होता है। अतिथियज्ञ भी अत्यन्त लाभकारी है, क्योंकि जब तक जगत् में उत्तम अतिथि नहीं होते हैं, तब तक उन्नति भी नहीं होती। उसके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती। गृहस्थों को सहज भाव से सत्यज्ञान की प्राप्ति होती रहती है। संदेहों की निवृत्ति होने से दृढ़ निश्चय एवं निश्चय से सुखप्राप्ति होती है। अतः **''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** अर्थात् यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। छान्दोग्य उपनिषद् में **''पुरुषो वाव यज्ञः'**[2] इत्यादि के द्वारा पुरुषयज्ञ की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई है, जिसमें आयु के 24 वर्षों को प्रातःसवन, 44 वर्षों को माध्यन्दिन-सवन, 48 वर्षों को तृतीय-सवन कहा गया है, अतः 24+44+48 का योग 116 वर्ष होता है, जो कोई ब्रह्मचारी नियम से 48 वर्ष का ब्रह्मचर्यात्मक यज्ञानुष्ठान करता है, वह पूर्वोक्त दोनों सवनों का भी वर्ष परिमित फल पाता है और वह 116 वर्ष की रोग रहित आयु प्राप्त करता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी सत्यार्थ प्रकाश और संस्कारविधि में इस पुरुषयज्ञ को उद्धृत करके अन्त में लिखा है-सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावे, वैसे तुम भी बढ़ाओ। क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।[3]

पूर्व मीमांसा दर्शन, वैदिक वाङ्मय तथा निरुक्त आदि के प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यज्ञ की परिभाषा और स्वरूप पूर्णतः वैज्ञानिक है। यज्ञ का आयु सम्वर्धन में सुनिश्चित योगदान है। यज्ञ के लिए जहाँ बाह्यशुद्धि की आवश्यकता है, वहीं आन्तरिक शुद्धि भी

---

1. गीता- 18.14
2. छान्दोग्य उपनिषद् में 3-16.
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश और संस्कारविधि।

अपेक्षित है।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थागतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स ब्राह्याभ्यन्तरशुचिः॥

चरक के अनुसार स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य मन एवं शरीर में रहता है। बाह्यशुचिता का सम्बन्ध शरीर से है और आभ्यन्तर शुचिता का सम्बन्ध मन से है। मन उभयात्मक इन्द्रिय है, यह इन्द्रियों के सुख-दुखः के आभास को आत्मा तक पहुँचाता है। ये दोनों स्थितियाँ हमारी आयु की क्षीणता और वृद्धि में कारण बनती हैं। उक्त मन्त्र में पुण्डरीक शब्द का अर्थ हृत्कमल तथा सहस्रारदल कमल है। इन दो कमल रूपी लोचनों का जो स्मरण करता है उसकी बाह्य अर्थात् शारीरिक तथा आभ्यन्तर अर्थात् मानसिक शुचिता हो जाती है। समस्त यज्ञों के आरम्भ करने का यह मन्त्र इस बात का बोधक है कि रोग के आश्रय शरीर तथा मन, जब दोनों ही शुद्ध हो जायेंगे तो यज्ञ प्रवर्तन ही रोगों का अवरोध बन जाता है और यही आयुसम्वर्धन की भूमिका सिद्ध हो जाती है। फलतः यज्ञ-प्रवर्तन, आयु-सम्वर्धन का भी मन्त्र बन जाता है।

डॉ0 हरिगोपाल शास्त्री
प्राचार्य
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

यज्ञ और स्वास्थ्य

प्रो0 महावीर

प्राचीन एवं अर्वाचीन काल में वैदिक विद्वानों, वैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों द्वारा किये गए अनुसंधान कार्यों से यह सिद्ध हो चुका है कि यज्ञ का मानव जीवन, प्रदूषण निवारण, स्वास्थ्य संरक्षण, रोगों के अपाकरण तथा समय-समय पर सन्तुलित वर्षा कराने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ समय पूर्व तक हम अपनी इस अनुपम निधि को विस्मृत कर बैठे थे। सौभाग्य है इस देश का कि युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस धराधाम पर जन्म लेकर प्राचीन ऋषियों का सन्देश पुनः आर्य जाति को दिया। वेद, यज्ञ, धर्म, संस्कृति का वास्तविक स्वरूप प्रतिपादित किया, वेदमन्त्रों और मनुस्मृतियों आदि ग्रन्थों के प्रमाण देकर यज्ञ का महत्त्व बताया। तत्पश्चात् अनेक विद्वानों ने **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** को व्यवहार में परिणत कर दिखाया।

प्रस्तुत लेख में हम स्वास्थ्य के लिए यज्ञ किस प्रकार अमृतोपम है, इस विषय में चिन्तन करेंगे।

यज्ञ (अग्निहोत्र) से वायु का शुद्ध होना और सुगन्धि का फैलाना सर्वविदित है। सुगन्ध किसे प्रिय नहीं है? देवों को भी सुगन्ध प्रिय है। वृक्ष एवं वनस्पति भी सुगन्ध से प्रेम करते हैं। इसमें आह्लादकता, प्रसन्नता उत्पन्न करने की सामर्थ्य है। इसमें मन को शान्त एवं स्थिर करने की शक्ति है। मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करने की योग्यता है। ऐसे सुरभित वातावरण में साधक अतिशीघ्र ध्यानावस्था को प्राप्त हो जाता है।

यज्ञ द्वारा प्रकृति का कण-कण प्रभावित होता है। सर्वत्र सुगन्ध व्याप्त हो जाती है। जैसे वृक्षों और लताओं को जल से सींचने पर सम्पूर्ण वृक्ष या लतायें हरे-भरे हो जाते हैं, उसी प्रकार यज्ञ, अग्निहोत्रादि करने से सृष्टि के सभी तत्त्वों को नवजीवन प्राप्त होता है, क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति यज्ञ से हुई है अथवा यह कहा जा सकता है कि सृष्टि उत्पत्ति और स्थिति स्वयं परमपिता परमात्मा का महान् यज्ञ है। यह यज्ञ निरन्तर चल रहा है। पुरुष सूक्त में सृष्टि-यज्ञ का हृदयग्राही आलंकारिक वर्णन किया गया है।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

यज्ञ से विचारों का शोधन

यज्ञ से सुरभित वैदिक मन्त्रों की मधुर ध्वनि से पावित वातावरण में सद्विचारों का स्वतः उच्छलन होता है, जिस प्रकार यज्ञाग्नि में सुगन्धित पदार्थ का होम करने से वायुमण्डल शुद्ध होता है उसी प्रकार विचार भी शुद्ध होते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित यज्ञपद्धति में सर्वप्रथम ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना मन्त्रों में **'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव'** मन्त्र में दुर्गुण, दुर्व्यसनों को दूर करने और जो कल्याणकारक गुण, कर्म स्वभाव हैं, उन्हें प्राप्त कराने की

प्रार्थना की गई है। यज्ञ से दूषित विचार दूर होते हैं और कल्याणकारी विचार चहुँ ओर से प्राप्त होते हैं। यज्ञ से **'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु'** की प्रार्थना साकार होने लगती है। यज्ञकर्ता का मन सदैव कल्याणकारी संकल्प से परिपूर्ण रहता है।

वायु का औषधीकरण

ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है **'वात आवतु भेषजम्'**[1] अर्थात् औषधयुक्त वायु चारों ओर प्रवाहित हो। वायु को भेषजयुक्त अथवा औषधियुक्त बनाने का सबसे सुगम एवं सशक्त मार्ग है-यज्ञ। मानव के जीवन में वायु का महत्त्व खाद्य पदार्थों से भी अधिक है। वायु अनेक प्रकार की गैसों का सम्मिश्रण है। नाइट्रोजन और ऑक्सीजन इसमें प्रमुख है। अप्राकृतिक रूप से इसे दूषित कर दिये जाने पर यह वायु मनुष्य के अस्तित्त्व के लिए कष्टदायक बन जाता है। वायु प्रदूषण से संसार विषाक्त हो जाता है।

यह सर्वविदित है कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है और इसके साथ ही वह अपनी धुरी पर भी चक्कर काटती है। उसके साथ हवाएँ बहती हैं और वायुमण्डल भी घूमता है। वायु में घुलकर विषाक्त धूम्र सारी पृथ्वी के वायुमण्डल को प्रभावित करता है। इसका समाधान यज्ञविधान में ही निहित है। यज्ञाग्नि में सुगन्धित, औषधरूप द्रव्यों की हवि प्रदान करने से निकलने वाले सूक्ष्म धूम्र परमाणु प्रदूषित कार्बन परमाणुओं में प्रवेश कर उन्हें शुद्ध तत्त्व रूप में परिवर्तित कर देते हैं। यज्ञीय धूम्र में वायु के विषैले तत्त्वों को नष्ट करने की विलक्षण क्षमता है। अथर्ववेद में कहा है-**''वायु अन्तरिक्षस्याधिपतिः।''**[2]

यज्ञ से वायु शुद्ध होकर औषधि रूप हो जाती है। वायुमण्डल के प्रदूषित होने से प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ता है। दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारियों का उद्रेक, भूकम्प जैसी दुर्घटनाओं से प्रकृति का बिगड़ा हुआ सन्तुलन बहुत कष्टप्रद होता है, इसका समाधान यज्ञ है। यज्ञ में यदि गोघृत का प्रयोग हो तो वह अत्यधिक कल्याणकारी हेता है। गोघृत में अनेक विशेषताएँ हैं। यह विष विनाशक होता है। जब किसी को सर्पदंश हो जाता है तो उसको गोघृत पिलाया जाता है, जिससे विष नष्ट होकर जीवन मिलता है। इसी प्रकार विषाक्त वायुमण्डल का विष भी गोघृत से यज्ञ करने पर सरलता से नष्ट हो जाता है। कहा भी है-**घृतमेव आयुः, आयुरेव घृतम्।**

यज्ञ की सुरभि से परिपूर्ण वायु नासिका रन्ध्रों से प्रवेश करके वक्षस्थल में फुफ्फुसों फेफड़ों में प्रवेश करती है तो अन्दर के छोटे-छोटे वायु कोशों में वायु के भर जाने पर अन्दर का अशुद्ध भाग शुद्ध हो जाता है।

यज्ञ से रोग प्रतिरोधक क्षमताः-

ऋषियों ने गोघृत के अतिरिक्त रोगनाशक पदार्थों की आहुति का निर्देश दिया है जो बहुत

---

1. ऋ010.186.1.
2. अथर्व0 5.24.8.

लाभकारी होता है। यदि किसी को कोई विशेष प्रकार का रोग नहीं है जिसके निवारक पदार्थों की हवि दी जा रही है तो भी विशेष प्रकार का लाभ होता है। उस यज्ञ से जुड़े हुए व्यक्तियों को रोग प्रतिरोधक शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिससे उन पर रोग आसानी से आक्रमण नहीं कर सकते। यज्ञकर्ताओं की दिनचर्या नियमित होती है। वे समय पर जागते और समय पर शयन करते हैं। इससे भी स्वास्थ्य की रक्षा होती है।

यज्ञ से चिकित्सा:-

प्रतिदिन यज्ञ द्वारा वायु, जल, ध्वनि, पृथ्वी आदि के प्रदूषण-निवारण के साथ-साथ मन्त्रोक्त मधुर अमृतोपदेशों से मन, बुद्धि, चित्त आदि के दोषों को दूर कर देने पर मानव स्वस्थ जीवन प्राप्त करता ही है। दुर्भाग्य से कभी कोई रोग आक्रमण कर भी देता है तो उसकी चिकित्सा भी यज्ञ द्वारा जितनी प्रभावी और सरल रूप से सम्भव है, वैसी किसी अन्य चिकित्सा-पद्धति द्वारा नहीं हो सकती। यजुर्वेद में जहाँ सैकड़ों कामनाओं की पूर्ति यज्ञ द्वारा वाञ्छित है, वहाँ **'अयक्ष्मं च मे, अनामयच्च मे, जीवातुश्च मे, दीर्घायुत्व च मे, यज्ञेन कल्पताम्'**[3] के द्वारा प्रार्थना की गई है कि यज्ञ से मेरे यक्ष्मादि रोग दूर हो। अथर्ववेद में कहा गया है-**'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनायकमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**[4] अर्थत् मैं तुझ रोगी को जीवन प्रदान करने के लिए ज्ञात और अज्ञात बड़े राजयक्ष्मादि रोगों को यज्ञ में हवि प्रदानकर रोगमुक्त करता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि प्रकट या अप्रकट तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म रोगों से मुक्ति प्रदान करने का प्रबलतम साधन यज्ञ है। अथर्ववेद में अनेक प्रकार के रोगोत्पादक कृमियों का वर्णन आता है। वहाँ इनका यातुधान, क्रव्याद, पिशाच, रक्ष आदि नामों से उल्लेख किया गया है। इनसे मानव को अपनी रक्षा करना आवश्यक होता है। इसलिए इन्हें रक्षः या राक्षस कहते हैं। अग्नि में कृमिविनाशक औषधियों की आहुति देकर इन रोगकृमियों को नष्ट कर यज्ञ द्वारा रोगों से बचा जा सकता है। अथर्ववेद में मन्त्र कहते हैं कि अग्नि में हवि, रोगकृमियों को उसी प्रकार दूर बहा ले जाती है, जिस प्रकार पानी झाग को।

इदं हविर्यावुधानान् नदीफेनमिवावहत्।[5]

यज्ञ के आरोग्यर्वधक और रोग निवारक गुणों का वर्णन करने वाले अनेक मन्त्र वेदों में देखे जा सकते हैं। जैसे शरीर पुष्टिवर्धक, दीर्घायु की कामना वाले पुत्रकामानार्थ समग्र व्यक्तित्त्व विकास हेतु यज्ञीय ऊर्जा की प्राप्ति हेतु ऋग्वेद के दशम मण्डल में यज्ञाग्नि द्वारा गर्भदोषों के निवारण की

---

3 यजु018.16.
4 अथर्व0 3.11.1.
5 अथर्व01.2.31, 12.32, 14.37, 15.23, 15.29.

बात कहीं गई है। अथर्ववेद में भी इस प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यथा-

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।

अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये।।[6]

चिकित्सा विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि रोग के आ जाने पर उसकी चिकित्सा करने की अपेक्षा ऐसे उपाय किये जाने चाहिए कि जिससे रोग को शरीर में प्रवेश का अवसर ही प्राप्त न हो। यदि मनुष्य अपना आहार, विहार, आचार-विचार, सुव्यवस्थित एवं मर्यादित रखे, नित्यप्रति ब्रह्मयज्ञ द्वारा मन, चित्त, बुद्धि और इन्द्रियों को पवित्र रखे और प्रतिदिन देवयज्ञ (अग्निहोत्र) द्वारा आन्तरिक और बाह्य प्रदूषणों को दूर रखे तो स्वस्थ रहते हुए वेदमाता के सन्देश **'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्'** अर्थात् 100 वर्ष की आयु के संकल्प को साकार कर सकता है।

हमारे प्रातः स्मरणीय ऋषियों ने यज्ञ के विषय में विस्तृत चिन्तन किया है। यज्ञ को सम्पूर्ण चिकित्सा-पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया है। किन वृक्षों की समिधाएँ किस ऋतु में या किस रोग के लिए प्रयुक्त की जायें? हवन-सामग्री में कौन-कौन से पदार्थ डाले जायें? किन विशेष रोगों के लिए किस प्रकार की विशिष्ट हवन-सामग्री का प्रयोग करना लाभप्रद होता है? इन विषयों में आयुर्वेद के ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन किया गया है।

समिधाएँ:-

यज्ञ के लिए आम, पीपल, गूलर, बेल, ढाक आदि के पुराने पेड़ की सूखी लकड़ी लेनी चाहिए। चन्दन, देवदारु आदि सुगन्धित लकड़ियों का प्रयोग भी उपयुक्त होता है।

हवन-सामग्री:-

चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री, केसर, गिलोय, अगर, तगर, असगन्ध, वंशलोचन, गुग्गुल, लौंग, ब्राह्मी पुनर्नवा, जीवन्ती, कचूर, छारछबीली, शतावरी, खस, कपूर, कचरी, बच, कमलगट्टा, शीतल चीनी, तालीस पत्र, नागकेशर, रास्ना, आँवला, दालचीनी, जटामासी, इन्द्रजौ, छौहारा, मुनक्का, नारियलगिरि, चिरौंजी, किशमिश।

उपर्युक्त सामग्री के पदार्थ समान भाग के रूप में प्रयुक्त किये जाने चाहिए, किन्तु बहुत मूल्यवान् होने के कारण केशर वंशलोचन आदि की मात्रा न्यून भी हो सकती है।

आयुर्वेद ग्रन्थों में यज्ञोपचार में प्रयुक्त होने वाली औषधियाँ इस प्रकार परिगणित की गई

---

6 अथर्व01.8.

हैं:-1. मण्डूकपर्णी 2. ब्राह्मी 3. इन्द्रायण जड़ी 4. शतावरी 5. असगन्ध 6. विधारा 7. शालपर्णी 8. मकोय 9. अड़ूसा 10. गुलाब फूल 11. तगर 12. वंशलोचन 13. रास्ना 14. पण्ड्री 15. क्षीर काकौली 16. मुनक्का 17. बड़ी इलायची 18. गोखरू 19. तालमखाना 20. जटामासी 21. बादाम 22. बड़ी हरड़ 23. जायफल 24. छोटी पीपल 25. आँवला 26. गिलोय 27. चीड़ बुरादा 28. जीवन्ती 29. पुनर्नवा 30. चन्दन 31. केशर 32. पित्त पापड़ा 33. कपूर 34. गुग्गुल 35. अगर 36. पानड़ी 37. नागेन्द्रवामड़ी 38. मोथा 39. चीता 40. लौंग।

हमारे ऋषि-मुनि साक्षात्कृतधर्मा और उच्चकोटि के वैज्ञानिक थे। पदार्थ-विज्ञान से लेकर चेतना के विभिन्न घटकों का गहन शोध उनके द्वारा सम्पन्न होता रहा है। यज्ञ इन ऋषियों के शोध का अनुपम उपहार है। इस शोध प्रक्रिया द्वारा यज्ञ-चिकित्सा पूर्ण रूप में विकसित हुई है। यह एक समग्र जीवन-पद्धति है, जिसके स्मरणपूर्वक अपनाने वाला सदैव स्वस्थ, प्रसन्न, तेजस्वी, यशस्वी, होता हुआ दीर्घायु प्राप्त करता है।

प्रो0 महावीर

प्रोफेसर संस्कृत विभाग,

गुरुकुल काँगड़ी वि0 वि0

यज्ञ-चिकित्सा

डॉ0 देवेन्द्र शर्मा

आधुनिक विज्ञान एवं चिकित्सा-विज्ञान के युग में मनष्य जैसे-जैसे उन्नति करता जा रहा है, और भौतिक सुख सुविधा-सम्पन्न होकर प्रकृति से दूर होता जा रहा है, वैसे-वैसे वह अनेक भयंकर रोगों यथा कैंसर, एड्स डाइबिटीज रक्तचाप आदि रोगों का शिकार होता जा रहा है। मेडीकल साइन्स में जिस अनुपात से नये-नये आविष्कार हो रहे हैं, उसी अनुपात में रोगों का ह्रास होना चाहिए। परन्तु उसी अनुपात में वृद्धि हो रही है और आज का चिकित्सा-विज्ञान उपर्युक्त रोगों के मूल कारणों के हटाने में न केवल असफल है, वरन् दूर करने के लिए किये गए उपायों से रोगों के और अधिक जीर्ण होने में योगदान कर रहा है, सिवाय शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी समस्याओं के। अत: आज की आवश्यकता है एक औषधरहित अचूक एवं सर्व सुलभ चिकित्सा की जिसका नाम है-यज्ञ-चिकित्सा।

यद्यपि यह चिकित्सा-पद्धति कोई नई नहीं है, परन्तु इस पर अत्यन्त कम ध्यान दिया गया है और इसका अभी तक वैज्ञानिक आधार पर परीक्षण नहीं हुआ है, जबकि इससे सम्बन्धित प्रचुर सामग्री वेदों में उपलब्ध है। अत: मानवजीवन पर इसका प्रभाव एवं रोगों के उपचारार्थ प्रयोग आज विश्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। एतदर्थ मैंने अपने चिकित्सालय में विभिन्न रोगों के उपचार में यज्ञ के जो प्रयोग किये हैं, उनका और इस यज्ञ का रोगों के समूल उपचार में योगदान इन दोनों का वर्णन करना मेरे इस लेख का उद्देश्य है।

(१) त्वक् रोग (जैसे-सोराइसिस (Psoriasis), एक्जीमा एवं यक्ष्मा तथा दमा रोग)

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥[1]

अर्थ-गुग्गुल औषधि की उत्तम गन्ध जिस रोगी को प्राप्त होती है उसको रोग नहीं फंसाते हैं। उसका स्पृश्य रोग नहीं प्राप्त होता है।

उपर्युक्त मन्त्र में गुग्गुल की गन्ध देकर रोगी को स्वस्थ बनाने का आदेश है जो कि अग्नि में डालकर प्रयोग किया जाता है। इस मन्त्र में वर्णित विधि का मैंने अपने चिकित्सालय में अनेकों रोगियों पर सफल प्रयोग किया है। यज्ञ में प्रयुक्त गुग्गुल का प्रभाव वायु द्वारा रोगी के श्वास नलियों से फेफड़ों में पहुँचकर कफ आदि दोषों को स्थानच्युत कर देता है और रोग के कीटाणुओं को बाहर लाकर नष्ट करता है, रक्त को शुद्ध करता है। इस प्रकार इस गुग्गुल सहित सामग्री का एक जीवन शक्तिप्रद रसायन की तरह रोगियों पर प्रभाव पड़ता है। प्रमाण के लिए कुछ रोगियों के नाम-

(१)श्रीमती सुशीला देवी (55 वर्ष) (फरीदपुर) अमरोहा। **रोग**-सोराइसिस (28 वर्ष पुरानी)। **अवधि**-25-9-96 से 22-10-96 तक उपचार। **परिणाम**-पूर्ण सफल फोन

---

1. अथर्व.-19.38.1

नं-955922-245308

(२) डॉ0 अमर चन्द खण्डेलवाल, मथुरा (50 वर्ष)। रोग-दमा **अवधि**-8-12-2000 से 21-01-01 तक उपचार। **परिणाम**-पूर्ण सफलता। **फोन नं**-0565-2402302

(२) उन्माद (Epilepsy & Hysteria) रोग-

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे

त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः॥[2]

अर्थ-हे औषधे! तेरे द्वारा स्थिर चित्तवाले मनोवैज्ञानिक जन (चिकित्सक) राक्षसों का जिनसे अपनी रक्षा करनी चाहिए ऐसे रुधिर पीने वाले जन्तुओं कृमियों को उनके आक्रमण और प्रभाव से पूर्व ही नष्ट करते हैं तथा तेरे द्वारा विशेष सूक्ष्मदर्शी तथा तेरे द्वारा मेधावी चिकित्सक और वृक्षों और औषधियों का संग्रह करने वाला केमिस्ट भी नष्ट करता है।

इस रोग में हींग, सरसों, तुलसी, गुग्गुल, भिलावा आदि गन्ध वाली वस्तुओं से यज्ञ करने से उन्माद, मिर्गी, हिस्टीरिया आदि मात्र सात दिन में लगभग चले जाते हैं। प्रमाण स्वरूप कुछ रोगियों के नाम यहाँ दे रहा हूँ -

(१) सुरेश चन्द शर्मा पुत्र श्री प्यारेलाल शर्मा, **ग्राम**-सिवार, जिला-मथुरा। **फोन**-0565-2462562 **रोग**-दौरे। रोग **अवधि**-21-08-2000 से 27-08-2000 **परिणाम**-पूर्ण सफलता।

(२) पूनम (डॉली) पुत्री श्री डी.पी. चौहान, **ग्राम**+पो0-साथा (कासिमपुर पावरहाउस), जिला-अलीगढ़, **फोन**-95571, 2483347, **रोग**-हिस्टीरिया, एपेन्डिक्स।, **रोग अवधि**-30-05-99 से 10-06-99, **परिणाम**-पूर्ण सफलता

(३) गर्भदोष निवारणः (The Cure of infertility)

ब्रह्मणाग्नि संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।

अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥[3]

अर्थ-हे नारी! जो बुरे नाम वाला रोगकृमि व रोग तेरे गर्भ में या योनि में प्रविष्ट हो गया है तो उसे वेदमन्त्र से युक्त कृमिविनाशक यज्ञाग्नि यहाँ से दूर कर दे।

इस रोग में यज्ञ सामग्री (सामान्य) में विशेष रूप से अपामार्ग (चिरचिटा) वच, पिंग (प्रिय बाँसुरा) गुग्गुल, किशमिश, गिलोय आदि का प्रयोग किया जाता है।

यदि इससें महिला रोगी पथ्य रखते हुए ऋतुकाल में गर्भाधान करे तो गर्भदोष दूर होकर उचित समय सन्तान प्राप्त होती है। प्रमाण स्वरूप कुछ सफल रोगियों का विवरण-

---

2. अथर्ववेद 4.37.1.
3. अथर्ववेद 20.96.11.

(१) गुड्डी पत्नी श्री ज्ञान सिंह, ग्राम+पो0 बाद, जिला-मथुरा, जिसे विवाह के 20 वर्ष पश्चात् सन्तानप्राप्ति।

(२) श्रीमती गायत्री पत्नी श्री विजेन्द्र सिंह **रोग**-सन्तान न होना, गर्भपात होना चिकित्सा **अवधि**-2 माह परिणम-पुत्र प्राप्ति।

अतः जिन स्त्रियों में गर्भ ठहरने ही नहीं पाता या ठहरकर 2-3 महीने बाद गिर जाता है, या प्रसव हो भी जाये तो रोगाक्रान्त होकर शिशु शीघ्र मर जाता है। ऐसी स्त्रियाँ हवि चिकित्सा से लाभ प्राप्त कर सकती हैं। ऐसा वेद का आशय है यथा-

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि।।[४]

(४) ज्वर चिकित्सा (fever Treatment)

यज्ञाग्नि द्वारा ज्वर के सहकारी कास, शिर पीड़ा, अंगों का टूटना आदि भी दूर हो सकते हैं। यह अथर्ववेद 1.12 तथा 5.22 सूक्तों से ज्ञात होता है-

अङ्गे-अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभात् पर्वास्या ग्रभीता।।[५]

अर्थ-हे ज्वर! अंग-अंग में ताप के साथ व्याप्त हुए-हुए तेरा हवि द्वारा अग्निहोत्र करते हुए हम प्रतिकार करें। अंगों को जकड़ने वाले जिस ज्वर ने इस मनुष्य के अंगों को जकड़ लिया है उसके लिए हवि द्वारा पकड़ने वाले पाशों को तैयार करें।

सामग्री के सामान्य घटक के साथ अतिरिक्त रूप से मुनक्का, किशमिश, गिलोय, भिलावा, अपामार्ग, गुग्गुल की मात्रा आनुपतिक दृष्टिकोण से मिलाकर यज्ञसामग्री तैयार की जाती है और जहाँ पर नित्यप्रति यज्ञ इस हवि द्वारा किया जाता है। वहाँ मलेरिया के लिए अर्थात् मच्छर आदि कीटाणुयुक्त वातावरण शुद्ध होकर ज्वर रोधी वातावरण बनता है।

टायफाइड बुखार के लिए किसमिश मिलाकर यज्ञ सामग्री से यज्ञ करके बिगड़े हुए टायफाइड हमने उपने चिकित्सालय में ठीक किये हैं। प्रमाण स्वरूप कुछ सफल रोगियों का विवरण-

(१.) डॉ0 मैत्रेयी (32 वर्ष) (अध्यापिका उजीना (नूँह)) जिला-गुड़गाँव, **रोग**-टायफाइड, **अवधि**-1 मास, **परिणाम**-पूर्ण सफलता, **फोन**-9416103388

२. कु0 चंचल (18 वर्ष) पिता श्री डॉ0 अमरचन्द, कठूमर (अलवर) राज0, **रोग**-टायफाइड दौरे, **अवधि**-1 मास, परिणाम-सफलता।

अब हम रोग निवारणार्थ वेदों से कुछ मन्त्र उद्धृत करते हैं-जिनमें यज्ञ द्वारा रोग दूर करने

---

4. अथर्ववेद 20.96.13.
5. अथर्ववेद 1.12.2.

की अत्यन्त महिमा वर्णित हैं-

यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः।

एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये॥[6]

अर्थ-जैसे बाँध चारों ओर जाने वाले इन जलों को रोक लेता है, वेसे ही सर्वजन हितकारी यज्ञाग्नि द्वारा तेरे रोग को मैं फैलने से रोक लेता हूँ।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।

आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः॥[7]

अर्थ-हे रोगी। तेरे अन्दर प्राण को हम प्रेरित कर देते हैं। वह तेरे रोग को दूर कर देता है। यह वरणीय श्रेष्ठ यज्ञाग्नि हम को सर्वत्र दीर्घायुष्य प्रदान करे।

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह।

विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम्॥[8]

अर्थ-हे यज्ञाग्नि! तू अपराजेय, उत्पन्न पदार्थों का प्रकाशक, विशेष तेजस्वी, रोगत्राणकारी बल को धारण कराने वाला होता हुआ यहाँ हमारे घरों में प्रज्वलित हो। सब रोगों को छुड़ाता हुआ तू आज मनुष्यों का कल्याण करने वाली सुखदायक रक्षाओं से हमारे घर की रक्षा कर।[9]

उपसंहार

हस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणों से एवं स्वयं किए गये यज्ञ-चिकित्सा के प्रयोगों के आधार पर हमने यह प्रतिपादित करने का यत्न किया है कि यज्ञ द्वारा समस्त रोगों का निवारण सम्भव है। किस रोग में किन पदार्थों की हवि देनी चाहिए, यह भी संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है लेकिन इस क्षेत्र में अभी और अनुसन्धान अपेक्षित है।

डॉ0 देवेन्द्र शर्मा

ग्राम-बाद, मथुरा

फोन-0565-2431886

6. अथर्व 6/85/3
7. अथर्ववेद 7/53/6
8. अथर्व. 7/84/1
9. डॉ0 रामनाथ वेदालंकार, यज्ञ-मीमांसा पृष्ठ 68 से साभार उद्धृत है।

यौनजनित रोग में यज्ञ की भूमिका

डॉ. एस. के. पाठक एवं श्रीमती सुनीता पाठक

वर्तमान वैज्ञानिक युग में यज्ञोपैथी एक सम्पूर्ण चिकित्सा-पद्धति के रूप में स्थापित हो चुकी है। इस पद्धति से न केवल शारीरिक-मानसिक व्याधियों का उपचार होता है, शरीर में प्रतिरोधात्मक शक्ति में वृद्धि होती है, अपितु बहुत से असाध्य रोगों से मुक्ति भी प्राप्त होती है।

यज्ञ-चिकित्सा द्वारा संक्रमण जन्य बीमारियों जैसे क्षय रोग, चेचक, प्लेग, यौन संक्रमित रोगों का उपचार सरलतापूर्वक, सक्षम तरीके से किया जा सकता है। यह पद्धति अन्य चिकित्सा-पद्धतियों जैसे आयुर्वैदिक, होमियोपैथिक, एलोपैथिक, यूनानी आदि की अपेक्षा अधिक कारगर, सुरक्षित एवं हानिरहित है।

विश्व की युवा पीढ़ी इस भौतिकतावादी समय में असाध्य यौनजनित रोगों से ग्रसित होती जा रही है। इस रोग से बचने के लिए यज्ञ-चिकित्सा सक्षम है। प्रस्तुत शोधपत्र कुछ यौनरोग जैसे उपदंश एवं सूजाक के निदान की व्याख्या करता है।

चिकित्सा-विज्ञान में गुप्तांग रोगों को वेनेरियल डिसिजेज या सेक्सुअली ट्रासमिटेड डिसिजेस (STD) कहते है, यह रोग विभिन्न सूक्ष्म जीवों द्वारा फैलते हैं। सूजाक भी (गोनेरिया) एवं उपदंश (सिफलिस) जीवाणुजन्य रोग एवं गुप्तरोग है।

यज्ञ द्वारा उपचार

यज्ञोपैथी (यज्ञोपचार) से रोग को नियन्त्रित एवं उसे समूल नष्ट किया जा सकता है। इस पद्धति से इलाज करने पर उसके दुष्प्रभाव (साइड इफेक्ट) नहीं होते और जीवनशक्ति एवं प्रतिरोधी क्षमता का विकास भी होता है। यज्ञोपैथी से उपचार के समय रोगी के समीप उपस्थित मनुष्य भी जीवनी शक्ति संवर्द्धक यज्ञीय ऊर्जा से परोक्ष रूप से लाभान्वित होते हैं। यज्ञोपैथी द्वारा उपचार हेतु हवन-सामग्री में लगभग 60 वनोषधियाँ मिलाई जाती हैं:-

(1) रसौत, (2) आक-मूल, (3) चित्रक, (4) शरपुंखा, (5) पाठा, (6) दारुहल्दी, (7) नीम छाल, (8) अपराजिता पञ्चाग, (9) चोप चीनी, (10) कनेर-मूल, (11) अरणी, (12) अनंतमूल, (13) स्वर्णक्षीरी-मूल, (14) गुलबास के पत्ते, (15) काले धतूरे की जड़, (16) चमेली के पत्ते, (17) श्वेत गुड़हल की जड़, (18) कत्था, (19) सुपारी, (20) मंजीष्ठ, (21) चिरायता, (22) मकोय पत्ते, (23) कनेर मूल, (24) शीतल चीनी, (25) लौंग, (26) त्रिफला, (27) कांटा चौलाई, (28) दूर्वा-मूल, (29) गिलोय, (30) शीशम की छाल, (31) विलायती बबूल के पत्ते, (32) कसौदी के पत्ते, (33) लाल एवं श्वेत चन्दन, (34) कडुई तोरई के बीज, (35) गूगल, (36) जायफल, (37) पर्णबीज, (38) बरगद की जड़ एवं पत्ते, (39) दालचीनी, (40) अजमाद, (41) सूरजन-मीठा, (42) अपामार्ग, (43) खुरासानी अजवायन, (44) गांवजवां, (45) जायफल, (46) छिरेंटा की जड़, (47) विजयसार, (48) बबूल के फूल, (49) कतीरा, (50) सारिवा, (51) तुलसी, (52) काली मिर्च, (53) भृंगराज, (54) तालमखाना, (55) मुनक्का,

(56) सौंफ, (57) अकरकरा, (58) नागरमोथा, (59) इन्द्रयण-मूल, (60) सनाय।

सभी 60 वनौषधियाँ बराबर मात्रा में मिलाकर विशेष हवन-सामग्री तैयार करते हैं। इस विशेष हवन-सामग्री में समान मात्रा में सामान्य हवन-सामग्री मिलाकर चिकित्सकीय हवन-सामग्री तैयार करते हैं। इस चिकित्सकीय हवन-सामग्री से सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय सूर्य गायत्री मन्त्र के द्वारा हवन-सामग्री की 24-24 आहुतियाँ देने पर रोगी को अधिक लाभ प्राप्त होता है। हवन के लिये पलाश, आम या गूलर की समिधा का प्रयोग करना चाहिए। आहुति देने का मन्त्र निम्न है-**ऊँ भूर्भुवः स्वः। भास्कराय विद्महे, दिवाकराय धीमहि। तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्।**

यज्ञोपचार के साथ-साथ 60 वनौषधियाँ की समान मात्रा लेकर जौकुट चूर्ण पीस-कूट कर तैयार कर इस पावडर की 30 ग्राम मात्रा को रात्रि में आधा लीटर पानी में भिगो देते हैं। प्रातः इसका काढ़ा (क्वाथ) बनाकर आधीमात्रा सुबह एवं आधी मात्रा शाम को रोगी द्वारा पीने पर उसे शीघ्र स्वास्थ्य लाभ प्राप्त होता है। पुराने उपदंश रोग में सत्यानाशी (स्वर्णक्षीरी) के रस के बराबर शहद मिलाकर नित्य खाली पेट सेवन करने पर रोगी को आराम मिलता है।

पथ्य एवं अपथ्य

उपदंश से ग्रसित मनुष्य को यज्ञोपैथी चिकित्सा के समय निम्न सामग्री के सेवन से बचना चाहिए:-

ठण्डे पानी से स्नान, ठण्डे पेय, खट्टे एवं अम्लीय पदार्थ, फ्रिज का पानी, गुड़, मद्यपान, दिन में सोना, भारी एवं गरिष्ठ पदार्थ, नमक, अत्यधिक परिश्रम, स्त्री प्रसंग (सम्भोग)।

उपदंश रोगी का यज्ञोपचार के साथ-साथ काढ़ा एवं सत्यानाशी के रस का सेवन करने पर यह रोग समूल नष्ट हो जाता है तथा रोगी शारीरिक एवं मानसिक दोनों रूप से स्वस्थ होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत कर अपना विकास कर सकता है।

सूजाक (गोनोरिया)

सूजाक यौनरोगों में प्रमुख संक्रामक रोग है। आयुर्वेद में इसको पूयमेह, व्रणमेह, औपसर्गिक मेह, आगन्तुकमेह आदि नामों से जाना जाता है। यह रोग स्वच्छन्द एवं असुरक्षित यौन संबंध के कारण फैलता है तथा इससे स्त्री-पुरुष दोनों ही ग्रसित होते हैं। विश्व में इस रोग से ग्रसित व्यक्तियों की संख्या, प्रतिदिन बढ़ती जाती है। किशोर इस रोग के अधिक शिकार होते हैं। सूजाक रोग गोनोकोकस नामक जीवाणु जिसे नाइसेरिया गोनोरी कहते हैं, के द्वारा फैलता है।

लक्षण:-

इस रोग के जीवाणु शरीर में मूत्र जनन मार्ग एवं मल द्वार की त्वचा से प्रवेश कर मूत्रजनन तन्त्र तथा श्वेतरक्त कणिकाओं पर आक्रमण करते हैं। समय पर चिकित्सा के अभाव में अपना विषैला प्रभाव निम्न अंगों/तन्त्र पर डालते हैं-

(1) मूत्रनलिका (2) वृषण (3) शुक्रवाहिकाओं (4) गर्भाशय ग्रीवा। विषैले प्रभाव के कारण जलन, पेशाब का बार-बार आना (मूत्र कृच्छ), मवाद निकलना, सूजन आदि लक्षण दृष्टिगोचर

होते हैं। गोनोकोकस जीवाणु से दूषित हाथ के नेत्र कान आदि अंगों पर स्पर्श से क्रमशः नेत्राभिष्यन्द तथा नासाशोथ हो जाता है।

उपचारः-

एलापैथी में इस रोग के इलाज हेतु पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, टेट्रासाइक्लिन, सल्फोनामाइड आदि एंटीबायोटिक दवाइयों का उपयोग किया जाता है। आयुर्वेद चिकित्सा में **''विषस्य विषमौषधम्'** के सिद्धान्त पर इलाज किया जाता है। शास्त्रों में उल्लेख है-

औपदंशिकसौजाका व्रणा विषसमुद्भवाः।
विषजातो यथा कीटो विषेणैव विपद्यते॥

इस रोग का इलाज परम विष जैसे संखिया (रोमल) पारा (रसकपूर) से किया जाता है। यज्ञोपैथी द्वारा सोजक के जीवाणुओं को बड़ी सरलतापूर्वक नष्ट किया जा सकता है। यज्ञोपचार के उपयोग से रोगोपचार के साथ प्राणशक्ति (जीवनीशक्ति) में वृद्धि तथा अन्य दुष्प्रभावों से रक्षा भी सम्भव है।

सूजाक के इलाज हेतु विशेष हवन-सामग्री तैयार करने के लिए निम्नानुसार वनोषधियों का उपयोग किया जाता है।

(1) गोक्षुरू (गोगरु), (2) रसौत, (3) सौंफ, (4) अनंतमूल, (5) कमरकस, (6) कालीमिर्च, (7) अपराजिता पंचागं, (8) कलारा, (9) पीपल की छाल, (10) अपामार्ग, (11) चोपचीनी, (12) इमली की छाल, (13) कंघी (अतिबला पंचांग), (14) अरिमेद विलायती बबूल के पत्ते, (15) माजूफल, (16) मुलहठी, (17) नीम छाल, (18) आम छाल, (19) आँवला, (20) बल (खिरेंटी) के बीज, (21) सफेद चन्दन, (22) हरड़, (23) कत्था, (24) गावजवाँ, (25) शीशम, (26) चीड़ का गोंद (गन्ध कबरोजा), (27) छोटी इलायची, (28) शीतल चीनी (कंबाव चीनी), (29) कांटा चौलाई की जड़, (30) दारुहल्दी, (31) अवासा, (32) शतावर, (33) तृण पञ्चमूल (कुश, कोस, खस, ईख, शरंकडे की जड़), (34) शरपुंखा, (35) मेंहदी के पत्ते, (36) रेवंद चीनी, (37) सत्यानाशी जड़ (स्वर्णक्षीरी), (38) सुरंजान, (39) शतावर, (40) दुग्धिका, (41) सेमर का गोंद (मोचरस), (42) सालवृक्ष छाल, (43) इन्द्र जौ, (44) मंजीष्ठ, (45) बिधारा।

उपर्युक्त सभी वनौषधियों की समान मात्रा लेकर उनका जौकुट पाउडर बना कर, उसमें सामान्य हवन-सामग्री की बराबर मात्रा मिलायें। इस यज्ञ में आम या पलाश की समिधा उपयोग में लाई जाती है। हवन प्रतिदिन प्रातः **''सूर्य गायत्री मन्त्र'** की 24 या 51 या 108 आहुतियाँ रोग की स्थिति अनुसार दी जानी चाहियें। रोगी को हवन के साथ काढ़ा (क्वाथ) का सेवन अधिक लाभकारी होता है तथा इससे चिकित्सा काल को कम किया जा सकता है। काढ़ा बनाने के लिए विशेष हवन-सामग्री की वनौषधियों में रसौत, कत्था, मोचरस, कतीरा और गन्ध विरोजा वर्जित हैं, शेष वनोषधियों को जौकुट पाउडर में मिलाकर उसमें से 5 से 10 चम्मच पाउडर को आधा लीटर पानी में रात भर भिगोकर सुबह आँच पर पकाना चाहिए। 125 मि.ली. शेष रहने पर उसे ठंढा होने

के पश्चात् छानकर रोगी को सुबह एवं शाम पिलाते रहना चाहिए।

पथ्यः-

रोगी को यज्ञोपैथी से उपचार तथा क्वाथ सेवन के समय खान-पान का विशेष परहेज करना चाहिए साथ ही नीरोगी होने तक स्त्री सम्भोग (संसर्ग) से बचना चाहिए। चिकित्सा अवधि में कठिन परिश्रम, घोड़े की सवारी, साईकिल चलाना आदि वर्जित है। मद्यपान, गरम मसाले, खट्टे पदार्थ, मांस-मछली कॉफी का सेवन भी निषिद्ध है। रोगी को शीघ्र पचने वाले आहार जैसे पालक, हरी शाक, बथुआ, दलिया, मूंगदाल, गाय का दूध, नारियल के पानी का सेवन शीघ्र लाभान्वित होने में हितकारी है।

ग्रन्थः-

1. यज्ञ का ज्ञान विज्ञान: द्वारा ब्रह्मवर्चस, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।

2. अखण्ड ज्योति: नवम्बर एवं दिसम्बर 03 अंक।

एस. के. पाठक एवं श्रीमती सुनीता पाठक

शासकीय होल्कर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, महू

यज्ञ से मधुमेह-चिकित्सा

डॉ. देवराज खन्ना एवं डॉ. नवनीत

आदि काल से लेकर वर्तमान काल तक कोई समय ऐसा नहीं मिलता किसी न जब किसी रूप में अग्निहोत्र न किया जाता रहा हो। वेदों यज्ञ की महिमा को विस्तार से प्रतिपादित किया है। अग्निहोत्र से लम्बी आयु, उत्तम स्वास्थ्य आदि सम्बन्धी ऋचायें वेदों में वर्णित हैं। अग्निहोत्र से विविध रोगों को नष्ट करने का उपाय आयुर्वेद में भैषज सामग्री द्वारा दिया गया है। महर्षि चरक ने भी औषधीय धूम लेने की बात कही है। **'आत्मवान् धूमयो भवेत्'** अर्थात् आत्मवान् बनने के लिये औषधीय धूम ग्रहण करें। **'पीतमात्रे धूमे प्रशान्तिं लभते जरास्य'** अर्थात् औषधीय धूम लेने से मनुष्य शरीर के रोगों का नाश होता है।

यहाँ औषधीय धूम को तम्बाकू, गांजा, चरस आदि के नशे के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिये, बल्कि यह भैषज्य-यज्ञ की ओर संकेत है।

भैषज्य-यज्ञ से ही आरोग्य लाभ होने के साथ-साथ सौ वर्ष तक जीने की बात अथर्ववेद ने कही है।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्।।[१]

अर्थात् हजारों शक्तियों से युक्त, सौ वर्ष की आयु देने वाले इस यज्ञ द्वारा रोगी को मौत के पंजे से बचाता हूँ। परमात्मा इसे (मनुष्य को) समस्त पापों तथा रोगों से मुक्त करें।

यज्ञोपैथी (भैषज्य-यज्ञ) द्वारा विभिन्न रोगों जैसे क्षय रोग, उन्माद, ज्वर तथा पीतरोग (jaundice) आदि को समाप्त किया जा सकता है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में हमने यज्ञोपैथी प्रोजेक्ट पर काम करते हुए मधुमेह के रोगियों पर प्रयोग किए। मधुमेह से पीड़ित व्यक्तियों को नित्य प्रातः अग्निहोत्र के लिए निमन्त्रित किया गया। इसके पूर्व उनके रक्त शुगर का परीक्षण करवाया गया। फिर प्रत्येक 10 दिन पूर्ण होने पर रक्त शुगर का परीक्षण करवाया गया।

उपर्युक्त यज्ञ में प्रयोग में लायी गयी सामग्री का विवरण-

1. समिधा-पलाश की, 2. गाय का घी, 3. हरड़-फल, 4. बेल-फल, 5.गुड़मार-पत्तियाँ, 7. आँवला-फल, 8. तिल-बीज, 9. गिलोय-पौधा, 10. चन्दनचूरा-लकड़ी, 11. जामुन-गुठली, 12. गूलर-छाल, 13. तुलसी-पत्र, 14. मैथी-बीज, 15. सदाबहार-पत्तियाँ (सफेद फूल वाली), 16. गुग्गुल-गोंद, 17. कपूर-निर्यास (Extract)।

1. अथर्व03.11.3.

सामग्री का वर्गीकरण:

सामग्री में मिश्रित अधिकांश जड़ी-बूटियों का वैज्ञानिक वर्गीकरण व चित्र नीचे दिए गए हैं।

हरड़:

Family : combretaceae

Genus: Terminalia

Species: Chebula

Part used: Fruit

बहेड़ा:

Family: Combretaceae

Genus: Terminalia

Species: Bellirica

Part used: Fruit

जामुन:

Family: Myrtaceae

Genus: Syzygium

Species: Cumini

Part used: fruit/Seed

गुड़मार:

family: A sclepiadaceae

Genus: Gymnema

Species: A urantiacum

Part used: Leaves

तिल:

Family: Pedaliaceae

Genus: Sesamum

Species: Indicum

Part used: Seed

गिलोय:

family: Menispermaceae

Genus: Tinospora

Species: Cordifolia

Part used: Plant

बेलः

Family: Ruataceae

Genus: A egle

Species: Marmelos

Part used: Bark

गूलरः

Family: Moraceae

Genus: Ficus

Species: Glomerata

part used: Bark

तुलसीः

Family: Lamiaceae

Genus: Ocimum

Species: Sanctum

Part used: Plant

कपूरः

Family:

Genus: Cinnamomum

Species: Camphora

Part used: Exract

प्रथम प्रयोग 10-02-04 को प्रारम्भ किया गया तथा 01-03-04 को समाप्त हुआ। इस प्रयोग के अन्तर्गत प्रति 10-10 दिन पर प्रत्येक रोगी का रक्त परीक्षण किया गया, जिसका विवरण तालिका-1 व ग्राफ-1 में विस्तार से दिया गया है। जिनके अनुसार प्रथम दोनों व्यक्तियों का रक्त का मधुमेह लगभग सामान्य आ गया। जबकि तीसरे मरीज का मधुमेह स्तर कम तो हुआ, लेकिन वह पूरी तरह से ठीक नहीं हुआ जिसका कारण था कि वह रोगी निरन्तर प्रयोग में उपस्थित नहीं रहे अपितु कभी-कभी ही आते थे। तालिका-1

अग्निहोत्र द्वारा मधुमेह पर प्रभाव -

क्र.सं.	रोगी का नाम	रक्त परीक्षण (भोजनोपरान्त)		
		10.02.04	20.02.04	01.03.04
1.	श्री महेन्द्र कुमार	380	190	175
2.	श्री शिव राजपाल	260	208	160
3.	श्री रजत सिन्हा	225	205	190

प्रथम दो व्यक्ति निरन्तर आते रहे, जबकि रजत सिन्हा कभी कभी ही यज्ञ में उपस्थित हुए। दूसरे प्रयोग के लिए सात व्यक्तियों को चुना गया और यह प्रयोग दि010-03-04 से दि030-03-04 तक यह परीक्षण चला। इसमें भी प्रति दस-दस दिवस के अन्तर से ही प्रत्येक मरीज का रक्त परीक्षण करवाया गया और प्रयोग के अन्त में पाया गया कि प्रत्येक रोगी का मधुमेह स्तर लगभग सामान्य हो गया। (तालिका-2)

तालिका-२

क्र.सं.	रोगी का नाम	रक्त परीक्षण (भोजनोपरान्त)		
		10.03.04	20.03.04	30.03.04
1.	श्री महेन्द्र कुमार	135	112	98
2.	श्री शिव राजपाल	150	130	115
3.	श्री रजत सिन्हा	175	157	120
4.	श्री विजेन्द्र कुमार	285	174	156
5.	श्री चरनजीत	310	240	160
6.	श्री वी. के. जग्गा	260	185	150
7.	श्री रमेश सिंह	175	140	125

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यज्ञ से असाध्य रोगों की चिकित्सा सम्भव है। अतः अब समय आ गया है कि हम प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा प्रदत्त ज्ञान-विज्ञान का दोहन कर मानव के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों का शमन करें।

डॉ. देवराज खन्ना एवं डॉ. नवनीत
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

यज्ञ से रोगनिवारण एवं बलसंवर्धन

डॉ. सुधा दुबे

औषधि उपचार में शरीर के विभिन्न अवयवों तक पदार्थ को पहुँचाने का माध्यम रक्त हैं। रक्त पदार्थ का ठीक तरह परिवहन नहीं कर सकता। फिर भी कठिनाई और भी है कि रक्त में रहने वाले स्वास्थ्य प्रहरी श्वेत-कण किसी विजातीय पदार्थ को सहन नहीं करते और उससे लड़ने मरने को उधार खाये बैठे रहते हैं। औषधि जब तक रोग कीटाणुओं पर आक्रमण करने की स्थिति तक पहुँचे, तब तक उसे इन स्वास्थ्य प्रहरियों से ही महाभारत करना पड़ता है।

यज्ञप्रक्रिया को चिकित्सा प्रयोजन के लिए प्रयुक्त करने पर इस कठिनाई का हल सहज ही सम्भव हो जाता है। औषधि को पेट में पचकर, रक्त में मिलकर, श्वेत प्रहरियों से लड़ने के उपरान्त पीड़ित स्थान तक पहुँचाने की लम्बी मंजिल पार नहीं करनी पड़ती, वरन् इस सारे जंजाल से बचकर, साँस द्वारा अभीष्ट स्थान तक पहुँचने का एक नया रास्ता मिल जाता है। शरीर शास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि मात्र रक्त ही कोषों की खुराक पूरी नहीं करता, वरन् श्वास द्वारा भी शरीर में आहार पहुँचाता हैं और वह इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि इसकी गरिमा मुँह द्वारा खाये और पेट द्वारा पचाए गये आहार की तुलना में किसी भी प्रकार कम नहीं होती। रक्त की भाँति प्राणवायु भी ऑक्सिजन के रूप में समस्त शरीर में परिभ्रमण करती है। पोषण पहुँचाने और गंदगी को बुहारने में उसका बहुत बड़ा हाथ है। दृश्य रूप से यह कार्य पाचन ओर रक्तमिश्रण क्रिया द्वारा भी संपन्न होता है। ये दोनों ही पद्धतियाँ मिलकर दो पहियों की तरह जीवनरथ को गतिशील बनाये रखती हैं।

स्वास्थ्य-सुधार और रोगनिवारण की आवश्यकता को पूरा करने के लिए श्वासोच्छ्स प्रक्रिया को अवलम्बन बनाने पर उससे कहीं अधिक लाभ उठाया जा सकता है, जो रक्तमिश्रण पद्धति से आमतौर पर काम में लाया जाता है। यह कार्य यज्ञ-चिकित्सा द्वारा सम्पन्न होता है। इस माध्यम से न केवल विषाणुओं से सफलता पूर्वक संघर्ष संभव हो सकता है, वरन् पोषण की आवश्यकता भी पूरी हो सकती है। यज्ञ द्वारा वायुभूत बनाई गई औषधियाँ विषाणुओं से सूक्ष्म होने की विशेषता के कारण उन पर आक्रमण करके उन्हें सरलता पूर्वक परास्त कर सकती हैं। पाचन, परिवहन और प्रहरियों से उलझने जैसे झंझट मार्ग में नहीं हैं और न विलय का अवरोध ही है। साँस द्वारा अभीष्ट पदार्थों को शरीर के अन्तरंग किसी भी अंग अवयव तक आसानी से पहुँचाया जा सकता है।

विषाणुओं का मारण जितना आवश्यक है, उतना ही स्वस्थ कोशिकाओं में समर्थता की अभिवृद्धि भी आवश्यक है। अस्वस्थता का एकमात्र कारण विषाणुओं का आक्रमण ही नहीं होता, दूसरा हेतु यह भी है कि सामान्य जीवाणुओं की समर्थता और स्वास्थ्य संरक्षक श्वेत-कणों की प्रखरता गड़बड़ा जाती है। इसलिए वे रोगों के प्रवेश को रोकने और प्रविष्ट को निरस्त करने में सफल नहीं हो पाते। यदि जीवनीशक्ति की न्यूनता न हो तो न विषाणुओं का शरीर के सुदृढ़ दुर्ग में सहज ही प्रवेश हो सकता है और न प्रवेश करने वालों को देर तो ठहरने की सुविधा ही मिल सकती है। दुर्बलता, क्षीणता यदि बढ़ती जाए तो आवश्यक नहीं कि बाहर से ही रोग प्रवेश करें। निरन्तर टूटते

रहने वाले अपने ही जीवकाषों की लाशें बाहर ढोकर फेंकी जाने पर स्वतः सड़ने लगती हैं और उन्हीं का स्वरूप विषाणुओं के रूप में प्रकट होता है।

गहन अनुसन्धानों के कारण अब यह मान्यता निराधार सिद्ध हो चुकी है कि विषाणु कहीं बाहर से आते हैं और उसके कारण मनुष्य बीमार पड़ता है। बाहर तो हवा, धूल पानी और खाद्य पदार्थों में सर्वत्र कितनी विषाक्तता भरी पड़ी है। शरीर को शरीर न छुए यह तो संभव है, पर नाक से निकली हुई साँस का एक दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाने पर प्रतिबन्ध कैसे लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से तो किसी भी व्यक्ति का स्वस्थ रह पाना संभव नहीं होता। क्योंकि सभी एक ही, वायुमण्डल में श्वांस लेते हैं और हर किसी के आस-पास कोई न कोई बीमार व्यक्ति रहता है। रोगों की उत्पत्ति बाहर के विषाणुओं से ही नहीं होती, अपितु शरीर में निरन्तर उत्पन्न होते रहने वाला मल ठीक तरह से बाहर नहीं निकल पाने पर उसी से विषाणु उत्पन्न होते जाते हैं।

इस नये संशोधन के साथ रोगोपचार का एक पक्ष जहाँ विषाणुओं को मारना है, वहीं दुर्बलता को दूर कर सफलता का परिपोषण करना भी है। आधुनिक चिकित्सा-पद्धति का सारा ध्यान संहार उपचार पर ही केन्द्रित रहता है। यह एकांगीपन जब तक दूर नहीं किया जाएगा, तब तक चिकित्सा-प्रक्रिया अधूरी ही बनी रहेगी।

यज्ञ-चिकित्सा में ये दोनों ही विशेषतायें विद्यमान हैं। उसके माध्यम से उपयोगी रासायनिक पदार्थों को इतना सूक्षम बना दिया जाता है कि वे अपने-अपने उपयुक्त प्रयोजनों को पूरा कर सकें। अणुओं में पाया जाने वाला चुम्बकत्व अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए वातावरण में से अभीष्ट तत्त्व अनायास ही ग्रहण करता रहता है। यज्ञप्रक्रिया के सहारे वायुभूत रासायनिक पदार्थ शरीर के समस्त भीतरी असयवों में अनायास ही जा पहुँचते हैं और स्थानीय जीवाणुओं की आवश्यकता पूरी करते हैं। पेड़ आकाश में परिभ्रमण करने वाले बादलों को अपनी और खींचते हैं। सशक्त वायुभूत रसायन जब शरीर के भीतर पहुँचता है तो वहाँ की आवश्यकता सहज ही पूरी होने लगती है।

प्रकृति एक ओर तो वस्तुओं का परिवर्तन करने के लिए विनाश व्यवस्था चलाती है और दूसरी ओर अनावश्यक क्षरण रोकने और क्षतिपूर्ति के साधन भी जुटाती है। इसी संतुलन के आधार पर सृष्टि क्रम चल रहा है, अन्यथा विनाश या विकास में से एक के अत्यधिक उग्र हो जाने पर एकांगी स्थिति बन जाती और असंतुलन की अराजकता दिखाई देती। रोग कीटक जिस प्रकार स्वस्थ जीवाणुओं पर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार उन्हें भी नियन्त्रित करने के लिए वातावरण में आवश्यक तत्त्व बने रहते हैं। यज्ञ द्वारा उत्पन्न विशेष गैसों में यह विशेषता रहती है कि वे रोग कीटकों पर नभसेना की तरह बरस पड़ें। रक्त के श्वेत कण जहाँ भूमिगत लड़ाई लड़ते और आमने-सामने को गुत्थम-गुत्था करते हैं, वहाँ यज्ञ की वायु, नभ मार्ग से बम गिराने की तरह शत्रुसेना को निरस्त करती है। यह उपचार प्राकृतिक परम्परा के अनुसार स्वतः ही सम्पन्न होता रहता है। गर्मी के दिनों में सूखी धरती की प्यास शीघ्र ही वर्षा ऋतु को घसीट लाती है। जिस साल गर्मी कम पड़ती है उस साल वर्षा भी कम होती है। यह प्रकृति चक्र है। बच्चा रोकर माता का ध्यान आकर्षित करता है और उससे अपनी क्षुधा के लिए पयपान का अनुदान प्राप्त कर लेता है। ठीक

इसी प्रकार दुर्बलता ग्रस्त जीवाणु अपने लिए समर्थ परिपोषण की याचना करते हैं। इसकी पूर्ति वे रासायनिक पदार्थ करते हैं जो यज्ञप्रक्रिया द्वारा वायुभूत होकर जीवाणुओं के निकट जा पहुँचते हैं। इस प्रकार सफाई और परिपोषण, ध्वंस और निर्माण- ये दोनों ही प्रयोजन यज्ञ वायु के द्वारा पूरे होने लगते हैं और अस्वस्थता का बहुत हद तक समाधान होता है।

विष कीटकों को मारने के लिए अनेकानेक विशेषताओं से युक्त औषधियाँ निरन्तर बनती और बढ़ती चली जा रही हैं। यह सभी ऐसी हैं तो प्रत्यक्ष स्पर्श के उपरान्त ही अपना प्रभाव आरम्भ करती हैं। इससे भी सरल तरीका यह है कि विषाणु मारक पदार्थों को वायुभूत बनाकर वहाँ पहुँचा दिया जाए, जहाँ संशोधन की आवश्यकता है। फ्रांस के रसायन शास्त्री डा. ट्रिलवर्ड तथा भारत के रसायनविद् डा. सत्यप्रकाश (स्वामी सत्यप्रकाशानन्द) ने अपने प्रयोगों से सिद्ध किया है कि लकड़ी जलाने से जो फार्मल्डीहाइड गैसें निकलती हैं, उनमें रोग कीटकों से निपटने की अद्भुत क्षमता रहती है। संभवतः भारतीय परम्परा में मृत शरीर को जलाने के पीछे यह दृष्टि भी रही होगी कि निर्जीव काया में उत्पन्न होने वाली सड़न से वातावरण को विषाक्त होने से बचाने के लिए उसे अग्नि-संस्कार द्वारा समाप्त किया जाए।

सामान्य स्वास्थ्य संवर्धन के लिये यज्ञाग्नि द्वारा वायुभूत बनाए गए पदार्थों का सेवन, मुँह द्वारा खाए गए और पेट द्वारा पचाए गए पौष्टिक पदार्थों की तुलना में कहीं अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। इस प्रकार बीमारियों से लड़ने वाली जीवनीशक्ति को बढ़ाने तथा विषाणुओं के आक्रमण को निरस्त करने में भी यज्ञीय ऊर्जा का सफल उपयोग हो सकता है। स्वास्थ्य रक्षा के अतिरिक्त बल बढ़ाने और व्यक्तित्त्व को विकसित करने में समर्थ विचारणाओं तथा भावनाओं का संवर्धन इतना बड़ा लाभ है, जिसे स्वास्थ्य रक्षा से हजार गुना मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। यज्ञ द्वारा रोग निवारण एवं बलवर्धन के अतिरिक्त इसमें शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक क्षेत्र की सभी विकृतियों के निराकरण की पूरी-पूरी सम्भावना सन्निहित है।

जो भी Measurements लिये गये उन में क्रोमेटोग्राफ, गल्टभ्चेनल फिसिओग्राफ टोटल R.B.C और T.W.N.C. platlets R.B.C. Pragilits आदि टेस्ट ये प्रमाणित करते हैं कि साधक के रक्त में जो जैव रासायनिक परिवर्तन हुए उससे उनके ब्लड यूरिया शुगर, कालैस्ट्राल क्रीटीनिन anti body Lunl, और रोगी की प्रतिरोध क्षमता में विशेष अन्तर प्राप्त हुआ है।

EMG-EFG, और ECG की रीकार्डिंग न्यूरोफिजिओलॉजी की प्रयोगशाला में और सायकोमेट्री लेबोरेटरी में लेने के पश्चात् रोगी में लर्निंग पोटेंशियल स्मरणशक्ति, बौद्धिक क्षमता और इमोशनल क्रोशेन्ट में ज़ो सुधार होना है। वो यजन के सकारास्मक परिणामों की जानकारी देता है। उपर्युक्त सभी प्रयोगों में यजन प्रक्रिया को लगातार 12क माह 12क निश्चित अवधि में करने के पश्चात् ही परिणाम प्राप्त हुआ हैं। ये प्रयोग कुछ न्यूरोकेमिस्ट के सहयोग से भी किये गये, जिसके फलस्वरूप विभिन्न हार्मोन्स कार्टिसोल, थायराक्सीन,। CTH, 12 Bkste आदि की न्यूरोलॉजी की लेबोरेटरी।

भोपाल गैस ट्रेजडी एवं अग्निहोत्रः-3 दिसम्बर 1984 में भोपाल की यूनियन कार्बाईड फैक्ट्री

में विषाक्त गैस MIC जब लीक हो गई थी तो हजारों की संख्या में जनसमुदाय की मृत्यु हो गई थी, सैकड़ों को हॉस्पीटलाईज्ड किया था, किन्तु इस करुण कथा के दृष्टा दो ऐसे परिवार भी उसी परिसर में मौजूद थे, जिनके घर के सभी सदस्य कुशल थे। ऐसे श्री मोहनलाल कुशवाह और श्री एम.एल. राठौर के घर के सभी सदस्य कुशल थे। इन परिवारों में नियमित अग्निहोत्र करने की परम्परा थी। ये ऑब्जर्वेशन यह सिद्ध करती है कि अग्निहोत्र अत्यन्त गहन प्रदूषण का भी antidote है।[1]

शान्तिकुंज में भी साधक ओर असाधक दो ग्रुप्स को लेकर कई प्रकार के प्रयोग असाध्य रोगों के निवारण के लिये किए जा रहे हैं। जिन्हें subject के रूप में चुना जाता है, उन्हें experiments के दौरान ग्लास चैम्बर से बनी प्रयोगशाला में बैठाया जाता है और यजन की गैस को inlate कराया जाता है। एक विशिष्ट अवधि के पश्चात् जब उन साधकों और असाधकों की बॉडी और मस्तिष्क की अवस्था का विश्लेषण करवाया जाता है। उपर्युक्त प्रयोगों से प्राप्त परिणामों से यह निष्कर्ष निकला कि यजन की निरन्तरता एवं नियमबद्धता से वायरस एवं पेथोजिनिक बैक्टीरिया से प्राणिमात्र की प्रतिरक्षात्मक प्रणाली में जैविक ऊर्जा में वृद्धि तो होती ही है साथ ही मानसिक शान्ति एवं भावनात्मक स्थिरता के साथ मस्तिष्क की सृजनशीलता साइकॉलॉजिकल फ्रंट पर प्राप्त होती है।

यजनपद्धति द्वारा एक नवीन वैज्ञानिक चिकित्सा-प्रणाली का विकास हुआ है। जिसके अन्तर्गत भविष्य में ऐलोपैथी, होम्योपैथी, नेचुरोपैथी, क्रोमोपैथी के समान ही यज्ञोपैथी भी चिकित्सा-विज्ञान की एक attractive therapy सिद्ध होगी। जो कि भौतिक-चिकित्सा के साथ-साथ आध्यात्मिक चिकित्सा भी कर पायेगी।

प्राणशक्ति के स्तर में उन्नति होने पर यजन के बाद जो परिणाम प्राप्त हुए हैं। याजक के हाथ का किप्लीयन फोटोग्राफ के द्वारा मापा जा सका है। यह प्रयोग जर्मनी के डॉ. मालाचियस प्मरबिन्जर के द्वारा प्रमाणित किया गया है। [यजन साइटिफिक इन्टरप्रिटेशन]

डॉ. सुधा दुबे
प्राध्यापक, प्राणि विज्ञान विभाग
केलकर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर

1. साभार हिन्दू news paper 4 मई 1984

यज्ञ और चिकित्सा

श्रीमती डॉ0 प्रमोद बाला मिश्रा,

भारतीय धर्म एवं संस्कृति का आधार वेद है। वेदों की सम्यक् व्याख्या याज्ञिक परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव है। यज्ञ का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और वह वैदिक संस्कृति का प्राणतत्त्व है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में **'यज्ञो वै विष्णुः' 'प्रजापति वै यज्ञः'** आदि पंक्तियों में विष्णु एवं प्रजापति को यज्ञ रूप कहकर उसके महत्त्व का ही उद्घोष किया गया है। वेद, उपनिषद्, कल्प, स्मृति, पुराण आदि सभी शास्त्रों में यज्ञ का उल्लेख उसकी व्यापकता, लोकप्रियता, सार्वभौमिकता तथा सतत गतिशीलता को सूचित करता है। वैदिक वाङ्मय में सृष्टि को भी यज्ञ माना गया है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में सृष्टि को यज्ञ से उत्पन्न कहा गया है। वहाँ पुरुष के रूपक द्वारा सृष्टि के विविध तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन प्रतीकात्मक शैली में किया गया है।

वैदिक साहित्य में विश्व की नियामक शक्ति के रूप में ऋत की कल्पना की गयी है तथा ऋत को यज्ञ का स्वरूप मानते हुए यज्ञ को ऋत का कारण कहा गया है। **'यज्ञो वै ऋतस्य योनिः।'** ऋत और यज्ञ के तादात्म्य का कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि तत्त्वदर्शी मनीषी ऋषियों ने सम्पूर्ण सृष्टि विज्ञान को एक अलौकिक यज्ञ मानकर उसे स्थूल जगत् में यज्ञ के रूप में रूपायित करने का प्रयास किया। इस स्थूल यज्ञविधान को परमात्मा के सृष्टियज्ञ का पूरक एवं सहयोगी माना। **'ऋ गतौ'** धातु से निष्पन्न **ऋत** शब्द सार्वभौम सत्ता की निरन्तर गतिशीलता का द्योतक है। इसी ऋत के अनुकरण की चेष्टा को भौतिक धरातल पर यज्ञ कहा जा सकता है। इसके माध्यम से वे इस ऋत की धारा को आगे बढ़ाने का प्रयास करते हैं। सृष्टि प्रक्रिया में जो कुछ घटित हो रहा है, वह दैवी और अलौकिक यज्ञ है। उसी को ऋत की संज्ञा दी गयी है। यह ऋत निरन्तर गतिमान् है। इसीलिए वैदिक ऋषि वरुण से प्रार्थना करते हैं-'मुझसे पाप को रज्जु के समान शिथिल करो, जिससे हम तुम्हारी ऋत की धारा को संवर्धित करें। हमारी बुद्धि को वर्धित करते हुए हमारी संतति का उच्छेद न करो और न ही ऋत अथवा यज्ञ की प्रक्रिया को हिंसित करो।"[1]

यज्ञ शब्द यज् धातु से निष्पन्न है।[2] यह धातु देवपूजा, संगतिकरण, दान आदि अर्थों में प्रयुक्त है। इस धातु से भाव अर्थ में नङ् प्रत्यय करके यज्ञ शब्द बनता है। देव शब्द दिवादिगण के दिवु धातु से निष्पन्न है, जो अनेकार्थक है- **'दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद स्वप्न-कान्ति-गतिषु।'** पूजा शब्द वन्दना, अर्चना, श्रद्धा, समर्पण आदि अर्थों का वाचक है। देवपूजा का अर्थ है-बड़ों का आदर-सत्कार, सम्मान, अग्न्यादि देवों को हवि-अर्पण द्वारा तृप्त करना, प्रकारान्तर से सम्पूर्ण जीवों तथा वनस्पतियों का कल्याण करना। यज्ञीय आहुतियों द्वारा वायुमण्डल का शोधन होने से शुद्ध जल की वृष्टि होती है। संगतिकरण का अभिप्राय सन्तुलन, समन्वय, पदार्थों का

---

1. ऋग्वेद-2.28.5.
2. अष्टाध्यायी-3.3.60.

सम्यक् उपयोग व सत्संग से है। यज्ञ में किन-किन औषधियों का किस-किस ऋतु में होम के लिए प्रयोग किया जाए, किन-किन औषधियों के प्रयोग के क्या-क्या प्रयोजन हैं? यह सब संगतिकरण में समाविष्ट किया जा सकता है। दान का अभिप्राय है-अभिमान की भावना से रहित होकर त्याग करना। यज्ञ के द्वारा यज्ञकर्ता हविष् द्रव्यों को प्राणिमात्र के कल्याणार्थ अग्नि में समर्पित करता है। परोपकार की भावना से प्रेरित और प्रतिदान की भावना से रहित होकर दूसरों को कुछ देना दान है। इन अर्थों से स्पष्ट है कि यज्ञ मानवमात्र के लिए श्रेष्ठ कर्म है। तथा सभी को इस दिशा में गतिशील होना चाहिए।

वैदिक वाङ्मय की प्राचीनतम ऋग्वेद-संहिता के प्रथम मन्त्र में यज्ञ शब्द का उल्लेख मिलता है-**अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥**[3]

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र के वेद भाष्य में यज्ञ शब्द के तीन अर्थ किये हैं-1. अग्नि से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ, 2. अव्यक्त प्रकृति से लेकर कार्यकारण की संगति से उत्पन्न यह संसार ही यज्ञ है। 3. सत्यपूर्ण धर्माचरण, सत्संगति से प्राप्त ज्ञान। इस प्रकार यज्ञ शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है।[4]

यज्ञ शब्द वाच्य इन अनेक अर्थों पर दृष्टि निक्षेप कर यह कहा जा सकता है कि यज्ञ के दो रूप सम्भव हैं-1. शाश्वत कल्याण के लिए, 2. भौतिक सुखसमृद्धि एवं शान्ति के लिए। प्रथामावस्था में वह मात्र ह्विसमर्पण तक सीमित नहीं है, प्रत्युत उसमें आत्म-समर्पण की पुनीत भावना निहित है। दूसरी अवस्था में वह मात्र हविष्यादि-समर्पण तक सीमित है।

मनुष्य को संस्कारित करने के लिए भारतीय संस्कृति में अनेक गृह्य संस्कारों का विधान है। इन गृह्य संस्कारों का विशद विवेचन ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं गृह्यसूत्रों में मिलता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है। कि गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त जो भी संस्कार वर्णित हैं, उनमें किसी न किसी रूप में यज्ञ का विधान है। पुत्रेष्टि यज्ञ हो या नामकरण, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों में किया जाने वाला हवन अथवा मृत्यु के अनन्तर विहित अन्त्येष्टि-सब यज्ञ के विविध रूप हैं। यज्ञ एक प्रकार का विज्ञानमय विधान है, जिससे मानव का आध्यात्मिक और भौतिक उत्कर्ष होता है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में वर्णित विभिन्न यज्ञों और उनकी फलश्रुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि जहाँ कुछ यज्ञ भौतिक सुख-सुविधाओं, धन, ऐश्वर्य, पुत्र, आरोग्य आदि की प्राप्ति के लिए हैं, वही कुछ यज्ञविधान आध्यात्मिक उपलब्धियों के साधन हैं।

मानवजीवन की सर्वोत्तम आध्यात्मिक उपलब्धि है-द्वैतभान का मिट जाना, आत्मा का परमात्मा में विलय होना अर्थात् **'अहं ब्रह्मास्मि'** की प्रत्यक्षानुभूति करना। यज्ञ की दीर्घकालीन साधना से मानव धीरे-धीरे इस पथ पर अग्रसर होता है। भौतिक उपलब्धियों हेतु अनेक काम्येष्टियों का विधान श्रौत साहित्य में मिलता है। वैसे तो सामान्य रूप से वैदिक ऋषियों में भौतिक समृद्धि की

---

3. ऋ0 1.1.1.
4. यजुर्वेद 1.1.

कामना नहीं थी। वे अपने यजमान के मंगल की कामना करते थे, ऐसा **'यजमानस्य पशून् पाहि'**[5] तथा **'ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै'**[6] आदि मन्त्रांशो से स्पष्ट है। वैदिक ऋषियों में स्वस्थ रहने तथा शतायु होने की कामना अवश्य व्यापक रूप से देखी जा सकती है। यज्ञ दीर्घायुष्य एवं स्वास्थ्य का प्रदाता भी है। सुखी दीर्घ जीवन के प्रसंग में यजुर्वेद में एक स्थान पर स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य अग्निहोत्र आदि यज्ञों को नियमित रूप से करने के फलस्वरूप सामान्य सौ वर्ष की आयु की अपेक्षा तीन सौ वर्षों के सुखपूर्ण आयुष्य को प्राप्त कर सकता है।[7] अथर्ववेद के एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है-यदि व्यक्ति की जीवनशक्ति क्षीण हो गयी है, मृत्यु निकट आ गयी है, शारीरिक अवस्था निराशाजनक है तो यज्ञ उसे मृत्यु से बचाकर पुनः सौ वर्ष की आयु प्रदान करता है।[8]

इस प्रकार वैदिक यज्ञ को स्वास्थ्य-संवर्धक और चिकित्सा का श्रेष्ठ एवं सफल साधन भी स्वीकार किया जा सकता है। आचार्यों ने विशेष लक्ष्य की पूर्ति या उपलब्धि के लिए विशेष आहुतियों का विधान किया है। विभिन्न रोगों को दूर करने के लिए तत्तत् रोगनाशक विशिष्ट गुणधर्मयुक्त औषधियों की आहुतियों का विधान है। हविर्द्रव्यों का मन पर भी प्रभाव होता है। सौम्य द्रव्य जैसे घृत, शहद, दुग्ध, शर्करा, सोमलता आदि क्रोध, लोभादि मनोविकारों को दूर करते हैं। सुगन्धित द्रव्य जैसे चन्दन, केसर, कस्तूरी, देवदार, अगर, तगर, गुग्गुल, राल, लोवान आदि काम, मोह आदि मनोविकारों को दूर करते हैं। मध्यवर्ति पदार्थ जैसे जौ, रक्तचन्दन, खस, पित्तपापड़ा, कमलगट्टा आदि अहंकार को नष्ट करते हैं। इस प्रकार इन हविष् द्रव्यों द्वारा मनोविकारजन्य मानसिक व्याधियों का भी दूरीकरण होता है। इतना ही नहीं, मेधा की प्राप्ति हेतु आहुतियों के अग्नि प्रक्षेप का निर्देश हमें वैदिक यज्ञों में मिलता है-

यां मेधां देवगणः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।।
मेधां मे वरुणो दधातु मेधाग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा।।[9]

यज्ञों में जो हवनीय द्रव्यों की आहुतियाँ दी जाती हैं, उनसे एवं वेद मन्त्रों के प्रभाव से यज्ञ में भाग लेने वाले व्यक्ति एवं परिसरीय वायुमण्डल पर विशेष परिणाम होता है। पाप व ताप-नाश होता है, जो कि कर्मज रोगों का हेतु है। यज्ञ से सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, जिससे प्रज्ञापराध कम होते हैं। इससे आकाश में अदृश्य विद्युतीय तरंगें निर्मित होकर दूर-दूर तक फैलती हैं, जिनके प्रभाव से लोगों के मन से द्वेष, पाप, अनीति, वासना, स्वार्थ परायणता मिट जाती है तथा मानव का

---

5. यजु0 1.1.
6. यजु0 1.1.
7. ऋ0 1.154.6.
8. अथर्व0 3/62.
9. यजु0 32/14-15.

मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य उत्तमोत्तर होता है।

भारतीय चिकित्सा शास्त्र में रोग-निवारण हेतु अनेक चिकित्सीय पद्धतियों का उल्लेख है। औषधि सेवन, सूँघना, लेप करना घृत व तैल सिद्ध करके मालिश करना, सुई के माध्यम से सीधे रक्तवाहनियों में पहुँचाना, अग्नि में डालकर धूमित करना व सेंकना आदि अनेकों चिकित्सा की विधियाँ हैं। याज्ञिक चिकित्सा-पद्धति में जिस रोग विशेष को दूर करने के लिए जिस यज्ञ विशेष का सम्पादन होता है, उस यज्ञ के हवनीय पदार्थों में उन विशेष द्रव्यों का हवन किया जाता है, जिनका प्रयोग उस रोग नाशक औषधि के रूप में विहित है। यदि यज्ञ के द्वारा चेचक की चिकित्सा करनी हो तो जिन आयुर्वेदीय औषधियों के सेवन से चेचक का विनाश होता है, उन्हीं काष्ठादिक औषधियों को यज्ञ सामग्री बनाकर हवन करना चाहिए। जो औषधि खाने से शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर रोग नष्ट करती है, वही यज्ञ के माध्यम से घृत के परमाणुओं से संयुक्त होकर सूक्ष्म गैस बनती है और श्वास के द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर तत्काल रक्त से मिलकर रोग का नाश करती है तथा अविलम्ब फलदायक होती है। यज्ञ के लिए सुगन्धित, रोगनाशक, पौष्टिक तथा मधुर- चार प्रकार के पदार्थों का प्रयोग हवनसामग्री बनाने में होता है। ऋतु देखकर तथा यज्ञ के लक्ष्य को ध्यान में रखकर तदनुकूल सामग्री का निर्माण किया जाता है। यज्ञ के माध्यम से सम्पूर्ण वायुमण्डल का शोधन होता है। इसका धुआँ रोग के जीवाणुओं को नष्ट करता है, जैसे- एक रत्ती हींग से संस्कारित सम्पूर्ण दाल पात्र में सुवासित हो जाती है, वैसे ही यज्ञीय सूक्ष्म परमाणु वायु तथा आकाश मण्डल को नीरोग, सुवासित तथा स्वास्थ्यप्रद बना देने की क्षमता रखते हैं। अग्नि में घृत आदि का प्रयोग करने से विषैले कीटाणुओं का विनाश होता है। इसी प्रकार जलती शक्कर में वायु शुद्ध करने की बहुत बड़ी शक्ति विद्यमान है।

यज्ञ के लिए जिन वनस्पतियों की समिधाओं को ग्रहण करने का निर्देश धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है वे हैं-देवदारु, चन्दन, पलाश, आम्र, पीपल, खदिर आदि। अथर्ववेद के अनुसार ये समिधाएँ सर्वविध रोगाणुओं को नष्ट करती हैं। इन सभी वनस्पतियों के आरोग्यवर्धक गुणों का वर्णन सुश्रुत, अष्टाङ्गहृदय, भावप्रकाश आदि ग्रन्थों के द्रव्यगुण भाग में विस्तार के साथ किया गया है। अतः आरोग्य एवं रोगनिवारण के प्रसंग में उनकी हेतुता पर सन्देह करने का अवकाश ही नहीं है। यज्ञ-सम्पादन के लिए जिस शाकल्य (हवन-सामग्री) का प्रयोग किया जाता है, उनमें मुख्यतः तीन गुणों वाले द्रव्यों का संग्रह किया जाता है-सुगन्धित, पौष्टिक और आरोग्यदायक।[10] इन तीनों गुणों अथवा इनमें से अन्यतम गुण से युक्त प्रत्येक औषधि आरोग्य प्रदान करने वाली है। इन द्रव्यों में घृत सबसे मुख्य है। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार घृत बल, वीर्य का उत्पादक तथा पोषक है, रुक्षता नाशक होने के कारण वातजन्य रोगों का निवारक और शामक है। जठराग्नि उद्दीपक होने के साथ ही साथ यह पित्तनाशक एवं पित्तजनित रोगों को दूर करने वाला है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों ने पुरातन गोघृत को अमृत कहा है।

अग्निहोत्र में प्रयुक्त मन्त्रों तथा उनसे सम्बद्ध विनियोगों में आरोग्यदायकता का सुस्पष्ट निर्देश

10. संस्कार विधि-पृ0 20. सम्पादक युधिष्ठिर मीमांसक

स्थान-स्थान पर मिलता है। उदाहरणार्थ-आश्वलायन गृह्यसूत्र में निर्दिष्ट आचमन मन्त्रों में आचमनीय जल के लिए अमृत का उपस्तरण और अमृत का अपिधान विशेषणों का प्रयोग हुआ है।[11] जिनका अर्थ है अमृत का आसन और अमृत का आच्छादन। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ के समय किया जाने वाला आचमन आरोग्य के लिए अमृत के समान फलदायी है। आचमन करने के पश्चात् जलसहित अंगों का स्पर्श किया जाता है। इस अंगस्पर्श क्रिया में जिन मन्त्रों का विनियोग किया गया है, उनमें यह स्पष्ट संकेत है कि यह क्रिया प्रत्येक इन्द्रिय को अपेक्षित शक्ति से सम्पन्न करती है।[12] विशिष्ट संस्कारों में विशेष आहुतियों के लिए प्रयुक्त मन्त्रों में यज्ञाग्नि को पवमान अर्थात् आयुष्य को प्रदान करने वाला और सर्वविध रोग आदि से मुक्त रखने वाला बताया गया है।[13] ऋग्वेद के मन्त्र में यज्ञ को सर्वविध सौख्य प्रदान करने वाला कहा गया है।[14] विवाह-संस्कार के अंगरूप में एक अभ्यातन होम का आयोजन किया जाता है, जिसमें अठारह मन्त्रों के द्वारा यज्ञ में आहुतियाँ दी जाती है। इन मन्त्रों में अग्नि, इन्द्र, यम, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि को अपना रक्षक मानकर स्मरण किया गया है।[15] अभ्यातन होम के अनन्तर इसी संस्कार में आठ विशिष्ट आज्याहुतियों का विधान है। इस समय प्रयुक्त मन्त्रों में पत्नी को मृत्यु के बन्धन से सुरक्षित रखने, उसकी रक्षा करने, पुत्र-पौत्रादि से युक्त होने तथा सन्तांनहीनता आदि विविध रोगों से मुक्त करने की कामना का संकेत प्राप्त होता है। विवाह के समय पत्नी-पति के आयुष्य और कुटुम्ब की समृद्धि के लिए लाजा होम करती है।[16]

अथर्ववेद में ऐसा उल्लेख है कि घृत की आहुति समस्त शारीरिक रोगों को दूर करने में सक्षम है।[17] यहाँ यह भी संकेत है कि गण्डमाला जैसे दु:साध्य रोग विधिपूर्वक यज्ञ करने से ठीक हो जाते हैं।[18] यज्ञ शाकल्य के उपादान द्रव्यों में गुग्गुल अन्यतम है। अथर्ववेद के अनुसार यज्ञ में प्रयुक्त गुग्गुल की सुगन्धि से धातुवैषम्य अथवा शाप इत्यादि से उत्पन्न भयानक रोग भी सहज भाव से नष्ट हो जाते हैं।

विभिन्न ओषधियों व वृक्षों के काष्ठ की समिधा प्रज्वलित करने से अनेकानेक असाध्य एवं कष्टप्रद रोगों की चिकित्सा का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। अथर्व संहिता के छठे काण्ड के पच्चीसवें सूक्त के एक मन्त्र में स्पष्टरूप से वरण वृक्ष को राज्यक्ष्मा रोग का नाशक कहा गया है। वेद में वरण नाम से उल्लिखित वनस्पति को संस्कृत भाषा में वरुण कहा गया है। वरुण वृक्ष के उपयोग से यक्ष्मा रोग दूर होता है। इसको हिन्दी में विलि वृक्ष कहते हैं। इसके गुणों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-

---

11. अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि। आश्वलायन गृह्यसूत्र-1/24/12, 21.
12. पारस्कर गृह्यसूत्र-1/3/25.
13. ऋ0 9/66/19. ॐ भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ ....।
14. ऋ0 4/1/5. वीहि मृळीकं सु हवो न एधि।
15. मन्त्र ब्राह्मण-1.1.14
16. पारस्कर गृह्यसूत्र-1.6.2.
17. अथर्व0 6.32.1.
18. अथर्व0 6.83.2-4.

वरुणः पित्तलो मेदो श्लेष्मकृच्छाश्ममारुतान्।
निहन्ति गुल्मवातादीन् क्रिमींश्चोष्णाग्निदीपनम्।
कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः।

यह वरुण ओषधि रक्तदोष, शिरस्थानीय वातदोष दूर करने वाली है। यह कटु, उष्ण, स्निग्ध तथा आग्नेय गुणयुक्त है। श्लेष्मा, वातदोष, गुल्म, वातरक्त तथा कृमिदोष आदि को दूर करने वाली है। इस वरुण वृक्ष की समिधा के प्रयोग से राज्यक्ष्मा रोगी के सम्पूर्ण शरीरांगों से यक्ष्मा रोग दूर हो जाता है।

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि।।[१९]

इसी प्रकार यज्ञीय आहुतियों से विष के प्रभाव को भी शान्त किया जा सकता है-

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः। सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी।[२०]

यह वनस्पति मधुरता के साथ उत्पन्न हुई, मधुरता देने वाली तथा स्वयं भी अत्यन्त मधुर है, इसका नाम मधु है। यह विषबाधा से टेढ़े-मेढ़े हुए रोगी के लिए उत्तम औषधि है। इससे मच्छर भी दूर होते हैं। सभी प्रकार के ज्वरों की चिकित्सा के रूप में यज्ञों एवं आहुतियों का उल्लेख भी अथर्व संहिता के पाँचवें काण्ड में निर्दिष्ट है। वहाँ कहा गया है-अग्नि, सोम, पत्थर, वरुण, ये पवित्र बल वाले देव और वेदी, कुशा, प्रदीप्त समिधाएँ-यहाँ से ज्वरादि रोग को दूर करें।

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु।।[२१]

यह ज्वर रोग सबको निस्तेज करता है, अग्नि के समान संतप्त करता हुआ कष्ट देता है। उस ज्वर को भगाते हुए ऋषि कहते हैं कि तू नीरस हो जा और नीचे के स्थान से दूर हो जा। बहुवृष्टि वाले और मुंजा घास वाले देशों में यह ज्वर बहुत होता है।[22] शाकभोजी लोगों में एक विशेष बल होता है, इस कारण उनसे यह ज्वर दूर भागता है।[23]

ज्वर को वरुण राजा का पुत्र कहा गया है अर्थात् वरुण से इसकी उत्पत्ति हुई है। वरुण जल के अधिपति हैं। वरुण राजा के जल रूपी साम्राज्य में यह जन्म लेता है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ जल स्थिर रूप से रहता या सड़ता है, वहाँ से इस ज्वर की उत्पत्ति होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह सत्य सिद्ध हो चुका है कि जहाँ जल प्रवाहित नहीं होता, स्थिर रहता है, वही शीतज्वर की उत्पत्ति होती है तथा ऐसे ही स्थानों में शीतज्वर फैलता है। इसी संहिता में प्रथम काण्ड के चौबीसवें

---

19. अथर्व0 2.33.7.
20. अथर्व0 7.56.2.
21. अथर्व0 5.22.1.
22. अथर्व0 5.22.5.
23. अथर्व0 5.22.4.

सूक्त में कुष्ठ रोग के विनाशक औषधि के रूप में आसुरी वनस्पति के सेवन एवं हवन का उल्लेख मिलता है।[24] गण्डमाला की चिकित्सा के प्रसंग में एक मन्त्र में निर्देश है कि जिसके घर में हवन होता है वहाँ रोग के बीज हवन से जल जाते हैं।

इसी प्रकार कृमि जन्य रोगों, सन्धिवात तथा आनुवंशिक रोगों को दूर करने के निमित्त अनेक होमों तथा ओषधियों के प्रयोगों का वर्णन अथर्व-संहिता में है।

हवन अथवा यज्ञ में दिव्य अलौकिक शक्ति है। इससे आरोग्य, बल, दीर्घायुष्य आदि प्राप्त होता हैं बड़े-बड़े यज्ञों का विधान ऋतु सन्धियों में किया गया है। इसका एक स्पष्ट कारण यह प्रतीत होता है कि ऋतु सन्धियाँ प्रायः व्याधियों को अधिक बढ़ाती हैं। ऋतु-परिवर्तन से वायुमण्डल विकृत व परिवर्तित होता है, फलस्वरूप अनेकों रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ जाती है। इन्हीं रोगों को प्रतिबन्धित करने के लिए प्राचीन भारत में औषधि याग किये जाते थे। इन यज्ञों में विशेष रूप से रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियों एवं वनस्पतियों का हवन किया जाता है। ये हवन ज्ञात-अज्ञात तथा राज्यक्ष्मा आदि रोगों को नष्ट कर देते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में विधिपूर्वक सम्पन्न किये गए यज्ञ को सर्वविध सुखपूर्ण आयुष्य देने के कारण भेषजस्वरूप ही मान लिया गया है।[25]

श्रीमती डॉ0 प्रमोद बाला मिश्रा,
वरिष्ठ रीडर, संस्कृत-विभाग,
बरेली कालेज, बरेली।

---

24. अथर्व0 1.24.2.

25. छा0उप0 'भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति।'

यज्ञ और गोघृत

डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्र

गाय की विश्वव्यापी उपयोगिता का वर्णन पृथ्वी के सम्पूर्ण धर्मग्रन्थों में प्राप्त होता है। गौ नित्य नूतन पुष्टि का कारण तथा लक्ष्मीप्राप्ति का अक्षय भण्डार प्रदान करने वाली है। गाय को यह स्थान उसके गुणसूत्र के कारण प्राप्त है। गुणसूत्र का आधार गाय की उत्पत्ति से सम्बन्धित है। शास्त्रों का मत है कि 'गो' नामक सूर्य किरण से पृथ्वी का स्थावर स्वरूप निर्मित हुआ और उसी किरण से गाय जंगम मूर्ति में परिवर्तित हुई। पृथ्वी और गाय जड़ चेतन के शाश्वत आधार हैं। गाय मात्र पशु नहीं है। **'तिलं न धान्यं, गावो न पशुः।'**

आधुनिक काल के जीव विज्ञानी प्रो. जे. वी. हाल्डेन के मतानुसार गाय और नाग एक ही प्रजाति के प्राणी हैं। कुछ वैज्ञानिकों का भी मत है कि वराह और गाय कुल विकास के क्रम में एक ही गुणसूत्र व प्रजाति से सम्बन्धित हैं। दोनों में जो भी थोड़ी बहुत भिन्नताएँ हैं, वे गुणसूत्र की संख्या के कारण तथा प्रकृति के ल्कोनिंग के कारण हैं।[1] गाय के गोबर के प्रयोग से रेडियो ऐक्टिविटी से होने वाली त्रासदी से बचा जा सकता है। प्रायौगिक सत्यता को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि गोबर से लिपे भूखण्ड पर परमाणु बम विस्फोट के साथ होने वाली रेडियो ऐक्टिविटी का घनत्व प्रभावी नहीं होता और यदि होता भी है तो विनाशकारी नहीं होगा। घरों में ग्राम वनिताएँ सम्भवतः अपने पारम्परिक अनुभव के कारण ही, सूर्य से निःसृत रेडियो, गामा एक्सरे आदि किरणों से सुरक्षा हेतु घर के धरातल को गोबर से लीपतीं थीं। महाराजा रणजीत सिंह ने आर्थिक, सामरिक, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से ही गोरक्षा का व्रत जीवन पर्यन्त निर्वाह किया। गोमूत्र, पञ्चगव्य के औषधिक प्रयोग की संस्तुति चरक सुश्रुत आदि आचार्यों ने की है। धार्मिक संस्कारों में गंगा जल के अभाव में शुद्धि हेतु गोमूत्र का विधान है।

गोघृत का प्रयोग वैदिक यज्ञों में शास्त्रमतानुसार आवश्यक है। वैदिक संस्कृति में 'यज्ञ', अग्निहोत्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यानुष्ठान रहा है। **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**। प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने संस्कृत द्विजों के लिए अनुष्ठेय कार्यों में गिनाये जाने वाले यज्ञों को संस्कारों में शामिल करते हुए संस्कारों की संख्या 48 तक पँहुचायी तथा 21 प्रकार की यज्ञसंस्थाओं को संस्कारों में गिना दिया।[2] सुसंस्कृत गृहस्थों द्वारा 21 प्रकार के यज्ञ प्राचीन भारत में सुविदित थे,[3] जो तीन वर्गों में विभाजित थे-(क) पाक यज्ञ, (ख) हविर्यज्ञ, (ग) सोम यज्ञ।

गृहस्थों द्वारा विवाह के समय जिस गृह्याग्नि का आधान किया जाता है, उसमें लौकिकाग्नि, वैतानाग्नि, सभ्याग्नि या आहवनीय, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि एवं श्रौताग्नि में किस प्रकार यज्ञ सम्पन्न

---

1. अमृत कलश-प्रो रामचन्द्र सिंह, काशीविद्यापीठ, वाराणसी पृष्ठ 194
2. कलानाथ शास्त्री, राज. संस्कृत एकेडमी-आधु. सं. में श्रौतयागों की उपादेयता-प्रकाशकीयम्।
3. गोपथ ब्राह्मण-1/1/12 'स एवं त्रिवृतं सप्तन्तुमेकविंशतिसंख्यं यज्ञमपश्यत्।'

किए जाए 37 विधियों का वैदिक वाङ्मय में विपुल विस्तार है।[4] गार्हपत्याग्नि जीवन भर गृहस्थ द्वारा अखण्ड रखा जाने वाला अग्नि था, जो घर बसाने के लिए अपरिहार्य होता है। परन्तु संस्कारी गृहस्थ अन्य वैदिक यज्ञ समय-समय पर करना चाहें तो वे 'श्रौताग्नि' का आधान करते थे। ये वैदिक सात प्रकार के हविर्यज्ञ दो प्रकार से सम्पन्न किए जा सकते थे। विभिन्न हविष्यों से जिनमें पय, घृत, दधि से लेकर पशु तक गिनाये जा सकते हैं। दूसरे सोम से किए जाने वाले सात प्रकार के सोम यज्ञ कहे गए हैं। 'देवता विशेष के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग' (हविष्यादि का) यह यज्ञ की परिभाषा संस्तुत हुई। अत: इन देवताओं का उन द्रव्यों का, उन यज्ञीय विधियों का और यज्ञों का विवेचन अनन्त विस्तार वाले ऐसे वाङ्मय की सृष्टि कर गया, जिनका मन्थन कर आज तक वैदिक विद्वानों के शोध अनवरत होते रहे हैं।

वेदों और यज्ञों के गोघृतादि शाकल्य पदार्थों के अविनावभाव सम्बन्ध को विज्ञान की दृष्टि से कसौटी पर कसें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञसृष्टि विकास की योनि है-अप: शुचि: अग्नि और शब्द सृष्टि के मूल कारण हैं। यज्ञ मैटर को इनर्जी और इनर्जी को मैटर में परिवर्तित करने की गुह्य कार्यशालायें हैं।[5] यज्ञ का मूल मन: शक्ति अथवा मन्त्रशक्ति है। महर्षि ऐतरेय के अनुसार पदार्थ का मन में और मन का पदार्थ में बदल जाना यज्ञ है।[6]

श्रौतयागों में प्रमुख सोमयाग, रासायनिक, प्रक्रिया से अपूर्व की सृष्टि करता है, अग्नि में सोम की आहुति सोमयाग का मूल रूप है; अग्नि और सोम, आण्विक स्तर पर धन और ऋण का, जैविक स्तर पर स्त्री और पुरुष का, पर्यावरण स्तर पर उष्ण और शीत का उपलक्षण है। सोमयाग का सन्देश यह है कि दो परस्पर विरोधी तत्त्वों के संगतिकरण से एक नवीन (अपूर्व) की सृष्टि होती है। यज्ञशाला में कृत वैध यज्ञ प्रकृति में चलने वाले सनातन या का अनुकरण मात्र है। प्रकृति में नवीन सृष्टि दो पदार्थों के परस्पर रासायनिक सम्बन्ध पर निर्भर है। रासायनिक सम्बन्ध होने पर एक पदार्थ दूसरे को आत्मसात् कर लेता है। एक पदार्थ यज्ञ के सन्दर्भ में अन्नाद है तो दूसरा अन्न। अन्नाद अग्नि है तो अन्न सोम।[7]

सोम एवं गोघृत का जो अंश पदार्थ में आहुत होता है, वह सभी-सभी पदार्थों का अंग नहीं बन जाता। पदार्थ का जो अंश बनता है, वह ब्रह्मौदन कहा गया है तथा शेष रहा अंश प्रवर्ग्य या यज्ञशेष है। प्रवर्ग्य ग्रहणीय है, ब्रह्मौदन नहीं। इसी प्रकार गो का प्रवर्ग्य उसका दूध, घी और दही आदि है। गोबर मानव का नहीं, वनस्पति का आहार है। वनस्पति भी अपने शरीरनिर्माण के बाद कुछ फल-फूल, पत्ते आदि प्रदान कर देती है। फल मानवीय आहार बनते हैं तो पत्ते पशु-आहार बनते हैं। इस प्रकार एक के प्रवर्ग्य से दूसरे का निर्माण होता है। मानव नि:सृत कार्बन-डाइ ऑक्साइड पौधों का तथा उनके द्वारा नि:सृत ऑक्सीजन मानवीय आहार बनता है। पर्यावरण प्रदूषण, प्राकृतिक

---

4. जैमिनी उपनिषद् ब्राह्मण-3/3/4/8
5. ताओ-आन फिजिक्स, टर्निंग पोइंट, इण्डियन माइथोलौजी एण्ड मॉडर्न फिजिक्स पृ. क्रमश: 102, 86, 17
6. ऐतरेय आरण्यक 2/3/3/15 वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरि क्रमो यद्यज्ञ:।
7. जाबलोपनिषद्-में जगत् को अग्निषोमात्मक कहा गया है।

असंतुलन का व्यतिक्रम तब उत्पन्न होता है, जब लालच में मानव प्रवर्ग्य के अलावा ब्रह्मौदन भी छीनने का प्रयास करता है। यह सब वैदिक यज्ञीय जीवनशैली के उल्लंघन का ही परिणाम है।

आखिर यह गोघृत के वैज्ञानिक समीकरण क्या हैं? काठक संहिता के अनुसार यज्ञ गौ और अश्वों से बढ़ता है।[8] ब्राह्मण ग्रन्थों में गोघृत में पशु रूप कहा।[9] गोघृत से कृत यज्ञ अश्वमेध का रूप है।[10] श्रौतयाग भागों में दक्षिणा में 'गायें' दिए जाने वाली वस्तुओं में शामिल है।

वेदों में निहित यज्ञसंस्था व्यक्ति एवं लोक को आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनों प्रकार से समृद्ध करने की आश्वस्ति प्रदान करती है।[11] यज्ञमय जीवन व्यक्ति और समाज को ही नहीं सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को दिव्य एवं ऊर्जस्वित बनाता है। वैदिक यज्ञों में स्थूल रूप से अग्नि, वेदमन्त्र, यज्ञ हवि ऋत्विज् ही प्रमुख हैं। यज्ञ में गोघृत अग्नि को और अधिक आयतन प्रदान कर ऊर्जा का अजस्र प्रवाह सृष्टि को प्रदान करता है, जो प्राणिमात्र, जड़, जंगम, सृष्टि में वायुमण्डल, पर्यावरण एवं अन्तरिक्ष तथा सूर्य तक को प्रभावित करती देखी जा सकती है।

यज्ञ और गोघृत विषय पर विचार करने से पूर्व यज्ञ, गो और गोघृत पदों की व्याख्या करना आवश्यक है।

गाय, गंगा, गीता और गायत्री- ये चार हिन्दू धर्म के प्रशस्त स्तम्भ हैं। इन में गौ प्रथम स्तम्भ है, जिसका माहात्म्य वेद में अनेकशः वर्णित है। गोवंश आज व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से भौतिक तुला पर तोला जा रहा है, परन्तु वर्तमान विज्ञान गोवंश की उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुणवत्ता को जानने में सक्षम नहीं है, जिसे भारतीय शास्त्रकारों ने दिव्य दृष्टि से प्रत्यक्ष कर लिया था। गोधन का यागीय महत्त्व भाव जगत् से सम्बन्ध रखता है। अतः वह या तो ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा अनुभवगम्य है या शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा ज्ञेय है, क्योंकि गायों से प्रेय एवं श्रेय की प्राप्ति होती है।

भारतीय संस्कृति कर्म प्रधान है और यज्ञ भी कर्म का एक रूप है। जिस प्रकार यज्ञचक्र गौ के विना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार कर्मचक्र को भी सुन्दर, सुखद और अनुकूल बनाने हेतु गौ आवश्यक है। यज्ञ में पञ्चगव्य का प्रयोग होता है। मानवजीवन में भी पञ्चगव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जगत् सृष्टि यज्ञ से ही हुई है, अतः यज्ञ मानवीय अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधन है। गोघृत सर्वश्रेष्ठ रसायन कहा गया है। **(आयुर्वै घृतम्)** घृतरहित अन्न अपवित्र बताया है। यज्ञ में घृत से चूती हुई आहुति का उल्लेख भागवतकार[12] ने भी किया है। गौ यज्ञ का अंग ही नहीं साक्षत् यज्ञ

---

8. काठक सं. 35/3
9. शतपथ-6/2/1/2, अन्यत्र यागीय पशु के उल्लेख हेतु द्रष्टव्य ब्राह्मणोद्धारकोष-पृष्ठ 476-489, शतपथ- 11/6/3/9, यजुः 23/17, अथर्व. 18/4/32, महाभारत अनु. पर्व-115/49
10. ब्राह्मणोद्धारकोष-पृष्ठ- 725-26
11. यजु. 18/6, ऋतं च मेऽमृतं च मे.................. यज्ञेन कल्पन्ताम्।
12. भागवत पुराण 3/16/8

रूप है।[13] यज्ञ, मन्त्र (ब्राह्मण) और हवि (गौ) की समष्टि है। यज्ञ करने से पञ्च महाभूतों की शुद्धि होती है। पञ्च महाभूतों से ही शरीर बना है। शारीरिक सुरक्षा हेतु इन भूतों का शुद्ध रूप में उपयोग आवश्यक है। गोघृत से संपादित यज्ञ से विस्तृत परमाणु मेघ सृष्टि कर वर्षा करते हैं। गोघृत की आहुति से प्राप्त पौष्टिक शक्ति तन-मन-धन को समृद्ध करती है। गोघृत की आहुति वैदिक भाषा में इडा कही गयी है। वाजसनेयी संहिता में गौ को चित्त, मन, धी तथा दक्षिण नाम से अभिहित किया गया है।[14] गायत्री और गंगा की भाँति ही गौ का सम्बन्ध सूर्य और चन्द्र से है। यज्ञों में जिस सोम की चर्चा की गयी है वह भी कपिला से प्राप्त होता है- **'यज्ञैराप्यायते सोमः स च गोषु प्रतिष्ठितः।'**

गोघृत

गोघृत का आरोग्यप्रद माहात्म्य सविस्तार विवेचित है। यथा-

गव्यं घृतं विशेषेण चक्षुष्यं वृष्यमग्निकृत्।
स्वादु पाककरं शीतं वातपित्तकफापहम्॥
मेधालावण्यकान्त्योजस्तेजो वृद्धिकरं परम्।
अलक्ष्मीपापरक्षोघ्न वयसः स्थापकं मुदा॥
बल्यं पवित्रमायुष्यं सुमंगल्यं रसायनम्।
सुगन्धं रोचनं चारु सर्वाज्येषु गुणाधिकम्॥

इस प्रकार सभी आज्यों में श्रेष्ठ गोघृत धर्म कर्म के साथ इस प्रकार जुड़ा है कि देवपूजन, यज्ञ एवं पितृ कार्यों में उसकी अपरिहार्य आवश्यकता है। गोघृत की पीताभ दीप्ति के पीछे एक अद्भुत सत्य निहित है कि गाय की रीढ़ की हड्डी के अन्दर सूर्यकेतु नाम की नाड़ी होती है। सूर्य किरणें जब गाय का स्पर्श करती हैं तो सूर्यकेतु नाड़ी किरणों से स्वर्ण का संग्रह कर अपने दूध एवं घृत को स्वर्णमयी बना लेती हैं। गोघृत में विषनाशक तत्त्व होते हैं। शुद्ध औषधियों के साथ गोघृत से सम्पन्न यज्ञ का एक परमाणु 2000 विषैले परमाणुओं को नष्ट करने की क्षमता रखता है। उसका स्वर्णतत्त्व पार्श्ववर्ती वातावरण को पर्याप्त समय तक शुद्ध बनाए रखता है। यही कारण प्रतीत होता है कि ऋग्वेद गाय को रुद्रों की माता वसुओं की पुत्री, अदिति पुत्रों की बड़ी बहन, अमृत नाभि बताते हुए [15] गोवध करने वाले को सीसे की गोलियों से बींधने का आदेश देता है। अमृतवर्ष सहस्रधार वाला कभी न सूखने वाला झरना गौ प्रत्येक मानव को सम्यक् शारीरिक सुगढ़ता प्रदान करता है।[16] अथर्ववेदीय गोसूक्त गाय का दिव्य वर्णन करता है।[17] देव, पितर, असुर, ऋषि सभी गौ के अंग

---

13. महाभारत अनु0 83/17-21 यज्ञांगं कथिता गावो यज्ञ एव स वासव। एताभिश्च विना यज्ञो न वर्तते कथंचन॥
14. शतपथ ब्राह्मण 3/3/3/2
15. ऋ.8/101/15
16. अथर्व0 1/16/4, ऋग्वेद-8/101/15, महाभारत शा0 262/473.
17. अथर्व0 गोसूक्त-4/21/5, गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः। इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥ सामवेद-1834-36, मनुष्य ही नहीं देवता भी गोघृत आहुति से तृप्त रहते हैं।

प्रत्यंगों पर निवास करते हैं। अत: गौ विश्वरूप है।[18]

विज्ञान के दो प्रशस्त मार्ग हैं-एक निर्माण, दूसरा विध्वंस। भारत में सदा निर्माण पक्ष को महत्त्व दिया गया है। गोदुग्ध और घृत उपयोग पर भारतीय मनीषा का सर्वाधिक बल इसलिए है कि उसमें शताधिक उपयोगी पदार्थ हैं। यह आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है यथा-गोदुग्ध में 89 प्रतिशत जल तथा 13 प्रतिशत में 4.9 प्रतिशत शर्करा, 3.7 प्रतिशत घृत जिसमें ओलिक, पामिटिक आदि 11 ऐसिड हैं। 3.6 प्रतिशत प्रोटीन जिसमें ल्यूसन, ग्लूकेटिव, टिरासिन अमोनियाँ, फास्फोरस आदि 21 तत्त्व हैं तथा 0.75 प्रतिशत क्षारों में पोटेशियम सोडियम आदि 17 क्षार हैं।

पाचक रसों में डाइस्टेज लैक्टेज, 9 ऐंजाइम, V.A .A लोक्टोक्रोम, क्रियेटिन, यूरिया, धोलिन फास्फेट आदि पदार्थ तथा विटामिन B.D., तथा E भरपूर मात्रा में हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना यथेष्ट होगा कि गोघृत से यज्ञ करने पर वायुमण्डल में एटोमिक रेडियेशन का प्रभाव क्षीण होते देखा गया है।

धेनुः सदनं रयीणाम्[19] कि गौ संपत्ति का सदन है। निघण्टुकार ने अपना ग्रन्थारम्भ ही 'गौ' शब्द से किया है। गोघृत आध्यात्मिक उषा की प्रसारिका शक्ति है।[20] गोघृत वागिन्द्रिय का पोषक है अत: गौ की वाक् रूपता सिद्ध होती है। निरुक्त में गौ पद 24 अर्थों में प्रयुक्त कहा है।[21] गोघृत एवं गोदुग्ध के प्रयोग से समाधि अनायास ही लग जाती है। यज्ञ में गोघृत की आहुति कामना पूर्ति का साधन है। भागवतपुराणानुसार उर्वर्शी जब पुरुरवा के पास गई तो अमृत की नहीं, गोघृतपान की इच्छा व्यक्त की थी।[22]

गोघृत का चिकित्सापरक चमत्कार

आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार की औषधियों से युक्त गोघृत रोगों का नाश करता है। गठिया दर्द में (श्यामा गाय को एक माह हरा चारा 250 ग्रा0 गेहूँ, गुड़, गिरी, मूंगफली, आमाहल्दी, चना, सफेद दूब, बेलपत्र, महुआ, सैंधव, 54 ग्राम अजवायन, मैथी प्रतिदिन खिलायें। स्वच्छ गाय से प्राप्त दूध को देशी प्रकार से गरम कर घृत निकाल एक सप्ताह मालिश की जाए तो गठिया जड़ से समाप्त हो जायेगा)।

गोघृत के विषय में रूसी वैज्ञानिक शिरोविच का कहना है कि गोघृत एवं दूध में रेडियो विकिरण से सुरक्षा की सर्वाधिक क्षमता है जो घर गोबर के लिपे हैं, वहाँ रेडियो विकिरण का प्रभाव नहीं होता है। गोघृत की आहुति के धूम्र से वायुमण्डलीय रेडियेशन पर्याप्त कम हो जाता है। गोघृत से सम्पन्न यज्ञ कार्बन डाईऑक्साइड के बढ़ते खतरे से समाज को बचा सकता है। डॉ0 अग्रवाल के

18. अथर्व0 9.4.25.
19. अथर्व011/1/34
20. ऋ. 2.24.3.
21. निरु03.9.
22. भाग0पु0 9.14.22.

अनुसार गोघृत में निहित पीताभ कैरोटीन द्रव्य मुँह, फेफड़ों और मूत्राशय की झिल्ली के कैंसर से बचाता है, यह कैरोटीन शरीर में विटामिन ए तैयार करता है जो त्वचा एवं आँखों के लिए लाभप्रद है। गोघृत का अग्निहोम के रूप में प्रयोग मानव की कान्ति स्मृति, बल, मेधा को बढ़ाता है तथा त्रिदोषविकार नाशक है।[23] यज्ञाग्नि में गोघृत भेदक शक्ति को बढ़ा देता है। गोघृत यज्ञ में प्रयुक्त हो लक्षाधिक लोगों का उपकारक बन जाता है। एक आहुति में घृत की मात्रा 6 माशे कम से कम कही गई है।[24]

यज्ञात् भवति पर्जन्यः

आधुनिकतम भौतिकी के अनेक ध्रुव सूत्र वैदिक सूक्तों के आधार पर निर्णीत किए गए हैं। अग्नि शिखाओं से जलकर द्रव्य गैस बनकर ऊपर उठने लगे तो उसके सूक्ष्म कण (ions) तडितशक्ति युक्त (Charged) हो जाते हैं। आकाश में धूल के कण मिलें तों ये ions (आयोन्स) उन पर सवार हो जाते हैं। जैसे यज्ञ में गोघृत की आहुति देने पर हवन किया गया द्रव्य अवश्य ही धुआँ बनकर ऊपर उठता है। हुत द्रव्य के कुछ अंश गैस बनकर अग्निशिखा से निकलते हैं। तीव्र ताप और रासायनिक संयोग दोनों यज्ञ स्थल पर होते हैं। फलतः हुत द्रव्य का गैस तडितशक्ति विशिष्ट ionised[25] हो उठेगा। अग्निशिखा को छोड़कर बहुत दूर जाने पर भी ठण्डा हो जाने पर भी गैस अणु अपने चार्ज को सहज ही त्याग नहीं देते। वे ion धूम कणों या धूलिकणों के साथ जुटकर ऊपर जा सकते हैं।

विज्ञान मानता है कि वे चार्जड पार्टिकल्स ऊपर उठकर वायु के जलीय वाष्प को जमा कर मेघ बना देने में समर्थ होते हैं। किन कारणों से जलीय वाष्प घनीभूत होता है। कारणों की खोज विज्ञान में जारी है। उदाहरणतः एक वायलर से भाप बाहर आती ही है। अल्ट्रा वायलेट लाइट तथा एक्स-रे आदि के संस्पर्श से उनको घनीभूत होते वैज्ञानिकों ने देखा है। धूलिकण भी वाष्प के घनीभूत होने में सहायक हैं, ऐसा विज्ञान मानता है। धूलिकण ही नहीं ion भी जलीय वाष्प का घनीभाव केन्द्र बनता है अर्थात् तडितशक्ति विशिष्ट कणों को केन्द्र बनाकर वाष्प जम कर मेघ बनता है। मेघ निर्माण हेतु दो व्यवस्थाऐं करणीय हैं।

गैस के आयतन को कुछ बड़ा करके उसे ठण्डा होने दिया जाता है और एक भाव केन्द्र (धूलिकण या ion) जुटाया जाता है। इस प्रकार के प्रयास से धूलकण युक्त वायु विस्तृत नभ में व्याप्त हो कर घना कोहरा उत्पन्न कर देता है।[26]

धूलिकणों के कुहासों में घुलकर नीचे गिर जाने पर भी गैस का आयतन और बढ़ा दिया

---

23. भाव प्रकाश-पूर्व0 18/4-6
24. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास
25. किसी द्रव्य का दाना (पार्टिकल) यदि थोड़ी सी तड़ित शक्ति (धनात्मक या ऋणात्मक) वहन करते हुए घूमे तो वह चार्जड पार्टिकल ion होता है। किसी भी तरल या वायवीय पदार्थ के टुकड़े यदि इसी प्रकार इलैक्ट्रिक चार्ज के वाहन बन जायें तो वह तरल या वायवीय पदार्थ ionised कहा जाता है।

26 विलसन।

जाए तो मेघों की उत्पत्ति की जा सकती है। विलसन ने तो स्वीकार किया है कि यदि गैस कुछ एक्सपैंड हो सके तो उसके भीतर ion बिखरे रहने पर मेघ बनाने में पर्याप्त सुविधा होती है। रंजन[27] किरणों के प्रयोग से गैस कुछ अधिक फैली अवस्था में रहे तो उक्त किरणें उसमें शीघ्र ही अस्वच्छ मेघ की रचना कर देती है। गैस फैली हो, रंजन किरणें न छोड़ी जाने पर दो चार जलबिन्दु भी रंजन किरणें डालने पर अनन्त जलकणिकाओं में बदल जाती है।

गोघृत से सम्पन्न यज्ञ की वैज्ञानिकता को इस सन्दर्भ में देखें यज्ञाग्नि दी गई आहुति वायु होकर किस प्रकार वैद्युत् शक्ति से सम्पन्न होती है।[28] यज्ञ में प्रयुक्त गोघृत और मन्त्र पाठ का भी एक अलग विज्ञान है। अग्नि का विद्युत रूप (ions) जलीय गर्भ की रचना करता है; स्पष्ट है।

यस्माद् ऋते न सिध्यति....................[29] जिसके विना ज्ञान सम्पन्नों का यज्ञ भी सम्पन्न नहीं होता, वही अग्नि **'धीनां योगमिन्वति'** हमारे मानसिक वृत्ति समूह के योग को व्याप्त किए हुए है अर्थात् अग्नि चैतन्य आत्मा है।

निष्कर्षः-गोघृत द्वारा कृत यज्ञ से संपूर्ण ब्रह्माण्ड उपकृत होता है।

डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्र
नारायणीयम्
1/612 सी, सुरेन्द्र नगर, अलीगढ़ उ0प्र0

---

27. रंजन किरण अर्थात् (Rontgen Rays)
28. प्रो0 प्रमथ नारथ मुखोपाध्याय-वेद विज्ञान पृष्ट 221
29. ऋ. 1/18/1

अग्निहोत्र का वैज्ञानिक आधार

प्रो. व्रजबिहारी चौबे

अग्निहोत्र एक दैनिक श्रौतकृत्य है, जो यजमान के द्वारा नित्य सायं और प्रातःकाल सम्पन्न किया जाता है। दैनिक अग्निहोत्र का विधान उस यजमान के लिये है, जो आहिताग्नि है अर्थात् जिसने विधिवत् गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन, आहवनीय, सभ्य एवं आवसथ्य अग्नि का आधान विधिवत् कर लिया है। वैधयाग में यह अग्निहोत्र इस दृष्टि से सम्पादित किया जाता है कि यजमान की पाँचों अग्नियाँ नित्य प्रज्वलित रहें। सायं अग्निहोत्र से रात्रिकालपर्यन्त अग्नि प्रज्वलित रहती है। यदि यजमान के पास पाँचों अग्नियों को प्रज्वलित रखने लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं तो वह कम से कम गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि को सायं प्रातः अग्निहोत्र द्वारा प्रज्वलित अथवा केवल गार्हपत्य को प्रज्वलित रखे और आहवनीय में अग्निहोत्र के समय गार्हपत्य से या दक्षिणाग्नि से अग्नि ग्रहण करे।

अग्निहोत्र अग्न्याधान के बाद सायंकाल से शुरू होता है और प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल को सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार क्रम में सायं अग्निहोत्र प्रथम और प्रातः अग्निहोत्र द्वितीय है। अग्निहोत्र सायं और प्रातः किस समय करना चाहिए इस विषय में ब्रह्मवादियों में मतभेद है। ब्राह्मण तथा सूत्रग्रन्थों में इस विषय में कई विचार दिये गए हैं। किन्तु सर्वाधिक प्रचलित मत यही है कि सायं अग्निहोत्र सूर्यास्त से ठीक पूर्व तथा प्रातः अग्निहोत्र सूर्योदय से ठीक पूर्व किया जाए। काम्येष्टियों में इनके सम्पादन काल में कुछ विविधता दिखाई पड़ती है। अग्निहोत्र में द्रव्य के रूप में गोदुग्ध का योग किया जाता है। इसीलिये जिस गाय के दूध से नित्य अग्निहोत्र किया जाता है, उस गाय की अग्निहोत्री संज्ञा है। विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिये किए जाने वाले अग्निहोत्र में यवागु, चावल, दही, आज्य का भी प्रयोग किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि दुग्ध या घृत को गर्म करके ही आहुति प्रदान की जाती है। यदि अन्न की आहुति होगी तो उसे गार्हपत्य पर पकाकर किया जाता है।

सायं अग्निहोत्र में **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'** इस मन्त्र से आहुति प्रादान की जाती है। अथवा **'सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा'** इस मन्त्र से आहुति दी जाती है। ये दोनों वैकल्पिक मन्त्र हैं। यह विकल्प शाखाभेद से है। प्रातरग्निहोत्र में **'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा'** इस मन्त्र से अथवा **'सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेत्तु स्वाहा'** इस मन्त्र से आहुति दी जाती है। यह विकल्प शाखाभेद से है। यदि यजमान ब्रह्मवर्चस् की कामना करता है, तब वह सायम् अग्निहोत्र में दूध की आहुति **'अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा'** तथा प्रातरग्निहोत्र में **'सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा'** इस मन्त्र से आहुति प्रदान करे। इस प्रकार सायं तथा प्रातः अग्निहोत्र में एक आहुति डालने के बाद इन्हीं मन्त्रों से दूसरी आहुति डालता है जिनकी उत्तराहुतिसंज्ञा है। किन्तु इस बार जितना दूध का प्रयोग प्रथम आहुति में किया था, उससे अधिक दूसरी आहुति में करता है। यह दूसरी आहुति प्रथम दी गई आहुति के उत्तर में उपांशुरूप से दी जाती है। यह बात उल्लेखनीय है कि **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'** **'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा'** मन्त्रों से जो प्रातः अग्निहोत्र में मुख्यरूप से जो आहुति दी जाती है, उसको

'अन्तर्ज्योतिरग्निहोत्र' कहा जाता है। तथा **'ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा'** मन्त्र से जो प्रातः अग्निहोत्र किया जाता है, उसे **'बहिर्ज्योतिरग्निहोत्र'** कहा जाता है।

इस अग्निहोत्र का वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक सवरूप क्या है और ये **'अन्तर्ज्योतिरग्निहोत्र'** तथा **'बर्हिर्ज्योतिरग्निहोत्र'** क्या है, इसका विवेचन विस्तृत रूप से प्रस्तुत शोधपत्र में किया जाता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में अग्निहोत्र के महत्त्व के विषय में चर्चा की गयी है।[1] जिस समय यजमान अग्निहोत्र करता है उस समय सबसे पहले अध्वर्यु से 'उद्धर' अर्थात् अग्नि को गार्हपत्य कुण्ड से जलते हुये आग को आह्वनीय में लावे। ऐसा प्रैष अन्न है। यह बात उल्लेखनीय है। यजमान अध्वर्यु को यह प्रैष सायं तथा प्रातः दोनों समय करता है। इस प्रैष करने का दृष्ट उद्देश्य तो आहवनीय में अग्नि को स्थापित करना है, ताकि उसमें अग्निहोत्र कर्म किया जा सके। इसका अदृष्ट प्रयोजन बताते हुये ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि दिनभर में यजमान ने जो साधु कर्म किया उसको सर्वप्रथम भयरहित आहवनीय स्थान में रखने वाला हो जाता है-**यदेवाह्ना साधु करोति तदेव तत्प्राङुद्धृत्य तदभये निधत्ते।**[2] यही बात प्रातः अग्निहोत्र के समय कहता है उसका अदृष्ट प्रयोजन है, जैसा सायं अग्निहोत्र का है वैसा ही है अर्थात् रात्रि में जो उसने शुभ कर्म किया उसको सर्वप्रथम भयरहित आहवनीय में स्थापित करता है। **उद्धराऽऽहवनीयमिति प्रातराह, यदेव रात्र्या साधु करोति तदेव तत्प्राङुद्धृत्य तदभये निधत्ते।**[3] ऐतरेय ब्राह्मण कहता है-कि यज्ञ आहवनीय है और स्वर्गलोक भी आहवनीय है। गार्हपत्य से अग्नि को आहवनीय में स्थापित करना मानो स्वर्ग रूप आहवनीय में स्वर्ग लोक को स्थापित करना है।

गार्हपत्य से प्रज्वलित अग्नि को आहवनीय में ले जाना यजमान के आत्मा को पार्थिव धरातल से आहवनीय रूप दिव्य धरातल पर ले जाना है। प्रतिदिन को यही अग्निहोत्र रूप दैनिक अग्नि को यजमान अपने अन्दर जागृत कर दिव्य अग्नि के साथ संयुक्त करने का अभ्यास करता है। ब्राह्मण की दैनिक पार्थिव अग्नि का अपने में धारण करना तथा उस की शक्ति पाकर उसे दिव्य तक पहुँचाना, यही अग्निहोत्र का उद्देश्य है। यह अग्निहोत्र यजमान के दिव्य रूप प्राप्ति का साधन है।

ऐतरेय ब्राह्मण अग्निहोत्र के षोडशकला अभिधान का प्रयोग करता है। षोडशकला परमेश्वर है। अग्निहोत्र को षोडशकल संज्ञा क्यों है। इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि अग्निहोत्र में जिस द्रव्य की आहुति दी जाती है, उसका सम्बन्ध 16 देवताओं के साथ होने से उसका स्वरूप वैश्वदेव है। अग्निहोत्र का द्रव्य दुग्ध है। जब दुग्ध गाय के शरीर में रहता है, तब उसका देवता रुद्र होने से वह **रौद्र** कहलाता है। जब दुहने समय बछड़ा गाय के समीप रम्भाता है, तब उसका देवता वायु होने से वह **वायव्य** कहलाता है। यजुर्वेद के मन्त्र में इसीलिए बछड़े को **'वायवस्थ'** कहकर गाय से अलग किया जाता है। जब दूध दुहा जाता है तब उसका देवता अश्विनी कुमार होने से वह

1 ऐ0ब्रा0 35-1-9
2 ऐ0ब्रा025-1
3 ऐ0ब्रा025-1

आश्विन कहलाता है।

देवता सोम होने के कारण वह **सौम्य** कहलाता है। जब दूध को अग्नि पर गर्म करने के लिये रखा जाता है, तब उसका देवता वरुण होने के कारण वह वरुण कहलाता है। जब अग्नि पर रखने के बाद उसमें उबाल आता है तब उसकी पूषा देवता होने के कारण वह **पौष्ण** कहलाता है। उबाल आने के बाद जब दूध पात्र से गिरने लग जाता है तब उसका देवता मरुत् होने के कारण वह **मारुत** कहलाता है जब दूध बूंदयुक्त हो जाता है, तब वह विश्वेदेव देवता के होने से वह **वैश्वदेव** कहलाता है। जब ठोस रूप में बन जाता है, तब उसका देवता मित्र होने के कारण वह **मैत्र** कहलाता है। जब उसे अग्नि पर से हटाकर बाहर स्थापित किया जाता है, तब उसका देवता द्यावापृथिवी होने के कारण वह **द्यावापृथिवीय** कहलाता है। जब आहुति के लिये लाये जाने के लिये तैयार होता है, तब उसका देवता सविता होने के कारण वह **सावित्र** कहलाता है। जब ले जाया जाता है, तब उसका देवता विष्णु होने के कारण वह **वैष्णव** कहलाता है। जब वह अग्नि के पास पहुँच जाता है, तब उसका देवता बृहस्पति होने के कारण वह **बार्हस्पत्य** कहलाता है। जब उसकी पूर्णाहुति दी जाती है, तब उसका देवता अग्नि होने के कारण वह **आग्नेय** कहलाता है। उत्तर आहुति जब दी जाती है, तब उसका देवता प्रजापति होने से वह **प्राजापत्य** कहलाता है और जब इन्द्र को दी जाती है, तब उसका देवता इन्द्र होने के कारण वह **ऐन्द्र** कहलाता है।[4]

ऐतरेय ब्राह्मण इस दूध रूप अग्निहोत्र को जो वैश्वदेव होने के कारण षोडशकल है, पशुओं में प्रतिष्ठित बताता है-**एतद्वा अग्निहोत्रं वैश्वदेवं षोडशकलं पशुषु प्रतिष्ठितम्।** जो व्यक्ति इस रहस्य को जानता है, वह पशुओं में षोडशकल अग्निहोत्र से समृद्ध होता है।[5]

अग्निहोत्र में पूर्वा-आहुति और उत्तरा-आहुति ये दो आहुतियाँ होती हैं। यह उत्तरा आहुति आवहनीय में पूर्व से पश्चिम की ओर डाली जाती है। उत्तरा आहुति के विषय में वाधूल अन्वाख्यान एक महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है। आहवनीय में जो उत्तरा आहुति डाली जाती है, वह उत्तरा आहुति क्या है इस विषय में चर्चा करते हुये उसे वाक् रूप कहा गया है। वह वाक् गौ रूप में भी जानी जाती है। वाक् का यह गौ नाम श्रेष्ठ नाम है। उत्तरा आहुति गौ रूप धारण कर आहवनीय अग्नि को पूर्व से पश्चिम की ओर चाटती हुई स्थित हुई। आहवनीय ऋषभ रूप धारण कर उसके पास गया और उसमें चार यज्ञों-अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र तथा अप्तोर्याम-को गर्भरूप में धारण कराया। ये ही चार सोमयाग गाय के चार थन हैं।[6] अग्निहोत्र में जो अग्निहोत्री गाय से दूध दूहा जाता है, वह

---

4 ऐ0ब्रा0 25.1 रौद्रं गवि सद्, वायव्यमुपावसृष्टम्, आश्विनं दुह्यमानम्, सौम्यं दुग्धं, वारुणमधिश्रितं, पौष्णं समुदयन्तं, मारुतं विष्यन्दमानं, वैश्वदेवं बिन्दुमत्, मैत्रं शिरोगृहीतं, द्यावापृथिवीयमुद्वासितं, सावित्रं प्रक्रान्तं, वैष्णवं ह्रियमाणं, बार्हस्पत्यमुपसन्नम्, अग्नेः पूर्वाहुतिः, प्रजापतेरुत्तरा, ऐन्द्रं हुतम्।

5 ऐ0ब्रा0 25.1 वैश्वदेवेनाग्निहोत्रेण षोडशकलेन पशुषु प्रतिष्ठितेन राध्नोति य एवं वेद।

6 वाधू0 अन्वा 2.1.7 अथ यामुत्तरामाहुतिमजुहोत्तामब्रवीत् क्वैतामहौषीर्वागित्यब्रवीत्। सा गौरभवत्, तद्वा एतत् पराक्ं गोर्नाम यद् गौरिति: साऽऽहुतिर्गौः संभूयं पुरस्तात् प्रतीच्याहवनीयमुल्लिहत्यतिष्ठत्। तामाहवनीय ऋषभो रूपं कृत्वोपपरैत्; तस्यामेताँश्चतुरो यज्ञक्रतून् रेतोऽसिञ्चदग्निष्टोममुक्थ्यमतिरात्रमप्तोर्यामम्, न उ ह वा एते गोरेव चत्वारः स्तनाः।

उसके चारों थनों से दूहना चाहिये। ऐसा करने से यजमान प्रतिदिन सायं-प्रातः अग्निहोत्र करता हुआ चार यजक्रतुओं- अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र तथा अप्तोर्याम-के सम्पादन का फल प्राप्त करता है।[7]

अग्निहोत्र की परम्परा प्रजापति से शुरू हुई इसका उल्लेख वाधूल अन्याख्यान करता है। वहाँ कहा है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम अग्निहोत्र किया। उससे वह समृद्ध हुआ, उससे उसने सभी भूतों को तृप्त किया और सम्पूर्ण व्याप्तियों को प्राप्त किया और स्वर्गलोक को जीता, जब उस प्रजापति ने स्वर्गलोक जाते समय अपने पुत्रों देवों को अग्निहोत्र विद्या का ज्ञान कराया। उससे देवताओं ने अग्निहोत्र किया। उससे सभी प्राणियों को तृप्त किया, सम्पूर्ण व्याप्तियों को व्याप्त किया तथा स्वर्गलोक को जीता। तब देवताओं ने स्वर्गलोग को जाते समय अपने पुत्रों, ऋषियों को अग्निहोत्र विद्या का ज्ञान कराया। ऋषियों ने अग्निहोत्र किया व सभी भूतों को तृप्त किया और सभी व्याप्तियों को व्याप्त किया तथा स्वर्ग लोक को गये। स्वर्लोक जाते समय ऋषियों ने अपने पुत्रों और ब्राह्मणों को अग्निहोत्र विद्या प्रदान की। उसी अग्निहोत्र को आज ब्राह्मण करते हैं। जो इस रहस्य को जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, वह सभी ऋद्धियों को प्राप्त होता है, सभी प्राणियों को तृप्त करता है, सम्पूर्ण व्याप्तियों को व्याप्त करता है तथा स्वर्लोक को जीतता है।[8]

यह बात उल्लेखनीय है कि प्रजापति ने जो अग्निहोत्र किया उस अग्निहोत्र का स्वरूप सार्ष्टिक है। चार स्रुवा से जो हविर्ग्रहण किया, उससे सम्पूर्ण संवत्सर उत्पन्न हुये। प्रथम स्रुव के उन्नयन से उसने प्रथम तीन मासों को उत्पन्न किया। दूसरी बार जब हविर्द्रव्य को ग्रहण किया, उससे आगे के तीन महीनों को उत्पन्न किया और चौथे अपने शरीर से वायु को उत्पन्न किया। जब तीसरी बार हविर्द्रव्य ग्रहण किया तब उसने संवत्सर के अगले तीन मासों को उत्पन्न किया और अपने शरीर से आदित्य को उत्पन्न किया। जब चौथी बार हविर्द्रव्य को ग्रहण किया उससे संवत्सर के शेष तीन महीनों को तथा अपने शरीर से देवताओं में चन्द्रमा को उत्पन्न किया। इन्ही संभारों से संभृत होकर अपने आत्मरूप से संवत्सर के द्वारा, अग्निहोत्र के द्वारा तथा व्याहृतियों के द्वारा शीघ्र स्वर्गलोक को प्राप्त किया। जो व्यक्ति इस रहस्य को जानता हुआ अग्निहोत्र करता है वह आत्मारूप, संवत्सर रूप अग्निहोत्र से तथा व्याहृतियों से स्वर्गलोक को जीतता है।[9]

वाधूल अन्वाख्यानम् दो प्रकार के अग्निहोत्र का उल्लेख करता है-एक **अन्तर्ज्योतिरग्निहोत्र** तथा दूसरा **बहिर्ज्योतिरग्निहोत्र**। जब सायंकाल **अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा** से आहुति दी जाती है, तब यह **अन्तर्ज्योतिरग्निहोत्र** कहलाता है तथा **'ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः'** इस मन्त्र से आहुति दी जाती है, तब वह **बहिर्ज्योतिरग्निहोत्र** कहलाता है। इसी अन्तः ज्योतिरग्निहोत्र के कारण सृष्टि में रात्रि को सभी प्राणी अपने दोनों पक्षों को समेट कर सोते हैं, क्योंकि दोनों ज्योति ही दो पक्ष हैं। इसी

---

7 वाधू अन्वा 2.2.1 त उ ह वा एते गोरेव चत्वारः स्तनाः सायं प्रातर्ह वा एतैश्चतुर्भियज्ञक्रतुभिरग्निहोत्रधिक्रमते; तस्मान्नु ह सर्वेषामेव स्तनानामग्निहोत्रं दुह्यात्। सायं प्रातर्हैवास्यैतैश्चतुर्भिर्यज्ञक्रतुभिरिष्टं भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति, यस्य वैवाँविद्वानाग्निहोत्रं जुहोति।

8 वाधू अन्वा 2.2.3-5.

9 वाधु0 अन्न0 2.3.1-7

प्रकार बहिर्ज्योतिरग्निहोत्र के कारण सभी प्राणी दिन में दोनों पक्षों को फैलाकर चलते हैं। **(अन्यज्ज्योतिर्ह वा अन्यदग्निहोत्रं बहिर्ज्योतिरन्यत्। तन्नु ह 'सायं जुहुयाद् अग्निर्ज्योति ज्योतिरग्निः स्वाहा' इति तदेदन्तर्ज्योतिरग्निहोत्रम्, तस्मान्नु ह सर्वाणि भूतानि समस्य पक्षौ रात्रिं नयन्ति, पक्षौ हि ज्योतिः अथ ह प्रातर्जुहुयाद् 'ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा' इति तदेतद् बहिरग्निहोत्रम् तस्मान्नु ह सर्वाणि भूतानि उदीरणान्येव प्रसार्य पक्षावति चरन्ति, पक्षौ हि ज्योतिः।**[10]

प्रो. व्रजबिहारी चौबे
चतुर्वेद निकेतन जोधामल रोड,
होशियारपुर (पंजाब)

---

10 अत्र॥ 6.1.2

यज्ञ और पर्यावरण

डॉ0 आशारानी राय

वर्तमान वैश्विक समाज पर्यावरण के असन्तुलित होने से अनेक समस्याओं का सामना कर रहा है। समस्या के व्यापक होने के लिए मानव के पर्यावरण के प्रति अमैत्रिक रूप तथा वस्तु और उपभोक्ता का सम्बन्ध कारण के रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, लेकिन मूल समस्या आध्यात्मिक संस्कृति और उपभोगवादी संस्कृति में असन्तुलन की है। उपभोगवादी संस्कृति ने आध्यात्मिक संस्कृति पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया है, जिसने वर्तमान प्राणियों के जीवन पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है।

पर्यावरण शब्द 'परि' और 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'वृ' आवरणे धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार पर्यावरण शब्द का अर्थ हुआ 'परि' अर्थात् चारों ओर तथा आवरण अर्थात् 'घेरा' अतः जो हमारे चारों ओर का घेरा है, उसे पर्यावरण कहा जा सकता है। अत एव हम कह सकते हैं कि जो हमें तथा अन्य सभी जीवों को प्रभावित करे वह पर्यावरण है।

वर्तमान में जैसे-जैसे पर्यावरण असन्तुलन बढ़ रहा है, मानव ने अपनी शिक्षा के माध्यम से इसे सन्तुलित करने के लिए अनेक योजनाओं का निर्माण व प्रयास प्रारम्भ कर दिया है, परन्तु जो योजनाएँ व व्यवस्था हमारी भारतीय वैदिक संस्कृति ने हमें उपलब्ध करायी है, वह अद्वितीय और सदियों से परखी हुयी है और वह है हमारे कल्याण और बहुमुखी विकास की परिचायक 'यज्ञ' व्यवस्था। पर्यावरण ओर यज्ञ परिस्थिति की के अभिन्न अंग है। वैदिक संस्कृति के प्रमुख कृत्य के रूप में यज्ञव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भारतीय संस्कृति और सभ्यता को विकसित करने का प्रमुख माध्यम रहा है। वर्तमान में इसके द्वारा ही सम्पूर्ण विश्व का कल्याण सम्भव हो सकता है।

यज्ञ शब्द 'यज्' धातु से 'नङ्' प्रत्यय करने पर बनता है। यज् धातु का प्रयोग मुख्य रूप से देवपूजा, संगतिकरण तथा दान के अर्थ में होता है। इसके अतिरिक्त यज्ञ शब्द के कुछ व्युत्पत्तिजन्य अर्थ निम्नवत् हैं-

१. **येन सदनुष्ठानेन इन्द्रप्रभृतयो देवाः सुप्रसन्ना सुवृष्टिं कुर्युस्तद् यज्ञपदाभिधेयम्** अर्थात् जिस सदनुष्ठान के द्वारा इन्द्रदि देवगण प्रसन्न होकर सुवृष्टि प्रदान करे वह यज्ञ है।

२. **येन सदनुष्ठानेन स्वर्गादिप्राप्तिः सुलभा स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम्** अर्थात् जिस सदनुष्ठान के द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति सुलभ हो उसे यज्ञ कहते हैं।

३. **येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्णविश्वं कल्याणं भजेत् तद् यज्ञपदाभिधेयम्** अर्थात् जिस सदनुष्ठान के द्वारा सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो उसे यज्ञ कहते हैं।

४. **येन सदनुष्ठानेन आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिकतापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम्** अर्थात् जिस सदनुष्ठान के द्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हों, उसे यज्ञ कहते हैं।

५. **यागाङ्गसमूहस्य एकफलसाधनाय अपूर्ववान् कर्मविशेषो यागः** अर्थात् यागाङ्ग समूह

के एक फल साधनार्थ अपूर्व से युक्त कर्मविशेष को यज्ञ कहते हैं।

६. **मन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानं यागः** अर्थात् वैदिक मन्त्रों के द्वारा देवताओं को उद्देश्य करके किये द्रव्य के दान को यज्ञ कहते हैं।[1]

कलिका पुराण[2] में कहा गया है कि **'सर्व यज्ञमयं जगत्'** अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। अत एव हम अपने शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि इस जगत् में प्राणिमात्र तथा उसके पर्यावरण के कल्याण व उन्नति के लिए हम जिस भी कृत्य को करते हैं, उन सभी कृत्यों को यज्ञ कहा जा सकता है। 'गीता' भी उपर्युक्त वचनों का समर्थन करते हुये कहती है कि **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**[3] अर्थात् मनुष्य के समस्त कर्म यज्ञ के लिये होने चाहिए। इस प्रकार मनुष्य के धर्म समन्वित सभी सत्कर्मयज्ञ हो सकते हैं, यदि वे स्वेच्छाचारिता से प्रेरित न होकर वेदादि सद्ग्रन्थों पर आधारित हों। अतः कहा जा सकता है कि शास्त्रों के अनुकूल होने वाले यज्ञ ही फलप्रद और महत्त्वपूर्ण होते हैं।

भारतीय संस्कृति में मानव और प्रकृति की अविभाज्य अङ्ग के रूप में कल्पना की गयी है। जिस प्रकार मनुष्य का यज्ञ नित्य हुआ करता है, उसी प्रकार प्रकृति भी नित्य निरन्तर याज्ञिक क्रिया को सम्पन्न करते हुये विश्व कल्याण में तत्पर रहती है। भारतीय मनीषियों ने प्रकृति के साथ सभी प्राकृतिक शक्तियों को देवता स्वरूप माना है। ऊर्जा के अपरिमित स्रोत सूर्य को देवता माना गया है। **'सूर्य देवो भव'** सूर्य के अभाव में पृथ्वी पर जीवन सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि -सूर्य से हमारा अलगाव कभी न हो। **'नः सूर्यस्य संदृशे मा युयोथा।'**[4] उपनिषदों में सूर्य को प्राण की संज्ञा दी गयी है। **आदित्यो ह वै प्राणः।**[5] इसलिए आकाश में जो सूर्य है, उसे यज्ञ कुण्ड कहा गया है। उसमें जो जल है उसे हवनीय पदार्थ कहा गया। सूर्य अपनी याज्ञिक क्रिया में स्वर्णमयी किरणों द्वारा समस्त प्राणियों तथा वनस्पतियों को प्रकाश और उष्णता देकर जीवनशक्ति देता है, इसीलिये सूर्य को प्राणिमात्र का जीवन कहा गया है-**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।**[6]

भारतीय संस्कृति में भूमि का मानव विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भूमि के विना प्राणिमात्र के जीवन की कल्पना करना भी आकाश कुसुम के सदृश है। शायद इसीलिए भारतीय मनीषी कहते हैं कि **'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** अर्थात् भूमि हमारी माँ है और हम उसके पुत्र हैं। **नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै।** माता पृथ्वी को प्रणाम है। माता पृथ्वी को प्रणाम है। भारतीय विद्वज्जनों ने पृथ्वी को भी यज्ञकुण्ड के रूप में अवलोकित किया है। उसमें बीज का वपन करना विश्व

---

1 यज्ञमीमांसा, पं0 श्रीवेणीराम शर्मा गौड़, पृ0 04.
2. कलिका पुराण: 31/40
3. गीता: 3/9
4. ऋग्वेद: 2/33/1
5. प्रश्नोपनिषद्: 115
6. शु0 यजुर्वेद: 7/42

कल्याण के लिए आहुति डालने के समान है। जिस प्रकार अग्नि में डाला हुआ हवनीय पदार्थ भस्म होकर देवताओं को प्राप्त होता है। उससे देवगण प्रसन्न होकर समस्त विश्व का कल्याण करते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी में डाला हुआ बीज भी मिट्टी में मिलकर सूर्य, जल और वायु आदि देवताओं की सहायता से वृक्ष लतादि रूपों में परिणत होकर विविध पुष्पों, फलों और अन्नों आदि द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करता है। जिस प्रकार प्रकृति का यज्ञ निरन्तर हुआ करता है, उसी प्रकार पर्यावरण सुरक्षा के लिए प्राकृतिक देवताओं का यज्ञ भी निरन्तर चलता रहता है। जैसे सूर्यदेव हमें प्रकाश देते हैं, चन्द्रमा हमें शीतलता देता है, अग्नि उष्णता, वायु प्राणशक्ति, गंगा आदि नदियाँ सुमधुर पवित्र जल, वृक्षों के द्वारा फल, छाया और ओषधियाँ, पृथ्वी के द्वारा निवास के लिए स्थान तथा भरण-पोषण की सुविधा आदि प्राप्त होते हैं। यह सब भी उनके द्वारा किया गया याज्ञिक कृत्य ही है। इस प्रकार जगत् कल्याणार्थ तथा पर्यावरण की सुरक्षा में ब्रह्माण्ड का प्रत्येक तत्त्व अपनी क्षमता के अनुसार यज्ञक्रिया का सम्पादन नित्य निरन्तर करता रहता है।

इतना ही नहीं पर्यावरण द्वारा जीवमात्र को दी गई सुविधाओं को देखते हुये हमारे भारतीय ऋषि उसकी सुरक्षा तथा चिरस्थायी रहने के लिए बहुत ही चिन्तनशील रहे हैं और शायद इसीलिए उन्होंने यह प्रार्थना की है-

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।

अर्थात् पृथ्वी ही नहीं अपितु उसके ऊपर अन्तरिक्ष अनन्त आकाश में शान्ति स्थापित हो, पाताल-भूगर्भ में शान्ति हो, वृक्षों में शान्ति हो, वनस्पतियों में शान्ति हो, औषधियों में शान्ति हो, जलादि भी शान्त रहें। गीता का कथन है-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।[7]
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु[8]

इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है कि विश्व के समस्त पदार्थ यज्ञ स्वरूप हैं और उन समस्त यज्ञों का आश्रयभूत परब्रह्म परमात्मा ही है। अतः जब सांसारिक सभी चलाचल वस्तुएँ यज्ञ ही हैं। तब उन सभी यज्ञों का अनुष्ठान सविध और सनियम करना चाहिए, जिससे यज्ञ मानवमात्र के लिए कल्याणकारी हों।

यज्ञ की इतनी उदात्त भावना, विश्व बन्धुत्व, विश्व कल्याण, सर्वधर्म समभाव, सर्वप्राणी सद्भाव एवं विशालता का दृष्टान्त अन्यत्र कहाँ दिखाई दे सकता है? भारतीय संस्कृति का प्रमुख कृत्य यज्ञ ही है, जिसने उसे जगद्गुरु की संज्ञा से विभूषित कराया।

---

7. गीता
8. गीता

सन्दर्भ-सूची

1. संस्कृति पर्यावरण व पर्यटन: हरिमोहन: तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली।

2. पर्यावरण संरक्षण के मूलतत्त्व: चौरसिया, आर0ए0:साहित्य प्रकाशन आगरा।

3. पर्यावरण संरक्षण: शुकदेव प्रसाद: साहित्य भण्डार, चाहचन्द, इलाहाबाद।

4. संस्कृति के चार अध्याय: दिनकर, रामधारी सिंह: लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

5. यज्ञ मीमांसा: शर्मा, पण्डित वेणीराम गौड: चौखम्भा विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

6. हिन्दू सभ्यता: मुखर्जी, राधाकुमुद: राजकमल प्रकाशन।

7. प्रमुख वैदिक यज्ञों के विधिविधान में याज्ञवल्क्य के योगदान का समालोचनात्मक अध्ययन 'अग्निगर्भा:' डॉ0 त्रिपाठी, आशाराम: आशुतोष प्रकाशन, लखनऊ

डॉ0 आशारानी राय

प्राचार्या, कानपुर विद्या मन्दिर

महिला महाविद्यालय, स्वरूप नगर, कानपुर

यज्ञ और ब्रह्माण्ड

डॉ0 गणेशदत्त शर्मा

व्यापक परिप्रक्ष्य में ब्रह्माण्ड की प्रत्येक प्रक्रिया यज्ञमय है। यज्ञ विश्व की नाभि है-**''अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।''**[1] इस वेद-वाक्य के अनुसार यज्ञ समस्त संसार के केन्द्र में है। और सारा पाञ्चभौतिक ढाँचा अथवा पर्यावरण इसकी परिधि है और जिस प्रकार वैज्ञानिक अवधारणा में केन्द्र तथा परिधि एक दूसरे के पूरक अथवा सहकारी हैं, ठीक उसी प्रकार यज्ञ और ब्रह्माण्ड भी एक दूसरे के पूरक हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पञ्चमहाभूतों के संघातरूप ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु इस विश्व यज्ञ की अंगभूत है। स्वयं मानव भी स्वभावतः ब्रह्माण्ड-यज्ञ का ही एक हिस्सा है।

यज्ञ का चश्मा लगाकर देखें तो सारी सृष्टि में यज्ञ ही या दिखाई देता है और वह परब्रह्म परमात्मा इस ब्रह्माण्ड यज्ञ का सर्वप्रथम यज्ञकर्ता (होता) है। कल्याण्मयी वेदवाणी स्वयं इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है-**''अयं होता प्रथमः पश्यतेमम्।''**[2]

भगवद्गीता में इस सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सृष्टि के आदि में यज्ञ के साथ प्रजा की रचना करके प्रजापति ने कहा कि इस यज्ञ से तुम लोग प्रसव अर्थात् उत्पत्ति और वृद्धि प्राप्त करो। यह यज्ञ तुम्हारे लिए इष्ट कामनाओं का देने वाला होवे-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।[3]

सृष्टियाग की इस प्रक्रिया में यज्ञ शब्द का धात्वर्थ (देवपूजा, संगतिकरण, दान) भी चरितार्थ होता है। तदनुसार प्रजापति ने सर्वप्रथम सृष्टि के लिए तप किया-**''स तपोऽतप्यत्। स प्रजा असृजत्।**[4] यह तप ही मानो ब्रह्माण्ड के स्रष्टा उस आदि होता की देवपूजा है। स्रष्टा के तीव्र तप (अभीद्धतपस्) से सृष्टि के मौलिक तत्त्व ऋत और सत्य उत्पन्न हुए, जिन्हें वैज्ञानिक शब्दावली में गतितत्त्व व स्थितितत्त्व कहा जा सकता है-**''ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।''**[5]

उपर्युक्त तत्त्वों का परस्पर एक-दूसरे के साथ समुचित संयोग ही सृष्टितत्त्वों का संगतिकरण है। और इस संगतिकरण के फलस्वरूप प्राणिमात्र के हित के लिए जन्म लेने वाली सृष्टि की समस्त भौतिक संपदा ही दानक्रिया है। वस्तुतः यही उस ब्रह्मा का ब्रह्माण्डयज्ञ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के

---

1. यजुर्वेद 23.62
2. ऋग्वेद 6.9.4
3. गीता 3.10
4. शतपथ ब्राह्मण''-2.3.1.1
5. ऋक् 10.190.1

अनुसार यज्ञ शब्द विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा का वाचक है- "यज्ञो वै विष्णुः।"[6] यज्ञरूप प्रभु के इस सृष्टि के कण-कण में यज्ञ का ही विस्तार दिखाई देता है। सूर्य, चन्द्र, नदी, पर्वत, समुद्र एवं वृक्ष आदि, संसार के सभी पदार्थ अपनी संपादाओं का स्वयं उपभोग न करके उन्हे यज्ञीय प्रक्रिया के अनुसार दूसरों के लिए अर्पित कर रहे हैं। मानव भी इस यज्ञमय सृष्टि की एक इकाई है और देखा जाये तो मानव एवं उसके व्यवहारों में यह यज्ञ-प्रक्रिया परिलक्षित भी होती है। दान, द्योतन व दीपन गुणयुक्त भौतिक देव, अग्नि-वायु-आकाश-जल एवं पृथ्वी, तथा विद्या एवं ज्ञान के दान द्वारा मानव समाज को विद्योतित करने वाले चेतनदेव रूप विद्वज्जनो के महत्त्व को हृदयंगम करना व उनको समुचित स्थान व सम्मान देना ही देवपूजा है। अन्न-वस्त्र आदि की उत्पत्ति में अग्नि-वायु तथा जल आदि का यथासमय यथोचित उपयोग करना तथा ज्ञान व सद्विद्या हेतु विद्याविनय सम्पन्न व्यक्त्यिों से तादात्म्य स्थापित करना ही संगतिकरण है और उपर्युक्त संगतिकरण द्वारा प्राप्त धनसम्पदा व ज्ञान का त्याग व सह अस्त्वि की भावना द्वारा उपभोग करना ही दान की प्रक्रिया है। अग्निहोत्र में इसी प्रक्रिया के दर्शन होते हैं। उपर्युक्त यज्ञविधि से प्राप्त घृत एवं अन्न आदि की अग्नि में आहुति से-सूर्य, मेघ, वायु, एवं जल, आदि-सृष्टि के समस्त दिव्य तत्त्व सुपुष्ट एवं मानव के लिए मंगलमय हो जाते हैं तथा अपेक्षाकृत अधिक रूप में समृद्धि प्रदान करते हैं। अग्निहोत्र एवं ब्रह्माण्ड का यह शाश्वत सिद्धान्त भगवद्गीता में अत्यन्त सुन्दर रूप में चित्रित है-

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।[7]

मानवकृत यज्ञ द्वारा देवताओं की वृद्धि ओर देवताओं द्वारा वृष्टि आदि से मानवसमाज की समृद्धि-पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा अभ्युन्नति की यह प्रक्रिया भारतीय संस्कृति की आधारशिला है।

यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए देवता मानव को अन्न, दुग्ध, पशु, स्त्री व पुत्र आदि अभीष्ट भोग प्रदान करते हैं, किन्तु मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह देवताओं द्वारा प्राप्त अन्न आदि की अग्नि में आहुति द्वारा उन्हें देवताओं को समर्पित करके त्यागमयी यज्ञीय भावना से उनका भोग करे, जो ऐसा नहीं करता वह गीता के अनुसार चोर है। -

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।[8]

इतना ही नहीं, जो केवल अपने ही लिए पकाते हैं अर्थात् अपना ही पेट भरने में लगे रहते हैं, जिन्हें दीन-दुखियों का ख्याल नहीं है और दुनिया की सारी दौलत अपने घर में समेट कर दूसरों को खाने-पीने का अवसर ही देना पसन्द नहीं करते, वे पापी हैं और पाप ही खाते हैं-

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।[9]

---

6. तै. ब्रा. 1.2.5.1
7. गीता 3.11
8. गीता 3.12

गीता की इस उक्ति का आधार ऋग्वेद की वह मान्यता है जिसके अनुसार अकेल खाने वाला पापी कहा गया है-**केवलाघो भवति केवलादी।**[10] किन्तु जो दूसरों को खिलाकर खाने की भावना रखते हैं और अग्निहोत्र के साथ-साथ बलिवैश्वदेव तथा अतिथियज्ञ से बचे हुए अन्न का भोजन करते हैं वे-'**यज्ञशिष्टाशी**' जाने अनजाने में किये गये सभी पापों से छूट जाते हैं-**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।**[११] गीता में ''यज्ञशिष्ट' को साक्षात् अमृत कहा है और बताया है कि इसका भोग करने वाले चिरन्तन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं-''**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम्।**'[१२] गीता की इस उक्ति में यज्ञीय भावना की चरमपरिणति दिखाई देती है।

विशाल ब्रह्माण्ड की संरचना, उसकी उत्पत्ति-स्थिति तथा प्रलय का चक्र जिस अनादि व अनन्त व्यवस्था के अन्तर्गत संचालित हो रहा है, उसको चिरन्तन ऋषियों ने यज्ञ का नाम दिया है। यह विशाल सृष्टियाग अबाधगति से सतत चल रहा है और देखा जाये तो इस विशाल यज्ञ के अन्तर्गत भी अनेकानेक अवान्तर यज्ञ चल रहे हैं। विशाल भूमि, अन्तहीन अन्तरिक्ष एवं महान् द्युलोक, इस विराट् यज्ञ की अपने में पृथक्-पृथक् वेदियाँ हैं। इन वेदियों की भी अपनी-अपनी परिधियाँ हैं जिनमें अणु से लेकर उत्तरोत्तर निर्मित पिण्डों में नाना प्रकार के यज्ञ चल रहे हैं। और वे सभी एक विशाल ब्रह्माण्डयज्ञ को सम्पन्न कर रहे हैं। इस दृष्टि से तैत्तिरीय ब्रह्मण की वह उक्ति अपने यथार्थ रूप में चरितार्थ होती है, जिसके अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड ही यज्ञ का रूप है-'**यज्ञो वै भुवनम्।**'[१३]

वैदिक 'पुरुषसूक्त' के अनुसार परमात्मा ने जब सृष्टियाग सम्पन्न किया, तब सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में नवरस व ओजस्विता का संचार करने वाले वसन्त ऋतु ने उसमें घी का काम किया, ग्रीष्म ऋतु ने अपनी ऊर्जा व प्रचण्ड उष्णतारूप समिधा द्वारा उस याग में अपना योगदान किया और शरद् ने अभिनव अन्न एवं नाना औषधियों को उत्पन्न व परिपक्व करके उस सृष्टियाग की शानदार हवि तैयार की, जिसका आलंकारिक चित्रण निम्न मन्त्र में सुचारु रूप से किया गया है-

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥[१४]

वैदिक सृष्टियाग के निरूपण में एक वैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं। वैदिक परम्परा में केवल ब्रह्माण्ड को ही नहीं अपितु इसके स्रष्टा प्रजापति को भी यज्ञ का प्रतिमान स्वीकार किया गया है। शतपथ-ब्राह्मण में कहा है कि-यह जो प्रजापति है, वह प्रत्यक्ष रूप से यज्ञ ही है-''**एष वै प्रत्यक्षं**

---

9. गीता 3.13
10. ऋक् 10.117.6
11. गीता: 3.13
12. गीता 4.31
13. तै. ब्रा. 3.3.7.5
14. यजु31.14

यज्ञो यत्प्रजापतिः।'[१५] इसी भाँति ''ऐतरेय ब्राह्मण' में ब्रह्म को साक्षात् यज्ञ कहा है-**ब्रह्म वै यज्ञः।**[१६]

ये श्रुतियाँ भगवद्गीता के उस सिद्धान्त का आधार कही जा सकती हैं, जिसके अनुसार यज्ञ में अर्पित की जाने वाली हवि भी ब्रह्म है, जिस साधन द्वारा वह अर्पित की जाती है वह भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूपकर्ता द्वारा जो हवन क्रिया की जाती है, वह भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्म में समाधिस्थ हुए पुरुष द्वारा प्राप्त करने योग्य जो फल है, वह भी ब्रह्म है-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणौ हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।[१७]

इस भाँति भारतीय मनीषा-ब्रह्म, ब्रह्माण्ड एवं यज्ञ में तादात्म्य स्वीकार करती है, जो कि दार्शनिक धरातल पर अपने में एक वास्तविकता है।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है-'यत् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' के अनुसार मनुष्य भी इस विशाल विश्वयज्ञ का एक अभिन्न अंग है। श्रुतिपरम्परा भी इस सिद्धान्त का अनुमोदन करती है-

क-पुरुषो वै यज्ञः।[१८] **ख-पुरुषो वाव यज्ञः।**[१९] **ग-आत्मा वै यज्ञः।**[२०] यद्यपि उपर्युक्त संदर्भों में प्रयुक्त पुरुष शब्द को परमात्मा का वाचक भी माना जा सकता है, किन्तु मनुष्य के जीवन में भी हमें यज्ञ की प्रक्रिया स्पष्ट दिखाई देती है, अतः पुरुष शब्द से यहाँ देहधारी मानव का ग्रहण करना भी युक्तियुक्त है। यज्ञ के प्रसंग में मानवजीवन की आयु का प्रथमभाग प्रातःसवन, मध्यभाग माध्यन्दिनसवन और अन्तिमभाग सायंसवन है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म यज्ञप्रक्रिया में ही अन्तर्भूत है, और श्रीकृष्ण ने तो मानव द्वारा किए जाने वाले 'अग्निहोत्र, दान तप, योग, स्वाध्याय, ज्ञान एवं व्रत'-इन सभी कर्मों को जीवनयज्ञ की पुनीत परम्परा में अनुस्यूत कर दिया है-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।[२१]

इतना ही नहीं, गीता के अनुसार तो इन्द्रियसंयम एवं प्राणों का नियन्त्रण भी यज्ञ है जिसके अनुसार योगीजन श्रोत्रादि इन्द्रियों को संयमरूपी अग्निओं में होम देते हैं ओर शब्दादि विषयों को इन्द्रिय रूपी अग्निओं में स्वाहा कर देते हैं। दूसरे प्रकार के साधक इन्द्रियों के सम्पूर्ण कार्यों को तथा प्राणों की आकुञ्चन-प्रसारणादि क्रियाओं को ज्ञान से प्रदीप्त हुई आत्मसंयमरूप योगाग्नि में होम देते हैं-

---

15. शतपथ 4.3.4.3
16. ऐतरेय ब्रा. 7.22
17. गीता 4.24
18. कौषीतकी ब्राह्मण17.7
19. छान्दोग्योपनिषद्13.16
20. शतपथ.6.2.1.7
21. गीता 4.28

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयान्यन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥[२२]
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥[२३]

यज्ञ को जीवन की प्रत्येक क्रिया में उतार देना और उसके व्यापक रूप को सरलतम एवं अलंकृत भाषा में चित्रित कर देना गीता की अपनी विशेषता है। गीता की भाषा में तो पूरक एवं रेचक नामक प्राणायाम करने वाले भी याज्ञिक हैं, क्योंकि वे अपानवायु में प्राणवायु का और प्राणवायु में अपानवायु का हवन करते हैं और कुम्भक नामक प्राणायाम करने वाले प्राण एवं अपान दोनों की ही गति को रोककर उनका होम कर देते हैं तथा कुछ नियमित आहार वाले साधक प्राणों को प्राणों में ही झोंक देते हैं-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥[२४]
अपरे नियताहाराः प्राणन् प्राणेषु जुह्वति॥[२५]

भगवान् कृष्ण ने उपर्युक्त रूप में कर्म करने वाले सभी को 'यज्ञविदः' कहा है-''**सर्वेऽप्येते यज्ञविदः।**'[२६]

इसका अभिप्राय हुआ कि-आत्मकल्याण एवं विश्वकल्याण के निमित्त किया जाने वाला प्रत्येक कर्म यज्ञ है। आगे चलकर श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं-''**कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान्।**''[२७] अर्थात्-(हे अर्जुन) उन सब यज्ञों को तू कर्मज अर्थात् कायिक, वाचिक, और मानसिक क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होने वाला जान। साथ ही गीता में स्पष्ट रूप से यज्ञ का उद्भव भी कर्म से ही माना गया है-''**यज्ञः कर्मसमुद्भवः।**'[२८]

वैदिक साहित्य में यज्ञ के लिए क्रतु शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य यास्क ने-'**क्रतुः कर्म वा यज्ञो वा**'-कहकर यज्ञ एवं कर्म का तादात्म्य स्थापित किया है और भगवद्गीता में-'**अहं क्रतुरहं यज्ञः**'[29] कहकर श्रीकृष्ण ने जहाँ भगवान् को यज्ञरूप बताया है वहीं यज्ञ एवं कर्म की एकरूपता भी प्रतिपादित की है। यह भी एक रोचक एवं तथ्यात्मक साम्य है कि वेद मन्त्रों में-यज्ञ, कर्म एवं क्रतु

---

22. गीता 4.26
23. गीता 4.27
24. गीता 4.29
25. गीता 4.30
26. गीता 4.30
27. गीता 4.32
28. गीता 3.14
29. भगवद् गीता 9.96

ये तीनों ही शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[30]

भारत की चिरन्तन परम्परा में यज्ञ एवं ब्रह्माण्ड के तादात्म्य का प्रतिपादन जहाँ एक वैज्ञानिक एवं दार्शनिक यथार्थ को लिए हुए है, वहीं इसमें मानवता के लिए एक शाश्वत संदेश भी निहित है। इसका प्रयोजन विश्व को यह अमर सन्देश देना है कि-जब सकल ब्रह्माण्ड के संचालन में एक ही यज्ञीय व्यवस्था है, जिसका संचालक परमात्मा स्वयं भी एक याज्ञिक है और मनुष्य भी उस यज्ञमय सृष्टि की ही एक इकाई है,-तब उसे भी यज्ञचक्र के अनुरूप ही चलना चाहिए एवं अपनी जीवन यात्रा में अपनी भौतिक व आध्यात्मिक संपदाओं को दूसरों के लिए होम करते जाना चाहिए। इसी शाश्वत सिद्धान्त के प्रकाशन में यजुर्वेद के 18वें अध्याय में जहाँ-**'व्रीहयश्च में यवाश्च मे........'**[31] तथा **'वसुश्च मे वसतिश्च मे.........'**[32] इत्यादि मन्त्रों में समस्त अन्न व धन आदि की कामनायें की गई हैं, वही प्रत्येक मन्त्र के अन्त में-**'यज्ञेन कल्पन्ताम्'** इस टेक अथवा ध्रुवपंक्ति को दोहराया गया है। अभिप्राय यह है कि समस्त उपभोग सामग्रियाँ हमें यज्ञ द्वारा अर्थात् यज्ञप्रक्रियानुसार ही सबको यथायोग्य, विना किसी भेदभाव के प्राप्त हों और सभी लोग उनका उपभोग भी त्यागमयी यज्ञभावनानुसार ही करें। इतना ही नहीं-**'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्-प्राणो यज्ञेन कल्पताम्......'**[33] इत्यादि मन्त्रानुसार-''समस्त आयु को, प्राणों को, अर्थात् जीवन के एक-एक सांस को तथा चक्षु, श्रोत्र एवं वाक् इन्द्रियों को भी यज्ञ से, यज्ञीय भावना से सुसम्पन्न करने की प्रार्थनाएँ की गई हैं। अभिप्राय यह हुआ कि-मानव का आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ व उसका रोम-रोम यज्ञ की भावना से अनुप्राणित हो और वह यज्ञ के ढाँचे ढलकर ही कार्य करे और आगे चलकर मन्त्र में-**''यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्'** कहकर वैदिक ऋषि ने यह भी द्योतित कर दिया है कि-यज्ञ भी वास्तविक रूप में यज्ञीय भावना से ही सुसम्पन्न हो, -वह केवल एक दिखावा अथवा नाटकमात्र बनकर न रह जाये।

निष्कर्षतः, यज्ञ एवं ब्रह्माण्ड विषयक विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि-'यदि विश्व में यज्ञ की सत्य-सनातन एवं शाश्वत विचारधारा का प्रसार हो जाये और प्रत्येक व्यक्ति अग्निहोत्र को अपनी दिनचर्या में सम्मिलित करने के साथ-साथ यज्ञ की भावना को अपनी जीवनचर्या का भी अभिन्न अंग बना ले तो संसार में भौतिक पर्यावरण की शुद्धि तथा पुष्टि के अतिरिक्त मानसिक व आध्यात्मिक पर्यावरण की पवित्रता एवं रागद्वेष व छलछिद्र आदि की समाप्ति से ब्रह्माण्ड में सुख-शान्ति तथा सौहार्द्र की स्थापना निश्चित रूप से संभव है।'

डॉ0 गणेशदत्त शर्मा
पूर्व प्रचार्य
लाजपतराय पोस्ट ग्रेजुएट कॉलिज
साहिबाबाद(गाजियाबाद)

---

30. देखिये-लेखक की पुस्तक 'ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व' पृ0 140.141
31. यजु018.12.
32. यजु018.15.
33. यजु018.29.

यज्ञ और पर्यावरण

डॉ0 श्रीराम वर्मा

वेद प्रकृति के प्रांगण में ईश्वर द्वारा प्रदत्त अनुपम उपहार है, जो सदैव हर क्षेत्र में मानवजाति का मार्ग दर्शन करते रहे हैं। वेदों में भिन्न-भिन्न सूक्तों में प्रकृति की महत्ता की ओर इंगित किया गया है। इन सूक्तों के प्रत्येक शब्द में भाव संवेदना एवं ज्ञान के उच्चस्वर ध्वनित होते हैं। भारत के ऋषियों ने अपनी प्रखर एवं प्रज्ञावान् दृष्टि से पर्यावरण परिष्करण के लिए एक अत्यन्त उत्तम प्रक्रिया, यज्ञ का अन्वेषण किया। यजुर्वेद में प्रधान रूप से यज्ञों के विधि-विधानों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

राष्ट्रिय जीवन के उत्कर्ष, उत्थान एवं चतुर्दिक् विकास में संजीवनी शक्ति की तरह काम करने वाली यज्ञ की विधा पर इस युग में युग ऋषि परम पूज्य स्वामी दयानन्द ने नवीनतम प्रकाश डाला है। यज्ञ के वैज्ञानिक एवं दार्शनिक स्वरूप को उभारने में व इसे जन-जन के बीच लोकप्रिय बनाने में इनकी सराहनीय भूमिका रही है।

पर्यावरण प्रदूषण आज विश्व की ज्वलन्त समस्या है। जल, थल एवं वायु सभी अवांछित अपशिष्टों से परिपूर्ण हो गये हैं। इस प्रदूषण के कारण मनुष्यों का स्वास्थ्य अनेक व्याधियों से युक्त हो गया है। सामयिक पर्यावरणीय विकृतियों में कमी लाने तथा विश्व के सभी प्राणियों को स्वस्थ एवं सुखी बनाने में यज्ञ परम सहायक है। यज्ञ के माध्यम से मन्त्र का प्रभाव शरीर संस्थानों पर विशेष प्रकार से पड़ता है। मन्त्रोच्चारण करते समय सारा स्वर संस्थान झंकृत हो उठता है। मन्त्रों के प्रभाव से होम किये गये पदार्थ औषधियों से अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। दहन की सामान्य प्रक्रिया में अग्नि में डाला गया हविष्य असामान्य शक्तिवान् हो जाता है। मन्त्रों के उच्चारण से उत्पन्न ध्वनि एवं अग्नि देवता के पूजन से उत्पन्न ऊष्मा संयुक्त रूप से भौतिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक लाभ देती है।

यज्ञग्नि का सुगंधित धुआँ पर्यावरण में फैले विषाणुओं को नष्ट कर देता है। यज्ञ में प्रयुक्त पदार्थों विशेषतया गाय के घी को अग्नि में डालने पर उससे उत्सर्जित धुँआ आण्विक विकरण (Atomic Radiation) के प्रभाव को कम कर देता है। केवल हमारे देश में ही नहीं वरन् विश्व के कई दूशों में यज्ञ से सम्बन्धित काफी अनुसन्धान किये गये हैं। सोवियत रूस के वैज्ञानिक शिरोविच ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि हम लोगों ने गव्य (दूध, मक्खन, घी, गोमूत्र, गोबर इत्यादि) के परीक्षण से निष्कर्ष निकाला है कि गाय के दूध में आण्विक विकरण के प्रभाव से रक्षा करने की अद्भुत शक्ति है। गाय के गोबर से लिपा हुआ स्थान आण्विक विकिरण के प्रभाव से पूर्ण सुरक्षित रहता है। गाय के घी को अग्नि में डालने पर उससे उत्सर्जित धुआँ आण्विक विकिरण के प्रभाव को काफी कम कर देता है।

सूरत में 1994 में प्लेग फैलने पर वहाँ भी चिकित्साधिकारियों ने वातावरण को विषाणु रहित बनाने के लिए घी मिश्रित धूप, हल्दी तथा कपूर जलाने को कहा था और हवन सामग्रियों के

लाखों पैकेट भी बाँटे थे। यज्ञ के समय सुगंधित पदार्थ वाष्पीकृत होकर वायु के साथ विसरित होते हैं एवं यज्ञीय परिवेश में सुगंधि की अनुभूति होती है। जब सारे वाष्पशील पदार्थ विसरित हो जाते हैं, तब सूर्य के प्रकाश में प्रकाश रासायनिक (फोटो केमिकल) अभिक्रिया आरम्भ होती है। यही कारण है कि यज्ञ सूर्य के प्रकाश की पूर्ण उपस्थिति में ही सम्पन्न किये जाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन पराबैंगनी तथा अन्य लघु तरंग दैर्ध्य वाले क्षेत्रों में होते हैं। सुगंधित धुआँ युक्त पदार्थों का रसायनिक संगुणन (डिकम्पोजिशन), उपचयन एवं अपचयन होता है।

वायुमण्डल में व्याप्त कार्बन मानोक्साइड (Co), कार्बन डाइऑक्साइड (Co) एवं नाइट्रोजन के ऑक्साइड इत्यादि प्रदूषकों को यज्ञ के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। ऑक्सीजन के परिमाण में वृद्धि होती है। पर्यावरण में उपस्थित धन विद्युतीय आवेश बढ़ाकर उसे प्रदूषित करता रहता है। यज्ञ में पदार्थों की उपचयन क्रिया के द्वारा वायुमण्डल में ऋण विद्युतीय आवेश (इलेक्ट्रोन) पैदा होते हैं, जो धन आवेश के हानिकारक प्रभाव को नष्ट कर देते हैं तथा बादलों के साथ संयुक्त होने पर ये इलेक्ट्रोन उसके विषांश को समाप्त कर देते हैं। वर्षा के रूप में भूमि पर गिरता हुआ वह जल बिल्कुल शुद्ध एवं स्वास्थ्यप्रद होता है। यज्ञ के द्वारा परिशोधित जल एवं वायु मनुष्यों के अलावा वृक्षों-लताओं इत्यादि के लिए भी वृद्धिकारक और कीटाणुनाशक हो जाते है, जिससे हरीतिमा का संवर्द्धन भी होता है।

यज्ञ से उत्सर्जित गैसों में अनेक रोगों के रोगाणुओं को नष्ट करने की पूर्ण क्षमता है। पाश्चात्त्य चिकित्सा शास्त्री एम0 मोनियर ने अपनी पुस्तक 'एन्शिएंट हिस्ट्री ऑन मेडिसन' में लिखा है कि रोगों के कीटाणुओं को समाप्त करने के लिए यज्ञ से सरल एवं सुलभ कोई पद्धति नहीं है। फ्रांस के वैज्ञानिक प्रोफेसर टिलवर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यज्ञ से उत्पन्न धुएँ में पर्यावरण परिशोधन की विचित्र शक्ति है।

अमेरीकी वैज्ञानिक डॉ0 हार्वड स्टिर्गुल ने अपने परीक्षण में पाया कि गायत्री मन्त्र के सस्वर उच्चारण से एक सेकेण्ड में 110,000 तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो दुर्भावनाओं को काफी हद तक शान्त कर देती हैं। हमारे तत्त्वदर्शी ऋषियों ने आविष्कार किया कि किस-किस शब्द का, किस-किस क्रम से, किस भावना और किस स्थिति में, कैसा उच्चारण किया जाये तो उसकी क्या प्रतिक्रिया व्यक्ति एवं समष्टि पर होगी। इसी वैज्ञानिक उपलब्धि पर यज्ञ में मन्त्रोच्चारण का प्रावधान हुआ। ध्वनिशक्ति का ही स्वरूप वेद मन्त्रों में भी अपरिमित ऊर्जा पैदा करता है। ध्वनि के इस प्रभाव को अब विज्ञान भी समझने लगा है।

विचारों को ईश्वोन्मुख बनाने, कषाय-कल्मषों का परिशोधन कर पात्रता विकसित करने तथा अनन्त के प्रति तादात्म्यभाव विकसित करने के रूप में यज्ञ परम सहायक है। यज्ञीय भाव से किये गये कर्म दिव्य कर्म बन जाते हैं। जिस तरह अग्नि यज्ञ कुण्ड में प्रज्वलित होती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि अन्तःकरण में, तापाग्नि इन्द्रियों में तथा कर्माग्नि देह में प्रज्वलित रहनी चाहिए। यही यज्ञ का आध्यात्मिक रूप है। हर श्वास में सम्पादित दिव्य कर्म ही यज्ञ है। यज्ञ में समाहित विचार एवं प्रेरणाएँ-आस्था परिशोधन एवं आदर्शों की प्रतिष्ठापना का एक सशक्त माध्यम हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पर्यावरण चाहे भौतिक हो, सामाजिक हो, सांस्कृतिक हो या आध्यात्मिक, यज्ञ हर तरह के पर्यावरण को शुद्ध व चैतन्य बनाने में सक्षम है। इसलिए सभी प्रकार की उन्नति को सामने रख कर भारतीय मनीषियों ने प्राणिमात्र को सुख प्रदान करने के लिए यज्ञ को जीवन पद्धति का अभिन्न अंग बनाया, जिससे मानव ही नहीं अपितु पशु-पक्षी, चल-अचल, थलचर, नभचर वृक्ष तथा सम्पूर्ण पर्यावरण सुरक्षित रहे तथा सभी को विकसित होने का पूर्ण अवसर मिले।

डॉ0 श्रीराम वर्मा
रीडर, भौतिक विभाग
डी0बी0एस0 कालेज देहरादून

यज्ञ और पर्यावरण

डॉ0 रामप्रकाश वर्णी डी0 लिट्

यह एक अनुभवसिद्ध तथ्य है कि यदि कोई मानव शुद्ध वायु में श्वास ले, शुद्ध जल का पान करे ओर शुद्ध अन्न का सेवन करे एवं शुद्ध मिट्टी में खेले-कूदे, कृषि कार्य करे तो वह अवश्य ही दीर्घजीवी हो सकता है। वह शारीरिक दृष्टि से भी पूर्ण स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकता है, परन्तु आज वैश्विक पर्यावरण के प्रदूषण ने यह सब कर पाना असम्भव सा बना दिया है। मनुष्य को न शुद्ध वायु सुलभ है और न शुद्ध जल। प्रदूषण का प्रवेश भूमि की अन्त:परतों में भी तेजी से होता चला जा रहा है, अत: शुद्ध अन्न की सम्प्राप्ति भी खपुष्पायित सी होने लगी है। कल-कारखानों से निकलने वाले अपद्रव्य धूँआ, गैस, कूड़ा-कचरा और निरन्तर कटते हुए वन प्रदूषण के कारण बन रहे हैं। मानवजीवन के प्रत्येक स्तर पर प्रदूषण का साम्राज्य स्थापित हो गया है। परिणामत: **'जीवेम शरद: शतम्'** और **'भूयश्च शरद: शतात्'** की कामना करने वाला मनुष्य नित्य नये-नये रोगों का ग्रास बनकर अल्पायु और अकाल में ही कालकवलित हो रहा है। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि अमृत रूप वृष्टिजल भी तेजाबी हो गया है। यदि यह प्रदूषण इसी गति से निरन्तर बढ़ता रहा तो वह दिन दूर नहीं, जब यह भूमि मानव तथा अन्य प्राणियों के निवास योग्य नहीं रह जायेगी। क्षतिग्रस्त होती हुई ओजोन की परत हमारी इस उत्प्रेक्षा को बल प्रदान कर रही है।

प्राणियों के लिए स्वच्छ वायु का सेवन कितना हितकर है यह बात ऋग्वेद के निम्नांकित मन्त्र से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है-

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदि। प्र ण आयूंषि तारिषत्।।[1]

यहाँ वायु को परमौषध बताते हुए उसे शान्ति, आरोग्य और आयुष्कर माना है। तद्यथा-**यददो नो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हित:। ततो नो देहि जीव से।।**[2]

वायु की जिस निधि का वर्णन इस ऋग्मन्त्र में है, वह प्राणवायु या ओषिजन (ऑक्सीजन) ही है। इसका प्रचुरमात्रा में होना प्राणिवर्ग के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार शुद्ध जल भी शरीर में आरोग्य और ऊर्जा को उत्पन्न करता है तथा कण्ठस्थ कफ की निवृत्ति कर उसे मधुर बनाकर दृष्टिशक्ति को बढ़ाता है।[3] भूमि महत्त्व की दृष्टि से सभी प्राणियों की माता है,[4] अत: उसका शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।[5] वेद में **'मातरिश्वा'** वायु को इसका शोधक बतलाया गया है।

---

1. ऋग्वेद 10/186/12.
2. वही 10/186/3.
3 आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे।। वही 10/9/1
4. यो व: शिवतमो रसतस्य भाजयतेह न:। उशतीरिव मातर:।। वही 10/9/1
5. अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा। पृथिवी मातर्मा मा हिंसी र्मोऽअहं त्वाम्।। यजु. 10/23

स्मार्त साहित्य[6] में **'पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्'**[7] के अनुसार अवश्य करणीय पञ्च महायज्ञों में **'देवयज्ञ'** अर्थात् 'अग्निहोत्र' का अन्यतम स्थान है। यह यज्ञाग्नि में शुद्ध घृत एवं सुगन्धित वायुशोधक, रोगनाशक और पुष्टिकारक पदार्थों की आहुतियों के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इसके निम्नलिखित दो प्रयोजन हो सकते हैं-1. श्रौत-स्मार्त प्रभृति धार्मिक विधि विधानों के अनुसार मन्त्रपाठ पूर्वक किये जाने वाला यज्ञ **'अदृष्ट विशेष'** जिसे कि 'अपूर्व' भी कहते हैं, का जनक होता है। 2. यज्ञ का द्वितीय प्रयोजन वैज्ञानिक और चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से उसका पर्यावरण शोधक और रोगकारक कृमियों का विनाशक होना है। महर्षि दयानन्द ने यज्ञ के द्वितीय प्रयोजन पर विशेष बल दिया है।[8] वेद में बहुत्र पठित 'पावक, अमीवचातन, पावकशोचिष्, सपत्नदम्भन' प्रभृति विशेषण अग्नि की वायुशोधकता को इङ्गित करते हैं। उन सभी विशेषणों से विशिष्ट अग्नि यज्ञाग्नि ही हो सकती है। यह अग्नि वायु के माध्यम से यज्ञीय फल का चतुर्दिक् प्रापण करती है[9] और अग्निहोत्र औषध का कार्य करता है[10] तथा इसके नित्य निषेवण से शारीरिक नैयून्य दूर होता है।[11] यही नहीं, वायुमण्डल के समस्त प्रदूषण का उन्मूलन भी इसी के द्वारा सम्भव होता है।[12] इसी कारण शोधक द्रव्यों की आहुतियों के द्वारा वायुमण्डल को शुद्ध करने का विधान सामवेद में किया गया है।[13] अथर्ववेद में भी यज्ञ के द्वारा रोग के कृमियों के विनाश का विधान है।[14] दूषित भोजन, दुग्ध, जल और अपक्वान्न आदि के माध्यम से जो रोग के कृमि शरीर में प्रविष्ट हो जाते है, उन्हें भी यज्ञ के द्वारा विनष्ट करने का विधान अथर्ववेद में प्राप्त होता है।[15] यहीं सिरदर्द और खाँसी की निवृत्ति भी अग्निहोत्र के द्वारा बतलायी गयी है।[16] टी.वी. जैसे घातक रोगों से भी यज्ञ के द्वारा बचा जा सकता

---

6. सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम्। यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम्।। यजु. 11/39
7. तु. मनु. 4/21
8. द्र0 स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश-यज्ञ।।
9. यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सोऽअष्टधा दिवमन्वाततान। स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायाꣳ रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा।। यजु. 9/621
10. हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि। शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम्।। अथर्व. 6/106/3
11. तनूपा ऽअग्नेऽअसि तन्वे मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्च्चोदा ऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऽऊनं तन्म ऽआपृण।। यजु. 3/17
12. अग्नेरप्नसः समिदस्तु भद्राग्निर्मही रोदसी आ विवेश। अग्निरेकं चोदयत् समत्स्वग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि।। ऋक् 10/80/211
13. आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम्। इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यत यजतं पस्त्यानाम्। साम. पू 2/2/1
14. इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत्। य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः।। अथर्व. 1/8/1
15. आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ। तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु।। अथर्व 5/29/6
16. मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य। यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च।। वही 1/12/3

है।[17] यज्ञीय हवि में गोघृत, पिप्पली, अज शृंगी[18] ओर गूगल[19] जैसे पदार्थों को सम्मिलित करके पर्यावरण के विविध प्रदूषणों को रोकने का उपाय वेद में प्रतिपादित हैं।[20]

वेदप्रतिपादित उक्त लाभ यज्ञीय हविः पर निर्भर होते हैं। यदि उपर्युक्त 'सुगन्धित, पौष्टिक, रोगनाशक' और 'मिष्ट' पदार्थों के योग से निर्मित द्रव्य से सुनिश्चित तापक्रम पर प्रदीप्त अग्नि में आहुतियाँ प्रदान की जाती है तो अवश्य ही पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त बनाया जा सकता है। आजकल के पठित वर्ग में यह धारणा बनती चली जा रही है कि यज्ञ के द्वारा बहुमूल्य पदार्थों को अग्नि की भेंट करके धन का तो अपव्यय हो ही रहा है, साथ ही पर्यावरण भी 'कार्बनडाई ऑक्साइड' जैसी घातक गैसों से दूषित हो रहा है। अतः हम उनकी इस भ्रान्ति के निवारणार्थ हवनीय द्रव्यों के गुण-धर्म और उनकी रासायनिक बनावट पर विचार कर रहे हैं-

१. कपूरः-अग्निहोत्र में कपूर का विशेष महत्त्व है। यज्ञाग्नि कपूर को जलाकर ही प्रज्वलित की जाती है। यह जलते समय धुआँ उत्पन्न करता है और इसका कुछ अंश विना किसी रासायनिक परिवर्त्तन के उड़ जाता है और वायु में मिश्रित होकर उसे सुगन्धित कर देता है। कपूर के शेष भाग से एक तैल बन जाता है, जिसमें पाइनीन, डाइपैण्टीन, सीनिओल, युनिजौल, सैफ्रोल और 'टर्पिनिऔल' आदि होते हैं।[21]

२. लकड़ी (समिधा):-अग्निहोत्र में प्रक्षिप्त किये जाने वाले द्रव्यों में समिधाओं का भाग लगभग 75% होता है। इनके जलने से यज्ञाग्नि का तपांश लगभग 5000 सेल्शियस हो जाता है। लकड़ी का मुख्य भाग 'सूलुलोस' तथा 'लिग्नोसेलुलोस' होता है। इसमें 46.62% हाइड्रोजन, 28.57% कार्बन तथा 23.81% ऑक्सीजन होती है। लकड़ी के जलने से 'सेलुलोस' और 'लिग्नोसेलुलोस' ऑक्सीकृत हो जाते हैं। तदनन्तर शनैः-शनैः 'हाइड्रोकार्बन' उत्पन्न होती है और 400-600 सेल्शियस के बीच जल जाती है। लकड़ी के उक्त दोनों घटक 'सेलुलोस' और 'लिग्नोसेलुलोस' ऑक्सीजन के साथ मिलकर कार्बनडाइ ऑक्साइड तथा पानी को उत्पन्न करते हैं। यतः यज्ञशाला को चहुँ ओर से खुला हुआ बनाया जाता है अतः 'कार्बन मानो ऑक्साइड' और कार्बन की धूल के उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नहीं होती है। यज्ञ में सर्वप्रथम अग्नि के द्वारा काष्ठ की आसवन क्रिया होती है, जिसके कारण अनेक पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। तद्यथा-'हाइड्रोकार्बन' एल्डिहाइड (फार्मैल्डी हाइड, ऐसीट एल्डिहाइड आदि) कीटोन (ऐसीटोन, मैथिल, एथिल आदि) अम्ल (फार्मिक, एसीटिक, प्रॉपिऑनिक आदि) एल्कोहॉल (मैथिल, ऐथिल) फीनोल, कार्बनडाइऑक्साइड और पानी।[22]

---

17. विद्या वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे। कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे।। वही 7/76/5
18. त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे। अजशृङ्ग यज रक्षः सर्वान्गन्धेन नाशय।। वही 4/37/2
19. न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपर्थ अश्नुते। यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते। वही 19/38/1
20. उपप्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः। दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः।। वही 1/28/1
21. द्र. 'यज्ञविमर्श' ले0 डॉ0 रामप्रकाश, पृ0 40।।
22. द्र0 वही-पृ0 54-56

रालयुक्त काष्ठ के जलने से मुख्यत: फार्मेल्डीहाइड की उत्पत्ति होती है, साथ ही अल्पमात्रा में 'टपिनिऑल, टर्पिन सीनिऑल तथा अन्य उड़नशील पदार्थ भी बनते हैं। समिधाओं के जल जाने के बाद अशिष्ट 20 प्रतिशत या 4 प्रतिशत राख में मुख्यत: 'कैल्शियम, पोटेशियम, मैग्नीशियम तथा कुछ ऐलुमीनियम, लोहा, मैग्नीज, सोडियम, फास्फोरस व गन्धक आदि रह जाते हैं। पोटिशियम ऑक्साइड के कारण वह राख खाद के रूप में भी प्रयोगार्ह हो सकती है।

घृत-यज्ञीय हव्य का प्रमुख घटक है। यह आयुर्वैदिक दृष्टि से तो अति महत्त्वपूर्ण है ही[23] वैज्ञानिक दृष्टि से भी इसका कम महत्त्व नहीं है। यह 'ग्लिसरॉल' तथा 'कार्बोक्सिलिक' अम्लों के मेल से बना है। इसमें निम्नलिखित अम्ल पाये जाते हैं। पामिरिक अम्ल, ऑलिक, मिरिस्टिक, स्टिऐटिक, लिनोलीइक अम्ल। घी में स्वल्पमात्रा में 'कैप्रिलिक' और 'कैप्रोइक' अम्ल भी होते हैं। घृत में विद्यमान ग्लिसरौल के जलने से उसके परमाणुओं में से जल निकलने पर 'एक्रोलीन' बन जाती है, जो ऑक्सीकृत हो जाने पर 'फॉर्मेल्डिहाइड' को बनाती है।[24]

क्योंकि घृत में सन्तृप्त और असन्तृप्त दोनों ही प्रकार के अम्ल होते हैं। अत: ऑक्सीकरण के समय सन्तृप्त वसीय अम्लों के परमाणु टूटकर कुछ 'ऐल्डिहाइड' बना देते हैं, ये ऐल्डिहाइड ऑक्सीजन के साथ मिलकर अम्लों में परिवर्तित हो जाते हैं वे 'हाइड्रोकार्बन की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। घृत के जलने से जो सुगन्धि उत्पन्न होती है, उसका कारण उक्त 'एल्डिहाइड' तथा 'अम्ल' ही हैं। ये सभी वायु में मिल जाते हैं, जिससे सर्वत्र सुगन्धि फैल जाती है। घृत के कुछ कण विना जले ही वायु में उड़ जाते हैं और वे वर्षा के लिये धूलिकणों का कार्य करते हैं।[25]

कपूर कचरी, नागरमोथा, जटामांसी, चन्दनचूरा तथा अगर आदि लकड़ी की भाँति स्वयं जलकर शेष क्रियाओं को पूर्ण कराने के लिये गर्मी भी उत्पन्न करते हैं। तिलों में 'ग्लिसरौल और 'इलेइडिक' व 'स्टिऐरिक' अम्ल होते हैं। इसी प्रकार चिरोंजी, नारियल, लौंग, गेंहू, जौ तथा चावल आदि में भी कुछ वसीय अम्ल विद्यमान होते हैं। अत: इनके जलने से जहाँ अन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वहाँ पूर्वोक्त पदार्थ भी बनते हैं।[26]

यज्ञ सामग्री की अन्य वस्तुओं में 'कार्बोहाइड्रेट' भी विद्यमान होते हैं। शक्कर तथा स्टार्च इसी कार्बोहाइड्रेट के दो प्रकार हैं। चावल, गेंहू, जौ, उड़द और कपूर कचरी तथा तगर में स्टार्च होता है। शर्करा वाले द्रव्यों में खाँड प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त 'शहद, दुग्ध, तगर, गेंहू, लौंग, दाख, छुआरे आदि में भी शर्करा पायी जाती है। इनके जलने से स्वास्थ्य के लिये हितकर गैसें उत्पन्न होती हैं। यज्ञीय द्रव्य से जो वायु सुगन्धित होती है, उसका कारण उन द्रव्यों से वाष्पशील सुरभित पदार्थों का उत्पन्न करना है। ध्यातव्य है कि अग्नि में जलाने पर किसी वस्तु का रूपान्तरण ही होता है। विनाश नहीं। जलने पर पदार्थ सूक्ष्म तक हो जाते हैं, जिससे इन्हें वायु में मिलने एवं फैलने में

---

23. वही।। 24 द्र.
24. वही पृ0 56-59
25. द्र. वही 26-द्र0 वही पृ. वही।।
26 द्र. वही 26-द्र0 वही पृ. वही।।

सुविधा होती है। वायु में उड़ने वाले परमाणुओं का व्यास लगभग 1x102 से 1x107 मिली मीटर होता है। यज्ञ के द्वारा सम्प्रेषित ये परमाणु विविध प्रकार से जीवन और जगत् को लाभ पहुँचाते हैं।

किन्तु यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि उक्त सभी रासायनिक लाभ यज्ञ से तभी प्राप्त हो सकते हैं। जब एक सम नियत मात्रा में समुचित कालान्तर का ध्यान रखते हुए सुसमिद्ध वह्नि पर द्रव्य का प्रक्षेपण किया जाये। इसी रहस्य को ध्यान में रखकर ही याज्ञिक विधियाँ और मन्त्रों का विनियोग किया गया है। यदि सामग्री का प्रक्षेप अग्नि में विलम्ब से होगा तो उसकी ऊष्मा का समुचित लाभ नहीं उठाया जा सकेगा। इसी कारण विधिहीन यज्ञ को अयज्ञ माना जाता है। महर्षि दयानन्द का स्पष्ट लेख है कि **'योग्य रीति से यथाविधि होम करना चाहिए। एक दम मन भर घी जला दिया व चम्मच-चम्मच करके मन भर घृत को वर्ष भर जलाते रहे तो भी होम नहीं होगा।'**[२७]

धार्मिक दृष्टि से यज्ञ में मन्त्रों के विनियोग का कारण शास्त्र संरक्षण हो सकता है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से उक्त विनियोग से हव्य की आहुतियों के मध्य समुचित समयन्तराल भी व्यवस्थित हो जाता है और उक्त रासायनिक सूर्योदय और सूर्यास्त में खुली यज्ञशाला में यज्ञ करने से प्रकाश का संश्लेषण भी होता है। जिससे कुछ ऐल्डिहाइड और एल्कोहल ऑक्सीकृत हो जाते हैं तथा कई 'हाइड्रोकार्बन व फीनोल का बहुलीकरण भी संभव हो जाता है। साथ ही पराबैंगनी प्रकाश में कुछ 'कार्बन डाइऑक्साइड' पानी के साथ मिलकर 'फार्मेल्डीहाइड भी बना लेते हैं। यज्ञ के द्वारा उत्पन्न हुई 'कार्बन डाइऑक्साइड' हानि नहीं पहुँचाती वह पेड़ पौधों के लिये भोजन देती है। वे इसके बिना जीवित नहीं रह सकते हैं। वनस्पति जगत् प्रति वर्ष 60x1012 कि. ग्राम कार्बन डाइऑक्साइड को निज भोजन में परिवर्तित कर रहा है। भूमि पर पड़ने वाली सूर्य की शक्ति का 1x104 भाग केवल इसी क्रिया में व्यय हो रहा है। अतः यज्ञ के द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में कुछ वृद्धि हो जाने से कोई हानि तो निश्चित नहीं होगी। साथ ही प्रकाशक संश्लेषण की मात्रा और अधिक बढ़ जायेगी, जिसका कृषि पर बहुत ही गुणकारी प्रभाव पड़ेगा।

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यज्ञ 'पर्यावरण सुरक्षा का एक सस्ता और सुलभ प्राकृतिक उपाय है, जिसे भारतीय ऋषि-मुनियों की मेधा ने बहुत पहले ही जान लिया था और दिन-रात्रि के प्रत्यवायों से बचने के लिये इसकी प्रातः सायं अनिवार्यतः करने की व्यवस्था की थी। प्राचीन सन्दर्भों की भाँति यह आज भी प्रासंगिक है। यह एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक क्रिया है, मात्र धार्मिक अनुष्ठान नहीं।

डॉ0 रामप्रकाश वर्णी डी0 लिट्
रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग
एल0आर0 कॉलिज, जसराना
जि0 फिरोजाबाद

---

27 द्र. वही 26-द्र0 वही पृ. वही।।

पर्यावरण-संरक्षण में वैदिक अग्निहोत्र का योगदान

डॉ0 उमा जैन

पर्यावरण शब्द परि+आ+वृ+ल्युट् से बना है, जिसका अर्थ है-हमारे चारों तरफ का वातावरण जिससे हम ढके हुए हैं, वह पर्यावरण कहलाता है अर्थात् जो मानव को चारों ओर से घेरे हुए है तथा जो जीवन और क्रिया-कलापों पर प्रभाव डालता है। पर्यावरण में वायुमण्डल-विभिन्न गैसों का सम्मिश्रण स्थल मण्डल-चट्टानें, मिट्टी, रेत और धात्वीय परत और जलमण्डल-भौतिक तथा रासायनिक तत्त्वों को शामिल किया जाता है। भौतिक पर्यावरण में मृदा, जल, वायु और प्रकाश हैं। ये सभी मिलकर पर्यावरण का निर्माण करते हैं। मानव के क्रियाकलापों से उत्पन्न अवशिष्ट उत्पादों के रूप में छोड़े गये अवांछनीय तत्त्वों से जो पर्यावरण विघटन होता है, वही पर्यावरण-प्रदूषण कहलाता है। ये प्रमुख प्रदूषण हैं-

वायु-प्रदूषण-वायुमण्डल में रहने वाली विभिन्न गैसों के आनुपातिक विघटन को वायु-प्रदूषण कहते हैं। वायु में पायी जाने वाली विषैली गैसों के सूक्ष्म कणों से आँखों में जलन, छींक, कैंसर, फेफड़े के रोग, बेहोशी, खाँसी और दम घुटने जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

जल-प्रदूषण-औद्योगिक एवं प्लास्टिक कारखानों, गोशाला, कृषि में प्रयुक्त कीटनाशक पदार्थों, घरेलू गन्दगी एवं रेडियो-एक्टिव अपशिष्ट के द्वारा प्रदूषित जल-पान करने से अनेक बैक्टीरियाजनित तथा वाइरसजनित रोग जैसे-टाइफाइड, पेचिश, पीलिया उत्पन्न होते हैं। इससे जलीय पौधों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। मछलियाँ आदि अन्य जीव भी मरने लगते हैं।

भूमि-प्रदूषण-बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए कृषि उपज बढ़ाने हेतु प्रयोग किए गए विविध रासायनिक खादों एवं कीटनाशक दवाओं से अनेक बीमारियाँ-पेचिश, दमा, हृदय रोग, कैंसर, पागलपन, अन्धापन, बांझपन आदि उत्पन्न होते हैं।

ध्वनि-प्रदूषण-अवांछनीय ध्वनि ही शोर है। जो ध्वनि-प्रदूषण को उत्पन्न करता है जिसके परिणाम स्वरूप रक्तचाप में वृद्धि, आहारनली में गड़बड़ी, मांसपेशियों में तनाव, अनिद्रा, बहरापन, अल्सर, दमा, सिरदर्द, गर्भपात जैसे रोग उत्पन्न होते हैं।

रेडियोधर्मी प्रदूषण-परमाणु परीक्षण के समय रेडियोधर्मी पदार्थ से जल, वायु, मृदादि प्रदूषित हो जाते हैं, जिससे मानव में रक्त कैंसर होने की आशंका रहती है। रेडियोधर्मी पदार्थ जीन्स में विकार उत्पन्न कर देते हैं जिससे आनुवंशिक रोग उत्पन्न होते हैं।[1]

वेदों में पर्यावरण संरक्षण

वेदों में पर्यावरण संरक्षण अर्थात् वायु, जल, पृथ्वी और आकाशादि की शुद्धि के लिए विशेष सावधानी बरती गयी है। वायु मानव-जीवन का आधार है, इसलिए जीवन-रक्षा हेतु

---

1. पर्यावरण एवं प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण

वायु-प्रदूषण के सभी तत्त्वों का नियन्त्रण आवश्यक है। ऋग्वेद में वायु के महत्त्व पर कहा गया है कि वायु अमृत का खजाना है, वह जीवन शक्तिदाता है। वह पिता, भाई और मित्र और सब रोगों की औषधि है।[2] वायु में अमृत अर्थात् ऑक्सीजन है। उसे नष्ट न होने दें। इसका अभिप्राय है कि ऐसा कोई कार्य न करें, जिससे वायु में ऑक्सीजन की कमी हो।[3] अथर्ववेद में **'आपो वाता औषधय:'** कहकर यह निर्देश किया गया है कि पर्यावरण की रक्षा हेतु वायु की शुद्धि पर ध्यान देना अनिवार्य है। अथर्ववेद में वायु और सूर्य के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि तुम दोनों संसार के रक्षक हो। तुम अन्तरिक्ष में व्याप्त हो। तुम ही सभी प्रकार के रोगों को नष्ट करते हो।[4] वायु में दो गुण हैं-प्राणवायु के द्वारा मनुष्य में जीवन शक्ति का संचार करना तथा अपान वायु के द्वारा सभी दोषों को शरीर से बाहर निकालना। इसलिए वायु को विश्वभेषज कहा गया है, क्योंकि यह सभी रोगों और दोषों को नष्ट करता है।[5] अथर्ववेद में कतिपय पर्यावरण-शोधक तत्त्वों पर्वत, जल, वायु, वर्षा और अग्नि का उल्लेख है, जो प्रदूषण को नष्ट करते हैं। वहाँ मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सभी सुखपूर्वक जीवित रहते हैं।[6]

वेदों में वायुमण्डल की शुद्धि के लिए द्यावापृथिवी के संरक्षण पर विशेष बल दिया है। द्यावापृथिवी में सूर्य आदि लोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी तीनों का समावेश है। द्यावापृथिवी परस्पर सम्बद्ध है। इनमें पोष्य-पोषक सम्बद्ध है। सूर्य ऊर्जा का स्रोत है, अन्तरिक्ष वृष्टि का कारक है और पृथ्वी ऊर्जा और वृष्टि आदि का उपयोग कर अन्नादि की समृद्धि से मानव-जीवन को संचालित करती है। ये तीनों परस्पर अनुस्यूत हैं। वायुमण्डल प्राण ऊर्जा (oxygen) देकर मानव को शक्ति प्रदान करते हैं। वृक्ष-वनस्पतियों का जीवन वर्षा पर निर्भर है, अत: वृष्टि-चक्र को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए यज्ञादि की उपयोगिता पर बल दिया गया है।

वेदों में पर्यावरण-शुद्धि के लिए अग्नि का बहुत अल्लेख है। अग्नि का गुण है-दाहकता। वह जहाँ भी अशुद्धि है, प्रदूषण है या घातक कीटाणु हैं, उनको सदा नष्ट करता है। चाहे यज्ञ की अग्नि हो, घरेलू अग्नि हो, वन की अग्नि हो या समुद्री अग्नि हो, वह सर्वत्र ही प्रदूषणकारी तत्त्वों को नष्ट करती है। इसलिए वेदों में अग्नि का दोषनाशक के रूप में बहुत गुणगान है। अग्नि को सारे प्रदूषणकारी तत्त्वों को नष्ट करने वाला कहा गया है। प्रदूषणकारी तत्त्वों को वृत्र, रक्षस्, अत्रिन्, असुर आदि कहा गया है।[7] अग्नि को विश्वशुच् अर्थात् संसार को पवित्र करने वाला कहा गया है। वह पर्यावरण को शुद्ध करता है, अत: उसे पावक कहते हैं।[8] अग्नि को रक्षोनाशक, वृत्रहा, असुरहन्ता

---

2. ऋग्वेद 10.185.1-3
3. वही 6.37.3
4. अथर्ववेद 4.25.1-4
5. वही 4.13.3
6. वही 8.2.25
7. ऋग् 06.16.28, यजु017.16, 33.9, ऋग्0 7.15.10
8. ऋग्0 7.13.1

आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है।[9]

चारों वेदों में यज्ञ/अग्निहोत्र का बहुत अधिक महत्त्व वर्णित किया गया है। इसका मुख्य कारण है कि यज्ञ ही वह विधि है, जिसके द्वारा प्राकृतिक सन्तुलन बनाए रखा जा सकता है। यज्ञ के द्वारा पर्यावरण की सुरक्षा, वायुमण्डल की पवित्रता, विविध रोगों का नाश, शारीरिक-मानसिक उन्नति तथा रोग-निवारण के कारण दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है। यज्ञ के द्वारा भू-प्रदूषण, जल-प्रदूषण और ध्वनि-प्रदूषण दूर किया जा सकता है। इसलिए वेदों में यज्ञ पर इतना बल दिया गया है।

यज्ञ या अग्निहोत्र वह वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा वायुमण्डल में ऑक्सीजन और कार्बन डाई-ऑक्साइड का सन्तुलन बना रहता है। प्रकृति में एक चक्र की व्यवस्था है, जिसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने मूल स्थान पर पहुँचता है। इसी के आधार पर ऋतुचक्र, वर्षचक्र, अहोरात्रचक्र, सौरचक्र, चान्द्रचक्र आदि परिवर्तित होते हैं। इस प्राकृतिक चक्र को ही पारिभाषिक शब्दावली में यज्ञ कहा जाता है। यह प्राकृतिक यज्ञ विश्व में प्रतिक्षण चल रहा है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में इस प्राकृतिक यज्ञ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वर्षचक्र रूपी यज्ञ में वसन्त ऋतु घी है, ग्रीष्म ऋतु समिधा और शरद् ऋत हव्य।[10] वसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु, ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा और वर्षा ऋतु के बाद शरद् और शरद् ऋतु के बाद वसन्त। इस प्रकार यह वर्ष चक्र पूरा होता है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि यज्ञ के द्वारा द्युलोक को प्रसन्न किया जाता है और द्युलोक वर्षा के द्वारा पृथिवी को तृप्त करता है। यज्ञ से मेघ और मेघ से वर्षा होती है।[11] ऋग्वेद और अथर्ववेद में नदी, तालाबों आदि के जल को शुद्ध करने के लिए यज्ञ को आवश्यक बताया गया है, क्योंकि यज्ञ की वायुशोधक प्रक्रिया से जल भी शुद्ध होता है।[12] इसी बात को गीता में कहा गया है कि यज्ञ के द्वारा देवों को प्रसन्न करो और देवता वर्षा के द्वारा तुम्हें प्रसन्न करें। इस प्रकार परस्पर आदान प्रदान से तुम्हारी श्रीवृद्धि हो।[13]

यजुर्वेद में यज्ञ को सृष्टिचक्र का केन्द्र कहा है।[14] उत्तम कृषि के लिए यज्ञ को आवश्यक बताया गया है। यज्ञ से बादल, बादल से वर्षा और वर्षा से उत्तम कृषि होती है।[15] यजुर्वेद में यज्ञ का इतना अधिक महत्त्व वर्णन किया गया है कि यज्ञ से सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। यज्ञ से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के सभी दोष या प्रदूषण दूर होते हैं। यज्ञ शरीरिक, मानसिक और

---

9. अथर्व08.3.26,ऋग्01.74.3
10. ऋग्010.90.6,यजु031.14
11. ऋग्01.164.51
12. अथर्व01.4.3,ऋग्07.47.3
13. गीता3.11
14. यजु023.62
15. वही18.9

आत्मिक उन्नति का साधन है। यज्ञ से सभी प्रकार की कृषि, वर्षा, ऊर्जा, दीर्घायुष्य, वृक्ष-वनस्पतियों की समृद्धि, अन्नसमृद्धि, बौद्धिक और आत्मिक उन्नति, शारीरिक पुष्टि, नीरोगता, प्रदूषण-नाशन के द्वारा सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है।[16] इसलिए यज्ञ को भुज्यु कहा गया है-**'भुज्युः सुपर्णो यज्ञः'**।[17]

ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ का बहुत विस्तार से महत्त्व वर्णित किया गया है। यज्ञ को सृष्टि का केन्द्र बताया गया है-**'यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः।'**[18] यज्ञ सारे जीवों का रक्षक है।[19] यज्ञ जीवन को सुरक्षा प्रदान करता है।[20] ऋतुसंधियों पर होने वाले संक्रामक रोगों को दूर करने के लिए भैषज्य यज्ञों का विधान है। ये यज्ञ रोगों के साथ ही विविध प्रदूषणों को दूर करते हैं।[21] यज्ञ प्रदूषण दूर करके पवित्रता प्रदान करता है।[22]

छान्दोगय उपनिषद् में यज्ञ को पर्यावरण-प्रदूषण के निराकरण का सर्वोत्तम साधन माना है। यज्ञ सभी अशुद्धियों, दोषों या प्रदूषण को दूर करके पवित्र बनाता है, अतः यज्ञ कहा जाता है।[23]

यज्ञ में किन-किन द्रव्यों का प्रयोग कैसे करना चाहिए, जिससे वह प्रदूषण दूर कर पर्यावरण शुद्ध बना सके। इस सम्बन्ध में वैदिक अग्निहोत्र में समिधा, घृत, सामग्री और स्थालीपाक का प्रयोग होता है। इनके लिए भी कुछ विशेष नियम हैं, जिनका पालन आवश्यक है। जितना बड़ा या छोटा यज्ञ करना होता है, उसी अनुपात में यज्ञकुण्ड का निर्माण होता है। शुल्वसूत्र ग्रन्थों में यज्ञकुण्डों के बनाने की वैज्ञानिक विधि दी गई है। ज्यामिति की दृष्टि से शुल्वसूत्रों का बहुत वैज्ञानिक महत्त्व है।

यज्ञ में समिधा के लिए ऐसे वृक्षों का चयन किया गया है, जिनसे कार्बन डाई-ऑक्साइड की मात्रा बहुत कम निकलती है और जो शीघ्र जल जाते हैं। इनका कोयला नहीं बनता, अपितु राख ही बनती है। इनसे धुआँ भी बहुत कम बनता है। कार्बन डाई-ऑक्साइड कम बनने से वायु-प्रदूषण की सम्भावना कम रहती है। अत एव समिधा के लिए आम, गूलर, पीपल, शमी, पलाश (ढाक), बड़, बिल्व (बेल) आदि का विधान है। ठोस लकड़ियाँ शीशमादि का निषेध है।

घृत यज्ञ का प्रमुख द्रव्य है। घृत में भी गाय का घी सर्वोत्तम माना गया है। यह शरीर को तेज और बल देता है। यज्ञ में डाला हुआ घी रोग-निरोधक है। यह वायुमण्डल को शुद्ध करता है। यह विषनाशक भी है, क्योंकि साँप के काटे हुए को घी पिलाया जाता है। पुराने घी को सुँघाने से उन्माद रोग दूर हो जाता है। यज्ञ में घी का प्रयोग वायु-प्रदूषण को दूर करने का उत्तम साधन है।[24]

---

16. यजु09.21, 18.1 से 29; 22,33
17. वही18.42
18. तैत्तिरीय ब्राह्मण3.9.5.5
19. शतपथ ब्राह्मण9.4.1.11
20. ताण्ड्य ब्राह्मण6.4.5
21. गोपथ ब्रा0 उ01.19
22. ऐतरेय ब्रा05.33
23. छान्दाग्योपनिषद्4.16.1
24. अथर्व06.32.1

यज्ञ में डाली जाने वाली हव्य वस्तुओं को सामग्री कहते हैं। हव्य वस्तुएँ चार प्रकार की हैं-१. **सुगन्धित**-कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, चन्दन, जायफल, इलायची, जावित्री आदि ये सभी अग्नि में पड़कर सुगन्धित वायु देते हैं और वायुमण्डल को शुद्ध करते हैं। २. **पुष्टिकारक**-इनमें घृत के अतिरिक्त दूध, फल, मूल, कन्द, गेहूँ, चावल, उड़द, तिल आदि पदार्थ हैं। ३. **रोगनाशक**-सोमलता, गिलोय, गूगल, अपामार्ग (चिरचिटा) आदि औषधियाँ यज्ञ में प्रयुक्त होकर विभिन्न रोगों को दूर करते हैं। यज्ञ-चिकित्सा (यज्ञोपैथी) में अलग-अलग रोगों में अलग-अलग औषधियों को यज्ञ में डालने का विधान है। मिष्ट पदार्थ-मीठी चीजें जैसे गुड़, शक्कर, चीनी, किशमिश, छुआरा, द्राक्षा (दाख, अंगूर) आदि मिष्ट पदार्थों से वायुमण्डल शुद्ध होता है। ४. **स्थालीपाक**-विशेष आहुतियों के लिए स्थालीपाक का उपयोग होता है। इसमें लड्डू, खीर, मोहनभोग, मीठा चावल, विना नमक की खिचड़ी, हलुआ, अपूप (पूआ) आदि हैं। चावल, खिचड़ी आदि में भी घी डालकर आहुति देने का विधान है। महर्षि दयानन्द ने भी मोहनभोग बनाने की निम्न विधि दी है[25] सेर भर घी के मोहनभोग में रत्तीभर कस्तूरी, माशाभर केसर, दो माशा जायफल और जावित्री, सेर भर मीठा डालना। स्थालीपाक में प्रयुक्त सभी वस्तुएँ रोगनाशक और वायु शोधक हैं।

ये चारों प्रकार के होमद्रव्य जब अग्नि में डाले जाते हैं तो अग्नि के द्वारा उनका विघटन होता है और वे अत्यन्त सूक्ष्म अणुरूप में हो जाते हैं। जिस प्रकार अणुबम अत्यन्त प्रभावशाली होता है, उसी प्रकार ये चारों होमद्रव्य सूक्ष्मरूप होकर वायुमण्डल को शुद्ध करते हैं। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि जो पदार्थ जितना सूक्ष्म होता है, उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ जाती है। होम्योपैथी और बायोकैमिक औषधियों में यही पद्धति काम करती है। विज्ञान यह मानता है कि कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता, अपितु उसका केवल रूप परिवर्तन होता है।

यज्ञ में प्रयुक्त हव्य-पदार्थ अग्नि में पड़कर हल्का हो जाता है। वह वायु की सहायता से सर्वत्र फैल जाता है। जहाँ तक यज्ञ की सुगन्धित वायु फैलती है, वहाँ तक दूषित वायु नष्ट हो जाती है और प्रदूषण का निवारण होता है। यज्ञ में प्रयुक्त थोड़ी सी मात्रा वाले घी, शक्कर और केसर-कस्तूरी आदि से लाखों लोगों को लाभ पहुँचता है।

इस सम्बन्ध में विविध वैज्ञानिक अनुसन्धानों से भी यह सिद्ध हो चुका है कि अग्निहोत्र से कुछ ऐसी गैसें निकलती हैं, जो वातावरण को शुद्ध कर और प्रदूषण को दूर करती हैं। इनमें से कुछ गैसें ये हैं-Ethylene Oxide, Propylene,A cytylene। एक जर्मन वैज्ञानिक ने स्वयं अग्निहोत्र का परीक्षण करके पाया कि भारतीयों के हाथ में एक आश्चर्यजनक शस्त्र है, जिसका प्रदूषण निवारण के लिए प्रयोग किया जा सकता है। न्यू जर्सी अमेरिका में 'अग्निहोत्र' नामक एक संस्था है, जो अमेरिका में प्रदूषण-निवारण हेतु अग्निहोत्र का बड़े पैमाने पर प्रयोग एवं प्रचार कर रही है, जिसको वहाँ की जनता ने बहुत पसन्द किया है। 1993 में न्यूयार्क में हुए एक आयोजन में अमेरिकन लोगों में इस अग्निहोत्र की लोकप्रियता देखी गयी है।

प्रसिद्ध रसायन शास्त्री डॉ0 सत्यप्रकाश स्वामी ने यज्ञ सामग्री का विश्लेषण करते हुए लिखा

25. संस्कार विधि-महर्षि दयानन्द पृ0 26

है कि इसमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनसे फार्मेल्डीहाइड गैस उत्पन्न होती है। यह विना परिवर्तन हुए वायुमण्डल में फैल जाती है। कुछ अंश तक कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस भी फार्मेल्डीहाइड में परिवर्तित हो जाती है। यह एक शक्तिशाली कीटाणुनाशक तत्त्व है। फार्मेल्डीहाइड का प्रभाव तभी होता है जब तक यह पानी के वाष्प के साथ हो, अन्यथा इसका कीटाणुनाशक प्रभाव नहीं होता। इसीलिए यज्ञकुण्ड के चारों और जल-सेचन होता है।[26] फ्रांस के एक वैज्ञानिक ट्रिलबर्ट का कथन है कि सामग्री में प्रयुक्त शक्कर आदि मिष्ट पदार्थों में वायु को शुद्ध करने की असाधारण शक्ति है। इसके धुएँ में क्षय, चेचक, हैजा आदि बीमारियों के कीटाणु नष्ट करने की क्षमता है। फ्रांस के एक अन्य वैज्ञानिक डॉ0 हैफकिन का कथन है कि घी को जलाने से रोगाणुओं का विनाश हो जाता है।

ऋतु-परिवर्तन के समय प्रकृति में कतिपय दूषित तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं। इनके कारण वायुमण्डल प्रदूषित हो जाता है और अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस वायु-प्रदूषण को और विभिन्न रोगों के निवारण के लिए गोपथ-ब्राह्मण और कौषीतकि-ब्राह्मण में भैषज्य यज्ञों का विधान किया गया है।[27] भैषज्य यज्ञों से अनेक रोगों की चिकित्सा भी की जाती है। फ्रेंच विद्वान् डॉ0 डेमोसी ने यज्ञ से क्षयरोग दूर करने की विधि कही है।[28] मद्रास के एक सेनिटरी-कमिश्नर डॉ0 कर्नल किंग ने कहा है कि घी और चावल में केसर मिलाकर जलाने से रोगाणु नष्ट हो जाते हैं।[29] पाश्चात्त्य विद्वान् वैज्ञानिक हाले, पामर और बुगे ने शोध निष्कर्ष दिया है कि यज्ञीय अग्नि से गैस के रूप में अनेक पदार्थ निकलते हैं। ये वायु में मिलकर सुगन्ध पैदा करते हैं, जिससे वायु-प्रदूषण दूर होता है और रोग का निवारण होता है।[30]

यज्ञ के द्वारा एक स्थान पर वायु पुञ्जीभूत रूप में गर्म होने से हल्की हो जाती है और वह ऊपर उठती है। उसका स्थान दूसरे स्थान की वायु आकर ले लेती है। इस प्रकार दूरस्थ शुद्ध वायु के आने से वायु-प्रदूषण दूर होता है।

वैदिक विधि द्वारा यज्ञ के समय वेद मन्त्रों का सस्वर मधुर ध्वनि से पाठ या श्रवण-सुखद ध्वनि से मन्त्रों, श्लोकों का उच्चारण ध्वनि-प्रदूषण की समस्या का उत्तम हल है। क्योंकि सस्वर मन्त्र पाठ से होने वाली ध्वनि-तरंगें ध्वनि-प्रदूषण को बहुत अंश तक नष्ट करती हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ आदि में भी इसी बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वाणी को वज्र कहा है जिसका प्रभाव बहुत भयंकर होता है। शब्द ही सारे रोगों और समस्याओं का हल है, औषधि है। वाणी या शब्द एक महान् शस्त्र है।[31] इसका सदुपयोग करना सीखना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पर्यावरण संरक्षण में वैदिक अग्निहोत्र

---

26. अग्निहोत्र-डॉ0 स्वामी सत्यप्रकाश
27. गोपथ ब्रा0 उ01.19, कौषीतकि 5.1
28. हवन यज्ञ-प्रदीपिका-डॉ0 रामप्रकाश, पृ0 67
29. पर्यावरणीय प्रदूषण-विष्णुदत्त शर्मा, पृ0 25
30. हवन यज्ञ और विज्ञान-डॉ0 रामप्रकाश, पृ052

31. ऐत0 ब्रा0 4.1, शत0 ब्रा0 7.2.4.28, ऐत0 ब्रा0 3.44.

का विशेष योगदान रहा है। यज्ञ प्रकृति के सन्तुलन को बनाये रखता है। इससे स्वच्छ और स्वस्थ प्राणवायु प्राप्त होती है। यह पर्यावरण में प्रदूषण की मात्रा को कम करता है। पर्यावरण-प्रदूषण से न केवल शारीरिक हानि होती है, अपितु निर्बलता, कुविचारों का आना, दुर्व्यसनों में प्रवृत्ति, आत्महत्या जैसे दुर्विचारों की ओर प्रवृत्ति, मानसिक तनाव आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

इन शारीरिक और मानसिक रोगों से मुक्ति के लिए यज्ञ ही एक ऐसा माध्यम है जो सभी प्रकार से शिवसंकल्प, सद्भावना, शान्ति और नीरोगता प्रदान करता है। साथ ही अग्निहोत्र आत्मशक्ति और इच्छाशक्ति को प्रबुद्ध करके मानसिक विकास भी करता है।

डॉ0 उमा जैन
रीडर संस्कृत-विभाग
मु. ला. एण्ड जय. ना. खे. गर्ल्स कॉलिज
सहारनपुर

वायुमण्डल एवं वातावरण की विषाक्तता निवारण में यज्ञों का योगदान

डॉ. मनमोहन प्रकाश एवं डॉ. स्नेहलता श्रीवास्तव

भारतीय दर्शन में आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथ्वी को 'पञ्च विनायक' कहा गया है। जब ये पञ्च तत्त्व अपने प्रकृत रूप में होते हैं तो जीवन को पोषित करते हैं और जब प्रदूषित हो असंतुलित हो जाते हैं तो जीवन के विनाश के हेतु बन जाते हैं। आज पर्यावरण क्रान्ति का युग है। औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति ने हमारे जीवन को सरल और समृद्ध तो बनाया है, पर हमारे वातावरण और पर्यावरण दोनों को प्रदूषित और असंतुलित कर दिया है। कृत्रिम साधन, बढ़ता भोग और प्रचण्ड होता मानव स्वार्थ हमें महाविनाश की ओर ले जा रहा है। आज हम न शुद्ध हवा में साँस ले सकते हैं, न ही शुद्ध जल से आचमन कर सकते हैं, न शुद्ध वातावरण में रह कर स्वस्थ चिन्तन कर पाते हैं। आज मानव जनित गतिविधियों (दहन, प्रक्रम, औद्योगिक निर्माण प्रक्रम, विलायकों का प्रयोग, कृषि रसायनों का प्रयोग, पारमाण्विक ऊर्जा संयन्त्रों एवं गतिविधियों आदि) द्वारा वायुमण्डल में हानिकारक गैसों एवं पदार्थों का समावेश निरन्तर बढ़ता जा रहा है, जो हमारे स्वास्थ्य के लिए अनेक नये-नये खतरों एवं आपदाओं को निमन्त्रण दे रहा है।

निरन्तर विकराल होते वायु-प्रदूषण को नियन्त्रित करना आज विश्व की प्रमुख समस्या है। विश्वस्तर पर सभी देश इस कार्य में जुटे हुए हैं। अनुसन्धान, प्रयोग और विचार-मन्थन की प्रक्रिया निरन्तर चल रही है; अनेक वैज्ञानिक पद्धतियाँ अपनायी जा रही हैं, किन्तु फिर भी परिणाम उत्साहवर्द्धक नहीं हैं।

भारतीय ऋषियों की दूरदर्शी अन्वेषक दृष्टि ने अपनी भावी पीढ़ियों की इस दुरूह समस्या का अनुमान कर लिया था और **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** कहकर यज्ञ द्वारा वायुमण्डल को परिशोधित करने की युक्ति पर बल दिया था। यजुर्वेद में यज्ञ को विश्व के नाभिस्थल (आधार-केन्द्र) के रूप में कल्पित किया गया है।[1]

यज्ञ से ही संसार की उत्पत्ति बताई गई है और यज्ञ से ही उसके रक्षण की मन्त्रणा भी दी गई है। यज्ञ को स्वर्गप्राप्ति का साधन माना गया है। इसका आशय यही है कि हम यज्ञ से संसार को स्वर्गोपम, समृद्ध, शान्त और सुखी बना सकते हैं। आज हमें यह समझ लेना है कि वेदों में यज्ञकर्म की प्रतिष्ठा मात्र एक धार्मिक अनुष्ठान नहीं है, वरन् एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो पर्यावरण के साथ ही मानसिक एवं सामाजिक वातावराण का शोधन करने में आज भी कारगर है। यज्ञकर्म को भारतीय समाज में एक धार्मिक-कर्म माना जाता है, इसी कारण उसके प्रति लोगों की आस्था तो है पर वह व्यावहारिक रूप में स्वीकृत नहीं है। आज का युग विज्ञान का युग है, जब तक लोकमानस में यज्ञ की वैज्ञानिकता का उद्घाटन नहीं होगा, तब तक उसे व्यवहार में नहीं लाया जा सकेगा।

वायुमण्डल और वातावरण की विषाक्तता को कम करने में यज्ञ की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो

1.यजुर्वेद-23: 62

सकती है। यज्ञ से वायुमण्डल के दूषक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और वातावरण भी जीवन्त तथा सात्त्विक बनता है। वायुमण्डल प्रत्यक्ष होता है जबकि वातावरण परोक्ष है। वातावरण सचेतन, बौद्धिक और भावनात्मक है। वायुमण्डल के प्रदूषण से प्राकृतिक सन्तुलन बाधित होता है-पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे और मानवजाति अस्वस्थ होती है। बीमारियों का प्रकोप बढ़ता है। सूखा बाढ़, भूकम्प जैसी प्राकृतिक आपदाओं की आवृत्ति होने लगती है और जब वातावरण दूषित होता है तो सामाजिक सन्तुलन भी डगमगाने लगता है-मनुष्य का चिन्तन पतनोन्मुखी हो जाता है, दुष्प्रवृत्तियाँ प्रबल होने लगती हैं। व्यवहार में आक्रामकता उत्तेजना और हिंसा का समावेश हो जाता है और सम्पूर्ण समाज अशान्त, असुरक्षित एवं अस्थिर हो जाता है। इसी कारण आज वायुमण्डल और वातावरण दोनों को प्रदूषणमुक्त बनाना हमारी प्रथम आवश्यकता है।

यज्ञों में वह सामर्थ्य है जो प्रदूषण को समानान्तर गति से रोक सकता है। यज्ञों में ज्वलित सुगन्धित द्रव्य-सामग्री को धुएँ के सूक्ष्म परमाणु प्रदूषित कार्बन के परमाणुओं में प्रवेश कर उन्हें शुद्ध तत्त्वों में परिवर्तित कर देते हैं। साथ ही यज्ञाग्नि के उत्ताप से यज्ञस्थान की वायु गर्म और हल्की होकर ऊपर उठती है, इससे चारों ओर से शुद्ध वायु उस रिक्तता को भरने के लिए खिंची हुई आती है। यज्ञ द्वारा पर्यावरण शुद्धि में **'विषस्य विषमौषधम्'** के सिद्धान्त का प्रयोग होता है, जिसमें दूषित वायु का उपयोगी संशोधक वायु के द्वारा निराकरण किया जाता है। यज्ञों का वैज्ञानिक आधार ही यह है कि अग्नि अपने में जलाई गई वस्तुओं को करोड़ों गुना अधिक सूक्ष्म बनाकर वायु में फैला देती है। अग्नि की इस सूक्ष्मीकरण सामर्थ्य को वैज्ञानिक स्तर पर प्रयोगों द्वारा प्रमाणित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य फ्रांस के डॉ0 हाफकिन तथा चेन्नई के डॉ0 कर्नलसिंह ने सम्पन्न किया है। प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि घी, चावल, केसर आदि से धुएँ के विष का नाश हो जाता है और वायु में समाविष्ट विषाक्त तत्त्व वर्षा के साथ जमीन में चले जाते हैं और खाद बनकर पृथ्वी की उर्वरा शक्ति को बढ़ाते हैं।[2]

यज्ञीय धूम में वायु के विषैले तत्त्वों को नष्ट करने की अद्भुत क्षमता है। अथर्ववेद का प्रस्तुत मन्त्र भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है-**'वायुः अन्तरिक्षस्याधिपतिः।'**[3] यजुर्वेद में ऋषि कहते हैं 'हे यज्ञ। तू निश्चय ही कल्याणकारी है।'[4]

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेद विषयविचार' प्रकरण में यज्ञों के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए ऋषि ने लिखा है-**स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धितमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते स तद्द्वारा सर्वजगत्- सुखकार्यैव भवति।**[5] अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जो भी किये जाते हैं, उनमें भली भाँति शुद्ध किये सुगन्धित, मिष्ट, पुष्टिकारक और रोगनाशक द्रव्यों से आहुतियाँ दी जाती

2. यज्ञ एक समग्र उपचार प्रक्रिया-पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य
3. अथर्व0 5/24/8
4. यजु0 3/53
5. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषय विचार।

है जिससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धि हो जाती है। इस कारण यज्ञ सारे जगत् के लिए सुखकारी हो जाता है।[6] सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में भी यज्ञों के प्रयोजन से जल-वायु शुद्धि की चर्चा है।

वैदिक यज्ञ में जिन समिधाओं से होम किया जाता है, उनसे कार्बन डाइ ऑक्साइड बहुत ही कम मात्रा में निकलती है। यज्ञ की ज्वलन क्रिया भट्‌टी में सम्पन्न होने वाली ज्वलन क्रियाओं से भिन्न है। भट्‌टी में तापमान अधिकतम सीमा तक ले जाया जाता है, जितना कि समिधा को ज्वलनशील रखने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार अग्निहोत्र से पदार्थों के कण छोटे-छोटे कणों में विभक्त हो जाते हैं। इस प्रक्रिया की समानता रासायनिक विखण्डन से की जा सकती है अर्थात् यज्ञ से समिधा के साथ प्रयुक्त औषधि घटक या तो वाष्पीभूत हो जाती है, या फिर अवशिष्ट भस्म का रूप ले लेते हैं। यज्ञ में प्रज्वलन क्रिया के धीमे होने के कारण उत्पन्न धूम्र कार्बन डाइ ऑक्साइड एवं कार्बन मोनो ऑक्साइड रहित होता है। इसके विपरीत इसमें इथीलिन ऑक्साइड, प्राप्लीन ऑक्साइड, फार्मल्डीहाइड एवं बीटाप्रोपियो लेक्टेन तथा एसीटिलीन का अनुपात अधिक होता है। इस यज्ञ-धूम्र-वायु को शोधक सम्मिश्रण की अभिधा दी जा सकती है।

पूना के फर्ग्यूसन कॉलेज के वैज्ञानिकों ने प्रयोगोपरान्त पाया कि 6x6x2.5" गहरे ताम्रपात्र में आम की समिधाओं के माध्यम से सामान्य वनौषधि सम्मिश्रण से किया गया अग्निहोत्र एक बार की 108 आहुतियों से 36x22x10" के हॉल की 1000 से भी अधिक घनफुट वायु में कृत्रिम रूप से विनिर्मित वायुप्रदूषण समाप्त करने में सफल रहा है, क्योंकि यज्ञकक्ष की वायु की वैज्ञानिक जाँच से इसे पूरी तरह शुद्ध पाया गया। वैज्ञानिक यह भी प्रमाणित करने में सफल रहे हैं कि हवन से जो वायु बनती है, उसमें अधिक भाग प्राणवायु (ऑक्सीजन) का होता है।

पर्यावरण को शुद्ध करने के उद्देश्य से किये जाने वाले यज्ञ में निम्न सावधानियाँ रखना अत्यन्त आवश्यक है-

1. समिधाएँ अधिक छोटी-बड़ी न हों।
2. समिधाएँ गीली न हों।
3. समिधाओं को इस प्रकार चुना जाए कि हवा जाने की गुंजाइश बनी रहे।
4. समिधाओं को इस प्रकार जमाया जाए कि वह कुण्ड की परिधि में ही रहें।
5. हवनकुण्ड ऊपर से खुला तथा नीचे से संकुचित होना आवश्यक है, ताकि लौ की स्थिति ऊपर जाकर शंकु जैसी हो सके।
6. याज्ञिक क्रिया में धुएँ की स्थिति निर्मित न होने दें।
7. अग्नि में डाली गई सामग्री उतनी ही होनी चाहिए जितनी कि प्रज्वलित अग्नि उसे आत्मसात् करती चले।

---

6. वेद और उसकी वैज्ञानिकता: भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में-आचार्य प्रियव्रत्त वेदवाचस्पति

8. अग्निहोत्र की शास्त्रीय विधि में वनौषधियों का ही विधान है, केवल शर्करा और घृत के समावेश की ही छूट है।

9. केवल अन्नों का हवन निषिद्ध है।

10. समिधाओं में किसी भी प्रकार के काष्ठ का प्रयोग नहीं किया जा सकता है अर्थात् नीम, बबूल आदि का प्रयोग वर्जित है। वट, पीपल, पलाश, आम, छोंकर, चन्दन आदि को प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

11. अधजले हव्य को कुरेदकर जलाना निषेध है, क्योंकि वायुमण्डल को शुद्ध करने के उद्देश्य से किये गए यज्ञ में हव्य पूर्णत: जलने न देकर उसका वाष्पीयन किया जाता है।

मानसिक एवं सामाजिक वातावरण को शुद्ध एवं सात्त्विक बनाने में यज्ञ की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आज मानसिक विषाक्तता के कारण ही विश्व-समाज, आतंकवाद, हिंसा, स्वार्थ और भय से आक्रान्त है। प्रेम, पारस्परिकता, सहिष्णुता, क्षमा, उदारता जैसे सामाजिक गुणों का लोप हो गया है। अत: विश्वबन्धुत्व और शान्ति के प्रसार में भी यज्ञ सहायक हो सकते हैं। यज्ञ से वातावरण का परिशोधन तभी सम्भव है, जब हम यज्ञकर्म को मात्र बाह्य क्रिया के रूप में न कर उसे अन्तरतम में प्रवेश कराएँ। हमारे चरित्र और व्यवहार की भूलों को मानसिक दोषों को स्वार्थ और मोह को भी यज्ञाग्नि में होम कर दें। इस यज्ञदर्शन के जनमानस में प्रवेश से निश्चित ही सद्विचारों और गुणों का प्रसार होगा और मानसिक पतन एवं कर्तव्यविमुखता का परिष्कार हो सकेगा। सामूहिक यज्ञकर्म से सौहार्द्र एवं उदारता का विकास होता है। यह सब तभी संभव होता है जब यज्ञ-कर्ता के मन में अपने जीवन को यज्ञमय बनाने की ललक हो, कामना हो।

यज्ञाग्नि की ऊर्जा के माध्यम से वायुमण्डल को प्राणशक्ति से आपूरित किया जा सकता है और मानव की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। यज्ञकर्म से उत्सर्जित ऊर्जा वायुमण्डल एवं वातावरण को शुद्ध संतुलित रखने में समर्थ है। यदि हम अपने वर्तमान और भविष्य को सुरक्षित बनाना चाहते हैं, समाज में सद्वृत्तियों का प्रसार चाहते हैं, तो हमें हमारी यज्ञमयी संस्कृति को सुरक्षित रखना होगा, ऋग्वेद की इस मन्त्रणा को मानना ही होगा–

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।

ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्।।[7]

अर्थात् मेरी सन्तानों को अज्ञात और क्षयरोगों से मुक्ति दिलाने में इन्द्राग्नी (विद्युत्, अग्नि) वायु, सूर्य ही समर्थ हैं। शुद्ध वायुमण्डल से ही तू स्वस्थ रह सकता है, इसलिए तू हवन कर, इन शक्तियों को जागृत कर और नीरोग बन। अत: हमें यज्ञमयी संस्कृति को आत्मसात् करना चाहिए जिसमें **'इदं न मम'** का व्यवहार सिखाया जाता है, तभी हमारी **'जीवेम शरदः शतम्'** की कामना पूर्ण हो सकेगी।

निष्कर्ष रूप में हम यह कहना चाहेंगे कि वायुमण्डल और वातावरण की विषाक्तता को

7. ऋ. 10/161/1

कम करने में यज्ञों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यज्ञ से वायुमण्डल के प्रदूषकतत्त्व नष्ट हो जाते हैं और वातावरण जीवन्त और सात्विक बनता है। वैज्ञानिक प्रयोगों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले दिव्य मन्त्रोच्चार एवं यज्ञाग्नि में प्रज्ज्वलित पवित्र औषधयुक्त हवन-सामग्री के धूम्र से वायुमण्डल में उपस्थित विषाक्ततत्त्व नष्ट हो जाते हैं। यज्ञों में प्रयुक्त हविष्य का प्रत्येक भाग पुष्टिवर्धक, रोगनिरोधक और चेतनावर्धक होता है। इसकी वायु और गन्ध अति सूक्ष्म, गतिमान् और प्रतिक्रियावादी होती है, जो कुछ समय में ही समस्त वायुमण्डल और वातावरण में फैलकर प्रदूषण को समाप्त कर देती है तथा मनुष्य, जीव-जन्तु और वनस्पति सभी को लाभान्वित करती है।

4. वेदत्रयी परिचय-ओमप्रकाश पाण्डेय
5. वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व-ओमप्रकाश पाण्डेय

डॉ. मनमोहन प्रकाश एवं डॉ. स्नेहलता श्रीवास्वत
प्राणीशास्त्र विभाग, होलकर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर (म.प्र.)
हिन्दी विभाग, शासकीय नूतन कन्या महाद्यिालय, इन्दौर (म.प्र.)

यज्ञः पर्यावरणञ्च

डॉ0 जगदीश प्रसाद सेमवाल

यज्ञ शब्दः ऋग्वेदस्य प्रथमे मन्त्रे षष्ठ्यन्तोपलभ्यते, तत्र हि- **ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्।।**[1] इति। अनेन यज्ञस्य प्राचीनता सिद्ध्यति। श्रीमद्भगवद्गीतायां तृतीयेऽध्याये भगवता श्रीकृष्णेन यदुक्तं तच्चाप्यवधेयम् -

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।[2]

अस्मिन् श्लोके अनेकेषां प्रश्नानां समाधानं दृश्यते। प्रथमं यज्ञस्य अविर्भावः कदा अभवत्? यदा प्रजापतिना आदौ प्रजाः सृष्टाः, सहैव यज्ञा अपि सृष्टाः। नात्रेदं निर्णेतुं शक्यं यत् प्रथमं प्रजाः सृष्टाः अथवा यज्ञाः। यतो हि श्लोके सह शब्ददानेन एतदेवावगम्यते यद् उभयो सृष्टिर्युगपत् कृता।

एकस्यापरस्यापि प्रश्नस्य समाधानमत्र द्रष्टुं शक्यते यत् सर्वप्रथमं यज्ञः केन कृतः इति, अस्मिन् विषयेऽपि एतदेव इदमेव वक्तुं शक्यते यद् यथा सर्वप्रथमं प्रजाः प्रजापतिना एव सृष्टाः तथैव यज्ञा अपि तासां प्रजाभिः सहैव सृष्टाः इति तु कथितमेव, एतच्चानेन प्रकारेण वक्तुं शक्यते यद् यज्ञस्यापि प्रथमकर्ता प्रजापतिरेवास्ति। अपरस्याप्येकस्य प्रश्नस्य समाधानं श्लोकेऽस्मिन् दृश्यते, तच्च यज्ञस्य किं प्रयोजनमिति?

अत्र विषये श्लोके यदनेनेति पदं तेन यज्ञ एव परामृश्यते, अनेन प्रसविष्यध्वमित्यस्य यज्ञेन वृद्धिं गच्छत इत्यर्थः। नैतावदेवापितु एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। एष=यज्ञः, वः=युष्माकं कृते इष्टकामधुग् अस्तु=भवतु इत्यर्थः। एतेन श्रीमद्भगवद्गीताया वचनेन यज्ञः मनुष्याणां सर्वानपि ताँस्तान् इष्टान् कामान् दातुं शक्नोति इति गम्यते।

अयं यज्ञः इष्टकामधुक् कथं भविष्यतीति जिज्ञासायां तत्रैवोक्तं यथा-

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथः।।[3]

यज्ञेन देवान् भावयत=पूजयत अथवा तर्पयत, ते देवाश्च वः युष्मान् यज्ञकर्तॄन् भावयन्तु=इष्टान् कामान् दत्त्वा तर्पयन्तु इत्यर्थः। अन्योन्यान् भावयन्तः यज्ञो धृतशरीरान् यज्ञकर्तॄन् भावयन्=तर्पयन्=इष्टकामदानेन धृतशरीरा यज्ञकर्तारो मनुष्याश्च यज्ञं भावयन्तः हविर्दानेन परम् उत्तमं श्रेयः कल्याणम्=अवास्यथ। अन्यच्चायं यज्ञः कथं कृत्वा इष्टकामधुग् भवतीत्यस्य प्रश्नस्य समाधानाय तत्रैवोक्तम्।

---

1. ऋ01.1.1.
2. गीता 3/10
3. गीता 3/11

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यः यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।[4]
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।[5]

अन्नभूतानि अन्नेन वृद्धिं यान्ति। अन्नञ्च पर्जन्याद् भवति=वृद्धिं गच्छति। पर्जन्यः यज्ञेन काले वर्षति। यज्ञश्च कर्मणा वैदिकेन कर्मणा भवति। अयमेवार्थः भगवता मनुनापि प्रोक्तः यथा-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः इति।।[6]

अत्र कश्चिद् वैज्ञानिकः तार्किकः एवं जिज्ञासते यद् यज्ञेन वृष्टिर्भवति इति यदुच्यते तत् किं समन्त्रकेनैव यज्ञेन वृष्टिर्भवति यद्वा अमन्त्रकेनापि आज्यादिहविर्दानेन वृष्टिर्भवितुं शक्नोति? इति।। अस्मिन् विषये शास्त्रकाराणां ऋषीणां वाचनमेव प्रमाणं मत्वा ब्रूमो यद् समन्त्रकेण यज्ञेन पर्जन्यः काले वर्षति, सुवृष्टिश्च भवति अन्यथातिवृष्ट्यादीनां सम्भावना न निराकर्तुं शक्यते। ऋषीणां वचनेषु श्रद्धान आचार्यो भर्तृहरिः वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे ब्रूते-

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाधते।।[7]

महाभाष्ये भगवान् पतञ्जलिः **''शास्त्रेण धर्मनियमः'** इति वार्तिकस्य व्याख्यानावसरे ब्रूते-भक्ष्यं हि नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम् तत्र शास्त्रेण धर्मनियमः, इदं भक्ष्यम् इदमभक्ष्यमिति। एवं खेदात्स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति समानश्चखेदविगमो गम्यायाञ्चागम्यायाम्, तत्र शास्त्रेण धर्म नियमः, इयं गम्या, इयमगम्येति। वैदिके दृष्टान्ते-कपालान्यग्नावधिश्रित्य ऋषिर्मन्त्रयते-ओ३म् भृगूणामङ्गिरसां तपसा तपध्वमिति,' तत्र अग्निर्दहनकर्मा विनापि मन्त्रं कपालानि संतापयिष्यति, किन्तु शास्त्रेण नियमः।[8] यः एवं करोति स एव अभ्युदयं प्राप्नोति। अस्यायं संक्षेपः यद् विधिपूर्वकः कृतः यज्ञ एव इष्टकामधुग् भवति। तेनैव पर्यावरणं शुध्यति, इति।

डॉ0 जगदीश प्रसाद सेमवाल
वि.वै.शो. संस्थान, होशियारपुर

---

4. गीता 3/14
5. गीता 3/15
6. मनुस्मृति।
7. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड।
8. महाभाष्य, प्रथम आह्निक।

यज्ञ एवं पर्यावरण

डॉ0 दुर्गाप्रसाद मिश्र

पर्यावरण और यज्ञ के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए सर्वप्रथम यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि पर्यावरण क्या है? पर्यावरण का व्युत्पत्ति परक अर्थ है-परि+आवरण अर्थात् चारों ओर से ढकना, जिसके द्वारा यह चराचर भौतिक जगत् घिरा हुआ है, वही पर्यावरण है। **परित: आवृणोति**=प्राणिजगत् को सब ओर से आवरण देने वाले प्रकृति के अंग-पृथ्वी, जल, वन फल, औषधियाँ, वायु, अग्नि आकाश, सूर्य चन्द्र आदि ग्रह सभी प्राण-पोषक तत्त्व पर्यावरण कहे जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में पर्यावरणभूत प्रकृति के आठ अंग माने गए हैं-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकारमितीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।[1]

पर्यावरण के इन अंगों से मानव पूर्णत: बँधा हुआ है। यजुर्वेद स्पष्ट घोषणा करता है-तुम इससे उत्पन्न हुए हो, यदि तुम सुख चाहते हो तो ध्यान रखो कि यह तुमसे उत्पन्न होता है-**अस्मात् त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय।।**[2]

मानव शरीर भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश इन पाँच भौतिक तत्त्वों से बना है। अत: मानव को सुरक्षित रहने के लिए पर्यावरण के सभी तत्त्वों को स्वच्छ रखना आवश्यक है।

वर्तमान युग में समृद्धि तथा प्रभुत्व की प्रबल इच्छा से किए जा रहे विज्ञानपरक परीक्षण कालसर्प बन रहे हैं, प्रकृति के वशीकरण का प्रयास आज मानवता को पञ्चतत्त्वों में लीन करने को तत्पर है। निजी स्वार्थ और लाभ के लिए मानव सतत वृक्ष, वनस्पतियों, नदी, समुद्रों का विनाश कर रहा है, चारों ओर हमें जीवन देने वाले पर्यावरण के अंग प्रदूषित होकर असंख्य विसंगतियाँ उत्पन्न कर रहे हैं।

इन प्राकृतिक विसंगतियों को दूर करने के लिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में स्थित पर्यावरण को सन्तुलित रखने वाली प्राकृतिक शक्तियों का गहन अध्ययन किया और उन्हें मनुष्य की शक्ति से परे समझकर उनके स्वरूप के अनुरूप उन शक्तियों को विभिन्न देवताओं के रूप में कल्पित किया। उन शक्तियों को अपने अनुकूल बनाए रखने के लिए ऋषियों ने नाना कर्मों से उनकी आराधना की, इन्ही कर्मों में यज्ञ भी एक श्रेष्ठतम कर्म है।

विश्व की सम्पूर्ण रचना, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्र जिस व्यवस्था से संचालित है। उसे वेद के शब्दों में यज्ञ कहते हैं। इस प्रकार विश्व में एक विशाल यज्ञ चल रहा है और विशाल यज्ञ के अन्दर भी अनेक अवान्तर यज्ञ चल रहे हैं, अत: एक यज्ञ में अनेक यज्ञ चल रहे हैं, चलते

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता-714, 2.
2. यजु. 35/22

रहते हैं और चलते रहेंगे। यज्ञ वस्तुतः ब्रह्माण्ड का केन्द्रबिन्दु एवं उद्भव स्थल भी है।[3] अनेक मन्त्रों में ऋत तथा यज्ञ की अभिन्नता सिद्ध है।[4] यज्ञ ऋत का कारण है जो शाश्वत नियमों का पर्याय है-**यज्ञो वै ऋतस्य योनिः**।[5] उसी ऋत के अन्तर्गत समग्र सृष्टि नियन्त्रित है। उसी को सार्वभौम सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है-**ऋतेन विश्वं भुवनं विराजते**।[6] यह यज्ञप्रक्रिया सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व भी अव्यक्त रूप से चल रही थी। इसका प्रत्यक्षीकरण विराट् रूप में सबसे पहले हुआ, जिसमें जगत् का बीज अन्तर्निहित है-

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः।।[7]

विराट् में यज्ञ की प्रक्रिया चल रही है और उसमें सर्वहुत यज्ञ हो रहा है। जिसमें आज्य की आहुतियाँ हो रही हैं और उनसे वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशुओं की अवतारणा और विकास इस विश्व की यज्ञभूमि में हो रहा है-

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।।[8]

जिस दिव्यसत्ता ने इस सृष्टि यज्ञ का सम्पादन किया, उसने इस यज्ञ के सम्पादन में वसन्त का आज्य (घृत) ग्रीष्म का इध्म और शरत् का हवि के रूप में प्रयोग किया-

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।[9]

ऋषियों और देवपुरुषों ने दिव्यसत्ता द्वारा प्रदत्त इस यज्ञ से ही सृष्टि के कार्यक्रमों को आगे विकसित किया अर्थात् यज्ञ के द्वारा यज्ञों का विकास हुआ-

यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।[10]

मानव को जन्म देकर जन्मदाता ने उससे श्रेष्ठ कर्म करने की अपेक्षा की और श्रेष्ठकर्म केवल यज्ञों के द्वारा ही सम्पादित होते हैं। इन्द्र जैसे ऐश्वर्य की मानव के लिए अपेक्षा की गई और नीरोग,

---

3. यज्ञः बभूव भुवनस्य गर्भः तै.ब्रा.2/4/75, 11 यज्ञो वै भुवनम्-वही 3/3/75 3 यज्ञो वै विश्वरूपाणि यज्ञमेवैतेन सम्भरति-जै.ब्रा01/74,
4. ऋतं वै सत्यं यज्ञः-मै.सं. 1/10/12,
5. श.ब्रा. 1.3.4.16,
6. श.ब्रा. 10.9.4,
7. यजु. 31.5
8. यजु.31.6
9. यजु. 31.14
10. यजु. 31.16

बलवान् सन्तति का विधान भी यज्ञ द्वारा किया गया।

ऊर्जा प्राणिमात्र के लिए आवश्यक तत्त्व है, जिससे उन्हें बल और प्राण प्राप्त होता है। वे सभी तत्त्व ऊर्जा हैं, जिनसे मनुष्य दैहिक तथा आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करता है। औषधियों का उत्तम रस एवं अन्न का सार ऊर्जा है।[11] प्राकृतिक शक्तियाँ ही ऊर्जा का स्रोत हैं। अतः श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ भी इसी ऊर्ज की प्राप्ति के लिए संचालित होता है। यज्ञ मानव का परम धर्म है। मानव शरीर परमात्मा ने शुभ एवं श्रेष्ठ कर्म करने के लिए प्रदान किया है। परमात्मा ने यज्ञकर्म के द्वारा ही जीवात्मा को यह शरीर देकर पृथिवी पर भेजा है और उसके श्रेष्ठ, भद्र एवं शुभ कर्मों की यज्ञ द्वारा ही अपेक्षा की है-

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम्।
अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव॥[१२]

मानव से यह अपेक्षा की गई है कि वह अपने सञ्चित और क्रियमाण फलों को भोगता हुआ अपने लिए अपवर्ग का मार्ग प्रशस्त करे। उसके पास हेतु साधन के रूप में आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि उपलब्ध हैं। मानव का कर्तव्य है कि वह इन साधनों को योगयज्ञ द्वारा सबल एवं समर्थ बनाए-

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां
चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्।
पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, यशो यज्ञेन कल्पतां
प्रजापतेः प्रजाऽ अभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम॥[१३]

हम अपने प्राण, मन, नेत्र, श्रोत्र, बुद्धि, मन, चित्त आदि समस्त अंगों से श्रेष्ठतम कर्म (यज्ञ कर्म) ही करते रहें। कानों से भद्र सुनें, आँखों से भद्र देखें अपने सुदृढ़ एवं स्थिर अंगों से इस धरा के मानव का हित यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म) द्वारा करते रहें-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥[१४]

यज्ञ के प्रमुख पाँच अंग हैं-समिधा, गोघृत, पात्र, मन्त्र तथा भावना। सर्वोत्तम समिधा गौ के गोबर का उपला है, औषधिगुण वाले चन्दन, गूलर, ढाक, पीपल, शमी, आम आदि की लकड़ियाँ ही प्रयोज्य हैं। गाय के गोबर में मेन्थाल, अमोनिया, फिनाल, इन्डाल, नाइट्रोजन, अम्ल, पोटाश पाया जाता है[15] इटली के वैज्ञानिक डॉ0 विगेड की खोज है कि गाय के ताजे गोबर की गन्धमात्र से ज्वर

---

11. यजु. 1.1 पर उव्वट महीधर भाष्य।
12. यजु. 4/13
13. यजु. 9.21,
14. यजु. 25.21,
15. अग्निहोत्र-मनोहर माधव जी पोतदार इन्स्टीट्यूट फार स्टडीज इन वैदिक साइंसेज अक्कलकोढ, महाराष्ट्र।

तथा मलेरिया के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। गाय का गोबर विकिरणरोधक है। अग्निहोत्र में गोघृत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें अभी तक ग्यारह अम्ल, बारह धातुएँ, दो लैक्टोजन तथा चार गैसीय पदार्थ होते हैं। पात्र के विषय में सर्वाधिक उपयोगी पिरामिड आकार का पात्र माना गया है। ऐसे पात्र से यज्ञ करने से वायुमण्डल शोधन के आश्चर्यजनक परिणाम होंगे। ताँबा सर्वोत्तम धातु मानी गई है। जिस देववाणी अर्थात् मन्त्र का यज्ञ में उच्चारण किया जाता है, वह भी यज्ञरूपा है, क्योंकि वह ध्वनि-प्रदूषण को दूर करती है, इसीलिए उसे **विश्ववायुः, विश्वधाया** और **विश्वकर्मा** कहा गया है।[16] वह सबको दीर्घायु प्रदान कर-**'सा गौर्विश्वस्य जगतः आयुषो दात्री'**[17] उनका धारण-पोषण करती है और पर्यावरण को शुद्ध रखते हुए सभी कार्यों के सुचारु संचालन में सहयोग देती है। अतः यज्ञ पर्यावरण शोधक है। वाजसनेयि-संहिता में यज्ञ को राक्षसों अर्थात् कीटाणु आदि को नष्ट करने तथा दानहीनता की भावना को नष्ट करने वाला माना गया है। अतः यज्ञ की उदार-उदात्त भावना का उद्देश्य ही वातावरण की शुद्धि के द्वारा समस्त प्राणियों का कल्याण करना है। मैं यज्ञानुष्ठान सब प्राणियों के सुख के लिए तथा दरिद्रता के नाश के लिए करता हूँ, दानहीनता के लिए नहीं-**उत्पन्नानां प्राणिनां सुखाय बहुदानकरणार्थं दारिद्रविनाशाय तं यज्ञं.........** [18] मनुष्य को यह निर्देश दिया गया है कि यज्ञानुष्ठान करते हुए शुद्ध द्रव्यों को अग्नि में समर्पित करे, जिससे वातावरण पवित्र हो- **'यज्ञस्येमौ व्याप्तिकर्तारौ पवनपावकौ यथा शुद्धौ तथा शुद्धानि द्रव्याणि अग्नौ नयत प्रापयत।'**[19]

यज्ञ अग्नि के संयोग से विस्तृत होकर समस्त वायुमण्डल को शुद्ध करता है, यज्ञ से ही अन्नादि तथा उत्तम रस प्राप्त होता है।

यज्ञ स्वच्छता का प्रतीक है, इसमें औषधियों और वनस्पतियों की हिंसा का निषेध किया गया है -**'पृथिवि देवि यजन्यौषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'।**[२०] यज्ञ को सुख लाने वाला-**'यो देवानां प्रत्येति सुम्नम्'**[21] तथा सूर्यादि लोक में स्थित होकर सम्पूर्ण विश्व को ऐश्वर्य युक्त करने वाला माना गया है- **'आदित्यासो भवतामृडयन्तः'**[22]

पर्यावरण के प्रसंग में वैदिक ऋषियों की दृष्टि में अग्नि का महत्त्व सर्वाधिक है। अग्नि समस्त प्राणियों की उसी प्रकार रक्षा करता है जिस प्रकार पिता पुत्र की रक्षा करता है-**स नः पितेव सूनवेऽअग्ने सूपायनो भव।**[२३]

पर्यावरण की शुद्धता में अग्नि का योगदान सर्वाधिक होने के कारण ही ऋषियों ने उसका

---

16. वाज. सं. 1.4,
17. तत्रैव उव्वट तथा महीधर भाष्य।
18. वाज.सं.1.11, पर दयानन्द भाष्य,
19. वाज.सं. 1.12 पर दयानन्द भाष्य।
20. वाज.सं. 1.25,
21. तत्रै.सं. 8/4 पर महीधर भाष्य
22. वही, 8/4 पर महीधर भाष्य
23. यजु. 3.24,

नाम पावक रखा-**पावको अस्मभ्यं: शिवो भव।**[24] **अग्ने पावका रोचिषा०.....। स नः पावक दीदिवोऽग्ने०..........।**[25] पावमान विशेषण भी अग्नि के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है-**अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः।**[२६] **अजीजनो हि पावमानः।**[२७]

अग्नि की इन्ही विशेषताओं के कारण पर्यावरण की पूर्ण शुद्धि की कामना की गई है-**यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु माम्।।**[२८]

पारिवारिक सुख-समृद्धि तथा सर्वविध वैभव का आधार पर्यावरण की शुद्धता है। अतः अग्नि को प्रज्ज्वलित कर (यज्ञ करके) उसके द्वारा इष्टापूर्त, प्रजा, पशु-अन्न, ब्रह्मवर्चस् आदि भोग पदार्थों की प्राप्ति की आशा की गई है-**उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सᳬंसृजेथामयं च।**[२९] यज्ञाग्नि से कृमियों का भी नाश होता है।[30]

आज पर्यावरण प्रदूषण की भयावह समस्या विश्व के सामने चुनौती के रूप में है। जलप्रदूषण, वायुप्रदूषण, ध्वनिप्रदूषण, मृत्तिकाप्रदूषण, रोडियो सक्रियता आदि के मूल में मानव का वैचारिक प्रदूषण है। इन समस्त प्रदूषणों से रक्षा का एक मात्र उपाय वैदिक नियम पालन तथा अग्निहोत्र है। वैदिक ऋषि इन विभीषिकाओं से परिचित थे, इसीकारण मानव कल्याणार्थ वेदज्ञान में यज्ञक्रिया का उपदेश दिया। यज्ञ का महत्त्व इसी बात से प्रमाणित हो जाता है की प्राकृतिक चिकित्सा, रोगाणु शमनाङ्क ओषधि वित्तान, मानसिक व्यापार, असाध्य रोग निवारण, दुर्व्यसन निवारण, स्मैक से मुक्ति, शराब से मुक्ति, बीजाङ्कुरण, उत्तमफल प्राप्ति आदि क्षेत्रों में वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके अद्भुत परिणाम प्राप्त किए हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रदूषण-शोधन, पर्यावरण संरक्षण में स्थूल (कर्मकाण्डीय) एवं सूक्ष्म (आधिदैविक) दोनों दृष्टियों से वैदिक यज्ञ उत्तम साधन है।

डॉ0 दुर्गाप्रसाद मिश्र
संस्कृत-विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ

---

24. यजु. 17.7,
25. यजु. 17.8-9,
26. ऋ0 9.66.20
27. यजु0 22/18.
28. यजु. 19.41,
29. यजु. 15.54,
30. अथर्व. 1.28

वैदिक यज्ञ तथा पर्यावरण

डॉ0 राजेश्वर मिश्र

पर्यावरण और यज्ञ का परस्पर क्या सम्बन्ध है? इसे समझने के लिए सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि पर्यावरण क्या है? 'पर्यावरण' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है-परि अर्थात् चारों ओर से आवरण अर्थात् ढकना अर्थात् जो हमें चारों ओर से आवृत किया हुआ है अथवा जिसके द्वारा यह चराचर जड़-चेतन भौतिक जगत् घिरा हुआ है, वही पर्यावरण है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी, इस पर स्थित, जल, नदी, झरने, सरोवर, वन, पुष्प एवं फलयुक्त वृक्ष, उन पर क्रीडा करने वाले अनेक रंगों वाले पक्षी, पुष्प-फल और औषधियों की गन्ध से युक्त वायु, सबके ऊपर फैला हुआ तारों और नक्षत्रों से खचित आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रह-नक्षत्र सभी तत्त्व प्राणपोषक पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं, जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। चराचर सभी प्राणी इस भौतिक पर्यावरण में आश्रित रहते हुए जीवन धारण करते हैं। हमारा शरीर भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है। अतः इसको प्रदूषणरहित और सुरक्षित रखने के लिए पर्यावरण के सभी तत्त्वों को स्वच्छ और सुरक्षित रखना परमावश्यक है। परन्तु हम सब अपने निजी स्वार्थ और लाभ के लिए अथवा अपने बुरे संस्कारों एवं पापकर्मों से या अज्ञानता वश उपेक्षा से सतत वृक्षों, वनस्पतियों, पशु-पक्षियों, नदी-निर्झरों, समुद्रों आदि का विनाश कर रहे हैं, इन्हें प्रदूषित कर रहे हैं। इनके प्रदूषण से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशादि भौतिक तत्त्वों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। जब चारों ओर से हमें जीवन देने वाले पर्यावरण के ये अंग अपने मूलरूप में नहीं रह पाते या इनमें किसी प्रकार का दोष आ जाता है, तब पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या का जन्म होता है अर्थात् हमारा वातावरण प्रदूषित हो जाता है और असंख्य प्राकृतिक विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। नाना प्रकार के रोग, व्याधि और दैवी आपदाओं का प्रादुर्भाव होता है, जिनका प्रभाव प्राणियों के शरीर और मन पर भी पड़ता है और इसके फलस्वरूप मनुष्यों में शारीरिक और मानसिक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतः पर्यावरण के सभी अंगों का यथावत् या स्वाभाविक रूप में बने रहना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ये सूक्ष्म और गुप्त शक्तियाँ ही जगत् का संचालन करती हैं।

इन प्राकृतिक विसंगतियों को दूर करने के लिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में स्थित पर्यावरण को संतुलित रखने वाली प्राकृतिक शक्तियों का गहन अध्ययन किया और उन्हें मनुष्य की शक्ति से परे का समझकर उनके स्वरूप के अनुसार उन शक्तियों को विभिन्न देवताओं के रूप में कल्पित किया। वस्तुतः शक्ति मूलरूप से एक होने पर भी उपाधिभेद से नाना प्रकार की है। उसी प्रकार देवता भी मूलतः एक और अभिन्न होने पर भी बाह्य दृष्टि से अनेक एवं भिन्न हैं।[1] उन शक्तियों को यथावत् तथा अपने अनुकूल बनाए रखने के लिए ऋषियों ने नाना कर्मों

1. ऋ01.164.46: एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ; नि0, 7.4: महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

से उनकी आराधना की। इन्हीं कर्मों में यज्ञ भी एक श्रेष्ठतम कर्म है,[2] जिसके माध्यम से देवरूपी प्राकृतिक शक्तियों को उद्‌बुद्ध एवं सक्रिय किया जाता है, क्योंकि शक्ति व्यक्त तथा अव्यक्त भेद से दो प्रकार की है। अव्यक्त शक्ति द्वारा कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। अत: कार्य-साधन के लिए शक्ति को उद्‌बुद्ध करना पड़ता है। समुचित रूप से उद्‌बुद्ध तथा नियुक्त होने पर शक्ति का अपक्षय होता है। इस अपक्षय की आपूर्ति के लिए अर्थात् शक्ति की पुष्टि के लिए उसमें भक्ष्य का समर्पण आवश्यक है, जिसे प्राप्त कर शक्ति पुष्ट होकर अपना संरक्षण करने में समर्थ होती है। यही शक्ति का आहार है। यह आहार भी शक्तियों की भाँति व्यावहारिक दृष्टि से अनेकविध होने पर भी परमार्थत: एक और अभिन्न है। सुप्तावस्था में शक्तियों को किसी आहार की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु वह निष्क्रिय होने से किसी कार्य को सिद्ध भी नहीं करती हैं। अत: उन्हें सक्रिय करने के लिए उनका उद्‌बोधन और उनके अनुरूप आहार प्रदान करना आवश्यक है। यही देवता या शक्ति के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग करना है, यही यज्ञ है।[3]

'यज्ञ' शब्द देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थवाली यज् (धातु) से निष्पन्न है, जिसका तात्पर्य है-प्राणरूप देवशक्तियों को प्रसंन्न करना, दो तत्त्वों के मेल से नूतन तत्त्व का निर्माण करना अथवा अखिल जगत् में प्रवर्तित आदान-प्रदान की सतत प्रक्रिया में संतुलन बनाए रखना। यज्ञ की यह प्रक्रिया प्रकृति में निरन्तर चलती रहती है।

जिसके परिचालक देवता आदित्यरूप अग्नि ओर सोम हैं। सूर्यरूपी अग्नि अनवरत प्रकृति से सोमरूपी अन्न की आहुति ग्रहण (भक्षण) करती रहती है और अपनी शक्ति को पुष्ट करती रहती है; यही कारण है कि सूर्य से रात-दिन अनन्त ऊर्जा निकलती रहती है तथा अखिल ब्रह्माण्ड में फैलती रहती है (**सोमेन आदित्या बलिन:**), तथापि उसकी शक्ति क्षीण नहीं होती। इसीलिए इस प्रपञ्च को **'अग्निषोमात्मक'**[4] कहा जाता है। हमारे शरीर में भी यही क्रिया चलती रहती है। जठराग्नि के रूप में यहाँ विद्यमान वैश्वानर अग्नि भी नित्यश: अन्न (भोज्य पदार्थ) की आहुति ग्रहण करता है जिससे शक्ति-सम्वर्द्धन होता रहता है।[5] इसी प्राकृतिक यज्ञ की भाँति ऋषियों ने भी यज्ञ करना प्रारम्भ किया, जिससे प्राकृतिक शक्तियाँ क्षीण न हों तथा उनमें विसंगतियाँ उत्पन्न न हों और वे वातावरण को शुद्ध बनाकर पर्यावरण में संतुलन बनाए रखें। स्वयं 'यज्ञ' शब्द से भी यह बात सिद्ध है, क्योंकि यह शब्द यज् धातु से निष्पन्न है, जिसका एक अर्थ संगतिकरण भी है। अत: निश्चयेन यज्ञ से प्राकृतिक शक्तियों में संगति स्थापित की जाती है। एतदर्थ यह सर्वाधिक उपयुक्त कर्म है।

यज्ञ वस्तुत: ब्रह्माण्ड का केन्द्रबिन्दु एवम् उद्भवस्थल भी है।[6] 'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' में इसी को

---

2. शत० ब्रा०,1.7.1.5: यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।
3. वाचस्पति, भामती, देवतामुद्दिश्य हविरमृश्य च तद्विषयसत्त्वत्याग इति यागशरीरम्।
4. बृह० उप०, 2.7: अग्नीषोमात्मकं जगत्; तुल०रामपू० उप० 4.61
5. शत० ब्रा०,14.8.10.1: अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्त: पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते; तुल० गीता. 15.14: अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित:।
6. तै०ब्रा०, 2.4.7.5: यज्ञ: बभूव भुवनस्य गर्भ:; जै.ब्रा. 1.74: यज्ञो वै विश्वरूपाणि यज्ञमेवैतेन सम्भरति।

भुवन रूप स्वीकार किया गया है।[7] अनेक मन्त्रों से ऋत तथा यज्ञ की अभिन्नता सिद्ध है।[8] 'शतपथ-ब्राह्मण' के अनुसार यज्ञ ऋत का कारण है, जो शाश्वत नियमों का पर्याय है।[9] उसी 'ऋत' के अन्तर्गत समग्र सृष्टि नियन्त्रित है।[10] उसी को सार्वभौम सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है[11] तथा वही परमेष्ठी स्वीकार किया गया है, जिसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। उसी ऋत के अन्तर्गत यह भूमि प्रतिष्ठित है।[12] अत: ऋतरूप यज्ञ-तत्त्व ब्रह्म से अभिन्न माना गया है।[13] 'गीता' में भी ब्रह्म को यज्ञ में प्रतिष्ठित माना है।[14] अत: विश्व की सत्ता यज्ञ में निहित है तथा सृष्टि के अन्त में यही अवशिष्ट रहता है।[15] अत: शतपथ-ब्राह्मण में यज्ञ तथा विष्णु की अभिन्नता[16] स्वीकार करते हुए इसे प्रजापति तथा आदित्य से भी अभिन्न माना गया है।[17]

'ऊर्ज' प्राणिमात्र के लिए आवश्यक तत्त्व है, जिससे उन्हें बल और प्राण प्राप्त होता है। वे सभी तत्त्व ऊर्ज शक्ति हैं, जिनसे मनुष्य दैहिक तथा आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करता है। औषधियों का उत्तम रस एवम् अन्न का सार ऊर्ज है।[18] तात्पर्य यह है कि ऊर्ज शक्ति का नामान्तर है। प्राकृतिक शक्तियाँ ही ऊर्जा का स्रोत हैं। अत: हमारा श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ भी इसी 'ऊर्ज' की प्राप्ति के लिए संचालित होता है।[19] अत एव यज्ञ केवल कर्मकाण्ड मात्र नहीं, प्रत्युत ब्रह्माण्ड में कार्यरत प्रकृति की अनन्त शक्तियों में परस्पर समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए ऊर्जा प्रदान करता है। सभी शक्तियों के अधिष्ठात्री देवता यज्ञकर्म से सन्तुष्ट होते हैं, तभी उनमें समरूपता आती है। उन विराट् महाशक्तियों को अनुरूप एवं परस्पर बाँधे रखने का मूल उद्देश्य यज्ञसम्पादन से ही सम्भव होता है। अग्नि में निक्षिप्त आहुतियाँ भस्म होकर कदापि नष्ट नहीं होतीं, प्रत्युत अग्नि की महाशक्ति तत्तत् देवताओं के निमित्त प्रक्षिप्त इन आहुतियों की गन्ध को सूक्ष्मरूप में तत्तत् देवताओं तक

---

7. तै0ब्रा0, 3.3.7.5: यज्ञो वै भुवनम्।
8. मै0सं., 1.10.12: ऋतं वै सत्यं यज्ञ:।
9. शत0 ब्रा0, 1.3.4.16: यज्ञो वै ऋतस्य योनि:।
10. ऋ0, 10.92.4: ऋतस्य हि प्रसितिर्द्यौरुरुव्यचो नमो मह्यरमति: पनीयसी।
11. वही, 5.63.7: ऋतेन विश्वं भुवनं विराजते।
12. तै0ब्रा0, 2.5.5.1: ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किञ्चन ऋते भूमिरियं श्रिता। ; मै.सं., 4.14.243; आप.श्रौ.सू.8.4.21
13. शत.ब्रा. 3.1.4.15: ब्रह्म यज्ञ; वही, 1.1.2.13; यज्ञो वै विष्णु:।
14. गीता, 3.15: ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।
15. तै.ब्रा., 1.8.1.2: यज्ञ एव अन्तत: प्रतितिष्ठति।
16. शत. ब्रा. 1.1.2.13: यज्ञो वै विष्णु:।
17. वही. 4.3.4.3: एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापति:; वही, स य: यज्ञोऽसौ आदित्य:।
18. यजु., 1.1 पर द्रष्टव्य उव्वटभाष्य-ऊर्ज बलप्राणनयो:। व्रीह्यादेर्धान्यस्य क्षीरादेश्च सेचनस्योत्पत्यर्थं त्वां सनमयामि। रसपरिणामो हि वृष्टिरन्नादिकं च यथा-'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टि:' इति। तत्रैव महीधरभाष्य-ऊर्जति सर्वान्मनुष्यपश्वादीन्वलयति पानादिना दृढशरीरान्करोति। यद्वा प्राणयति प्रकर्षेण चेष्टयतीति व्युत्पत्तिद्वयेन वृष्टिगतो जलात्मको रस ऊर्ज शब्देनोच्यते।
19. यजु., 1.1: इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो व: सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।

पहुँचाती है तथा हविर्गन्ध पाकर इन महाशक्तियों के अधिष्ठातृ देवता प्रसन्न हो उठते हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्रकृति अर्थात् ब्रह्माण्ड में तनाव नहीं रहता, क्योंकि यज्ञ ब्रह्माण्ड का केन्द्रबिन्दु है[20] तथा यही विश्व का भरण-पोषण करता है।[21] क्योंकि देवतागण एवं मनुष्य अध्वर के विभिन्न मार्गों (विधियों) पर जीवन धारण करते हैं।[22] इसीलिए यज्ञ को पर्यावरण का महान् शोधक माना जाता है।

अग्नि में आहुतियाँ अर्पित करना ही यज्ञ नहीं है, प्रत्युत यज्ञ एक भावना भी है, जो समस्त पर्यावरण को प्रभावित करती है, सुवासित करती है। अकारण या स्वार्थवश हिंसा होने पर वातावरण दुर्गन्धपूर्ण हो जाता है। हिंसा से होने वाले इस भौतिक और मानसिक प्रदूषण से मनुष्य अछूता नहीं रह सकता। इसीलिए यज्ञ के द्वारा सर्वविध हिंसा का विरोध किया गया है। इसी विरोध के कारण ही यज्ञ को 'अध्वर' कहा जाता है।[23] यज्ञ मनुष्य की मानसिक और वाचिक शुद्धि भी करता है;[24] क्योंकि यज्ञ के समय सत्य बोलने आदि का संकल्प कराया जाता है।[25] जिस देववाणी अर्थात् मन्त्र का यज्ञ में उच्चारण किया जाता है, वह भी यज्ञरूपा है, क्योंकि वह ध्वनि-प्रदूषण को दूर करती है। इसीलिए उसे **'विश्ववायुः', विश्वधाया'** और **'विश्वकर्मा'** कहा गया है[26] अर्थात् वह सबको दीर्घायु प्रदान कर[27] उनका धारण-पोषण करती है और पर्यावरण को शुद्ध रखते हुए सभी कार्यों के सुचारु-संचालन में सहयोग देती है, अतः यज्ञ पर्यावरण-शोधक है।

'वाजसनेयि-संहिता' में यज्ञ को वसु अर्थात् निवासयोग्य संसार को पवित्र करने वाला कहा गया है;[28] क्योंकि यज्ञार्थ किए जाने वाले समग्र कर्म पवित्र हैं,[29] अतः वे सम्पूर्ण वातावरण को पवित्र करते हैं। यह मातरिश्वा अर्थात् वायु का शोधक माना गया है।[30] वायु-शुद्धि से दुर्गन्धादि दोष-समूह तथा हानिकारक कीटपतंगादि सन्तप्त होकर नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ वायु को शुद्ध करके वातावरण को शुद्ध बनाता है, जिससे अनायास ही पर्यावरण की शुद्धि होती है। अतः इसे 'विश्वधाया' कहा गया है।[31] यह 'शतधार' और 'सहस्रधार' अर्थात् असंख्य देवों एवं प्रणियों को भी

---

20. तै.ब्रा., 2.4.75: यज्ञः बभूव भुवनस्य गर्भः।
21. जै. ब्रा., 1.74: यज्ञो वै विश्वरूपाणि यज्ञमेवैतेन सम्भरति; तै.ब्रा. 1.8.1.4
22. वही, 1.2.77: देवा अन्यां वर्त्मनिमध्वरस्य मानुषास उपजीवन्ति अन्याम्।
23. नि.,1.8: अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः।
24. वाज.सं. 1.1.
25. क शत.ब्रा. 1.1.1.4-5: सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत्।
26. वाज.सं., 1.4: सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।
27. तत्रैव द्रष्टव्य, उव्वटभाष्य-सा गौर्विश्वस्य जगतः आयुषो दात्री; महीधरभाष्य।
28. वाज सं., 1.2: वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि--। अत्रैव द्रष्टव्य महीधरभाष्य वासयति वृष्ट्यादिद्वारा स्थापयति विश्वमिति वसुः यज्ञः। तुल.शत.ब्रा., 1.7.1.9: यज्ञो वै वसुर्यज्ञस्य पवित्रमसि।
29. वाज.सं. 1.31,
30. वही, 1.2: मातरिश्वनो घर्मोऽसि।
31. वाज.सं. 1.2 तथा 4; अत्रैव द्रष्टव्य उव्वट एवं महीधरभाष्य- त्रयाणां लोकानां धारणात् त्वं विश्वधा विश्वं दधातीति विश्वधाः विश्वधारणसमर्थासि लोकत्रयरूपत्वात्।

धारण करने वाला बतलाया गया है।[32] 'वाजसनेयि-संहिता' में एकत्र यज्ञ को राक्षसों अर्थात् कीटाणु आदि को सन्तप्त करने वाला तथा दानहीनता की भावना को भी नष्ट करने वाला माना गया है।[33] अत: यज्ञ की उदार-उदात्त भावना का उद्देश्य ही वातावरण की शुद्धि के द्वारा सब प्राणियों का कल्याण करना है। इसी को दृष्टिगत करते हुए 'वाजसनेयि-संहिता' में ऋषि कहता है कि ''मैं यज्ञानुष्ठान सब प्राणियों के सुख तथा दरिद्रता के नाश के लिए करता हूँ, दानहीनता के लिए नहीं।[34] अत: यज्ञ दानहीनता की भावना नष्ट करके के परस्पर सहयोग का वातावरण भी बनाता है। यज्ञ का जितना अधिक विस्तार एवं प्रसार एवं प्रचार होगा, उतना ही मनुष्य के स्वभाव में दुष्टता का अभाव, उदारता का भाव उत्पन्न और सर्वत्र सद्भाव का वातावरण बनेगा[35] साथ ही पर्यावरण भी शुद्ध होगा, क्योंकि यह सबका संस्कार करता है।[36] इस प्रकार यज्ञ भौतिक परिवेश की शुद्धि के साथ व्यापक स्तर पर मनुष्य के स्वभाव की भी शुद्धि करता है, जो पर्यावरण-शोधन में सहायक है।

इसके अतिरिक्त वायु और अग्नि दोनों की सहायता से यज्ञ सर्वत्र व्याप्त होकर सबका कल्याण करता है; क्योंकि ये दोनों ही तत्त्व वातावरण के शोधक हैं।[37] इसीलिए 'वाजसनेयि-संहिता' में **'अग्रे नयत सुधातुम्'**[३८] का उपदेश करते हुए मनुष्य को यह निर्देश दिया गया है। कि यज्ञानुष्ठान करते हुए शुद्ध द्रव्यों को अग्नि में समर्पित करें, जिससे वातावरण पवित्र हो;[39] क्योंकि सन्धिकाल में (अर्थात् दो ऋतुओं अथवा प्रात:-सायं समयों) प्रकृति में नानाविध रोगादि विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, अत: इन्हीं कालों में यज्ञानुष्ठान का विधान किया गया है।[40] यज्ञ के उपकरणों और सम्पूर्ण याज्ञिक क्रियाओं को शुद्धता से करने पर वायु की ही नहीं, अपितु जल की भी शुद्धि होती है।[41] यज्ञ अग्नि के संयोग से विस्तृत होकर समस्त वायुमण्डल को शुद्ध करता है। यज्ञ से ही अन्नादि तथा उत्तम रस प्राप्त होता है, अत: यह अनुष्ठान अपरिहार्य है। यह वृष्टि का वर्धक है, क्योंकि इसके माध्यम से ही अग्नि आहुति के रूप में अर्पित पदार्थों को सूक्ष्म रूप में पृथक्-पृथक् करके वायुमण्डल में पहुँचा

---

32. वाज.सं. 1.3; अत्रैव द्रष्टव्य महीधरभाष्य-विश्वान्सर्वान्देवान्दधाति क्षीरदध्यादिहविर्दानेन पुष्णातीति विश्वधाया:; द्र. दयानन्द भाष्य।
33. वाज.सं.,1.7: प्रत्युष्टं रक्ष: प्रत्युष्टा अरातयो निसृप्तं रक्षो निसृप्ता अरातय:। तत्रैव द्रष्टव्य महीधरभाष्य।
34. वही,1.11: भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृंहन्तां दुर्या: पृथिव्याम्। अत्रैव, दयानन्दभाष्य-उत्पन्नानां प्राणिनां सुखाय बहुदानकरणार्थं दारिद्र्यविनाशाय वा तं यज्ञम्। उव्वट-महीधरभाष्य।
35. वही, 1.9; द्रष्टव्य उव्वट-महीधरभाष्य।
36. तै.ब्रा. 3.2.7.4.: यज्ञमेव प्रजापतिं संस्करोति आत्मानमेव तत्संस्करोति।
37. वाज.सां. 1.12: पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्व: प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण....।
38 वा0सं0 1.12
39. वही, 1.12 पर दयानन्द: भाष्य-यज्ञस्येमौ व्याप्तिकर्तारो पवनपावकौ यथा शुद्धौ तथा शुद्धानि द्रव्याणि अग्नौ नयत प्रापयत।
40. गो.ब्रा. 1.19: भैषज्ययज्ञा: वा एते यच्चातुर्मास्यानि तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते।
41. वाज0सं0 1.13: दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धा: पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि। द्रष्टव्य अत्रैव. उव्वट-महीधर भाष्य।

कर वृष्टि में सहायक होता है।[42] यह सर्वविदित है कि यज्ञकर्म से उठे हुए धूम से ही बादल बनते हैं; बादलों से वृष्टि होती है; वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से ही समग्र प्राणी उत्पन्न होते हैं अर्थात् जीवन धारण करते हैं।[43] इसी बात की ओर संकेत करते हुए यजुर्वेद में भी यज्ञ को 'धान्य' कहा गया है,[44] जो सभी जीवों को और देवों को प्रसन्न करता है।[45] अतः वृष्टि द्वारा यज्ञ पर्यावरण के अभिन्न अंगो-नदी, जल, पृथ्वी, वनस्पति, वन, पर्वत आदि को पुष्ट करता है और शस्य-श्यामला औषधियों एवं वनस्पतियों से युक्त धरती से जगत् के प्राणियों को नीरोग एवं स्वस्थ बनाता है। इस प्रकार यज्ञ पर्यावरण को ही नहीं, प्रत्युत निखिल जड़-जगत् को भी सर्वथा पुष्ट करता है। इसीलिए 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने ब्रह्म की प्रतिष्ठा यज्ञ में मानी हैं।[46]

यज्ञ का उद्देश्य उत्पत्ति है, विनाश नहीं; क्योंकि जो अन्त में शुद्ध हवि अग्नि के मध्य अर्पित की जाती है, वही विस्तीर्ण होकर अग्नि और सोम अर्थात् विद्युत् और वृष्टि या औषधियों-वनस्पतियों के मध्य स्थित होकर शुद्धान्न के लिए सहायक होती है।[47] इस प्रकार यज्ञ अपने अग्नि, सोम (अन्न), वायु आदि अंगों के माध्यम से विस्तीर्ण होकर वातावरण की शुद्धि के द्वारा सब को जीवन प्रदान करता है। इस प्रकार सर्वव्यापक होने के कारण यज्ञ पर्यावरण का महान् रक्षक है। प्राणियों को प्रदूषण-मुक्त कर सुख पहुँचाना ही इसका उद्देश्य है। यज्ञ की इसी सर्वव्यापकता तथा सभी जीवों का नाना प्रकार से पोषक होने के कारण इसको वाक्, पुरुष (परमात्मा), प्रजापति, प्राण, विष्णु आदित्य आदि दैवी शक्तियों से समीकृत किया गया है। यही नहीं, यज्ञ मनुष्य को सभी पापों से भी मुक्त करवाता है।[48] मनुष्य के पापरहित होने पर समाज में सर्वविध हिंसा और अनैतिकता का अभाव हो जाएगा। इसीलिए यज्ञ को 'ऋत्' अर्थात् जगत् को धारण करने वाली नैतिक शक्ति (नियम) तथा भुवन कहा जाता है।[49]

यज्ञ स्वच्छता का प्रतीक है, क्योंकि यज्ञ के समय भूमि को स्वच्छ किया जाता है। इसमें औषधियों-वनस्पतियों की भी हिंसा का निषेध किया गया है। इसीलिए यज्ञ के समय यजमान से भूमि पर स्थित औषधियों के मूल को हिंसित न करने की प्रतिज्ञा करवाई जाती है।[50] यजमान यज्ञ में

---

42. वाज.सं. 1.16: वायुर्वो विविनक्तु....; दयानन्दभाष्य-वायुः यज्ञे अग्निना विच्छिन्नान् पदार्थकणान् परमाणुजलादि पदार्थान् विशेषेण वेचयति।
43. गीता, 3.14: अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।
44. यजुर्वेद 1.16
45. वाज.सं. 1.20: धान्यासि धिनुहि देवान्प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। तत्रैव, दयानन्दभाष्य-धातुमर्ह यद् यज्ञात् शुद्धसुखकारकं व्रीह्यादिकमन्नं भवति तत् जीवान् प्रीणाति। द्रष्टव्य उव्वट-महीधरभाष्य भी।
46. गीता, 3.15: ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।
47. वाज.सं. 1.22: जनयत्यै त्वा संयौमीद्यग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिंसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाकं। अत्रैव, दयानन्दभाष्य-अस्माभिर्यदिदं संस्कृतं हविरग्नेर्मध्ये प्रक्षिप्ये, तदिदं विस्तीर्णं भूत्वाऽऽग्नीषोमयोर्मध्ये स्थित्वेषे भवति।
48. शत.ब्रा. 2.3.1.6: सर्वस्मात्पाप्मनोनिर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।
49. मै.सं. 1.10.12: ऋतं वै सत्यं यज्ञः; तै.ब्रा., 3.3.75; यज्ञो वै भुवनम्।
50. वाज.सं.1.25 पृथिवि देव यजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्" वाज.सं. 1.25 पर द्रष्टव्य उव्वट- महीधरभाष्य।

पृथ्वी पर वृष्टि के लिए प्रार्थना भी करता है।[51] सम्भवतः यज्ञ सम्बन्धी ये बातें पर्यावरण-संरक्षण को ध्यान में रखकर की गयीं हैं; क्योंकि वनस्पतियों की कमी के कारण वातावरण में कार्बनडाई-ऑक्साइड गैस की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे वातावरण प्रदूषित होने से विनाशकारी हो जाता है। अतः यज्ञ पेड़-पौधों की हिंसा का निषेध कर पर्यावरण में सहायक है। इसके अतिरिक्त यज्ञ-भूमि के वरण के समय उच्चरित मन्त्र पर्यावरण-संरक्षण रूप यज्ञ के उद्देश्य को स्पष्ट करता है, जिसमें यह कामना की जाती है कि अग्नि में निक्षिप्त उत्तम हवि से यह भूमि शोभन हो जाए; कल्याणकारी गुणों से मंगलप्रदा हो और सब प्रकार के सुखों से पूर्ण होकर निवास के योग्य हो; उत्तम अन्नों से रसवती हो; मधुर, उत्तम रस वाले फलों से युक्त हो जाएँ।[52] पृथ्वी का यह रूप पर्यावरण की शुद्धि पर ही निर्भर है, जो यज्ञ के माध्यम से सम्भव है। अतः 'यजुर्वेद' में यज्ञ को सुख लाने वाला[53] तथा सूर्यादि लोक में स्थित होकर सम्पूर्ण विश्व को ऐश्वर्ययुक्त करने वाला माना गया है।[54] इसे दोषों को नष्ट करने वाला भी कहा गया है; क्योंकि यज्ञीय मन्त्रों में अग्नि को गतिशील कहा गया है।[55] इससे सिद्ध होता है कि अखिल ब्रह्माण्ड में अग्नि की सूक्ष्म तरंगे ताने-बाने के साथ निरन्तर प्रवहमान हैं। जो वस्तु स्थूल अग्नि में डाली जाती है, उसे वह वाष्प के रूप में बदल कर उसके केन्द्र तक पहुँचा देती है। इसीलिए यह दूत है। अतः यज्ञाग्नि को 'अथर्ववेद' में विविध कष्टों को दूर करने वाली, प्रदूषणों तथा घातक तत्त्वों को नाश करने वाली, पीड़ाओं को हरने वाली महौषधि कहा गया है।[56] उसे दोषों को नष्ट करने वाली तथा शुद्धि का हेतु भी माना गया है।[57] इस प्रकार यज्ञाग्नि दुर्गन्ध्यादि दोषों को नष्ट करती है।[58]

वेद सुखकारी औषधितत्त्वों से युक्त[59] वायुमण्डल के लिए वृक्ष-वनस्पतियों के लगाने के लिए उपदेश[60] करने के साथ-साथ **'शम् सन्तु यज्ञाः'**[61] कहकर यज्ञ-हवन द्वारा वायुमण्डल के निर्माण के लिए नुस्खे भी बताता है। यजुर्वेद में भेषजवायु से युक्त पर्यावरण-परिशोधक यज्ञ हेतु यह उपदेश किया गया है कि यज्ञीय वृक्षों की समिधाओं की अग्नि को घृताहुतियों से प्रचण्ड करके उसमें हविर्द्रव्यों की आहुतियाँ प्रदान करो।[62] इस प्रकार अग्नि के माध्यम से यज्ञीय आहुतियों की गन्ध एवं धूम्र से वायुमण्डल तैयार होता है, जिससे पर्यावरण शुद्ध होकर जीवनप्रद वायु प्राप्त होती

---

51. वाज. 1.25-26 'यथा-''व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौः'', वही, 1.25-26 पर द्रष्टव्य उव्वट-महीधरभाष्य।
52. वही, 1.27: गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा.... जागतेन त्वा....। सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चासि, ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च.द्र. उव्वट-महीधरभाष्य भी।
53. वही, 8.4: यो देवानां प्रत्येति सुम्नम्।
54. वही, 8.4: आदित्यासो भवतामृयन्तः।
55. का.श्रौ.सू., 15.1.11: अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वामयाऽअसि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषज्ञं स्वाहा।
56. अथर्व. 8.2.28।
57. वाज.सं. 1.8-9: धूरसि धूर्व धूर्वन्तं तं योस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः....इत्यादि।
58. वही, 6.22: अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा।
59. ऋ0 7.35.5: शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु।
60.क वाज.सं. 16.17: नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः।
61. ऋ0 7.35.9
62. यजु0 3.1: समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन।

है।[63] अत: अन्तरिक्ष और द्यौ के पर्यावरण की विषमता को समता में बदलने हेतु घृत की आहुतियों से समुत्पन्न सूक्ष्म वाष्पकणों से इनके क्षेत्र को परिपूर्ण करने का निर्देश दिया गया है।[64] जिससे ये कभी विकृत न होने पायें, क्योंकि यज्ञ में प्रयुक्त घृत नष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसकी आहुति से भेषज वायु की तेजस्विता तथा अनेकविध प्रदूषणों को भस्मीभूत करने की सामर्थ्य शक्ति बढ़ जाती है।[65] इस प्रकार यज्ञ पर्यावरण में सहायक होता हुआ उसमें सन्तुलन बनाए रखता है।

विधि-विधानों की दृष्टि से भी यज्ञ स्वच्छता का प्रतीक है। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले सभी उपकरणों को पवित्र करने की जो प्रतिज्ञा यजुर्वेद में की गयी है,[66] वह भी पर्यावरण की शुद्धता का द्योतक है। यज्ञ के सभी उपकरण-वेदी के लिए भूमि, वेदी, जल, कुश, अग्नि, समिधा, पात्र, हवनसामग्री, यजमान, ऋत्विक् और यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्रादि भी परोक्ष रूप से पर्यावरण की शुद्धता में सहायक हैं, क्योंकि इनकी शुद्धता में वातावरण को स्वच्छ रखने की भावना छिपी है। पर्यावरण की शुद्धता में यज्ञ की भूमिका की पराकाष्ठा यज्ञ की समाप्ति पर होने वाले शान्तिपाठ[67] में देखी जा सकती है, जिसमें आकाश, अन्तरिक्ष, जल, औषधियों-वनस्पतियों, देवरूपी सभी प्राकृतिक शक्तियों, सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च को धारण करने वाली दैवी शक्तियों की शान्ति की कामना की गयी है। परोक्षत: इस शान्ति-पाठ में भी पर्यावरण के अभिन्न अंगों (उपर्युक्त सभी तत्त्वों) के परस्पर विरोधोपशमन की कामना की गयी है, जिससे उनमें सामञ्जस्य रहे और वे सर्वथा मंगलकारी हों। इनमें परस्पर विरोध न होने पर प्राकृतिक शाक्तियाँ अपने मूल रूप में रहती हुई पर्यावरण में संतुलन बनाए रखती हैं। अत: यज्ञ शुद्धिकारक है, क्योंकि यह स्वयं शुद्ध है। इसके प्रत्येक उपकरण तथा विधि-विधान पर्यावरण की शुद्धता में सहायक हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त निवेचन के आलोक में यह कहा जा सकता है कि प्रदूषण-शोधन और पर्यावरण-संरक्षण में स्थूल (कर्मकाण्डीय) एवं सूक्ष्म (आधिदैविक) दोनों दृष्टियों से वैदिक यज्ञ उत्तम साधन है और सर्वसुलभ है, जो वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध है। अत: आज जब अखिल विश्व पर्यावरण-प्रदूषण की भीषण समस्या से चिन्तित है तो हम सबको अपनी रक्षा तथा राष्ट्र को प्रदूषणमुक्त करने हेतु प्राकृतिक शक्तियों के पारखी ऋषियों द्वारा प्रदत्त यज्ञरूपी सुलभ साधन से भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शुद्धता प्राप्त करनी चाहिए।

डॉ0 राजेश्वर मिश्र
उपाचार्य (संस्कृत)
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र-136119

---

63. ऋ0 10.186.1: वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभुवो हृदे प्रण आयूंषि तारिषत्।
64. वाज.सं. 6.16: घृतेन द्यावापृथिवी प्रोणुर्वाथाम्; 5.28; घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्।
65. वही, 1.24: सहस्रभृष्टि: शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वध:।
66. वही, 1.31: सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनामि....इत्यादि।
67. वाज. सं. 36.17: ॐ द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षᳬं शान्ति: पृथिवी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति:। वनस्पतय: शान्तिर्विश्वेदेवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्ति: सर्वᳬंशान्ति: शान्तिरेव शान्ति: सा मा शान्तिरेधि।

यज्ञ एवं पर्यावरण

श्रीमती डॉ0 वीना विश्नोई

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता वैदिक काल से ही मिलती है। हमारे वेद, पुराण, उपनिषद् तथा अन्य शास्त्रों में धारती को माता कहकर सम्बोधित किया है, जो हमारी सम्पूर्ण प्राकृतिक शाक्तियों की जननी व पोषक है। प्रकृति का मानव के साथ जो गहरा रिश्ता है, उसे जिस तरह से भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में दर्शाया गया है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

वेदों में प्रकृति को देवी के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। प्रकृति में व्याप्त वायु, जल, भूमि, वनस्पति और हमारे आस-पास की वह सभी बाह्य परिस्थितियाँ, वस्तुएँ एवं भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ, जो हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं, वे पर्यावरण कहलाती हैं। पर्यावरण शब्द 'परि' और 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक वृञ् आवरणे धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[1] जिसका अर्थ चारों ओर का घेरा, ढकना, छिपाना और मूँदना है।[2] पर्यावरण का वेद में आच्छादन के अर्थ में प्रयोग हुआ है, क्योंकि जल वायु, भूमि व सजीव-निर्जीव के परस्पर सम्बन्ध से ही चारों ओर का जीवमण्डल आच्छादित रहता है। अत: पर्यावरण और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वच्छ वातावरण में रहकर ही प्राणिमात्र आरोग्य प्राप्त करता है, जिससे बल, आयु और सुख की प्राप्ति होती है।[3] पर्यावरण के प्रमुख घटक पञ्चमहाभूतों के समवाय से शरीर की रचना हुई है।[4] पर्यावरण मात्र भौतिक या लौकिक वातावरण तक ही सीमित नहीं है, अपितु समस्त ब्रह्माण्ड के निर्माण में इसकी अहम् भमिका है।

ब्रह्माण्ड एक सक्रिय इकाई है, जहाँ प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तित होती रहती है, कुछ भी अकारण व अकस्मात् नहीं होता और प्रत्येक कार्य का प्रयोजन व उद्देश्य हुआ करता है। हम एक व्यक्ति के तौर पर इस परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड का हिस्सा हैं। मानव एक ऐसी अविभाज्य इकाई है जिसे छोटे-छोटे हिस्सों में नहीं बाँटा जा सकता और न ही ब्रह्माण्ड से अलग एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में देखा जा सकता है। हाल ही के कुछ वर्षों में हमारे भूमण्डल से जुड़ी कुछ विध्वंसक घटनाओं ने हमें आधुनिक विज्ञान के खण्डित या अपूर्ण दृष्टिकोण पर ध्यान देने को विवश कर दिया है। ओजोन की परत में छिद्र, चेरनोबिल की आण्विक दुर्घटना और खाड़ी युद्ध ने हमें महसूस करा दिया है कि इन भूमण्डलीय घटनाओं का दुष्प्रभाव कहाँ तक हो सकता है।

सम्पूर्ण जगत् का भौतिक अस्तित्त्व पाँच मूल तत्त्वों से मिलकर बना है। जो इस दृश्यमान संसार में विविधता का कारण है। पाँचों तत्त्व मिलकर अलग-अल स्तरों पर वैश्विक यथार्थ का निर्माण करते हैं। ब्रह्माण्ड में इनका साम्य लय व सन्तुलन को दिखाता है। जबकि इनमें आया विकार विपत्ति का कारण बनता है। उदाहरण के लिए कुछ ही क्षणों में एक भूकम्प भयंकर विनाश कर

---

1. धातुपाठ चुरादिगण 2 आप्टे कोश
2. ऋग्वेद 2.34.4
3. ऋग्वेद 12.88'' आरोग्याद् बलमायुश्च सुखं च लभते महत्।''
4. चरक, शरीर-संस्थान 1.27'' महाभूतानि सं वायुरग्निराप: क्षितिस्तथा।''

सकता है। जीवन प्रदायक शान्त और सुन्दर नदी भी विनाश का कारण बन सकती है। सूर्य इस धरती पर जीवन को सम्भव बनाता है, लेकिन उसका भीषण ताप अनावृष्टि और उपज की विनाश का कारण भी बनता है।

वेदों में **'अग्नीषोमात्मकं जगत्'** कहकर समस्त संसार में प्रकृति सन्तुलन में अग्नि और सोम का समन्वय माना गया है। वैज्ञानिकों के अनुसार प्राण की उत्पत्ति सर्वप्रथम पेड़-पौधों से हुई, परन्तु प्राण का वास जीवद्रव्य में होता है। करोड़ों वर्ष पूर्व उत्पन्न एक कोशीय जीव ने जीवद्रव्य का रूप धारण किया, यही जीवद्रव्य जीवन का भौतिक आधार है। मनुष्य का जन्म ही पञ्चतत्त्वों से मिलकर हुआ है व अन्त में इन्ही में उसका विलय हो जाता है। इन तत्त्वों पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है-

आकाश-आ उपसर्ग पूर्वक काश दीप्तौ धातु से आकाश शब्द निष्पन्न होता है, जो सर्वत्र व्यापक हो उसे आकाश कहते हैं।[5] यह जो बाहर आकाश है वही तुझ में और मुझ में है।[6] जैमिनीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि जहाँ-जहाँ वायु चलता है वहीं-वहीं आकाश है।[7] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि अन्तरिक्ष तथा वायु के आश्रय पर अग्नि है। एक अन्य स्थान पर वर्णन मिलता है कि यह सम्पूर्ण विश्व अन्तरिक्ष से व्याप्त है और यह अन्तरिक्ष छिद्रयुक्त है।[8] ये सब स्वयं पवित्र हैं तथा इनका आश्रय स्थान आकाश भी पवित्र है। अत: इन सबके द्वारा पर्यावरण की शुद्धि होती है। वायु से अधिक तेज चलने वाले वायुयान, मोटर कार, स्कूटर, टेलीफोन, वाद्ययन्त्र, लाउडस्पीकर आदि यन्त्र ध्वनिप्रदूषण का कारण है, जिसका परिणाम व प्रभाव लम्बे समय बाद देखने में आता है। अधिक शोरगुल होने के कारण उन में तनाव उत्पन्न हो जाता है, जिससे श्रवण-शक्ति पर प्रभाव पड़ता है, निद्रा न आना आदि बीमारियाँ हो जाती हैं। अत: पर्यावरण को सुधारने में शब्द का अपना स्थान है।

वायु-वेद का कथन है कि वायु प्राण है।[9] यह वायु ही प्राण होकर नासिका में प्रविष्ट हुआ।[10] वायु अमृत का कोश हैं[11] जहाँ अमृत वायु पहुँचता है वहाँ रोग नहीं होता। वायु शरीर अवयवों को धारण करने वाली प्राण, अपान, व्यान, उदान और सामान इन पाँचों वायुओं की आत्मा सभी इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त कराती है। जिस व्यक्ति के शरीर में वायु विना रुकावट के गमन करती रहती है, वह व्यक्ति रोग रहित सौ वर्ष से अधिक जीवित रहता है।[12] पृथ्वी को धारण

---

5. व्याकरण-महाभाष्य, पस्पशाह्निक,'' आ समन्तात् काशन्ते प्रकाशन्ते-व्यवतिष्ठन्ते पदार्था यत्र''
6. जैमिनीय ब्राह्मण उपनिषद् 1.20.2.'' अये मे आकाशः समे त्वयि''
7. ताण्ड्य ब्राह्मण 15.12.2, 3.10.2.''
8. तैत्तिरीय उपनिषद् 2.9.
9. अथर्ववेद 5.9.7. ''वात: प्राण:''
10. ऐतरेय उपनिषद् 1.2.3. वायु: प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।
11. ऋग्वेद 10.186.3.
12. चरक, चिकित्सास्थान 28.4.

करना, जल को बरसाना, गेहूँ आदि शस्यों को बढ़ाना आदि वायु के कार्य हैं।[13] जब हम श्वास लेते हैं, तो वायु में विद्यमान परम उपयोगी तत्त्व ऑक्सीजन हमारे फेफड़ों में बिछे रक्त कोशिकाओं के जाल में प्रविष्ट होकर हमारे शरीर की कोशिकाओं में पोषण तत्त्वों को ऑक्सीकरण द्वारा शारीरिक ऊर्जा को बढ़ाता है,[14] परन्तु दुर्गन्ध युक्त वायु स्वास्थ्य विनाशक है। अत: वातावरण शुद्ध होना चाहिए।

अग्नि-न्याय वैशेषिक के अनुसार जो द्रव्य उष्ण स्पर्श का आश्रय है, वह अग्नि है। यह नित्य व अनित्य भेद से दो प्रकार की है। परमाणु रूप अग्नि नित्य है व कार्य रूप अग्नि अनित्य है। यह अग्नि शरीर, इन्द्रिय विषय भेद से तीन प्रकार की है। शरीर रूप अग्नि सूर्य लोक में है, इन्द्रिय रूप अग्नि नेत्रेन्द्रिय है। विषय रूप अग्नि चार प्रकार की है, भोग, दिव्य, उदर्य और आकरजन्य। भोग अग्नि वह है जिससे भोजन बनाते हैं। विद्युत् जल आदि से प्राप्त दिव्य अग्नि है। उदरस्थ भोजन को पचाने वाली अग्नि उदर्य है तथा खान से उत्पन्न सुवर्णादि आकरजन्य अग्नि है।[15]

सूर्य-सूर्य स्थावर जंगम रूप संसार की आत्मा है[16] क्योंकि वह प्राण रूप होकर अपने तेज से सारे संसार को प्रकाशित करता है। सारी प्रजाओं का प्राण रूप होकर उदय होता है। जहाँ-जहाँ सूर्य की किरणें जाती है। वहाँ-वहाँ जीवन जाता है। अत: निश्चय ही मनुष्य सूर्य से उत्पन्न होते हैं।[17] वेद का कथन है कि प्रकाश स्वरूप सूर्य की सात प्रकार की किरणें समुद्र, अन्तरिक्ष या मेघ के जलों को धारा रूप में नीचे भूमि पर लाती हैं, वे धाराएँ हे पुरुष। तेरे कष्टों का नाश करें।[18] अर्थात् सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी के ऊपर के जल को वाष्प बनाकर ऊपर ले जाता है और उससे मेघ बनाता है पश्चात् वृष्टि होती है तथा भूमि पर जल प्रवाह बहने लगता है।[19] इस प्रकार जल चक्र के चलने से भूमि पर पेड़-पौधे, वन औषधियाँ पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होते हैं। ऋग्वेद में कहा है कि सूर्य अपने तापमान से बहुत रूपों वाली औषधियों को पकाता है।[20] वनस्पतियों से ऑक्सीजन प्राप्त होती है, जिससे मनुष्य जीवन धारण करता है। अत: सूर्य के ताप का पर्यावरण के परिशोधन में विशेष स्थान है।

जल-जल द्रव, स्नेह तथा रूप, रस और स्पर्श गुण वाले हैं।[21] इनके सेवन से बल, वीर्य की वृद्धि होकर प्रसन्नता व पवित्रता आती है तथा रोग दूर होते हैं।[22] ऋग्वेद में जल अमृतरूप कहा है,[23]

---

13. चरक सूत्र स्थान 12.7.
14. स्वास्थ्य विज्ञान, स्वच्छ वातावरण पृ0 9. लेखक डॉ0 सत्यदेव आर्य।
15. तर्क संग्रह, अग्नि लक्षण
16. ऋग्वेद 11.15.9. सूर्य आत्मा जगततस्थुषश्च। महाभारत, वनपर्व 3.36. त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्।
17. ऋग्वेद 7.63.4. नूनं जना: सूर्येण प्रसूता।
18. ऋग्वेद 7.107.1.
19. अथर्ववेद 7.107.1. पर भाष्य पं0 सातवलेकर, द्वितीयावृत्ति
20. ऋग्वेद 10.88.10.
21. वैशेषिक दर्शन 2.1.2.
22. अथर्ववेद 12.3.27.

जो शरीर में पोषणतत्त्व उत्पन्न कर दीर्घकाल तक सूर्य के दर्शन कराने वाला व ज्ञानेन्द्रियों तथा मानसिक शक्तियों को बढ़ाने वाला कहा गया है।[24] जल में अग्नितत्त्व विद्यमान है, जिससे शरीर में विशेष प्रकार के वर्चस् का आधान होता है। दीप्तिमान्, शुद्ध और पवित्र जल शरीर की रक्षा करता है।[25] पृथ्वी पर जल के स्रोत नदी, नाले, झरने, तालाब व समुद्र प्रमुख रूप से हैं, जिनका मानव कल्याणार्थ शुद्ध होना आवश्यक है।

पृथ्वी-वेद का कथन है कि पृथ्वी शब्द पृथु विस्तारे से बना है। अतः जिस भूमि पर समुद्र, नदी, झरने आदि नाना प्रकार के जल हैं और जिस पर अन्न व नाना खेतियाँ होती हैं, जिस पर यह जीता-जागता मानव चलता-फिरता है, समस्त विश्व का भरण-पोषण करने वाली यह पृथ्वी ही सब बहुमूल्य धन-सम्पत्तियों का खजाना है। वह सब की प्रतिष्ठा, मान और सम्मान को बढ़ाने वाली, स्वर्ण आदि धातुओं को अपनी कोख में धारण करने वाली और सम्पूर्ण संसार को अपने ऊपर बसाने वाली है।[26] ऋग्वेद में कहा है कि यह पृथिवी हमारी नाभि है।[27] यह माता के समान पुत्रों का पालन करने वाली है, यह पृथ्वी हमारा शरीर है। अतः इसका स्वच्छ निर्मल होना अत्यावश्यक है।

इसके प्रदूषित होने से इस पर पैदा होने वाला अन्न दूषित हो जाता है ओर दूषित अन्न को खाकर प्राणी रोगी हो जाते हैं। आज के इस वैज्ञानिक युग में कारखानों आदि का प्रदूषित जल अनाज व पौधों के लिए विनाशक रासायनिक पदार्थों का प्रयोग आदि ऐसे कारण हैं, जिनसे पर्यावरण प्रदूषित और हानिकारक हो रहा है।

गत लाखों वर्षों से जल, वनस्पति और प्राणियों में एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित है जो पर्यावरण को सन्तुलित बनाये रखता है तथा एक दूसरे के पूरक पदार्थों का निर्माण करता है, लेकिन हम अपनी उच्चाकांक्षाओं, जीवन में सभी प्रकार की अधिक सुविधाओं को जुटाने के प्रयास में पर्यावरण में स्थापित सन्तुलन को बिगाड़ते जा रहे हैं। जिस प्रकार किसी क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। उसी प्रकार नये-नये वैज्ञानिक उपकरणों के परिणाम भी दूरगामी दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होगें, इसके लक्षण आज दिखाई पड़ने लगे है।

दो हजार वर्ष पूर्व आयुर्वेदीय मनीषी चरक ने लिखा है कि मनुष्य को इहलोक और परलोक में भलाई के लिए तीन कामना करनी चाहिए। जीवन की कामना, धन की कामना, परलोक में सुख की कामना। इन तीनों कामनाओं में से मनुष्य को जीवन की कामना को पहली प्राथमिकता देनी चाहिए, क्योंकि जीवन के जाने पर सब कुछ चला जाता है।[28]

स्वास्थ्य सुरक्षा का ही पर्याय है, जिसका अर्थ है देह का प्राकृतिक सन्तुलन बनाये रखना व

---

23. ऋग्वेद 1.23.9. निघण्टु 1.12.
24. यजुर्वेद 6.3.
25. ऋग्वेद 1.23.23.
26. अथर्ववेद 10.5.24. ऋग्वेद 7.49.2. यजुर्वेद 6.12.
27. अथर्ववेद 12.1.3.
28. चरक संहिता सूत्र स्थान, 3.

शेष विश्व से उसका तालमेल बनाना। देह की रचना करने वाले पाँचों तत्त्वों को त्रिदोष के रूप में माना गया है, जो सभी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के लिए उत्तरदायी है। ये त्रिदोष वात्त, पित्त और कफ हैं।[29] इन दोषों का ब्रह्माण्डीय तत्त्वों से सम्बन्ध इस प्रकार है-वात की उत्पत्ति आकाश और वायु से, पित्त की अग्नि से और कफ की उत्पत्ति जल और पृथ्वी से हुई है।[30] इसके अतिरिक्त शरीर में मन और बुद्धि है, जिसका त्रिरूप सत्त्व, रजस् और तमस् में सन्तुलन बनाये रखना ही स्वास्थ्य है।[31] जब शरीर में सन्तुलित वायु न होकर अधिक या न्यून होती है तो वातज रोग उत्पन्न होते हैं, जैसे-गृधसी और पक्षाघात तथा अग्नितत्त्व का कम व अधिक होना पित्तज रोगों जैसे-भ्रम, दाह, वमन, अम्लक आदि रोगों को उत्पन्न करता है तथा अपेक्षित जल व पार्थिव तत्त्वों के न्यूनाधिक्य से कफज रोग जैसे-गलगण्ड, मुख संस्राव मलाधिक्य आदि उत्पन्न हो जाते हैं।[32]

सम्पूर्ण विश्व में जो सृजन, निर्माण और विकास की अविरल धारा बह रही है तथा मन प्राण और भूत का जो निरन्तर संयोग-वियोग हो रहा है, यही यज्ञ है।[33] यज्ञ मानव शरीर में जीवित रहने और श्वास लेने की क्रिया भी है। ये यज्ञ मनुष्य और प्रकृति के बीच सेतु बनाते हैं। इनके माध्यम से मनुष्य प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ता है और उसकी शक्तियों का उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करता है।

यज्ञ का पर्यावरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। अथर्ववेद में उसे समस्त ब्रह्माण्ड को बाँधने वाला नाभिस्थल बताया गया है तथा उसे पृथ्वी को धारण करने वाले तत्त्वों में गिनाया है।[34] वेदों में यज्ञ को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है कोई भी नित्य नैमित्तिक क्रिया ऐसी नहीं है, जिसका सम्पादन यज्ञ के विना किया जाता हो। वेदों में आये मन्त्रों द्वारा ही कई अवसरों पर देवताओं का आह्वान किया जाता है, यज्ञ में आहुतियाँ डाली जाती है। ऋग्वेद में त्याग, दान और यज्ञ को विशेष महत्त्व दिया गया है।[35] देवपूजा, संगतिकरण और दान तीनों ही अर्थों में यज्ञ उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक है, इसलिए बार-बार वेदों में यज्ञ की प्रेरणा दी गई है। यजुर्वेद में एक स्थल पर अपनी सभी सम्पत्ति, सब पदार्थ अपना सब कुछ यज्ञ में समर्पित करने की प्रेरणा दी गई है। यहाँ तक की साधक यह प्रार्थना करता है कि मेरा प्राण, अपान, व्यान और मेरी हर साँस, मेरा मन, मेरी वाणी, मेरी निपुणता और मेरा बल, ये सब यज्ञ भावना से युक्त हों।[36] शतपथ-ब्राह्मण में यज्ञ को विष्णु,

---

29. पदार्थ विज्ञान
30. पदार्थ विज्ञान
31. चरक संहिता, स्वास्थ्य विज्ञान
32. चरक संहिता
33. भारतीय संस्कृति, धर्म एवं पर्यावरण संरक्षण पृ0 77
34. अथर्ववेद 9.10.14. यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।
35. ऋग्वेद 10.90.16. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
36. वासजनेयी संहिता 18.2. प्राणश्च मे अपानश्च मेऽसुश्च मे।' 'वाक् च मे मनश्च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।'

कर्म तथा पुरुष की संज्ञा दी है।[37] विष्णु पुराण में **'यज्ञाः कल्याण हेतवः'** कहा गया है।[38] अग्नि तथा मत्स्य पुराण में यज्ञ को देवताओं की प्राप्ति का साधन बताया गया है।[39] अथर्ववेद में यज्ञहीन मनुष्य को तेजहीन कहकर निन्दित किया गया है।[40] पद्मपुराण में यज्ञ द्वारा देवों तथा मानवों की वृद्धि का उल्लेख किया गया है।[41] आश्वालायन गृह्यसूत्र में यज्ञ को सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न का वर्धन करने वाला बताया है।[42]

गौतम धर्म सूत्रकार ने प्रमुख रूप से तीन यज्ञ-पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ का उल्लेख करते हुए इनके सात-सात अवान्तर भेद गिनाकर यज्ञों की संख्या कुल इक्कीस गिनाई गई है। इन इक्कीस के अतिरिक्त पञ्च महायज्ञों को सम्मिलित कर छब्बीस यज्ञ हो जाते हैं।[43] स्मृतियों, पुराणों व महाभारत में गृहस्थी के लिए नित्य प्रति इन पञ्च महायज्ञों का करना अनिवार्य बताया गया है।[44] ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ व बलियज्ञ इन पाँच यज्ञों में से देवयज्ञ में कहा गया है कि प्रकृति को नियन्त्रित करने वाले देवताओं, जो अपनी शक्तियों द्वारा विभिन्न रूपों सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, इन्द्र, वरुण आदि द्वारा जगत् का कल्याण कर रहे हैं, उन्हें होम द्वारा प्रसन्न करना चाहिए।[45] भगवद्गीता में भी कहा है कि प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त करो यह यज्ञ तुमको इच्छित कामनाओं वाला बनाये।[46] मनुस्मृति में कहा गया है कि यज्ञ में डाली गई वस्तुएँ आहुति द्वारा सूर्य तक (धुएँ के माध्यम से) पहुँचती हैं, सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न होता है, जिससे प्रजा की रक्षा होती है-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥[४७]

वैदिक आर्यों का यह विश्वास है कि यज्ञों से आरोग्यता, संतति, वर्षा, राज्य विद्या, सुख, शान्ति एवं परमात्मा की प्राप्ति होती है। सन् 1962 में देशी-विदेशी भविष्यवक्ताओं ने जब सम्पूर्ण संसार को प्रलय के कगार पर खड़ा पाया तो भारतवासियों को अपनी प्राचीन पद्धति यज्ञ की याद आई।[48]

---

37. शतपथ ब्राह्मण 1.1.1.1. यज्ञो वै विष्णुः।
38. विष्णु पुराण 6.18.
39. मत्स्य पुराण 14.3.33. यज्ञैश्च देवानामाप्नोति। अग्निपुराण 3.80.
40. अथर्ववेद
41. पद्मपुराण
42. आश्वालयगृह्य सूत्र 1.10.12.
43. गौतम धर्मसूत्रकार
44. महाभारत शान्ति पर्व 146.7.
45. मनुस्मृति होमो देवो.............
46. गीता 3.10. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष योऽस्त्विष्टकामधुक्॥
47. मनु03.76
48. भारतीय संस्कृति, धर्म एवं पर्यावरण संरक्षण पृ0 80.

यज्ञ विना हविर्द्रव्यों के सम्पन्न नहीं होता, अतः यज्ञ के लिए हवि आवश्यक द्रव्य है। यज्ञ की हवि प्रधान रूप से घृत ही है। वेद में कहा है-समिधाओं से यज्ञाग्नि को प्रज्जवलित करो पुनः उस अतिथि स्वरूप अग्नि को घृत से प्रबुद्ध करो और प्रदीप्त अग्नि में उत्तमोत्तम हवि की आहुतियाँ प्रदान करो।[49] घृत से अतिरिक्त अन्य हवियों का भी निर्देश है। मन्त्र में चार प्रकार की हवि द्रव्यों का संकेत है-(क) सुगन्धियुक्त, (ख) पुष्टिवर्धक, (ग) रोगनाशक, (घ) मिष्ट

ये चार प्रकार के पदार्थ यज्ञ की हवि के लिए उपदिष्ट हैं। इन द्रव्यों का नाम उल्लेख महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में निम्न प्रकार किया है-प्रथम सुगन्धित होमद्रव्य-कस्तूरी, केसर, अगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, सावित्री आदि। द्वितीय पुष्टिकारक-घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ आदि। तृतीय मिष्ट-शक्कर, शहद, छुआरे, दाख आदि। चतुर्थ रोगनाशक-सोमलता अर्थात् गिलोय आदि औषधियाँ।[50] यज्ञ में नियत वृक्षों से समिधायें लायी जाती हैं जैसे-पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम बिल्व आदि।[51] अथर्ववेद में कहा है कि जिस मनुष्य को गूगल औषध का उत्तम गन्ध प्राप्त होता है, उसे रोग पीड़ित नहीं करते और आक्रोश उसे नहीं घेरता।[52]

प्राचीन काल में महामारी फैलने पर उनके निवारण के लिये बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते थे, इन्हें चातुर्मास्य या भैषज्य यज्ञ कहा जाता है।[53] इसी अभिप्राय से सुश्रुतकार ने गूगल, अगर, राल, चन्दन व सफेद सरसों के चूर्ण तथा लवण और नीम की पत्ती को घृत के साथ मिलाकर उनके धूपन से रोग दूर करने का विधान किया है।[54] राजयक्ष्मा को यज्ञों के प्रयोग से जीता जाता था। यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर यज्ञ से दूर होने वाली व्याधियों का वर्णन मिलता है। जैसे-अंगों में व्याप्त ज्वर का प्रतिकार, उन्मत्त पुरुष को नियन्त्रित करना, गण्डमाला की ग्रन्थियों को उखाड़ कर दूर करना, गर्भ के दोष आदि का निवारण यज्ञाग्नि द्वारा सम्भव है।[55] अथर्ववेद में एक स्थान पर यज्ञ के प्रमुख देवता अग्नि से प्रर्थना की गई है-हे प्रकाशक अग्ने! गुप्त से गुप्त स्थानों में छिपे बैठे हुए भक्षक रोग कृमियों को तू जानता है। वेदमन्त्रों के साथ बढ़ता हुआ तू उन रोग कृमियों को नष्ट कर दे और उनसे होने वाली सैकड़ौ हानियों को निवृत्त कर।[56] अथर्ववेद में पर्यावरण की दृष्टि में प्रातः सांय दोनों समय यज्ञ करना कहा है क्योंकि इससे बल आरोग्य, दीर्घायु व अन्य सहस्रों लाभ होते हैं।[57]

यज्ञ से निकले धुएँ का विश्लेषण करने पर पाया गया कि जलती हुई शक्कर में वायु शुद्ध

---

49. यजुर्वेद 12.30.
50. संस्कार विधि महर्षि दयानन्द
51. सामान्य प्रकरण पृ0 20. प्रथम संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट बहावलगढ़
52. अथर्ववेद 19.38.1.
53. गोपथ ब्रा0उ0 1.19.
54. सुश्रुत सूत्रस्थान 5.17.
55. यजुर्वेद 12.30.3.60.
56. अथर्ववेद 1.12.2, 6.111.10., 6.871.-4. 20.96.11.
57. अथर्ववेद 19.55.3. अग्निहोत्रं सायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः।

करने की क्षमता तथा इसके धुएँ में क्षय, चेचक व हैजा आदि बीमारियों के कीटाणु नष्ट करने की क्षमता पाई जाती है। मुनक्का, किशमिश आदि फलों के धुएँ में टाईफाईड के रोगकीट मारने की क्षमता है। घी और चावल में केसर मिलाकर अग्नि में आहुति देने से रोग कीट मर जाते हैं। धुएँ का कड़वापन समाप्त करने के लिए अगर का प्रयोग किया जाता है।[58]

यज्ञ के धूपन से दुर्गन्ध नष्ट होती है। रोगवाहक कृमि कीट आदि नष्ट होकर पर्यावरण शुद्ध व स्वास्थ्यवर्धक्र होता है। जब हम यज्ञाग्नि में घृत, अन्न, औषधियों आदि की आहुति देते हैं, तब उनकी रोगनिवारक गन्ध वायुमण्डल में फैल जाती है। उस वायु को हम श्वास द्वारा अपने फेफड़ों में भरते हैं। वहाँ उस वायु का रक्त से सीधा सम्पर्क होता है। वह वायु अपने में विद्यमान रोग निवारक परमाणुओं को रक्त में पहुँचा देती है। उससे रक्त में जो रोगकृमि होते हैं, वे मर जाते हैं। रक्त के अनेक दोष वायु में आ जाते हैं और जब हम वायु को बाहर निकालते हैं, तब उसके साथ वे दोष भी हमारे शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार यज्ञमय संस्कृत वायु में बार-बार श्वास लेने से शनैः-शनैः रोगी स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार यज्ञों द्वारा पर्यावरण स्वास्थ्यवर्धक हो जाता है।[59]

श्रीमती डॉ0 वीना विश्नोई
संस्कृत प्रवक्ता-कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
हरिद्वार

58. भारतीय संस्कृति, धर्म एवं पर्यावरण संरक्षण पृ0. 79. डॉ0 बी0बी0एस0कपूर
59. यज्ञमीमांसा अर्थात्अग्निहोत्र दर्पण पृ0 18 प्रथम संस्करण 1980 रामनाथ वेदालंकार

यज्ञ की विलक्षण पर्यावरण-संवर्द्धन-क्षमता

डॉ0 डी0 डी0 ओझा एवं एफ. एम. गिलानी

वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व में जो सृजन, निर्माण और विकास की अखिल धारा बह रही है तथा मन, प्राण और भूत का जो निरन्तर संयोग-वियोग हो रहा है, यही यज्ञ है। यज्ञ मानव शरीर में जीवित रहने और श्वास लेने की क्रिया भी है। यज्ञ मनुष्य तथा प्रकृति के बीच सेतु बनाते हैं। इनके माध्यम से मनुष्य प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ता है और उसकी शक्तियों का उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करता है।

यज्ञ के द्वारा पर्यावरण की सुरक्षा, वायुमण्डल की पवित्रता, विविध रोगों का नाश, शारीरिक और मानसिक उन्नति तथा रोग निवारण के कारण दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है। भारतीय महर्षियों ने अपनी प्रखर एवं सूक्ष्म दृष्टि से पर्यावरण परिष्करण के लिये अत्यन्त उत्तम प्रक्रिया 'यज्ञ' का अन्वेषण किया। वस्तुतः यज्ञ या अग्निहोत्र वह वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा वायुमण्डल में ऑक्सीजन और कार्बन डाइऑक्साइड का संतुलन बना रहता है। इसी के आधार पर ऋतुचक्र, वर्षचक्र, अहोरात्रचक्र, सौरचक्र, चान्द्रचक्र आदि परिवर्तित होते हैं। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में प्राकृतिक यज्ञ का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वर्षचक्र रूपी यज्ञ में वसन्त ऋतु घी है, ग्रीष्म ऋतु समिधा और शरद् ऋतु हव्य है। वसन्त के बाद ग्रीष्म, ग्रीष्म के बाद वर्षा तथा वर्षा के बाद शरद् तथा शरद् के बाद वसन्त ऋतु। इस प्रकार यह वर्षचक्र पूरा होता है। जब समुद्रमन्थन के पश्चात् वायुमण्डल प्रदूषित हो गया था तो पर्यावरण को शुद्ध करने के लिये सर्वप्रथम यज्ञ का आयोजन राजा दक्ष ने किया था।

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥[1]

सनातन धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रतिदिन पाँच महायज्ञ करने का विधान है, यथा-देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ एवं मनुष्य यज्ञ। छान्दोग्योपनिषत् में यज्ञ को पर्यावरण प्रदूषण के निराकरण का सर्वोत्तम साधन बताया गया है तथा यह भी कहा गया है कि यह सभी अशुद्धियों, दोषों या प्रदूषण को दूर करके पवित्र बनाता है।

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते इदं सर्वं पुनाति, तस्मादेष एव यज्ञः[2]

गीता में भी यही उपदेश है कि यज्ञ के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करो और देवता वर्षा के कारण तुम्हे सुख देंगे।

देवान् भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः।

---

1. यजुर्वेद 31.14
2. छान्दो. उप. 4.16.1

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ॥[3]

यजुर्वेद में उत्तम कृषि के लिये यज्ञ को आवश्यक बताया गया है यज्ञ से बादल, से वर्षा और वर्षा से उत्तम कृषि होती है।

यज्ञ की वैज्ञानिकता

यज्ञ में निम्न सामग्रियों का प्रायः उपयोग होता है-आम, पलास, चन्दन, देवदार, बेल, बरगद, गूलर, पीपल, जायफल, इलायची, गुग्गल, सूखे, नारियल, चावल, गेहूँ, जौ, मूँग, चना, किशमिश, छुआरा, ब्राह्मी, अदरक, लौंग, हल्दी, मुलहठी, बहेड़ा, दालचीनी, आँवला, चीनी, घी आदि।

इसके अतिरिक्त यज्ञ में कस्तूरी, कर्पूर, दूध, दही आदि का भी उपयोग होता है। यज्ञ जितना छोटा अथवा बड़ा करना होता है, उसी अनुपात में यज्ञ कुण्ड छोटा या बड़ा होता है।

समिधाः-यज्ञ में समिधा के लिये ऐसे वृक्षों का चयन किया जाता है जिनसे (पलास, बरगद, पीपल, गूलर बेल आदि) कॉर्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा बहुत कम निकलती है और जो शीघ्र जल जाते हैं। इनका कोयला न बनकर राख ही बनती है इसमें धुआँ भी बहुत कम निकलता है।

घृतः-यज्ञ में गाय के घृत को सर्वोत्तम माना गया है। घी यज्ञ का प्रधान द्रव्य है। यह शरीर को तेज और बल देता है। यज्ञ में डाला गया घी रोग निरोधक तथा वायुमण्डल को शुद्ध करता है, यह घी विष नाशक भी होता है।

सामग्रीः-यज्ञ में डाली जाने वाली हव्य वस्तुओं को सामग्री कहते हैं, हव्य वस्तुएँ भी चार प्रकार की होती हैं।

(१) सुगन्धितः-कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, चन्दन, जायफल, इलायची, जावित्री आदि।

(२) पुष्टिकारकः-इनमें घृत के अतिरिक्त दूध, फल, मूल, कन्द, गेहूँ, चावल, उड़द, तिल आदि पदार्थ होते हैं। यज्ञ में प्रयुक्त ये पदार्थ मनुष्यमात्र के शरीर को पुष्ट बनाते हैं।

(३) रोगनाशकः-सोमलता, गिलोय, गुग्गल, अपामार्ग आदि पदार्थ यज्ञ में प्रयुक्त होकर विभिन्न रोगों को दूर करते हैं। यज्ञ-चिकित्सा-पद्धति में अलग-अलग रोगों के निवारण के लिये अलग-अलग पदार्थों को यज्ञ में प्रयुक्त करने से वायुमण्डल को शुद्ध करने की इनमें असाधारण शक्ति होती है।

(४) मिष्ट पदार्थः-मीठे चीजे जैसे-गुड़, शक्कर, किशमिश आदि को यज्ञ में प्रयुक्त करने से वायुमण्डल को शुद्ध करने की इनमें असाधारण शक्ति होती हैं।

यज्ञ में प्रयुक्त पदार्थों में विविध रासायनिक परिवर्तन होते हैं। सामान्यतया यज्ञाग्नि का तापमान 250-600 के मध्य होता है। प्रज्वलित पदार्थों के तापमान में 1200-13000 से के बीच

---

3. गीता 3.11

वृद्धि होती है। हव्य पदार्थों में उपस्थित सेल्युलोज एवं कार्बोहाइड्रेट्स का दहन होता है। कार्बनिक पदार्थ में उपस्थित हाइड्रोजन वायुमण्डल की ऑक्सीजन के साथ संयोग करके अधिक मात्रा में वाष्प का निर्माण करती है। इसके साथ ही उसके दहन से धूम्र भी अधिक मात्रा में उत्सर्जित होता है। यज्ञ में प्रयुक्त पदार्थों के दहन से मिथाइल एवं एथिल एल्कोहल, एसिटेलडिहाइड, फार्मिक एवं एसिटिक अम्ल का निर्माण होता है। सुगन्धित पदार्थ वाष्पीकृत होकर वायु के साथ विसरित होते हैं, जिससे यज्ञीय परिवेश में सुगन्ध की अनुभूति होती है। जब सारे वाष्पशील पदार्थ विसरित हो जाते हैं, तब सूर्य के प्रकाश में प्रकाश-रासायनिक अभिक्रिया (Photo chemical Reaction) प्रारम्भ होती है। यही कारण है कि यज्ञ प्रायः सूर्य के प्रकाश की पूर्ण उपस्थिति में ही सम्पन्न किये जाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन पराबैंगनी तथा अन्य लघु तरंग दैर्ध्य वाले क्षेत्रों में होते हैं।

वायु प्रदूषण की प्रमुख गैसों, यथा कार्बन मोनो ऑक्साइड, नाइट्रोजन तथा सल्फर डाइ ऑक्साइड के अत्यधिक सान्द्रता को भी यज्ञ के द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। यज्ञ में पदार्थों का अपचयन क्रिया के द्वारा वायुमण्डल में ऋण विद्युतीय आवेश का आधिक्य हो जाता है। बादलों के साथ संयुक्त होने पर ये उसके विषांश को समाप्त कर देते हैं। उत्तर प्रदेश के प्रदूषण नियन्त्रण मण्डल द्वारा यज्ञ क्षेत्र में पर्यावरण का अध्ययन किया गया तथा उसके निम्न विलक्षण प्रभाव प्रेषित किये गए।

यज्ञ के पर्यावरणीय प्रभाव

	गैसें	
अवधि	**सल्फर डाइऑक्साइड**	**नाइट्रस ऑक्साइड**
यज्ञ से पूर्व	3.36	1.16
यज्ञावधि में	2.82	1.14
यज्ञ के पश्चात्	0.80	1.02

जल में बैक्टीरिया जीवाणु की स्थिति

यज्ञ से पूर्व	4500
यज्ञावधि में	2470
यज्ञ के पश्चात्	1250

यज्ञ का रासायनिक विश्लेषण:-

फॉस्फोरस	4076 मि.ग्रा/कि.ग्रा.
पोटेशियम	3407 मि.ग्रा/ कि.ग्रा.
कैल्शियम	7822 मि.ग्रा./कि.ग्राण
मैग्नीशियम	6424 मि.ग्रा./कि.ग्रा.
नाइट्रोजन	32 मि.ग्रा./कि.ग्रा.

उपर्युक्त आँकड़े यह स्पष्ट दर्शाते हैं कि यज्ञ के द्वारा मृदा की उर्वरा शक्ति को बढाया जा सकता है।

विदेशी वैज्ञानिकों की दृष्टि में यज्ञोपचारः-

यज्ञोपचार के बारे में न केवल भारत वरन् विदेशी वैज्ञानिकों ने भी बहुत अनुसन्धान किये हैं, जिनका कुछ विवरण निम्नवत् है।

(1) रूस के वैज्ञानिक डॉ. शिरोविच ने अपनी पुस्तक 'नेचर' में पञ्चामृत के परीक्षण से निष्कर्ष निकाला है कि गाय के दूध में आण्विक विकिरण के प्रभाव से रक्षा करने की अद्भुत शक्ति है, जिससे गाय के गोबर से लिपा हुआ स्थान आण्विक विकिरण के कुप्रभाव से पूर्ण सुरक्षित रहता है। यज्ञ में वायुमण्डल से ऑक्सीजन की अल्पतम मात्रा खर्च होती है।

(2) अमेरिका में न्यू जरसी शहर में अग्निहोत्र नामक संस्था है, जो अमेरिका में प्रदूषण निवारण के लिये अग्निहोत्र का बड़े पैमाने पर प्रचार कर रही है। उन्होंने यज्ञ से उत्पन्न फार्मेल्डीहाइड गैस में कीटाणुनाशक गुण प्रेषित किये हैं।

(3) रूस के चिकित्साविज्ञानी डॉ. एम. मोमियर ने अपनी पुस्तक ''एन्सिएंट हिस्ट्री ऑन मेडिसन' में लिखा है कि रोगों के कीटाणुओं को समाप्त करने के लिये यज्ञ से सुलभ कोई पद्धति नहीं है।

(4) फ्रांस के वैज्ञानिक प्रो. ट्रिलवर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला है कि शक्कर के दहन से उत्पन्न धुएँ में पर्यावरण शोधन की शक्ति होती है। इससे क्षय रोग, चेचक, हैजा एवं तपेदिक के विषाणु नष्ट हो जाते हैं।

(5) ब्रिटिश शासनकाल में चैन्नई के आयुक्त डॉ. के. किंग ने वहाँ प्लेग फैलने पर विद्यार्थियों को घी, केसर तथा चावल मिलाकर हवन करने का सुझाव दिया।

इसी प्रकार सूरत में सन् 1994 में प्लेग फैलने पर वहाँ भी चिकित्सा विशेषज्ञों ने वातावरण को विषाणुरहित बनाने के लिये घी, मिश्रित धूप, हल्दी तथा कपूर जलाने की सलाह दी थी एवं सामग्रियों के लाखों पैकेट भी वितरित किए गये थे।

(6) अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ. हावर्ड ने अपने परीक्षण में पाया कि गायत्री मन्त्र के सस्वर उच्चारण से एक सैंकेड में 1,10,000 तरंगे उत्पन्न होती हैं, जो दुर्भावानों को काफी हद तक शान्त कर देती हैं।

(7) पाश्चात्त्य वैज्ञानिक डॉ. हाले, डॉ. पामर एवं बुबे ने अपने शोध निष्कर्ष में बताया कि यज्ञीय अग्नि से गैस के रूप में अनेक पदार्थ निकलते हैं ये वायु में मिलकर सुगन्ध उत्पन्न करते हैं,

जिससे वायु-प्रदूषण दूर होता है। यज्ञ के द्वारा एक स्थान पर वायु पुंजीभूत रूप में गरम होने से हल्की हो जाती है और वह ऊपर उठती है। उसका स्थान दूसरे स्थान की वायु आकर लेती है। इस प्रकार दूरस्थ शुद्ध वायु के आने से वायु प्रदूषण दूर होता है।

अत: वायुमण्डल की परिशुद्धि के लिये यज्ञोपचार से बढ़कर और कोई शक्तिशाली माध्यम अब तक नहीं ढूँढा जा सका है। यज्ञ विश्व के सभी प्राणियों को स्वस्थ्य एवं सुखी बनाने में परम सहायक है।

डॉ0 डी0 डी0 ओझा एवं एफ. एम. गिलानी
ब्राह्मपुरी, हजारी चबूतरा
जोधपुर 342001

यज्ञ एवं पर्यावरण संरक्षण

राकेश भुटियानी एवं डॉ. देवराज खन्ना

विकास के इस दौर में, मनुष्य के द्वारा वृक्षों का अन्धाधुधं दोहन, बढ़ता औद्योगिकीकरण एवं प्रकृति के साथ अनियमित छेड़छाड़ ने मानव जगत् को अनेक प्रकार की बीमारियों व पर्यावरण असन्तुलन की समस्या के कटघरे में ला खड़ा किया है, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण पृथ्वी (जल, थल एवं वायु) अपशिष्ट पदार्थों से परिपूर्ण हो गयी है। आज पर्यावरण प्रदूषण से समस्त विश्व आक्रान्त है, पर्यावरण की समस्या आज सम्पूर्ण विश्व की जटिलतम समस्याओं में से एक है। आज विश्व के महान् वैज्ञानिक इस पर्यावरण प्रदूषण के निवारण हेतु निरन्तर अनुसन्धानरत हैं, परन्तु बढ़ती जनसंख्या, पर्यावरण के नियमित चक्र (इकोतन्त्र) के साथ छेड़छाड़, वृक्षों का दोहन, बढ़ता औद्योगिकीकरण आदि पर्यावरणीय आपदाओं को निरन्तर जन्म देता जा रहा है। संसार की लगभग दस प्रतिशत नदियाँ पूरी तरह प्रदूषित हो गयी हैं। आज हम उस मुकाम पर खड़े है जहाँ से वापस लौटना काफी कठिन हो गया है। यह पर्यावरण असन्तुलन हमें धीरे-धीरे विनाश की ओर ले जा रहा है, अतः वह समय आ गया है जब हमें अपने अस्तित्व के लिए पर्यावरण की सुरक्षा करना आवश्यक हो गया है।

प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार सुरक्षित पर्यावरण ही हमारे अस्तित्त्व की रक्षा कर सकता है। परितः आवरण अर्थात् पर्यावरण ही जीवनचक्र को नियमित एवं नियन्त्रित करता है, परन्तु उसके साथ छेड़छाड़ या उसमें हानिकारक पदार्थों का लाना पर्यावरण के लिए हानिकारक है जिस कारण समस्त जीव संकट में आते जा रहे हैं, कुछ जीव तो पृथ्वी से पूर्णतः विलुप्त हो गये हैं, तथा कुछ विलुप्त होने की कगार पर खड़े हैं। संसार के आदि ग्रन्थ वेदों में पर्यावरण के महत्त्व को ध्यान में रखकर इसे शुद्ध एवं संरक्षित करने की बात कही गई है। हमारे ऋषि-मुनि पुराने जमाने से पर्यावरण परिष्करण के लिए सुगन्धित व विभिन्न गुणों से युक्त पदार्थों को अग्नि में होम करते आये है। यहीं से 'यज्ञ' नामक शब्द भी उद्दत हुआ, इसलिए 'यजुर्वेद' में कहा गया है:-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥[1]

अर्थात् श्रेष्ठ धर्मपरायण देवताओं ने प्रथम बार यज्ञ से यज्ञरूपी विराट् सत्ता का यजन किया। इससे यज्ञीय जीवन जीने वाले महात्मा पूर्वकाल के साध्य देवताओं के निवास, स्वर्ग लोक को प्राप्त करते हैं।

पर्यावरण प्रदूषण को नियमित नियन्त्रित करने के लिये वेदों ने 'यज्ञ' का ज्ञान हमें दिया है, जिसके अनुसार यज्ञ से प्राणवायु की उत्तम शुद्धि अर्थात् पर्यावरण की शुद्धि होती है। अग्नि की उपासना केवल भारत में ही प्रचलित नहीं है, भारत के अतिरिक्त विश्व के कई देशों में 'यज्ञ'

---

1. यजु० 31.16

पर्यावरण संरक्षण का सरलतम उपाय बन गया है। सोवियत रूस के वैज्ञानिक शिरोविच ने गव्य (दूध, मक्खन, घी, गोमूत्र, गोबर इत्यादि) के संपरीक्षण से निष्कर्ष निकलता है कि गाय के दूध में आण्विक प्रभाव से रक्षा करने की अद्भुत शक्ति है। गाय के घी को अग्नि में डालने पर उससे उत्सर्जित धुआँ आण्विक विकिरण के प्रभाव को काफी हद तक कम कर देता है। इसके अतिरिक्त आज भी जापान के मन्दिरों में अगरबत्ती तथा जर्मनी में लेवेन्डर की बत्ती जलाई जाती है। पारसी लोग भी हिन्दुओं की तरह से ही शुद्ध पवित्र होकर यज्ञ करते हैं।

आधुनिक युग में पुनः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यज्ञ का वैज्ञानिक लाभ बताते हुए यज्ञ को स्वास्थ्य वर्धक, रोगनाशक व वायुशोधक (प्रदूषण नियन्त्रक) के रूप में निरूपित किया है।

यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों में मुख्यतया लकड़ी (**समिधा**)-आम, चन्दन, देवदार, बेल, पलाश इत्यादि। **वसा युक्त पदार्थ**-दूध, घी, सूखे नारियल आदि। **सुगन्धित पदार्थ**-चन्दन, कर्पूर, जायफल, इलायची आदि सम्मिलित होते हैं। इन पदार्थों का धुआँ पर्यावरण में फैले जीवाणुओं का विनाश करता है। लकड़ी के जलने पर 'फार्मेल्डीहाइड' गैस लिकलती है, जो हानिकारक जीवाणुओं (बैक्टीरिया) को समाप्त करती है। डॉ0 टीलिट के प्रयोगों के अनुसार किशमिश, मुनक्का, मखाने आदि सूखे मेवों से हवन करने पर इससे उत्सर्जित धुआँ टाइफाइड के विषाणुओं की मात्रा आधे घंटे में तथा अन्य रोगों के विषाणुओं को दो घंटे में समाप्त कर देता है। यही कारण है कि ब्रिटिश शासन काल में मद्रास के सेनेटरी कम्श्निर डॉ0 कर्नल किंग ने वहाँ प्लेग फैलने पर विद्यार्थियों को घी, केसर तथा चावल को मिलाकर 'यज्ञ' करने का परामर्श दिया था।

यज्ञ में प्रयोग की जाने वाली लकड़ी व अन्य सामग्री के प्रज्वलन से दहनक्रिया मन्द हो जाती है। इसके अतिरिक्त इस क्रिया में ऑक्सीजन की कम मात्रा का प्रयोग होता है, फलस्वरूप उत्सर्जित कार्बन-डाईऑक्साइड की मात्रा भी कम होती है जो आसपड़ोस के पेड़ पौधों द्वारा अवशोषित कर ली जाती है। अतः यज्ञ कार्बन-डाईऑक्साइड के चक्र को नियमित रखने में एक अहम् भूमिका निभाता है। यजुर्वेद में बताया गया है-

स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्।[2]

अर्थात् स्वाहा शब्द के साथ आहुति की क्रिया होती है तो आकाश में वायु ऊर्ध्वगति से ऊपर उठती है अर्थात् यज्ञवायु की ऊर्ध्वगति प्रदूषकों को दूर कर देती है।

चिकित्सा शास्त्री एम0 मॉनियर ने अपनी पुस्तक 'एंसिएंट हिस्ट्री ऑन मेडिसन' में मुद्रित किया है कि रोगों के कीटाणुओं को समाप्त करने के लिए यज्ञ से सरल एवं सुलभ कोई पद्धति नहीं है। आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक संहिता' में लिखा है कि क्षयरोग (टी0बी0) के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए यज्ञ एक सरल पद्धति है। अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ0 हावर्ड स्टिंगुल ने अपने प्रयोगों के आधार पर पाया कि गायत्री मन्त्र 'ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्' के सस्वर उच्चारण से 1 सेकेन्ड में 110,000 तरंगे उत्पन्न होती हैं, जो दुर्भावनाओं

---

2. यजु0 6, 16

को काफी हद तक शान्त कर देती हैं। डॉ0 खन्ना (2003) ने अपनी पुस्तक 'यज्ञ एवं वायु प्रदूषण' में प्रयोगों से सिद्ध किया है कि यज्ञ से वायु प्रदूषण किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

अतः हम स्पष्ट रूप से यह कह सकते हैं कि यज्ञ हमारे पर्यावरण संरक्षण के लिए एक सरल एवं उच्चतम पद्धति है। यज्ञ हमारे पर्यावरण के अतिरिक्त हमारे मन को भी शान्ति प्रदान करता है। पर्यावरण प्रदूषण को नियमित नियन्त्रित करने के लिए वेदों ने 'यज्ञ' का ज्ञान हमें दिया है:-

सं ते प्राणो वातेन गच्छताः समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा॥[3]

अर्थात् यज्ञ से प्राणवायु की उत्तम शुद्धि अर्थात् पर्यावरण की शुद्धि होती है। अतः सम्पूर्ण विश्व के नागरिकों को इसकी महत्ता को समझना होगा, तभी हम अपनी आने वाली पीढ़ी को एक स्वच्छ वातावरण प्रदान कर सकेंगे।

इसके अतिरिक्त यज्ञ से होने वाले परिणाम इस प्रकार हैं-

1. प्रतिदिन यज्ञ के करने से घर का वातावरण शुद्ध, पवित्र होकर पुष्टिदायक तत्त्वों से परिपूरित होता है।

2. वातावरण में मानसिक तनाव से मुक्ति मिलती है तथा मन को शान्ति एवं प्रसन्नता का अनुभव होता है।

3. रोग प्रतिकारात्मक शक्ति बढ़ती है एवं स्वास्थ्य लाभ होता है।

4. व्यसनमुक्ति के लिये भी यज्ञ अत्यन्त प्रभावी एवं उपयुक्त पाया गया है।

5. आयुर्वेद के अनुसार यज्ञ की भस्म में औषधीय गुण होते हैं।

6. यज्ञ की भस्म, उत्तम उर्वरक के रूप में भी उपयोगी सिद्ध हुई है।

राकेश भुटियानी एवं डॉ. देवराज खन्ना
जन्तु एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

3. यजु0 6.10

यज्ञ का दार्शनिक आधार

सुभाष विद्यालंकार

वैदिक संस्कृति में यज्ञ को समाज और सृष्टि का आधार माना गया है। यज्ञ का वास्तविक अभिप्राय है समाज और सृष्टि के सम्पूर्ण चर और अचर प्राणियों के प्रति त्याग और पारस्परिक सहयोग की भावना। लोकहित के लिये किए जाने वाले सभी कार्य यज्ञ माने जाते हैं। ऋग्वेद का आरम्भ ही यज्ञ से होता है जहाँ अग्निस्वरूप परमात्मा को **'यज्ञस्य देवम्'** कहा गया है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र **'इषे त्वोर्जे त्वा'** में **श्रेष्ठतमाय कर्मणः** पद से यज्ञ का ही अभिप्राय है। शतपथ-ब्राह्मण में इस मन्त्र की व्याख्या में कहा गया है **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**[1] यज्ञ सबसे अधिक श्रेष्ठ कार्य है, क्योंकि यह लोकोपकार, प्रत्येक प्राणी की भलाई, जल और वायु को शुद्ध करने, पूजनीयजनों की सेवा सत्कार करने, समाज में परस्पर हितकारी भाव जगाने, दान की प्रेरणा करने के लिए किया जाता है। यजुर्वेद में प्रश्न किया गया है-

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।।[२]

इस पृथिवी की परम (अन्तिम) अवधि कहाँ है और इस सम्पूर्ण भुवन में रहने वाले प्राणिजगत् की नाभि कहाँ पर है?

अगले मन्त्र में इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में दिया गया है-**इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।।**[3] यह यज्ञवेदी पृथिवी की अन्तिम सीमा है और यह यज्ञ उत्पन्न प्राणियों की नाभि अर्थात् केन्द्र है। पृथिवी गोल है और वृत्त का प्रत्येक बिन्दु या स्थान उसकी अन्तिम सीमा होती है, इसलिए यज्ञवेदी जैसे श्रेष्ठ स्थान को पृथिवी की अन्तिम सीमा कहा गया है। यज्ञों से वातावरण शुद्ध होने के कारण जल और वायु की शुद्धि होती है। इसलिए समय पर वर्षा होती है और अन्न उत्पन्न होता है। अतः यज्ञ को संसार का केन्द्र कहा गया है।

अन्न खाने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अन्न उत्पन्न करने में भी कुछ न कुछ योग दे। यही यज्ञकर्म है। मनुस्मृति में यह तथ्य इन शब्दों में कहा गया है:-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।[४]

अग्नि में विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्य तक भली भाँति पहुँचती है। सूर्य से वर्षा होती है। वर्षा से अन्न उपजता है और अन्न से प्रजोत्पत्ति।

तैतिरीयोपनिषद की ब्रह्मानन्दवल्ली में भी अन्न की महिमा का वर्णन किया गया है-

---

1. शतपथ 1.7.1.5
2. यजु0 23.69
3. यजु0 23.62.
4. मनु0 3.76

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्चपृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति।।[5]

श्रीमद्भगवदगीता के तीसरे अध्याय के दसवें श्लोक में **'सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा'** से लेकर 16वें श्लोक के अन्त **'मोघं पार्थ स जीवति'** तक विस्तार के साथ सम्पूर्ण सृष्टिचक्र का वर्णन किया गया है। महर्षि अरविन्द के अनुसार ''यह सृष्टिचक्र परम ब्रह्म द्वारा प्रवर्तित एवं संचालित ब्रह्मचक्र है। यह परमात्मा का महायज्ञ है। हमें यज्ञ भावना से ओत-प्रोत होकर अपने लिये नियम कर्मों द्वारा इस सृष्टिचक्र को चलाते रहना चाहिए। सूर्य, चन्द्र, वायु और पृथिवी भी अपना नियम कर्म कर रहे हैं। मनुष्य विज्ञान की शक्ति से प्रकृति पर विजय पाने का मिथ्या दम्भ करता है, किन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि के अहंकार से प्रकृति पर विजय कदापि नहीं पा सकता। अपितु प्रक्रति के नियमों से छेड़छाड़ करके प्रकृति के कोप का शिकार होता है। प्रकृति के नियमों और रहस्यों को जानकर लोक कल्याण के लिये उनका सदुपयोग करना चाहिए।

वेद के आधुनिक भाष्यकारों में महर्षि दयानन्द का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने किसी भी प्रकार से पूर्वाग्रह के विना भारतीय दृष्टि से गहराई के साथ नये ढंग से वेदमन्त्रों का भाष्य किया। उनकी भाष्य पद्धति को अपनाकर महर्षि अरविन्द ने मनोवैज्ञानिक आधार पर वेदमन्त्रों के अर्थ किए। महर्षि दयानन्द ने यज्ञ की परिभाषा इस प्रकार की है-

''यज्ञ उसे कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या, उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्र जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उसको उत्तम मानता हूं।'

हमने दयानन्द जी की इस परिभाषा की उपेक्षा कर दी है। हम यज्ञ के रूढ़ि अर्थो में लेने लगे हैं। वेद की आधारभूत शिक्षा यज्ञमय जीवन का निर्माण है। वेद के परमोद्धारक महर्षि दयानन्द एकमात्र ऐसे धर्माचार्य थे, जिन्होंने यूरोप में विकसित ज्ञान-विज्ञान तथा नये शिल्पों का स्वागत किया था, यद्यपि इसाइयों और मुसलमानों में वैज्ञानिकों का विरोध किया था। महर्षि भलीभाँति जानते थे कि ज्ञान-विज्ञान मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए होता है। विज्ञान ही मानवमात्र का समान धर्म है। विज्ञान प्रतिपादित अपौरुषेयत्व में निष्ठा रखना ही सच्ची आस्तिकता है। और इसी अपोरुषेय के प्रति नतमस्तक होना मनुष्य का सहज धर्म है अपौरुषेय सृष्टि में विराट् पुरुष के दर्शन करना और इस पुरुष के साक्षात्कार से व्यक्ति और समाज को शाश्वत नैतिक तत्त्व की ओर अग्रसर करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। दयानन्द जी ने समस्त मानव समाज को एक धर्ममंच पर, एक आस्तिकता पर और एक नैतिकता पर लाने का स्वप्न अपने हृदय में संजोया था।

यजुर्वेद के 17 वें अध्याय में 'चित्यपरिषेक' अर्थात् यज्ञवेदी को जल छिड़क कर पवित्र बनाने और चित्यारोहण' अर्थात् यज्ञवेदि पर बैठने से सम्बद्ध मन्त्र हैं। महर्षि दयानन्द के अनुसार 17वाँ अध्याय वर्षा विज्ञान से सम्बद्ध है। 18वें अध्याय में वसोर्धारा अनुष्ठान अर्थात् धनवृष्टि के मन्त्र

---

5. तै0उप0 ब्रह्मानन्दवल्ली 2

हैं। इस अनुष्ठान के अनुसार यज्ञ करने वाला चार सौ एक घृताहुतियाँ देता है और आध्यात्मिक सभी प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करने की प्रार्थना करता है। इस अध्याय के प्रथम 27 मन्त्रों में सांसारिक, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। इन सभी मन्त्रों के अन्त में **'यज्ञेन कल्पताम्'** शब्द प्रयुक्त हुए हैं। महर्षि दयानन्द ने भाष्य करते समय लगभग प्रत्येक मन्त्र में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ प्रसंगानुसार अलग-अलग किया है। उदाहरणार्थ:-

मन्त्र १२ व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे-.............यज्ञेन कल्पन्ताम्।

''यज्ञेन सर्वान्नप्रदेन परमात्मना'

मन्त्र १३ अश्माच मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे-...........यज्ञेन कल्पन्ताम्।

'यज्ञेन संगतिकरण योग्येन'

मन्त्र १८ पृथिवी च मे इन्द्रश्च मे अन्तरिक्षं च म ....यज्ञेन कल्पन्ताम्।

'यज्ञेन पृथिवीकालविज्ञापकेन'

मन्त्र १९ अःशुश्च मे रश्मिश्च मेऽदाभ्यश्च मे ....यज्ञेन कल्पताम्।

''यज्ञेन अग्निपदार्थोययोगेन्'

मन्त्र २१ स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे..................यज्ञेन कल्पन्ताम्।

''यज्ञेन हवनादिना'

मन्त्र २२ अग्निश्च मे धर्मश्च मे अर्कश्च मे ....यज्ञेन कल्पन्ताम्।

''यज्ञेन संगतिकरणयोग्येन परमात्मना'

मन्त्र २४-२५ एका च मे तिस्रश्च मे..................यज्ञेन कल्पन्ताम्।

'यज्ञेन संगतिकरणेन योगेन, दानेन, वियोगेन वा अर्थात्' जोड़ गुणन, घटाना, भाग देना आदि अंकगणित द्वारा।

मन्त्र २६ त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे..................यज्ञेन कल्पन्ताम्।

''यज्ञेन पशुपालनविधिना' त्र्यवी=डेढ़ वर्ष का बछड़ा, दित्यवाट=दो वर्ष का बैल।

मन्त्र २७ पष्टवाट् च मे पष्ठौही च म उक्षा च मे..................यज्ञेन कल्पन्ताम्।

'यज्ञेन पशुशिक्षाख्येन।'

पष्ठवाट्-चार वर्ष का बैल, पष्ठौही=चारवर्ष की गौ, उक्षा=साँड़।

महर्षि जब यज्ञ का अर्थ संगतिकरण करते हैं तो उनका अभिप्राय रसायनशास्त्र, धातुविज्ञान, शिल्प और भौतिकविद्या आदि से होता है।

सृष्टि जब ज्ञानयज्ञ का नाम ही विद्या है। इसके दो भेद हैं-परा और अपरा। मूर्त्त पदार्थों से सम्बद्ध ज्ञान अपरा विद्या है। अपरा विद्या, ईश्वर में निष्ठा उत्पन्न करती है, किन्तु परा विद्या हमें सृष्टि से उठाकर इस संसार के रचयिता तक ले जाती है। अमूर्त सृष्टि का ज्ञान परा विद्या है। इस परा विद्या

के पाँच विषय हैं। ये पाँचों ही अमूर्त हैं। इनमें से अध्ययन का प्रथम विषय इन्द्रियाँ है, दूसरा प्राण, तीसरा मन या अन्त:करण, चौथा जीवात्मा, पाँचवा विराट् पुरुष या ब्रह्म। ये पाँचों तत्त्व निराकार हैं। उपनिषदों में इसी परा विद्या का वर्णन है। परा विद्या का क्षेत्र भौतिक विज्ञान या रसायन शास्त्र के क्षेत्र से परे है। किन्तु परा विद्या के इन पाँचों क्षेत्रों का विषय काल्पनिक नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय, प्राण, मन, जीवात्मा और परमात्मा इन पाँच की सहायता के विना हम किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। वेद का अध्ययन इसी दिशा में हमारा मार्ग प्रशस्त करता है। ज्ञान की कोई सीमा नहीं। परमात्मा की कोई थाह नहीं- **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** परमात्मा द्वारा रची इस सृष्टि की भी कोई थाह नहीं। परमात्मा, अज्ञेय है और उसकी रचना का प्रत्येक कण भी अज्ञेय है। अज्ञेय से अज्ञेय को समझने की योग्यता केवल ज्ञानी पुरुष में होती है।

महर्षि अरविन्द के अनुसार **'आधुनिक बुद्धि ने ईश्वर या सनातन ब्रह्म को और आध्यात्मिकता या परमात्म-स्थिति को निकाल दिया है। आधुनिक लोगों का जीवन केवल प्राण, हृदय और बुद्धि में है। किन्तु हमें इनसे परे आत्मा और सनातन ब्रह्म में निवास करना होगा।'**

अपने गीता प्रबन्ध ग्रन्थ में उन्होंने कहा है कि गीता; ज्ञान कर्म और उपासना इन तीनों में सन्तुलन रखती है। गीता के अनुसार हमारे जीवन का **प्रथम सोपान** है-कर्मयोग। भगवत्प्रीति के लिये निष्काम कर्मों का यज्ञ। **द्वितीय सोपान** है ज्ञान योग। आत्म उपलब्धि, आत्मा और जगत् के सत्स्वरूप का ज्ञान। परन्तु साथ-साथ निष्काम कर्म भी चलता रहता है। यहाँ कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग के साथ एक हो जाता है। **तृतीय सोपान** है-भक्तियोग। परमात्मा की उपासना और खोज। यहाँ भक्ति पर जोर है। पर ज्ञान भी गौण नहीं है। वह केवल उन्नत हो जाता है। और कर्मों का यज्ञ भी जारी रहता है। यहाँ ज्ञान, कर्म और भक्ति का त्रिविध मार्ग हो जाता है और यज्ञ का फल प्राप्त हो जाता है अर्थात् भगवान् के साथ योग।

गीता का तृतीय अध्याय कर्म योग से सम्बद्ध है। निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि हो जाती है। और ज्ञान का उदय हो जाता है। कर्मयोगी अध्यात्म चेतना से युक्त होकर समस्त सृष्टि के साथ समरस हो जाता है। वह ब्राह्मी-स्थिति को प्राप्त करके भी लोक संग्रह के लिये कर्म करता है। कर्मयोगी भक्तिभाव से परिपूर्ण होकर अपने समस्त कर्म ईश्वर को अर्पण कर देता है। विषय भोगों में आसक्त होकर इन्द्रिय तृप्ति के निम्न स्तर पर जीने वाला मनुष्य जीवन के ऊँचे स्तर को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। **'स्वार्थभाव एवं संकीर्णता से ऊपर उठकर परमार्थ भाव तथा उदारता से निष्काम कर्म करना यज्ञ करना है।'**

कर्मयोगी मान-अपमान के कुचक्र में कभी नहीं फँसता तथा व्यक्तिगत अपमान सहकर भी उत्तम लक्ष्य की पूर्त्ति में जुटा रहता है। कर्मयोगी, सरल, सात्त्विक और सहनशील होता है। **'दूसरों के कर्मों की परवाह किये विना मनुष्य को सदैव अपना कर्त्तव्य करते रहना चाहिये। क्योंकि स्वधर्मपालन में ही अपना कल्याण सन्निहित होता है।'**

'मनुष्य का अपना तथा समाज का कल्याण, कर्म पर ही आधारित है।' मनुष्य का

कल्याण तथा संसार का कल्याण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मनुष्य और समाज के हित कभी भी परस्पर विरोधी नहीं होते। व्यक्ति अपने स्वार्थ और अधिकार को त्याग कर आत्मबलिदान और कर्त्तव्यपालन कर परिवार को समृद्ध करता है। इसी प्रकार परिवार समाज को और समाज, राष्ट्र को और राष्ट्र सम्पूर्ण विश्व को समुन्नत करता है। **'मनुष्य ईश्वर की सृष्टि में यज्ञभावना से कर्म करके सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति का उपकरण बनकर कृतार्थ हो जाता है।'** प्रत्येक परिस्थिति में कर्मरत रहकर आत्मसन्तुष्ट योगी का जीवन धन्य होता है। नियत कर्म के अन्तर्गत ही अग्निहोत्र आदि द्रव्य-यज्ञ भी हैं।

''कर्मयोगी; अपने हृदय में विराजमान परमात्मा की वाणी को अन्तरात्मा की ध्वनि के माध्यम से सुनकर उसका अनुसरण करने में अपनी कृतार्थता मानता है। अन्तरात्मा की वाणी उसके लिये परम सत्य होती है। वही उसके लिये शक्ति एवं शान्ति का अक्षय स्रोत होती है। सत्याचरण से मनुष्य; परमात्मा की कृपा का भाजन हो जाता है तथा वह परमात्मा के भरोसे निश्चिन्त तथा निरन्तर प्रसन्न रहता है।

सुभाष विद्यालंकार

होलिकोत्सव

7 मार्च 2004

अग्निहोत्र का वैदिक-दार्शनिक आधार

चन्द्रभूषण मिश्र

धर्माधर्म विषयक गम्भीर गवेषणा हमारे वेदों तथा सूत्र ग्रन्थों-धर्म सूत्रों, गृह्यसूत्रों आदि में विस्तार से प्राप्य है। अग्निहोत्र का मूल उत्स भी वहीं विद्यमान है। वर्णाश्रम धर्मानुसार ब्रह्मचारी जब गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हुए दाम्पत्य बन्धन में आबद्ध होता था, तभी से अग्न्याधान करके अग्निहोत्र करना उसका अनिवार्य धर्म बन जाता था और यह क्रम प्रातः-सायंः जीवनपर्यन्त या संन्यासी होने तक चलता था। ऋग्वेद की ऋचा कहती है-

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि।[1]

अर्थात् हे जाज्वल्यमान् अग्निदेव! हम आपके सच्चे उपासक हैं। श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा आपकी स्तुति करते हैं और दिन-रात, आपका सतत गुणगान करते हैं। हे देव! हमें आपका सान्निध्य प्राप्त हो। अथर्ववेद में आया है-

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम॥[2]

अर्थात् गार्हपत्य अग्निदेव हमें प्रत्येक प्रातः-सायं श्रेष्ठ मन प्रदान करने वाले हैं। हे अग्निदेव! आप श्रेष्ठ वैभव देते हुए हमारी वृद्धि करें। आपको हविष्यान्न से प्रदीप्त करते हुए हम सौ वर्ष का जीवन प्राप्त करें।

मनु ने भी ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में अग्निहोत्र को प्रमुखता दी है-

अग्नीन्धनं भैक्षचर्याम्,[3] **अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।**[4]

अग्निहोत्र का तात्पर्य-

अग्निहोत्र शब्द अग्नि और होत्र का समुच्चय है-**अग्नये होत्रं हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तद् अग्निहोत्रम्।** सामान्यतया अग्नि में आहुति समर्पण की प्रक्रिया अग्निहोत्र कहलाती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अग्निहोत्र के सम्बन्ध में कहा गया है-'यह वह कृत्य है, जिसमें अग्नि के लिये होम किया जाता है।'[5] सायण का कथन है-**अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन्कर्मणि इति।** शतपथ-ब्राह्मण 'अग्निहोत्र' को स्वर्गीय आनन्द प्रदान करने वाला कहता है-**नौर्हि एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्।**[6]

---

1. ऋ0 1.1.7
2. अथर्व0 19.54.4
3. मनु0 2.10.8
4. मनु0 6.4
5. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.1.2
6. शतपथ0 2.3.3.15

निरुक्त में अग्नि का निर्वाचन प्रस्तुत करते हुए कहा गया है-**अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः**[७] 'जो अग्रणी रहता है, यज्ञादि में आगे-आगे ले जाया जाता है, अथवा जो सम्पर्क में आने वाले को अपने अङ्गों जैसा बना लेता है अर्थात् भस्म कर देता है, वह अग्नि कहा जाता है।' यही भाव हलायुध कोशकार ने भी व्यक्त किया है-**अङ्गयन्ति अग्र्यं जन्म प्रापयन्ति दक्षिणाग्निसभ्यावसथ्यौपासनाख्येषु षडग्निषु। यद्वा अङ्गति ऊर्ध्वं गच्छति इति।** तात्पर्य है कि सर्वप्रथम प्रकट हुए गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणग्नि, सभ्य, आवसथ्य और औपासन संज्ञक छः अग्नियों में जो हर्विर्द्रव्य होमे जाते हैं, वह अग्निहोत्र कहा जाता है। इसमें अग्नि सर्वदा ऊपर की ओर ही उठती रहती है। इसी अग्निहोत्र को 'यज्ञ' भी कहते हैं।

अग्निहोत्र की महिमा

यह अग्निहोत्र अनेकानेक रूपों में प्रचलित यज्ञों में प्रमुख है, जैसा कि शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है-**मुखं वाऽएतद्यज्ञानां यदग्निहोत्रम्**[८] वस्तुतः 'अग्निहोत्र' यजन-याजन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया का बोधक है, परन्तु वैदिक चिन्तन धारा में 'अग्निहोत्र' को उसमें कहीं ऊपर स्वीकारा गया है-**सूर्यो ह वाऽअग्निहोत्रम्**[९] सूर्य जिस प्रक्रिया से विश्व ब्रह्माण्ड में सृजन-पोषण का क्रम सम्पन्न करता है, वह अग्निहोत्र ही है। अन्यत्र 'प्राण' को अग्निहोत्र कहा गया है, क्योंकि वह प्रत्येक प्राणी में यही (पोषण की) प्रक्रिया चलाता रहता है-'**प्राण एवाग्निहोत्रम्।**'[१०]

इससे यह सिद्ध होता है कि वेदिक ऋषियों को अग्निहोत्र का व्यापक स्वरूप अभीष्ट था। उसी का दिग्दर्शन सर्वत्र दिखायी देता है।

'पुरुष सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध मन्त्र इसी तथ्य का उद्घाटन करते हैं-

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥[११]

उस विराट यज्ञ पुरुष से ऋग्वेद एवं सामवेद का प्रकटीकरण हुआ। उससे यजुर्वेद तथा (गायत्री आदि) छन्द (या अथर्ववेद) का प्रादुर्भाव हुआ।

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽ इध्मः शरद्धविः॥[१२]

जब देवों ने विराट् पुरुष रूप को हवि मानकर यज्ञ का शुभारम्भ किया, तब आज्य (घृत) वसन्त ऋतु ईंधन (समिधा) ग्रीष्म ऋतु एवं हवि शरद् ऋतु हुई।

---

7. निरुक्त 7.4
8. शतपथ0 14.3.1.29
9. शतपथ 2.3.1.2
10. शतपथ0 11.3.1.8
11. ऋ010.90.9.
12. ऋ010.90.6.

जीवन में यज्ञ की अनिवार्यता-

तैत्तिरीय-संहिता में कहा गया है कि आत्मकल्याण के लिये जागरूक प्रत्येक व्यक्ति को देवऋण से उऋण होने के लिये यज्ञ करना चाहिए-**जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणै ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यो प्रजया पितृभ्यः।**[१३]

गीता कहती है कि 'यज्ञ' का त्याग किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए यज्ञ के अतिरिक्त किये गए अन्य कार्य बन्धन स्वरूप होते हैं-

यज्ञ दानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।[१४]

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।[१५]

अथर्ववेद के द्रष्टा का मानना है कि यज्ञहीन व्यक्ति का तेज नष्ट हो जाता है-**अयज्ञियो हतवर्चा भवति।**[१६]

वैदिक और लौकिक क्रम में विकसित यज्ञों को ही श्रौतयज्ञ एवं स्मार्तयज्ञ का अभिधान प्राप्त है। श्रौतयज्ञों में दर्शपौर्णमास, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, वाजपेय, अश्वमेध आदि प्रमुख हैं। स्मार्त यज्ञों में 'पञ्चयज्ञ' प्रमुख हैं।

यज्ञ एक पवित्र धर्म-कृत्य तो है ही, साथ ही साथ वह उत्कृष्ट जीवन दर्शन भी है। यज्ञ, पवित्रता और परमार्थ का प्रतीक है। अग्नि स्वयं पवित्र होती है और उसके सम्पर्क से अपवित्र वस्तुएँ भी पवित्र बन सकती हैं। अग्नि अपने लिये कुछ नहीं करती, उसके समस्त क्रियाकलाप परमार्थ के लिये ही सम्पन्न होते रहते हैं। यज्ञकृत्य का तो प्रधान उद्देश्य जन साधारण में परमार्थ, सत्यप्रवृत्ति एवं सत्प्रेरणा भरना है।

अग्निहोत्र का वास्तविक स्वरूप ही त्याग, सेवा सदाचार, परोपकार, उदारता, सहृदयता, आत्म-निर्माण आदि को जीवन में चरितार्थ करना है। जब तक यह परम्परा रही, हमारा सामाजिक जीवन हर दृष्टि से सुखद, समुन्नत और फलता-फूलता रहा, किन्तु इन प्रवृत्तियों के निर्बल होते ही सारा सामाजिक तन्त्र लड़खड़ा गया।

यज्ञीय अध्यात्म-

ऐसे आचार्यों की आज भारी कमी है, जो स्वयं मन से, अपने आचरण से ऐसा यज्ञ करें और यजमान को भी ऐसा ही आत्मत्याग का हवन करना सिखाएँ। यह भी इस संसार में एक बड़ा भारी अभाव है।

---

13. तैत्तिरीय0 3.10.5
14. गीता 18.5
15. गीता 3.9
16. अथर्व0 12.2.37

जब तक मन से यज्ञ करना न आये, तब तक हवन मात्र से यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य अपने आपको परमात्मा के चरणों में सौंप देना है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय, दसों इन्द्रियाँ, दसों प्राण, आन्तरिक सम्पदाओं को भी जीव जब परमात्मा को सौंपता है, उनकी आहुति कर देता है, भगवान् के लिये लगा देता है, तभी सच्चा यज्ञोद्देश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार के यज्ञ की चर्चा उपनिषदों में विद्यमान है-

यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्म उरो वेदिः लोमानि बर्हिः वेदः शिखा हृदयं यूपः.............वाग्होता, प्राण उद्‌गाता, चक्षुरध्वर्युः मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत्,................ मुखं तदाहवनीयः।[१७]

अर्थात्-इस आध्यात्मिक यज्ञ में आत्मा यजमान, श्रद्धा यजमान की पत्नी, शरीर समिधा, छाती वेदी, रोम (रोएं) बर्हि (कुशाएँ), वेद शिखा, हृदय यूप (यज्ञ स्तम्भ), वाणी होता, प्राण उद्गाता, चक्षु अध्वर्यु, मन ब्रह्मा, कान आग्नीध्र तथा मुख आहवनीय अग्नि है।

इसी प्रकार का वर्णन और भी है-

वाग्वै यज्ञस्य होता। चक्षुर्वे यज्ञस्याध्वर्युः। प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा।[१८]

अर्थात्-'वाणी यज्ञ की होता, चक्षु यज्ञ का अध्वर्यु, प्राण यज्ञ का उद्गाता और मन यज्ञ का ब्रह्मा है।'

यज्ञ पुरुष भगवान् को सर्वव्यापी मानकर उसे अपनी अन्तरात्मा में धारण करना ही आध्यात्मिक यज्ञ है। इस यज्ञ निष्ठा को सर्वत्र यज्ञ पुरुष का ही रूप देखने की ब्रह्म दृष्टि को योगीजन सदैव अपनाते रहते हैं। शास्त्रों में भी इसका समर्थन है। सर्वव्यापक ब्रह्म, सदैव यज्ञ में विद्यमान रहता है-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।।[१९]

अर्पण (हवन क्रिया) ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म रूप अग्नि में हवन किया जाता है और ब्रह्म ही हवन करता है। इस प्रकार जिसकी बुद्धि में सभी कर्म ब्रह्मरूप हो जाते हैं, वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

यज्ञ का दार्शनिक आधार

आस्था को प्रभावित करने वाले विचार प्रवाह को दर्शन कहते हैं। समय, देश एवं काल की परिस्थितियों के अनुरूप विश्व के सभी दर्शन इसी लक्ष्य की आपूर्ति करते आये हैं। उनके स्वरूप

---

17. महानारायणो0 25/1
18. बृहदारण्यक 3/1/3-6
19. गीता 4/24

एवं प्रतिपादनों में भिन्नता हो सकती है, पर मूल प्रयोजन में नहीं। प्रकारान्तर में सभी दर्शनों का एक ही लक्ष्य है-मानवीय चिन्तन को आदर्शनिष्ठ और सिद्धान्तनिष्ठ बनाना। ऐसे विचार प्रवाह देना, जिससे मनुष्य उत्कृष्टता की ओर चल पड़े। विश्व भर में प्रचलित समस्त आस्तिकवादी दर्शन अपने-अपने ढंग से इस लक्ष्य की ही आपूर्ति करते हैं। मनुष्य श्रेष्ठ कैसे बने, आदर्शों भरा जीवनयापन कैसे अपनाये, यही है मूलभूत लक्ष्य, जिसके लिये अनेकों प्रकार के दर्शन समय-समय पर बने। मानव चिन्तन प्रवाह को श्रेष्ठता की ओर घसीट ले जाने में दर्शन की असामान्य भूमिका होती है।

भारतीय ऋषियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने मानव के लिये सबसे अधिक उपयोगी एवं कल्याणकारी रहस्यों का इस प्रकार उद्घाटन किया है, जिसे अपनाने में कोई कठिनाई न हो। 'यज्ञ' इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यज्ञदर्शन में समाहित विचार एवं प्रेरणाएँ, आस्था परिशोधन एवं आदर्शों की प्रतिष्ठापना के सशक्त माध्यम हैं। इसमें सन्निहित विचार प्रवाह में मनुष्य को श्रेष्ठ, उदार एवं उदात्त बनाने के सारे तत्त्व विद्यमान हैं। इतने छोटे शब्द में उत्कृष्ट दर्शन के वे सारे तत्त्व विद्यमान हैं, जो आस्था को परिशोधित-परिमार्जित करते हैं। ऐसे किसी दर्शन की खोज करनी हो, जो विवादों से रहित एवं बोधगम्य हो, तो वह यज्ञदर्शन ही हो सकता है।

यज्ञ अपने में एक समर्थ और समग्र दर्शन है। इसकी सरल और सुबोध प्रेरणाओं में मनुष्य को उदार एवं उदात्त बनाने के वे सारे तत्त्व मौजूद हैं, जो संसार के अन्य किसी भी दर्शन में नहीं हैं। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। यज्ञीय दर्शन व्यक्ति एवं समाज को श्रेष्ठ, शालीन एवं समुन्नत बनाने में समर्थ है। अपने में वह समग्र है और असीम संभावनाएँ समाहित किये हुए है। यज्ञीय प्रेरणाओं को व्यवहार में उतारा जा सके, तो स्थायी सुख-शान्ति का मजबूत आधार बन सकता है।

यज्ञ के क्रिया पक्ष में कोई आस्था व्यक्त करने से इंकार कर सकता है, पर उसका दर्शन पक्ष इतना सशक्त एवं प्रेरणादायक है, जिसको देखकर किसी प्रकार के मतभेद की गुंजाइश नहीं हो सकती। वह इतना जबरदस्त है कि एक नास्तिक भी सन्निहित प्रेरणाओं की उपयोगिता को नकार नहीं सकता। महत्त्व तो क्रियापक्ष का भी कम नहीं है। आस्था परिशोधन एवं आदर्शवादिता की स्थापना में यज्ञप्रक्रिया एक सशक्त आध्यात्मिक पद्धति सिद्ध होती है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञ जानते हैं कि मनुष्य स्वभावतः स्थूल प्रतीकों के माध्यम से कोई भी बात शीघ्रता से सीखता है। शिक्षण, प्रेरणाएँ उद्बोधन उतना काम नहीं करते, जितना की 'प्रतीक' करते हैं।

यज्ञ का निहितार्थ-

यज्ञ शब्द के तीन अर्थ शास्त्रों (पाणिनीय धातुपाठ) में बताये गये हैं- यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु 1. देवपूजन, 2. संगतिकरण और 3. दान। इन्हें व्यक्ति एवं समाज निर्माण के तीन महत्त्वपूर्ण आधार, तीन सिद्धान्त समझा जा सकता है। यज्ञ में सन्निहित इन तीनों आधारों को अपनाया जा सके, तो नवनिर्माण की समग्र प्रगति की सुदृढ़ आधारशिला तैयार हो सकती है। देवपूजन के अनेक तात्पर्य व्यक्त किये गए हैं-

क- इज्यन्ते पूज्यन्ते देवा अस्मिन्निति यज्ञः। (जिसमें देवताओं की पूजा हो, उसे यज्ञ कहते

हैं। **ख- इज्यन्ते सम्पूजिताः तृप्तिमासाद्यन्ते देवा अनेनेति यज्ञः।** (जिस कार्य में देवगण पूजित होकर तृप्त हों, उसे यज्ञ कहते हैं। **ग- इज्यन्ते पूज्यन्ते देवा अनेनेति यज्ञः।** (जिससे देवताओं की पूजा की जाये, उसे यज्ञ कहते हैं।

यहाँ देवपूजन का भाव केवल देवगणों के पूजन से ही नहीं, प्रत्युत श्रेष्ठ व्यक्तित्त्व के धनी, ज्ञानीजनों-गुरुजनों-अपने से बड़ों के प्रति सम्मान व्यक्त करने से भी है।

संगतिकरण का प्रयोजन

क-यजनं धर्म-देश-जाति-मर्यादारक्षायै महापुरुषाणामेकीकरणं यज्ञः। धर्म, देश, जाति की मर्यादा की रक्षा के लिये महापुरुषों को एकत्रित करना यज्ञ है। **ख-इज्यन्ते संगतीक्रियन्ते विश्वकल्याणाय परिभ्रमणं कृत्वा महान्तो विद्वांसः वैदिकशिरोमणयः व्याख्यान-रत्नाकराः निमन्त्र्यन्ते अस्मिन्निति यज्ञः।** विश्व कल्याण के लिये जगद्भ्रमण करके महापुरुषों द्वारा बड़े-बड़े विद्वान्, मूर्धन्य वैदिक, व्याख्यान-रत्नाकर लोग जहाँ आमन्त्रित किये जाते हों, उसे यज्ञ कहते हैं। **ग-इज्यन्ते स्वकीय बन्धु-बान्धवादयः प्रेमसम्मानभाजः संगतिकरणाय आहूयन्ते प्रार्थ्यन्ते च येन कर्मणेति यज्ञः।** जिस सदनुष्ठान में अपने बन्धु-बान्धव आदि स्नेहियों को परस्पर सम्मिलन के लिये आमन्त्रित किया जाये, उसे यज्ञ कहते हैं।

संगतिकरण का व्यावहारिक अर्थ मिलजुलकर साथ-साथ श्रेष्ठ कार्यों को सम्पन्न करना है। अपने बराबर के लोगों को साथ लेकर चलना है।[20]

दान का भाव है-

क-यजनं यथाशक्ति देश-काल पात्रादिविचार-पुरस्सर-द्रव्यादित्यागः। यथाशक्ति देश-काल-पात्रादि विचार पुरस्सर द्रव्य के दान करने को यज्ञ कहते हैं। **ख-इज्यन्ते देवतोद्देशेन श्रद्धापुरस्सरं द्रव्यादि-त्यजते अस्मिन्निति यज्ञः।** जिसमें श्रद्धापूर्वक देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग किया जाये, उसे यज्ञ कहते हैं। **ग-इज्यन्ते सन्तोष्यन्ते याचका येन कर्मणा सः यज्ञः।** जिस कर्म से याचकों को संतुष्ट किया जाये, उसे यज्ञ कहते हैं।

'दान' का व्यावहारिक स्वरूप अपने से छोटों के प्रति स्नेह-सहयोग-आत्मीयता प्रदान करना है। इस प्रकार यज्ञ सभी के प्रति (बड़ों के प्रति, बराबर वालों के प्रति, अपने से छोटों के प्रति) सद्धर्म निभाना सिखाता है। मत्स्य पुराण में यज्ञ के लिये पाँच उपादान आवश्यक बताये गए हैं-

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते।।[२१]

जिस कर्म विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विज् और दक्षिणा-इन पाँचों का संयोग हो, उसे यज्ञ कहते हैं।

---

20. ऋग्वेद 10.19.1.2 संगच्छध्वं संवदध्वं.........

21. मत्स्य0 14444

भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि यज्ञमय जीवन के पुजारी विभिन्न परमार्थियों ने परमार्थ की जो विमलधाराएँ प्रवाहित कीं, उनमें आज भी आखिल विश्व निमज्जन कर आदर्श ग्रहण कर सकता है। उदाहरण स्वरूप पुरातन कालीन महर्षि दधीचि ने परमार्थ के महत्त्व को जानते हुए और दानवीय प्रवृत्ति के उन्मूलन के लिये अपनी अस्थियों का भी सहर्ष दान दिया। इन्द्र ने इन्हीं अस्थियों से वज्र बनाकर वृत्रासुर जैसे स्वार्थी को मारा था। अधुनातन काल के महात्मा गांधी, श्री सुभाषचन्द्र बोस आदि जितने महापुरुष अब तक हुए हैं, उन्होंने दूसरों के हित के लिये नवीनतम खोज की, कष्ट सहे, बलिदान दिए। हमारा इतिहास बताता है कि परमार्थी भावना से प्रेरित अधिकांश मानव जब परार्थ को अपने प्रत्येक कर्त्तव्य में स्थान देते हैं, तब विश्व में सुख और शान्ति बढ़ती है।

परोपकारी कर्मों को वेद में 'यज्ञकर्म' कहा गया है, इन यज्ञकर्मों से ही आत्मा की उन्नति होती है। यजुर्वेद में लिखा है-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।[22]

अर्थात् 'देव पुरुषों ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ का यजन किया। वे (यज्ञ) ही मानव के लिये प्रथम (सर्वश्रेष्ठ) धर्म हुए। इस यज्ञ को करने वाले उन्नत होकर स्वर्गस्थ सुख को प्राप्त हुए, जहाँ पूर्व समय के साधक-देवगण निवास करते हैं।'

यज्ञ एक प्रशस्ततम कर्म है। यह विना यथार्थ ज्ञान के कभी होता नहीं। यथार्थ ज्ञान के जिज्ञासु को देव पुरुषों की संगति करनी चाहिए। देवपुरुषों के सत्संग और निरन्तर अभ्यास से ही स्वार्थबुद्धि समाप्त होकर मानवता आती है, सच्चे मानव को परमात्मा के दर्शन के लिये भटकना नहीं पड़ता। गीता में लिखा है-**तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।** अर्थात् सर्व व्यापक परमात्मा नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

मानवजीवन की उन्नति का आधार-यज्ञ

यज्ञीय जीवन बनाने में प्रबल इच्छुक जन परमात्मा से किन-किन शब्दों में प्रार्थना करते हुए तदनुकूल व्यवहार करते हैं, इसका उज्जवल चित्र निम्नलिखित वेद मन्त्रों में देखा जा सकता है-

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां
चक्षुर्यज्ञेन कल्पता श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां
वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतां
आत्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां
स्वर्यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।।[23]

---

22. यजुर्वेद 31.16
23. यजुर्वेद 18.29

'हमारी आयु यज्ञ के लिये हो और हम यज्ञ के लिये संसार में जीवित रहें। हमारी सामाजिक आत्मिक तथा शारीरिक शक्तियाँ सब यज्ञ के लिये हों, हमारे नेत्र यज्ञ के लिये हों अर्थात् हम अपने नेत्रों का उपयोग परोपकार के लिये करें, हमारे नेत्र पराई बहिन-बेटियों को माता के समान और पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और दूसरों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखें। हमारे कान पवित्र वेदों को सुनने वाले हों, दूसरे प्राणियों पर मुसीबत आने पर निष्काम सेवा करने का साहस इनमें हो। इन कानों से हम किसी की व्यर्थ निन्दा न सुनें। हमारी वाणी समयानुकूल, संयत, सत्य व प्रिय बोलने वाली हो। हमारी वाणी में ओज और बल हो, ताकि हम, अपने गर्जन से दुष्टाचारियों की दुष्टता को दूर कर सकें और सदाचारी पुरुषों को परमार्थ के लिये संगठित करके लोकोपकार में लगा सकें। हमारे मन और आत्मा विकार रहित होकर प्राणिमात्र का शुभ चिन्तन करें। हमारा ज्ञान और स्वः (स्वत्व) यज्ञ के लिये हो और समस्त इन्द्रियों द्वारा किया गया परमार्थ कार्य भी यज्ञ के लिये ही हो, ताकि हमें कभी इन यज्ञ रूप कर्मों के कर्त्ता होने का अभिमान न हो सके।

जीवन यज्ञ है। उसकी प्रत्येक श्वास एक आहुति है, जो इसको विधिवत् सम्पन्न करता है, उसे रुग्णता का कष्ट नहीं सहना पड़ता और वह पूर्णायुष्य प्राप्त करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में इस तथ्य और रहस्य पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

उपनिषद्कार ने जीवन को वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल चार भगों में बांटा है। क्रियाशील जीवन की पूर्ण आयु 96 शतायु के अंतिम चार वर्ष थकान, असमर्थता भरे होने की बात सोचकर 96 वर्ष को ही पूर्ण मान लिया है। प्रत्येक चरण 24 वर्ष का माना है। चौबीस इसलिये भी कि गायत्री महामन्त्र में 24 अक्षर हैं। द्वितीय चरण यौवन की उपमा मध्याह्न काल से दी है। इसके बाद शेष दो चरण वानप्रस्थ और संन्यास की परमार्थ युग्म की गणना करते हुए उन्हें एक में गिन लिया गया है। इस प्रकार त्रिपदा गायत्री के तीन चरणों में जीवनक्रम के तीन विभाजनों की संगति बैठा दी गयी है। इस प्रकार संयम, पराक्रम, प्रखरता और परमार्थ के तीन भागों में विभक्त जीवनयज्ञ, प्रकारान्तर से गायत्री यज्ञ बन जाता है।

इन तीन विभगों के तीन देवता हैं-प्रथम चरण के वसु, द्वितीय चरण के रुद्र, तृतीय चरण के आदित्य। वसु संयम के, रुद्र पराक्रम के और आदित्य तेजस्विता के अधिष्ठाता हैं। जीवन का सदुपयोग भी इसी क्रम से होना चाहिए। सुख-शान्ति का यही मार्ग है। जीवन का विभाजन, उद्देश्य और उपयोग समझ लेने, तदनुरूप गतिविधियाँ निर्धारित करने, भूलों को सुधारने, सर्वशक्तिमान् सत्ता से सन्मार्ग गमन में प्रेरणा-सहायता उपलब्ध करने वाली प्रार्थना करने से उन शोक-सन्तापों का शमन हो जाता है, जो जीवन-क्षेत्र के किसी न किसी वर्ग को रुग्ण एवं संकटग्रस्त रखे रहती हैं।

यज्ञ के आधार पर एक सौ सोलह वर्ष जिया जा सकता है-

छान्दोग्य उपनिषद् में यज्ञीय जीवन जीने वाले को एक सौ सोलह वर्ष की आयु प्राप्त होने का रहस्य बड़े रोचक ढंग से वर्णित है-

पुरुषो वाव यज्ञः तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि, तत् प्रातःसवनं, चतुर्विंशति अक्षरा

गायत्री, गायत्रं प्रातःसवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति॥[२४]

मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है। मनुष्य की आयु के प्रथम चौबीस वर्ष का प्रातःसवन (प्रातःकालीन यज्ञ) है। गायत्री छन्द चौबीस अक्षरों वाला है, प्रातःसवन में गायत्री छन्द का ही प्रयोग होता है, इस यज्ञ के साथ वसु देवता का सम्बन्ध है, प्राण ही (समस्त शक्तियों के निवास से) वसु कहलाते हैं।

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति॥[२५]

(मनुष्य के जो यौवन वाले अगले चौवालीस वर्ष हैं, वह माध्यन्दिन-सवन का समय है। त्रिष्टुप् छन्द चौवालीस अक्षरों का होता है, इस माध्यन्दिन सवन में इसी त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग होता है। इस यज्ञ के साथ रुद्र देवता का सम्बन्ध है। रुद्र ही प्राण हैं, क्योंकि इनके उत्क्रमण कर जाने से सब रोने लगते हैं।

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयसवनं, अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वं आददते॥[२६]

मनुष्य जीवन का शेष अगला 48 वर्ष, जीवन रूप दिन का तृतीय सवन है-सायंकालीन यज्ञ है। जगती छन्द अड़तालीस अक्षरों का होता है और इस यज्ञ में इसी जगती छन्द का प्रयोग होता है। इस तृतीय सवन के साथ आदित्य नामक प्राण का सम्बन्ध है। आदित्य ही प्राण है, क्योंकि वह ही सभी को ग्रहण करते हैं।

उपर्युक्त तथ्य का समापन और फलश्रुति बताते हुए उपनिषद्कार ने अन्त में इस आधार का अवलम्बन करके (प्रथम सवन के 24 वर्ष, द्वितीय सवन के 44 वर्ष तृतीय सवन के 48 वर्ष=कुल 116) वर्ष रोग मुक्त हुए महर्षि ऐतरेय का प्रमाण-उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है-

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति, स ह षोडशं वर्षशतं आजीवत् स ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद।

इस उपासना (जीवन यज्ञ) को जानने वाले विद्वान् महिदास ऐतरेय एक बार रोगी हुए और उस स्थिति में उन्होंने रोग से कहा-हे रोग! तू मुझे क्यों कष्ट देता है? क्यों सन्ताप देता है? मैं इससे नहीं मरूँगा। ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक विचार व्यक्त करने से वे रोग-मुक्त हो गये और एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहे, जो व्यक्ति जीवन यज्ञ के इस तत्त्वज्ञान को जानता है और जीवन में उतारता है, वह एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहता है।

शतपथ-ब्राह्मण ने जिस यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा है[27] जिसके करने से मानवमात्र का

---

24. छान्दोग्य उपनिषद्
25. छान्दोग्य उपनिषद्
26. छान्दोग्य उपनिषद्
27. शतपथ ब्राह्मण 1.7.1.4 यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।

कल्याण संभव है। (यज्ञाः कल्याणहेतवः), जो समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला है (यज्ञोऽयं सर्वकामधुक्), जो समस्त प्राणियों का पालनकर्त्ता है। (यज्ञो वै सर्वाणि भूतानि भुनक्ति)[28] तथा जो द्युलोक एवं पृथ्वीलोक की प्रतिष्ठा है, अर्थात् ये दोनों लोक यज्ञ पर आधारित हैं। (द्यावापृथिवी वै यज्ञस्य प्रतिष्ठा)[29] उस यज्ञ को जीवन में समुचित स्थान देकर जीवन को पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचाना ही सबके लिये श्रेयस्कर है।

चन्द्रभूषण मिश्र
वेदविभागाध्यक्ष
शान्तिकुन्ज
हरिद्वार।

28. शतपथ 9.4.1.11
29. काठक सं0 35.18

अग्निहोत्र का वैदिक दार्शनिक आधार

डॉ0 सतीश कुमारी

वैदिक दार्शनिक आधार पर यदि हम अग्निहोत्र का व्याख्यान करना चाहें तो सर्वप्रथम हमें अग्निहोत्र शब्द के अर्थ की निरुक्ति करनी होगी। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार ''अग्नि-ऊर्ध्वगमने' धातु से अग्नि शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है- जो द्रव्य स्वभावत: ऊपर को ओर ही गति करता है, उसे अग्नि कहा जाता है। यह एक दार्शनिक सिद्धान्त है कि कार्य अपने कारण की ओर अवश्य जाता है। अग्नि का उद्भव वायु से होता है और वायु का आकाश से। अत: अग्नि ऊर्ध्वगमन ही करेगा और अपने अनुज वायु को अपना उत्पादन प्रदान करेगा। इस प्रकार अग्नि आदान-प्रदान का सशक्त साधन है। होत्र शब्द ''हु दानादानयो:' धातु से निष्पन्न होता है। होत्र शब्द का अर्थ है वह क्रिया जिसके माध्यम से ब्रह्माण्ड में या पिण्ड में दान तथा आदान क्रिया होती है। इस प्रकार इस अग्निहोत्र शब्द से भारतीय वाङ्मय में मानव की वह प्रक्रिया ज्ञात की जाती है। जिससे अग्नि को साधन बनाकर सांसारिक सुख समृद्धि का आदान एवं प्रदान किया जाता है।

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि अग्नि में डाला गया पदार्थ नष्ट नहीं होता, अपितु वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म बन कर अग्नि की ज्वालाओं-धूमलेखाओं के माध्यम से ऊपर उठता है और वायु के सहयोग से आकाश में व्याप्त हो जाता है। यह भी सर्वलोकानुभूत सत्य है कि अग्नि में डाला गया सुगन्धित द्रव्य, चारों ओर सुगन्ध फैलाते हुए सब लोगों को सुख तथा अग्नि में डाली गई मिर्चे या अन्य अपवित्र द्रव्य चारों ओर उत्कट तीक्ष्णता या दुर्गन्ध फैलाते हुए, सब लोगों को दु:ख प्रदान करते हैं। इस तथ्य के अतिरिक्त यह बात भी विज्ञान से साधित है कि अग्नि में भस्म हुए पदार्थों में रासायनिक परिवर्तन होकर उनका गुण या अवगुण बढ़ भी जाता है। इस प्रकार अग्नि में समर्पित द्रव्य का परिमाणात्मक तथा गुणात्मक परिवर्तन भी हो जाता है। आयुर्वेद के लौह भस्म, रजत भस्म, स्वर्ण भस्म आदि इसके सुविदित उदाहरण हैं।

उपर्युक्त बातों से सुस्पष्ट है कि मानव अग्नि में सुरुचिपूर्ण या कुरुचिपूर्ण द्रव्यों का प्रदान (होत्र) करके विश्व, ग्राम, परिवार तथा अपने लिए सुखद या दु:खद वातावरण बना सकता है। तत्त्ववेत्तओं का निर्णय है कि जिस प्रकार आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार अग्नि से जल की उद्भूति होती है। स्पष्ट ही है कि आकाश अर्थात् रिक्त स्थनों के वायु तथा जल को अग्नि अपने आदान-प्रदान से अनिवार्यतया प्रभावित करता है। अग्नि में डाले गये पदार्थ अपनी सुगन्ध या दुर्गन्ध से ब्रह्माण्ड के जल वायु तथा पिण्ड के जलवायु को सुख या दु:ख से युक्त कर देते हैं। इस प्रकार विश्व के पृथ्वी अप् आदि पञ्च महाभूत तथा शरीर के रस-रक्त-मांस-मेदा-अस्थि-मज्जा-शुक्र रूपी सप्त धातु अग्निहोत्र-प्रक्रिया के आदान प्रदान से स्वस्थ तथा अस्वस्थ बनते रहते हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्तों का अनुशीलन करने के पश्चात् ही भारतीय मनीषियों ने ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड को स्वस्थ एवं सुखद बनाने के लिए अग्निहोत्र को मानवजीवन का एक पवित्र कर्तव्य माना

है। अग्निहोत्र को जीवनोपयोगी बनाने के लिए उसके स्वरूप का उत्तरोत्तर परिष्कार किया जाता रहा है। अग्नि को समर्पित करने के लिए जौ-तिल-घृत, तो सर्वज्ञात है ही, किन्तु अग्निहोत्र को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए उसमें जो द्रव्य सम्मिलित किए जाते रहे हैं। वे इस प्रकार हैं:- चन्दन-देवदार-आम-पीपल-गूलर-नीम आदि वृक्षों की लकड़ियाँ, गोघृत-शहद खाण्ड-दूध-फल आदि, छुआरा-किशमिश-बादाम-मुनक्का, लौंग-दालचीनी-जावित्री-कपूर आदि। गुग्गुल-कस्तूरी-केसर-अगर इलायची आदि तथा तुलसी-नागरमोथ-विविध वृक्षों के गौंद एवं गिलोय आदि औषधियाँ इस प्रकार के पदार्थों का सम्मिश्रण करके जो कुछ बनाया जाता है, उसे हवन-सामग्री कहा जाता है।

अग्निहोत्र के इस स्वरूप का विश्लेषण करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता है कि यह कार्य समष्टि तथा व्यष्टि दोनों ही के लिए कितना पवित्र, कितना उपयोगी, कितना रमणीय, कितना स्वास्थ्य-वर्धक एवं कितना धर्मप्रधान कर्तव्य है। यही बात है कि श्रेष्ठ जीवन की प्रकल्पना करने वाले आर्य लोगों ने अग्निहोत्र को दैनिक जीवनचर्या का अनिवार्य अंग ही बना डाला। आज तक भी भारतीय जीवनपद्धति का श्रेष्ठ व्यक्ति प्रातः-सायं की संध्योपसना करके अग्निहोत्र अवश्यमेव करता है। अग्निहोत्र करने वाला व्यक्ति, सर्वप्रथम तो अपने शरीर एवं आस-पास के रोग कीटाणुओं का नाश करते हुए सुख-सुस्वास्थ्य एवं आनन्द की प्राप्ति करता है, इसके अन्तर अग्नि द्वारा वायुमण्डल में पहुँचाई हुई हवन-सामग्री के सूक्ष्म परमाणु द्वारा अपने घर, ग्राम, प्रदेश एवं इसी क्रम से विश्व के रोगों का विनाश करते हुए सुख-समृद्धि वितरण करने का कारण बनता है।

इस प्रकार वैदिक काल से जो दार्शनिक चिन्तन आरम्भ हुआ इसने आज के वैज्ञानिक युग के मानव के मस्तिष्क में भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही प्रमाणों से साधित कर दिया कि अग्निहोत्र का दार्शनिक आधार बड़ा तर्कपूर्ण एवं पुष्ट है। अग्निहोत्र अग्नि के द्वारा विश्व सम्पत्ति व सुखों के आदान-प्रदान का नाम है। ऋग्वेद का आरम्भ ही अग्नि के महिमागान से होता है। अग्निहोत्र व्यक्तिशः और सामाजिक दोनों ही प्रकार से परम पुनीत कर्तव्य है।

डॉ0 सतीश कुमारी
प्राचार्या
ऋषि संस्कृत महाविद्यालय
खड़खड़ी, हरिद्वार

यज्ञ का दार्शनिक विवेचन

डॉ0 लता गर्ग

मनुष्य कर्मशील प्राणी है। प्रतिक्षण वह शुभ, अशुभ अथवा मिश्रित कर्म करता है, जिससे उसका भाग्य बनता है। इसलिए उज्ज्वल भविष्य के लिए श्रेष्ठ कर्म अपेक्षित हैं। श्रेष्ठ कर्मों कीशृंखला में यज्ञ को श्रेष्ठतम कहा गया है। यह कर्म का मूल भी है और कर्म से ही इसका उद्भव भी होता है।[1] यह प्राणी मात्र का उपकार करता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का कहना है कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर वायु के साथ दूर-दूर तक फैलकर वायु को शुद्ध कर देता है। जितना घृत और सुगन्धित पदार्थ मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है, पृथ्वी की शुद्धि के साथ मनुष्य की शुद्धि होती है, रोगों का नाश होता है और उसे परम सुख मिलता है।[2] सम्भवतः इन्हीं गुणों के कारण वैदिक संस्कृति में यज्ञ को बहुत महत्त्व दिया गया है। ब्रह्माण्ड के मूल में यज्ञ की सत्ता को स्वीकार किया गया है। यह संसार रूपी चक्र की धुरी है, सार्वभौम है तथा सृजनशील भी है।[3] यह देवताओं की वृद्धि का भी माध्यम है तथा कामनाओं की पूर्ति करने वाला है।[4] यह स्वर्ग और अमृत का प्रदाता भी है।[5] यज्ञ के दार्शनिक आधार को समझने के लिए सर्वप्रथम यज्ञ का अर्थ जानना आवश्यक है।

यज्ञ शब्द यज् धातु से नङ् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न है। यज् धातु देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान अर्थों की वाचक है।[6] यज्ञ में मन्त्रों के द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है, यह देवपूजा है। सङ्गतिकरण से तात्पर्य है विद्वानों की सङ्गति अर्थात् विचारों और भावों की सङ्गति भावों की सङ्गति से ही विश्व ठहरा हुआ है। यज्ञ में घृत तथा समिधाओं की आहुति दी जाती है, उसे भी सङ्गतिकरण कहा जा सकता है। परन्तु केवल अग्निकुण्ड में किया जाने वाला यज्ञ ही यज्ञ नहीं है, अपितु प्रकृति में निरन्तर यज्ञ क्रिया चलती रहती है। विश्व प्रकृति के प्राङ्गण में सृजन और विकास की क्रिया हो या मन, प्राण और भूत का अनवरत संयोग-वियोग अथवा मानव शरीर में श्वास प्रश्वास, सभी तो यज्ञ है। यहाँ हमारा विवेच्य विषय यज्ञ का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करना है।

यज्ञ का दार्शनिक आधार ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्म द्वारा सृष्टि उत्पत्ति को ही दार्शनिक दृष्टि से यज्ञ की संज्ञा दी गई है।[7] समस्त सृष्टि एक यज्ञ है। यज्ञ के विना कोई सृष्टि

---

1. क यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म 1.11.4, ख श0ब्रा0 1.7.3.5, ग यज्ञः कर्म समुद्भवः 3/14 गीता
2. सत्यार्थ प्रकाश, 3 समुल्लास
3. Sacnfice is the axle of the World's Wheel and Fecundatiog Power of /All Things. It is eternal and universal, offered by /God as well as by men. The Teachings of the Vedas, By- Maurice Philips.
4. क यज्ञ इन्द्रमवर्धत 8.14.5 ऋक्. ख वृषा यज्ञो वृष्णः सन्तु यज्ञियाः, 10.66.6 सायण भा0 ऋक्0
5. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश। 10.62.1 ऋक्0
6. माधवीया धा0 वृ0, पृ0 295,296
7. क-यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ऋ010.90.6. ख-The act of creation is here treated as a Sacrifice.

नहीं हो सकती। सृष्टि के शाश्वत नियम ऋत एवं कर्म के साथ जिसकी एकरूपता है। सायण ने इसे मानस यज्ञ की संज्ञा दी है।[8] यह सृष्टि रूपी यज्ञ यद्यपि पहेली की भाँति गूढ़ और रहस्यमय है, तथापि ऋषियों और मुनियों ने अपने अन्तर्चक्षुओं से इसे देखा, समझा और यह ज्ञान मन्त्रों के माध्यम से परवर्ती ऋषियों को प्रदान किया। इस सृष्टि रूप यज्ञ को समझने के लिए यज्ञ के उपादानों पर विचार करना आवश्यक हैं।

सर्वप्रथम उपादान है सृष्टिकर्ता अर्थात् यज्ञकर्ता। पुरुषसूक्त में यज्ञकर्ता के विषय में लिखा गया है-

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।[९]

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।।[१०]

अर्थात् देवताओं ने पुरुष की हवि से सृष्टि यज्ञ किया। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि प्रोक्षित पुरुष रूप पशु से देवताओं ने, साध्यों ने अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के साधनभूत प्रजापति आदियों ने और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने यजन किया।[11] यहाँ साध्य से तात्पर्य सृष्टि साधना योग्य प्रजापति आदि हैं, जो निरन्तर सृष्टि की साधना में लगे रहते हैं।[12] विश्वकर्मा को सम्बोधित एक अन्य सूक्त में भी सृष्टिकर्त्ता देवों को समस्त भुवनों का हवन करने वाला होता, ऋषि और पिता कहा गया है।[13] प्रजापति विश्वरूपी यज्ञ का याजक, होता अथवा अध्वर्यु है। कर्त्ता भी यही है कर्म भी और करण भी वही है।

यज्ञ के लिए यज्ञकर्त्ता में यज्ञ करने की इच्छा का होना भी आवश्यक है। नासदीय सूक्त में इस इच्छा को 'काम' कहा गया है, जो मन का प्रथम बीज था।[14] सायण ने जिसके लिए 'सिसृक्षा' शब्द का प्रयोग किया है। सृष्टि करने की इच्छा होने पर परमात्मा ने स्वयं ही एक से अनेक होने की कामना की। **'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्'** एक से अनेक होने की इच्छा से तप उत्पन्न हुआ। सायण ने तप का अर्थ स्रष्टव्य का पर्यालोचन किया है।[15] कामना का सम्बन्ध जीवों के कर्म से है। यदि जीवों के कर्म न हों तो अव्यय पुरुष के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म का फल तभी भोगा जा सकता है जब संसार हो।[16] मैकडॉनल की दृष्टि में यही

Macdonell, Purush Sukta.

8. ऋ010.90.7 पर सायण भाष्य, ऋग्वेद
9. ऋग्वेद 10.90.14
10. वही 10.90.15
11. वही 10.90.7 तेन देवा अजयन्त साध्या ऋषयश्च ये
12. सायण भाष्य, वही।
13. वही10.81.1 य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिहोता न्यसीदत् पिता नः।
14. ऋक्10.129.4 ऋक्कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
15. अग्रे प्राक् कामः इच्छा सिसृक्षा ....वही, सायण।
16. रेतः भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतम्, प्रथमं अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म, यत् यतः कारणात् सृष्टिसमये आसीत् अभवत्। परिपक्वं सत् फलोन्मुखमासीदित्यर्थः। ततः हेतोः फलप्रदस्य सर्वसाक्षिणः कर्माध्यक्षस्य

असत् और सत् के बीच कीशृंखला बनती है।[17] यह कामना ही प्राणशक्ति को सक्रिय करती है और सक्रियता पदार्थों को जन्म देती है।

यज्ञ में हवि का विशेष महत्त्व है। सृष्टि रूप मानस यज्ञ में पुरुष को ही हवि के रूप में प्रयुक्त किया गया। देवताओं ने यज्ञ करते हुए पुरुष रूप पशु को बाँधा तब इस यज्ञ की सात परिधियाँ थी और 21 समिधायें बनाई गई।[18] तब वसन्त इसका घी था, ग्रीष्म ईन्धन तथा शरद् हवि थे।[19] वसन्त ऋतु ग्रीष्म द्वारा प्रदीप्त प्राणाग्नि को घी द्वारा समिद्ध करती है पोषण और संवर्धन करती है। सम्भवतः इसीलिए इस सृष्टि यज्ञ को 'कालयज्ञ' की संज्ञा दी गई है।[20]

जिस पुरुष को हवि रूप में प्रयुक्त किया गया उसका स्वरूप व्यापक और असीमित है। जिसके हजार अर्थात् असंख्य सिर, नेत्र तथा पैर हैं। इन तीनों अंगों के उल्लेख से तात्पर्य ज्ञान, क्रिया तथा शरीर का आधार है। पुरुष ही सृष्टि के पदार्थों का पिण्ड भी बनता है और उन पिण्डों में क्रिया और ज्ञान भी उत्पन्न करता है। यह पुरुष पृथ्वी को सब ओर से व्याप्त करके उससे दस अंगुल बाहर भी स्थित है।[21] इस वर्णन द्वारा पुरुष के तीन रूपों का संकेत मिलता है। आदि पुरुष, विराट् पुरुष तथा उससे उत्पन्न पुरुष।[22] आदि पुरुष अव्यय अर्थात् शुद्ध तथा निष्क्रिय है, जो केवल आलम्बन के रूप में द्रष्टा और ज्ञाता बना रहता है। विराट् प्रकृति पुरुष है और विराट् से उत्पन्न होने वाला पुरुष प्रकृति से आवृत पुरुष है, जिसका यज्ञ में बलिदान हो जाने पर समस्त विश्व बनता है।[23] सायण ने विराट् को ब्रह्माण्डदेह तथा उससे उत्पन्न पुरुष को 'देहाभिमानी पुरुष' कहा है।[24] प्रो0 लुई रेणु ने विराट् को सृजनात्मक शक्ति से युक्त बताया है।[25] हिरण्यगर्भ सूक्त में इस विराट् को ही हिरण्यगर्भ कहा गया है तथा ब्रह्माण्ड पुराण में एक तेजोमय अण्ड से चतुर्मुख ब्रह्मा के उत्पन्न होने की कथा वर्णित है।[26] पीटर्सन का विचार है कि हिरण्यगर्भ ही स्वर्णिम बीज है।[27] ग्रिफिथ की दृष्टि में हिरण्यगर्भ के आधार पर समस्त संसार के उत्पादक ब्रह्म की धारणा पल्लवित हुई।[28] इन विचारों से इस बात को बल मिलता है कि सृष्टि के आदि में एक ऐसा दिव्य तत्त्व अवश्य था, जो विश्व

परमेश्वरस्य मनसि अजायतेत्यर्थः। 10.129.4 पर सायणभाष्य
17. वैदिक माइथोलोजी, पृ0 23
18. सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः 10.90.15 ऋक्0
19. वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्हविः। 10.90.6 वही।
20. वैदिकी, मुंशीराम शर्मा, पृ0 410
21. ऋक् 10.90.1 सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्।।
22. तस्माद् विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः। स जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः। 10.90.5 वही।
23. वैदिक दर्शन, फतह सिंह, पृ0 206
24. सायण भाष्य-वही।
25. उद्धृत-ऋग्भाष्य संग्रह से लुई के विचार, देवराज चानना।
26. ब्रह्माण्ड पुराण 1/3
27. हाइम्स ऑफ दि ऋग्वेद, पीटर्सन, पृ0331
28. ऋ010.121.1 मन्त्र पर ग्रिफिथ की टिप्पणी

का बीज, गर्भ, ब्रह्म का अण्ड अथवा प्रजापति नामों से वर्णित किया गया और जिसको जलों ने सर्वप्रथम धारण किया।[29] पुरुष का जो रूप सृष्टि-निर्माण में सहायक है, उसके चार पादों की कल्पना पुरुष सूक्त में की गई है, वह अमृतत्त्व का स्वामी है, सम्पूर्ण प्राणी उसके पाद मात्र हैं। उसके बाकी तीन पाद स्वर्ग में अमृतरूप हैं।[30] उस पुरुष के यद्यपि भाग नहीं किये जा सकते, क्योंकि वह एक है[31] अव्यय है, उसके चार भागों की कल्पना उस असीम की अपेक्षा जगत् का अल्पत्व दिखाने के लिए है। उसका जो पाद संसार के रूप में है वही चेतन तथा अचेतन रूप में व्याप्त है। उसका एक पाद ही सृष्टि और संहार रूप में बार बार आता है और देव मनुष्य, तिर्यक् आदि के रूप में विविधता को प्राप्त होता हुआ सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।[32]

वह ससीम रूप से पूरी सृष्टि में व्याप्त है, किन्तु असीम रूप से सृष्टि से बाहर भी। सृष्टि के रूप में व्यक्त भी है और सृष्टि से परे होने से अव्यक्त भी। सायण ने उसके एक पाद को माया से आवृत कहकर वेदान्त प्रतिपादित मायोपाधि विशिष्ट ब्रह्म कहा है, जो सृष्टि और संहार रूप में दृष्टिगोचर होता है।[33]

उस पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पाँव से शूद्र उत्पन्न हुए।[34] शांकर भाष्य में इसका कारण माया को माना गया है। माया के कारण ही वह ब्रह्म एक होता हुआ भी विविधता को प्राप्त होता है-**एक एवं परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविदनेकधा विभाव्यते।**[35]

ब्राह्मण ज्ञान प्रधान है, क्षत्रियवर्ण कर्म प्रधानता को लक्षित करता है तो वैश्य पदार्थों की गति को और पैर (शूद्र) समस्त समाज के आधारभूत पदार्थों की उत्पत्ति को सूचित करता है। देश की विविध आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए इन सबकी आवश्यकता होती है जिसका आलंकारिक शैली में वर्णन किया गया है। डॉ0 राधाकृष्णन् का भी यही विचार है, कि देश को सही मार्ग दिखाने के लिए मस्तिष्क चाहिए, सुरक्षा के लिए मजबूत हाथ, जीवन चलाने के लिए भोजन तथा उसे पचाने के लिए पैर चाहिए। वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था को द्योतित करने वाला यह सर्वप्रथम विवरण है। ''सर्वात्मक पुरुष' की हवि वाले उस यज्ञ से जो जगत् का निर्माण हुआ उस यज्ञ से दही एवं घृत की उत्पत्ति हुई, जिसे प्राणियों के पोषक तत्त्व तथा भोग्य पदार्थों का प्रतीक कहा जा सकता है। इसके अनन्तर वायवीय वन्य एवं ग्राम्य पशु उत्पन्न हुए।[36] ऋचाएँ, साम, छन्द एवं यजुष्

---

29. ऋग्वेद 10.82.6
30. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति। 1.154.4
31. नासदीयसूक्त में उसके लिए 'तदेकम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।
32. त्रिपादूर्ध्वं उदैत पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः 10.90.4
33. योऽयं त्रिपात्पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयमूर्ध्वं उदैत्। तस्यास्य सोऽयं पादलेशः सोऽयमिह मायायां पुनरभवत्।। सायण 10.90.4
34. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। सायण 10.90.12
35. ब्रह्मसूत्र, 1.3.19
36. तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। पशून् तांश्चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्याश्च ये।

बने।[37] अश्व, दोनों ओर दाँतों वाले पशु, गौएँ, बकरी और भेड़ आदि की उत्पत्ति भी हुई। इस प्रकार सर्गरचना एक प्रकार का यज्ञ ही है। वैदिक ऋषियों ने सर्ग का उद्भव यज्ञ में ही ढूँढा। सृष्टि रचना रूपी यज्ञ में आदि पुरुष को हवि रूप में प्रयुक्त किया गया। इस सृष्टि यज्ञ में ब्रह्म कारण है, विश्व कार्य। ब्रह्म इसलिए ब्रह्म है, क्योंकि उसका विश्व के रूप में बृंहण अर्थात् विस्तार होता है। ब्रह्म को विश्वरूप में परिणत होने के लिए सीमित होना पड़ता है। ब्रह्म का सीमित रूप ही पुरुष है। वह जिस शक्ति के द्वारा सीमित होता है, वह 'स्वधा' है। स्वधा को ही माया कहा गया है।[38]

इस प्रकार सृष्टि रूप यज्ञ की दार्शनिकता द्वारा ऋषियों ने जगत् के पीछे विद्यमान उस शाश्वत नित्य एवं सनातन विधान की ओर संकेत किया, जिसके सहारे इस अनन्त सृष्टिचक्र का प्रवर्तन हो रहा है। ऋग्वेद की इस सृष्टि रूपी यज्ञ की दार्शनिकता का विशदीकरण परवर्ती वैदिक और पौराणिक साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। मैत्रायणी-संहिता,[39] शतपथ-ब्राह्मण का पुरुषमेधाप्रकरण[40] तथा तैत्तिरीय-आरण्यक में इसी विषय की व्याख्या है। ब्रह्मपुराण[41] में भी पुरुष सूक्त के कुछ मन्त्रों की व्याख्या दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड में पुरुषसूक्त के अनुरूप सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। आत्मज्ञान के द्वारा जीवन को सार्थक बनाना अर्थात् परब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को समझकर संसार की नश्वरता को जानकर परमात्मा में लीन हो जाना, यही इस यज्ञ की दार्शनिकता का प्रयोजन है। जीवन का चरम लक्ष्य भी तो मोक्ष है।

डॉ0 लता गर्ग
रीडर एवं अध्यक्ष (संस्कृत)
मु0 ला0 ज0 ना0 खे0 गर्ल्स कॉलिज
सहारनपुर

---

37. ऋ010.90.8-10 तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादयाजत। तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः। 10.90.8-10
38. वही 10.129.2 आनीदवातं स्वधया तदेकम्।
39. मैत्रायणी-संहिता 4.103
40. शतपथ-ब्राह्मण का पुरुषमेधाप्रकरण 10/2.2.2, 3
41. ब्रह्मपुराण 178/155-164

अग्निहोत्र का वैदिक दार्शनिक आधार

डॉ0 दीपा गुप्ता

वैदिक संस्कृति के अनुसार ब्रह्माण्ड की रचना तीन पदार्थों के संयोग से हुई है। ईश्वर, जीव, प्रकृति ईश्वर निमित्त कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रचयिता, मनुष्य साधारण निमित्त कारण एवं प्रकृति उपादान कारण। ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र विभिन्न प्रकार के वृक्ष एवं वनस्पतियाँ आदि की संरचना प्रभु ने अपनी सामर्थ्य से की है। परमपिता ईश्वर के संकल्पमात्र से प्रलयावस्था में शान्त एवं सोई हुई मूल प्रकृति से पाँच सूक्ष्मभूत अथवा पाँच तन्मात्राएँ शब्द, स्पर्श, रूप, और गन्ध उत्पन्न हुए। अहंकार से ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ का जन्म हुआ। (हाथ पैर, वाक्, गुदा और उपस्थ और ग्यारहवाँ मन हुआ।) पाँच तन्मत्राओं से पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) उत्पन्न हुए।[1] इस प्रकार उस त्रिगुणमयी मूल प्रकृति से परिवर्तित होते हुए अनेक तत्त्व बन गये। इन्हीं प्रकृति के अनेक तत्त्वों से इतने बड़े विशाल सौर ब्रह्माण्ड, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, बुध, शुक्र, मंगल, पृथ्वी आदि ग्रहों का निर्माण हुआ। पृथ्वी पर अनेक प्रकार की औषधियाँ, वनस्पतियाँ, अन्न आदि उत्पन्न हुए। अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीरों का निर्माण हुआ। इस मूल अव्यक्त प्रकृति को रूपान्तरित करने वाला सारी सृष्टि में ओत-प्रोत अन्दर-बाहर जो तत्त्व है, उसे ही ब्रह्मतत्त्व या परमात्मा कहते हैं। वह ही परमात्मा समस्त संसार को धारण, पोषण और उत्पन्न कर रहा है। वह हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है, वही पृथ्वी से लेकर सूर्य पर्यन्त सब जगत् रचकर धारण कर रहा है।[2] वही परमात्मा सृष्टि की समस्त क्रियाओं का नियन्ता है। उसी के नियम से पृथ्वी, सूर्य चन्द्रमा समस्त ग्रह, उपग्रह अपनी-अपनी परिधि में, अपनी-अपनी किल्ली पर अन्तरिक्ष के मध्य में सदैव घूमते रहते हैं।

अग्निहोत्र अर्थात् यज्ञ हमारे विज्ञानवेत्ता ऋषियों द्वारा सुपरीक्षित एक कल्याणकारी दैनिक नैमित्तिक कर्त्तव्य है। यज्ञ की आवश्यकता, उपयोगिता हमारे जीवन को स्वस्थ-पुष्ट एवं सुखमय बनाने में भोजन एवं औषधि से भी अधिक उपयोगी है। यज्ञ वैदिक विधानों में एक प्रधान धार्मिक कार्य है। यह इस संसार तथा स्वर्ग दोनों में अदृश्य तथा दृश्य पर चेतन तथा अचेतन वस्तुओं पर अधिकार पाने का साधन है। जो इसका ठीक प्रयोग जानते हैं तथा विधिवत् इसका सम्पादन करते हैं, वास्तव में वे इस संसार के स्वामी हैं। यज्ञ को एक प्रकार का ऐसा यन्त्र समझना चाहिये, जिसके सभी पुर्जे ठीक-ठाक स्थान पर बैठे हों या यज्ञ एक ऐसी जंजीर है, जिसकी एक भी कड़ी कम न हो। यज्ञ तो सृष्टि के आदि से चला आ रहा है। सृष्टि की उत्पत्ति यज्ञ का ही फल कही जाती है अर्थात् सम्पूर्ण

---

1. यजुर्वेद, अध्याय 31.1. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।
2. ऋग्वेद 10.121.1. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

सृष्टि यज्ञमयी है। प्रजापति ने स्वयं इस ब्रह्माण्ड को यज्ञ के द्वारा प्रादुर्भूत किया है। 'पुरुषसूक्त' सृष्टि के प्रारम्भ में होने वाले यज्ञ का चित्रण करता हुआ कहता है कि सृष्टि के आरम्भ में होने वाले इस यज्ञ में परमपुरुष ने वसन्त को आज्य, ग्रीष्म को समिधायें और शरद् को हवि बनाकर प्रस्तुत किया था।[3] इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड का मूल उद्गम यज्ञ ही है।

आज के इस भौतिकवादी युगीन वातावरण में विज्ञान का तीव्र गति से विकास हो रहा है। वर्तमान समय में विज्ञान के इस तीव्र गति से होने वाले विकास ने समस्त विश्व का पर्यावरण दूषित कर दिया है। इस प्रदूषण से आज केवल ध्वनि, वायु और जल ही प्रदूषित नहीं हो रहे हैं, अपितु इस प्रदूषण ने मनुष्य का जीवन आज जीने योग्य भी नहीं छोड़ा है। यह इसी का परिणाम है कि आज मनुष्य को जीवन के आधारभूत तत्त्व वायु और जल शुद्ध रूप में उपलब्ध नहीं हो पा रहे हैं। जल जो कि अन्न का मूल कारण है, वही जल अब अन्न और वनस्पतियों का विनाशक हो रहा है। आज विज्ञान एक तरफ तो मनुष्य के लिये सुख-सुविधाएँ जुटाने में लगा हुआ है, वहीं दूसरी तरफ यही विज्ञान बड़ी तेजी के साथ मानवता के विनाश का मार्ग भी प्रशस्त कर रहा है और मनुष्य को मानसिक एवं शारीरिक रूप से रोगग्रस्त बना रहा है।

यज्ञ ही वर्तमान समय में विज्ञान, पर्यावरण आदि विविध समस्याओं में उलझे हुए विश्व की रक्षा करने का एक अमोघ उपाय है। यह ईश्वर प्रदत्त एक ऐसा अमूल्य वरदान है, जो मानव की उक्त समस्या का पूर्णतः समाधान करता हुआ उद्घोष करता है कि यज्ञ से सत्य, सदाचरण, अमृत की प्राप्ति, स्वस्थ्य एवं पुष्ट जीवन, नीरोगता, अभय, सुख एवं एक मनोहर तथा सुन्दर उषाकाल, दिन का शुभारम्भ प्रारम्भ होता है।[4] यज्ञ से वायु, जल और औषधि आदि शुद्ध होते हैं। यज्ञ दो प्रकार से चल रहा है। एक तो ईश्वर द्वारा किया गया यज्ञ, उसने अग्नि-स्वरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्प आदि पदार्थों को उत्पन्न किया है। दूसरा यज्ञ जो मनुष्य के द्वारा किया जाता है, जिसमें घृत, समिधाएँ तथा हवन-सामग्री डाली जाती है, जिसके परिणामस्वरूप वायु और जल की शुद्धि होती है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्न, औषधि आदि भी शुद्ध होते हैं। यह फल अग्नि में होम करने के द्वारा ही संभव है।

वेदों के परम मर्मज्ञ महर्षि दयानन्द 'ऋग्वेद भाष्यभूमिका' के ''वेद विषय विचार' नामक प्रकरण में यज्ञों के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'अग्निहोत्र से अश्वमेधपर्यन्त जो यज्ञ किये जाते हैं, उनमें भली-भाँति सुगन्धित, पुष्टिकारक और रोगनाशक द्रव्यों से युक्त आहुतियाँ दी

3. ऋग्वेद-10.90.6 यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।
4. यजुर्वेद-17.6

जाती हैं, जिससे वायु और जल की शुद्धि होती है।' ऋषि दयानन्द जी ने यज्ञों का प्रयोजन वायु, जल की शुद्धि और नीरोगता बतलाया है। 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में यज्ञ के दो प्रयोजन बतलाये गये हैं। एक जलवायु की शुद्धि और दूसरा वेद की रक्षा। अग्निहोत्र और अश्वमेधादि यज्ञों में विभिन्न प्रकार के मन्त्र पढ़े जाते हैं। इन वेद मन्त्रों में अनेक प्रकार की उत्तम शिक्षाएँ दी गयी होती हैं। यज्ञों में मन्त्र पढ़ते समय उनमें दी गयीं शिक्षाएँ यजमान और पुरोहित के मनों पर अंकित हो जाती हैं और जिसका प्रभाव उनके व्यावहारिक जीवन पर पड़ता है।

महर्षि दयानन्द ने यज्ञों में पशुहिंसा का घोर विरोध किया है। वेदों में भी स्पष्ट शब्दों में पशुओं को मारकर उनके माँस की आहुतियाँ देने का विरोध किया गया है। वेद में इस सम्बन्ध में कहा है कि 'यजमान लोग पुरुष को हवि मानकर उससे जो यज्ञ करें, उससे विना कृत्य के यज्ञ करें, वह कहीं अधिक सारवान् यज्ञ है'[5] वे यजमान मूर्ख हैं जो यज्ञ के अभिप्राय: को नहीं समझते तथा वेदों के अर्थ का नहीं जानते। वेद में यज्ञ के लिये अनेक स्थानों पर दूसरा शब्द 'अध्वर' प्रयुक्त किया है, जिसका अर्थ है-हिंसा से रहित यज्ञ। इस प्रकार यज्ञों में पशुहिंसा का निषेध करके महर्षि ने यज्ञवेदियों को पशुवधशाला बनने से बचा लिया।

यज्ञ शब्द संस्कृत की जिस यज् धातु से निष्पन्न होता है, उसके देवपूजा, संगतिकरण और दान ये तीन अर्थ हैं। ये तीनों अर्थ यज्ञ रूपी शब्द में अन्तनिर्हित हैं। देवपूजा और संगतिकरण तथा दान बहुत अधिक व्यापक अर्थों और भावों से गर्भित हैं। दान से यज्ञ में हवि देने से सुगन्धि होती है। **'इदन्न मम'** की भावना तथा अहंकारशून्यता की शिक्षा मिलती है। यहाँ यह ध्यान रहे कि दान भी अहंकारशून्य होकर देना चाहिये। इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने अग्निहोत्र के माध्यम से सभी मनुष्यों को प्राचीन वैदिक परम्परा तथा एक निश्चल एवं स्वार्थरहित पूजापद्धति प्रदान की और प्राचीन ऋषिमुनि प्रणीत वैदिक परम्परा को पुनर्जीवित किया।

दयानन्द जी ने यह भी बतलाया कि अग्निहोत्र से ऋषियों ने तीनों, लोक, भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक की पवित्रता के लिये देवयज्ञ का प्रावधान किया है, जो कि एक सर्वोत्तम पवित्र कार्य है। यज्ञ का अर्थ है-नि:स्वार्थ भाव से दूसरों के कल्याण के लिये कार्य करना। नि:स्वार्थ भावना से ओत-प्रोत एवं श्रद्धाभाव से अग्निकुण्ड में आहुतियाँ डालने वालों के अन्त:करण भी शुद्ध एवं पवित्र होते हैं, जहाँ उनके अन्त:करण पवित्र होंगे, वहीं उनके कार्य भी शुभ एवं कल्याणकारी होंगे। यज्ञ का तात्पर्य ही प्राणिमात्र का कल्याण है। यज्ञ एक श्रेष्ठतम कार्य है और यह भी कहा जा सकता है कि जो भी संसार में श्रेष्ठतम कर्म है, वही यज्ञ है। मनुष्य को अपना जीवन यज्ञमय बनाना चाहिये।

---

5. ऋग्वेद-10.90.6. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।

जो मनुष्य यज्ञ का सम्पादन पूर्ण निष्ठा के साथ करते हैं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यज्ञ का आचरण करते हैं, अपनी आयु, प्राण तथा आत्मा को यज्ञमय बनाते हैं वे दु:ख और अन्धकार से ऊपर उठकर सर्वदा सुख एवं प्रकाशलोक को प्राप्त करते हैं।[6]

अत: ईश्वर कृत इस सुन्दर रचना की पवित्रता हेतु जो मुख्य देव अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं, वे अन्तरिक्ष में वायु को शुद्ध और मेघों के जल को पवित्र करती हैं, जिससे वृष्टि होकर उत्तम औषधियाँ एवं अन्न आदि उत्पन्न होते हैं। और इस प्रकार पृथ्वी को भी शुद्ध करने के साथ आहुतियाँ डालने वाले व्यक्तियों के अन्त:करण में यह निष्काम-कर्म करने की भावना से शुद्ध एवं पवित्रता आती है, जो मोक्ष पर चलने का एक श्रेष्ठ निष्काम कर्म है।

डॉ0 दीपा गुप्ता

प्रवक्ता प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय

हरिद्वार (उत्तरांचल)

6. यजुर्वेद 17.68

अग्निहोत्र का वैदिक दार्शनिक आधार

डॉ0 हेरम्ब पाण्डेय

आर्य संसार की सबसे प्रबुद्ध जाति थी। उसने धर्म एवं कर्म के महत्त्व को भली प्रकार जाना और आत्मसात् किया था। यही रहस्य है उनके बौद्धिक एवं सामाजिक उत्कर्ष का। आर्य प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन के प्रति संवेदनशील थे। प्राकृतिक घटनाएँ आर्यों को चिन्तन हेतु आधारभूमि प्रदान करती थी। आर्यों ने विविधरूपा प्रकृति के नानात्व को देवत्व की महिमा से मण्डित किया, यद्यपि देवताओं के नानारूप परमपिता के प्रतीक मात्र ही थे। सम्भवतः उन्होंने प्रकृति के अनेक रूपों को देवत्व का स्थान देकर अपने चिन्तन को ही आलम्बन प्रदान किया था, जो उन्हें विषय से च्युत नहीं होने देता था। आर्यों की दिनचर्या पूर्णतः वैज्ञानिक थी, वे धर्म करते हुए कर्म तथा कर्म करते हुए धर्म करते थे। उनकी दृष्टि में धर्म और कर्म पृथक् न होकर अविभाज्य एवं पृथक् रूपेण अपरिभाषित थे। आर्यों के इस चिन्तन का मौलिक रूप यज्ञ ही था। उस समाज में मानवकृत कर्मों में यज्ञ की सर्वाधिक प्रतिष्ठा थी। शतपथ-ब्राह्मण[1] में कहा गया है कि मनुष्य द्वारा किये गए कर्मों में यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है-**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।** निरुक्तकार यास्क ने यज्ञ शब्द की कर्मपरक व्याख्या को विशेष महत्त्व देते हुए कहा है कि यज्ञ का अर्थ यजन ही है, क्योंकि यज्ञ किसी फलविशेष की कामना के लिए किया गया मानवकृत कर्म है। यज्ञ याचनीय है, अतः इसे यज्ञ कहते हैं-**यज्ञः प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः याच्ञो भवतीति वा।**[2]

व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से यज्ञ शब्द यज् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है पूजा अथवा देवता को आहार चढ़ाना। कुछ विद्वानों के अनुसार यज्ञ शब्द दो धातुओं से बना है या अथवा यज्। या धातु जाना, मिलना अथवा उत्पन्न करना अर्थ में प्रयुक्त है तथा यज् धातु देवपूजा, संगतिकरण तथा दान अर्थ में प्रयुक्त होती है। (यज्-देवपूजासंगतिकरणदानेषु) यह अविवादित तथ्य है कि यज् धातु का अर्थ पूजा अर्चन के अतिरिक्त अन्य नहीं है। कुछ समाज वैज्ञानिकों की दृष्टि में यज्ञ के संगतिकरण का अभिप्राय एक समुदाय विशेष का सामूहिक भोज है। यहाँ यह स्पष्ट है कि एक समुदाय विशेष का तात्पर्य देवताओं के समूह से है, जो यजमान द्वारा हव्य ग्रहण करने के निमित्त आहुत किये जाते हैं। अग्नि के माध्यम से दिया गया दान या देवताओं को उद्देश्य कर अग्नि को दी गयी भेंट यज्ञ है। व्यक्ति स्वयं या किसी पदार्थ को देवता के निमित्त (दान) भेंट में देता है उसी क्षण वह यज्ञ सम्पादित कर लेता है अर्थात् यज्ञ के अर्थ में दान की जो मीमांसा है, वह सदा किसी बहुमूल्य वस्तु **'देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः।'**

महर्षि दयानन्द के अनुसार यज् (देवपूजासंगतिकरणदानेषु) धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। **'यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः'** अर्थात् जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता है और

---

1. शतपथ ब्राह्मण 1/7/3/5
2. निरुक्त 3/4

सब विद्वानों का पूज्य है और ब्रह्मा से लेकर सब ऋषि-मुनियों का पूज्य था, है और होगा इससे उस परमात्मा का नाम यज्ञ है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है।[3]

व्यापक अर्थ में शास्त्रों का अध्ययन, चिन्तन एवं अध्यापन भी एक प्रकार का यज्ञ ही है। यह देवताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का एक पृथक् श्रद्धामूलक माध्यम है। यज्ञ को सनातन धर्म का मेरुदण्ड माना गया है। आर्य योगक्षेम के लिए अग्नि का आधान कर देवताओं के निमित्त हव्यराशि प्रदान करते थे, इसी प्रक्रिया का विधिवत् सम्पादन यज्ञ है। यज्ञ मानव सभ्यता के समान प्राचीन है। विश्व की प्राचीन संस्कृतियों बेबीलोन, ग्रीक आदि में यज्ञ की अपनी विधियाँ प्रचलित थीं, जिनमें वैदिक यज्ञपद्धति से पर्याप्त साम्य था। निर्विवाद रूप से विश्व की सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध कृति ऋग्वेद में यज्ञ सम्बन्धी विधानों का नितान्त स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। सर्वक्रान्त प्रज्ञासम्पन्न ऋषि दयानन्द के अनुसार ऋग्वेद अद्वैततत्त्व का प्रतिपादक है। अग्नि, इन्द्र वरुण आदि जिन देवताओं का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है, वे सभी एक परमात्मा के अंग मात्र हैं। उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, वे परमपिता से पूर्णतः अविभक्त हैं।[4] इस दृष्टि से ऋग्वेदादि में अनेक ऐसे दार्शनिक तत्त्वों का सांकेतिक रूप से उल्लेख प्राप्त होता है, जो देवाधिदेव-सम्बन्धी महर्षि दयानन्द के विचारों को परिपुष्ट करते हैं। इसी प्रकार के विषयों के अन्तर्गत ऋग्वैदिक ऋत को भी रखा जा सकता है। निरुक्तकार यास्क ने ऋत का अर्थ यज्ञ या सत्य किया है-**ऋतं यज्ञं वा सत्यं वा'**।[5] आचार्य सायण ने भी एक ऋग्वैदिक मन्त्र के भाष्य में ऋत को यज्ञ का पर्याय बताया है।[6] वैदिक वाङ्मय में यज्ञ या ऋत को अखिल ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला तत्त्व बताया गया है। इसके अनन्तर ही दिन-रात्रि एवं जल से परिपूर्ण समुद्र की उत्पत्ति हुई है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में एक अद्भुत यज्ञ का सविस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है।[7] इस यज्ञ से सम्पूर्ण सृष्टि की क्रमशः उत्पत्ति हुई। इस सर्वहुत यज्ञ के यजमान स्वयं प्रजापति थे, जिन्होंने पुरुषरूपी हवि से यज्ञ का सम्पादन किया। ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य तुम्हारा यज्ञ करता है, वह स्वर्ग में चन्द्र बन जाता है।[8] एक अथर्ववेदीय मन्त्र में यज्ञ को धरा के धारक तत्त्व के रूप में वर्णित किया है।[9] ब्राह्मणग्रन्थों में तो यज्ञसंस्था का पूर्ण साम्राज्य है, जहाँ यज्ञ का विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ का इतना आदर है कि विश्व के सर्वश्रेष्ठ देवता प्रजापति को भी यज्ञ का ही रूप दिया गया है। **'एष वे प्रत्यक्षं यज्ञो वै प्रजापतिः'**।[10] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम यज्ञ को देखा एवं उसे

---

3. स्वामी दयाननद-सत्यार्थप्रकाश पृ0 19
4. स्वामी दयानन्द-वही पृ0 20-21
5. निरुक्त 4/1/45
6. ऋ. 4/23/8/
7. ऋग्वेद पुरुषसूक्त 10/90
8. ऋ010/1/3
9. अथर्ववेद 12/1
10. शतपथ ब्राह्मण 4/3/4/3

सर्वविध कल्याण हेतु देवों के पास भेज दिया।[11] शतपथ-ब्राह्मण में यज्ञ को विष्णु का (यज्ञो वै विष्णुः) एवं नीलाभ में देदीप्यमान आदित्य का प्रतीक माना गया है।[12]

वैदिक वाङ्मय के अध्येता पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि ऋग्वेदादि में यज्ञ की एक सुदृढ़ परम्परा का स्पष्ट दर्शन होता है। प्रो0 हांग का अभिमत है कि ऋग्वैदिक काल में यज्ञ न केवल पूर्णतया विकसित हो चुका था, अपितु उसके प्रतीकात्मक तथा रहस्योद्घाटनात्मक अर्थ भी निर्धारित हो चुके थे। ब्लूमफील्ड का कथन है कि वैदिक कविता यज्ञ प्रधान है तथा ऋग्वेद के पूर्व ही एक विस्तृत एवं संश्लिष्ट यज्ञविधान विकसित हो चुका था। मैक्डॉनल ने कहा है कि ऋग्वैदिक काल में यज्ञविधान विकासित हो चुका था। मैक्डॉनल ने कहा है कि ऋग्वैदिक काल का यज्ञविधान ब्राह्मणग्रन्थों के समान ही था। ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद को मुख्यतया यज्ञपरक ही माना है।[13]

इस प्रकार के प्रमाण यज्ञ को ऋग्वेद से भी प्राचीन सिद्ध करते हैं। विलक्षण मेधा सम्पन्न वैदिक आर्यों ने तपस्या से पवित्र हुए अपने अन्तस् में यज्ञ के रहस्य का साक्षात्कार कर लिया था। यज्ञ उनके लिए सामान्य धार्मिक कर्मकाण्ड नहीं था, अपितु वह विलक्षण रहस्य से संवलित था। आर्यों के लिए यज्ञकर्म देहशुद्धि, इन्द्रियशुद्धि, अहंकारशुद्धि, चित्तशुद्धि का माध्यम था। वे जानते थे कि इस कर्म का फल स्वार्थ ही नहीं, परार्थ भी होता है। इस कर्म से नया आवरण नहीं बनता है, प्रत्युत प्राचीन आवरण भी क्षीण होता है। यह मार्ग जीव को क्रमशः कल्याण के मार्ग की ओर अग्रसर करने में सहायता देता है और अन्त में दिव्यज्ञान से युक्त करता है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका का मत है कि यज्ञ वह पवित्र प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपावन एवं पावन (श्रेष्ठ) के मध्य सम्पर्क स्थापित किया जाता है।[14] यज्ञ के इसी निहितार्थ का दार्शनिक विवेचन ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। गीता में कहा गया है कि निष्कामभाव से किया गया योगस्थ कर्म ही यज्ञ है। यज्ञ के अतिरिक्त किये गए कर्म मनुष्य को बाँधते हैं -

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'। गीता प्रजापति ने कल्प के आदि में सर्वप्रथम यज्ञ के अनन्तर प्रजा को रचकर उन्हें यह निर्दिष्ट किया कि यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि एवं अभीष्ट को प्राप्त करो।[15] यज्ञ से अभिभूत हुए देव कामनाओं का वर्षण कर प्रजा की उन्नति करते हैं। यहाँ स्पष्ट निर्दिष्ट है कि यज्ञ का अवशिष्टान्न ग्रहण करने वाला समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। यज्ञ ही वह धुरी है जिस पर अवलम्बित हो सृष्टिचक्र गति करता है। सम्पूर्ण प्राणि अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से एवं वृष्टि यज्ञ से समुद्भूत है। यज्ञ ही वह तत्त्व है, जहाँ सदैव जागरित अवस्था में स्वयं परब्रह्म

---

11. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/3/2/5
12. शतपथ ब्राह्मण 14/1/1/16
13. ब्लूम फील्ड-द रिलीजन ऑफ द वेदास्, पृ0-65
14. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, वॉल्यूम- 18, 801-ए, 805-बी)
15 गीता 3/9

प्रतिष्ठित रहता है।[16] वैदिकवाङ्मय यज्ञसंस्था को मुख्यत: तीन भागों में विभक्त करता है-1-पाकयज्ञ 2-हविर्यज्ञ 3-सोमयज्ञ

गौतम-धर्मसूत्र द्वारा निर्दिष्ट सात हविर्यज्ञों में अग्निहोत्र का स्थान दर्शपौर्णमास के अनन्तर द्वितीय है,[17] यद्यपि याज्ञवल्क्य के अनुसार अग्निहोत्र हविर्यज्ञ नहीं है इसको पाकयज्ञ कहना चाहिए, क्योंकि हविर्यज्ञ में जो स्रुक् लिया जाता है वह अग्नि में छोड़ दिया जाता है, जबकि अग्निहोत्र में आहुति के पश्चात् उसे आचमन कर खाया जाता है।[18] परन्तु परम्परा अग्निहोत्र को हविर्यज्ञ की श्रेणी में ही रखती है।

अग्निहोत्र आजीवन सत्र है। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार वृद्धावस्था या मृत्यु ही अगिनहोत्र में व्यवधान उत्पन्न कर सकती है।[19] अग्निहोत्र में अग्नि सायं कालिक दोनों सन्ध्याओं में नित्य किये जाने वाले यज्ञ को अग्निहोत्र कहते हैं।[20]

आचार्य सायण ने अग्निहोत्र की दो व्याख्याएँ बहुव्रीहि एवं तत्पुरुष समास की दृष्टि से क्रमश: कर्म एवं हवि अर्थ में की हैं-जिस कर्म में अग्नि के लिए होत्र किया जाए वह अग्निहोत्र है और तत्पुरुषपरक व्युत्पत्ति के अनुसार अग्निहोत्र का अर्थ है-अग्नि के लिए दी गयी हवि।[21]

अग्निहोत्र में घृत आज्यों के अतिरिक्त शालि अथवा दुग्ध की हवि दी जाती है। आश्वलायान के अनुसार जो केवल पवित्र कर्तव्य समझकर अग्निहोत्र करता है, उसे गो दुग्ध में होम करना चाहिए, परन्तु जो भोजन शक्ति यश प्राप्ति का इच्छुक है, वह यवागू, तण्डुल, दधि या घृत से होम करे।[22] अग्निहोत्र के लिए दार्शिकी (तीनों अग्नियों से सुसज्जित) वेदि अपेक्षित है। सर्वप्रथम अग्निहोत्र में गृहस्थ प्रज्वलित गार्हपत्याग्नि से एक पात्र में जलते हुए अंगार को लेकर आहवनीयाग्नि के पास मन्त्रोच्चारण के साथ जाता है। इस याग को दिन की दोनों सन्ध्याओं में सम्पादित करने के पीछे मन्तव्य यह था कि दिन में किये गए पापों के प्रायश्चित्त हेतु सायंकाल में एवं रात्रि में किये गए पापों के प्रायश्चित्त हेतु प्रात:काल प्रार्थना करनी चाहिए। इस सन्दर्भ में एक अन्य मत यह है कि सांय आहुति ग्रहण करने के निमित्त देवतागण जब घर में प्रविष्ट होते हैं, तो उनके लिए सायं यज्ञ है। इसी प्रकार प्रात: सूर्योदय के पूर्व आहुतियाँ इसलिए दी जाती हैं, क्योंकि देवों के घर से जाने के पूर्व ही आहुतियाँ उन्हें प्राप्त हो जायें। आसुरी का कथन है कि सूर्यादय होने के पश्चात् आहुति देने पर आहुति देने वाले का अग्निहोत्र उसी प्रकार व्यर्थ हो जाता है, जैसे अतिथि के गमन के पश्चात् शून्य

---

16. गीता 3/15 तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।
17. गौतम-धर्मसूत्र 8/20
18. शतपथ ब्राह्मण 2/2/4/21
19. शतपथ-ब्राह्मण 12/4/1/1
20. तै0 सं0 3/4/10 सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति।
21. तै0ब्र0 2/1/21 पर सायण की व्याख्या- अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन् कर्मणि इति बहुव्रीहिव्युत्पत्त्यग्निहोत्रमिति कर्मनाम। अग्नये होत्रमिति तत्पुरुषव्युत्पत्त्या हविर्नाम।।
22. आश्वलायान 2/3/1-2

गृह में उसके निमित्त खाद्य सामग्री लेकर जाना।[23]

अग्निहोत्र अनिवार्य याग है। सत्याषाढ के मत में प्रत्येक द्विज के लिए तीनों अग्नियों की स्थापना के पश्चात् अग्निहोत्र करना अनिवार्य है, यहाँ तक कि रथकारों तथा निषादों के लिए भी यह सर्वथा करणीय है।[24] ऋषि जैमिनि के मत में अग्निहोत्र अनिवार्य है जो इसे पूर्ण विस्तार के साथ नहीं कर सकते, उन्हें भी करना चाहिए। केवल अभीष्ट सिद्धि के लिए ही विस्तार अपेक्षित है।[25]

अग्निहोत्र में प्रातः की आहुति सूर्य के लिए एवं सायं की आहुति अग्नि के लिए होती है। इसमें प्रत्येक के लिए चार-चार आहुतियों का विधान है। **'अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहा'** मन्त्र अग्नि के लिए एवं **'सूर्योज्योतिः ज्योतिः सूर्यः स्वाहा'** मन्त्र सूर्य के लिए प्रयुक्त है। इस प्रकार अग्निहोत्र के प्रमुख देवता हैं सूर्य एवं अग्नि। शतपथ-ब्राह्मण में उल्लेख प्राप्त होता है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम अग्नि एवं सूर्य को ही उत्पन्न किया, इसके बाद जगत् को। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय अग्नि एवं सूर्य की घनिष्ठता स्वीकार करता है। निरुक्त के अनुसार दोनों प्रकाशक देव परस्पर एक दूसरे के प्रति जन्य-जनक भाव रखते हैं।[26] अग्नि प्रातः सूर्य को उत्पन्न करता है-**'एष प्रातः प्रसुवति'** और सूर्य सायं अग्नि को उत्पन्न करता है-**'एष सायं प्रसुवति'।** शतपथ-ब्राह्मण में एक स्थल पर स्पष्ट उल्लिखित है कि अग्नि ही आकशस्थ सूर्य है।[27] ये दोनों देव प्रकाश स्वरूप हैं। रात्रि का अन्धकार जब दृष्टि को आच्छादित करने लगता है, तब अग्नितत्त्व ही है जो व्यक्ति के मार्ग को आलोकित कर प्रशस्त करता है, उसी प्रकार सूर्य दिन में जगत् को आलोकित कर मार्ग दिखता है। यहाँ (इस यज्ञ के प्रसंग में) तात्पर्य भौतिक प्रकाश के समान ही आध्यात्मिक प्रकाश से भी है। प्रकाश शब्द ज्ञान एवं सत्य के पर्याय के रूप में प्रयुक्त है, इसके विपरीत रात्रि की कालिमा रूप अन्धकार अज्ञान एवं असत्य का द्योतक माना गया है। मानवजीवन का परम ध्येय है अन्धकार रूपी अज्ञान से मुक्त एवं ज्ञानरूपी प्रकाश से सायुज्य। प्रजापति द्वारा सर्वप्रथम (अग्निहोत्र के प्रसंग में) सूर्य एवं अग्नि की उत्पत्ति के पीछे यही अभिप्राय है कि ये प्रकाशक तत्त्व भौतिक प्रकाश के प्रदाता तो हैं ही, वे व्यक्ति के अन्तस् के अन्धकार को भी दूर करते हैं। अग्नि की उत्पत्ति के पीछे यही अभिप्राय है कि ये प्रकाशक तत्त्व भौतिक प्रकाश के प्रदाता तो है ही, वे व्यक्ति के अन्तस् के अन्धकार को भी दूर करते हैं। अग्नि या सूर्य रूप परमेश्वर की उपासना से व्यक्ति का अन्तस् दिव्य ज्योति से युक्त होता है। यह अन्तर्ज्योति व्यक्ति के चतुर्दिक् उत्थान में सहायक है। यह प्रकाश ही सत्कर्म का प्रेरक है। अग्निहोत्र का सम्पादक पाप कर्मों की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। उसके अन्तस् का प्रकाश ही उसे सन्मार्ग पर प्रवृत्त करता है। निर्मल भाव से अग्निहोत्र करने वाला व्यक्ति यदि किञ्चित् पाप कर्म भी

---

23. शतपथ ब्रा. 2/2/4/17/
24. सत्याषाढ (3/1)
25. ऋषि जैमिनि 6/3/1-7
26. निरुक्त 7/1
27. श0ब्रा0 9/2/3/12

करता है तो साक्षी बने प्रकाशक देव उसके पापों को भस्म कर देते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में स्पष्ट प्रतिपादित है कि अग्निहोत्र के अनुष्ठान से व्यक्ति अपने सब पापों से छूट जाता है।[28] अग्निहोत्र को स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ नौका कहा गया है।[29] ऋषि जैमिनि के अनुसार स्वर्ग की कामना के लिए अग्निहोत्र निधेय है।[30] यजुर्वेद के अनुसार ब्रह्मवर्चस् की कामना के लिए तक्षा ने आरुणि के प्रति उपदेश दिया था कि 'अग्नि एवं सूर्य तेजस्वरूप हैं' इस तथ्य को समझकर जो अग्निहोत्र करता है, वह ब्रह्मवर्चस्वी हो जाता है।[31] शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि सूर्य ही अग्निहोत्र है।[32] यज्ञ कर्ममय होते हैं और सूर्य कर्मवाद का प्रवर्तक है। सूर्य (सविता) शब्द सू धातु से निष्पन्न है, जिसका मूल अर्थ ही है-प्रेरित करना, उद्‌बुध करना या आगे की ओर अग्रसर करना। प्रसविता, प्रसव, आसुवत्, सवाय, सोषवीति, आसुव, परासुव आदि सभी अर्थ कर्म में प्रवृत्ति के ही द्योतक हैं। यास्क ने सूर्य शब्द का निर्वचन **'सुवतेर्वा'** किया जिसका अर्थ है-जो सम्पूर्ण विश्व को अपने अपने कर्मों में प्रवृत्त करता है, वह है सूर्य।[33] भगवद्गीता में सूर्य को कर्मवाद का महान् प्रर्वतक कहा गया है। भगवान् श्री कृष्ण ने कल्प के आदि में सर्वप्रथम सूर्य के प्रति ही कर्मयोग का उपदेश दिया था-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥[34]

अग्निहोत्र याग में सूर्य को महत्त्व देने के पीछे धारणा यही है कि प्रातः तन्निमित्त प्रदत्त हवि को सूर्य ग्रहण कर सन्तुष्ट हो, यज्ञकर्त्ता पर कृपा वृष्टि करे, जिससे निर्मल अन्तःकरण वाला वह अपने कर्मों से ऋत की व्यवस्था (प्रकृति के नियम) को परिपुष्ट करे। अग्निहोत्रकर्त्ता प्रकाशक देवों द्वारा नियन्त्रित जिन सत्कर्मों को करता है, वे ही उसके लिए दीर्घायुष्य के माध्यम बनते हैं।

कर्म का सम्बन्ध सूर्य के समान अग्निदेव से भी है। अग्नि शब्द अग्, अणि, इण् जैसी गत्यर्थक धातुओं से सिद्ध होता है। गति के यहाँ तीन अर्थ हैं-जो ज्ञानस्वरूप, सर्वत्र जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है। अग्नि का ज्ञानस्वरूप होना इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि जब अग्निहोत्र का सम्पादक अग्निहोत्र को विधि-विधान से सम्पन्न करता है, तब प्रसन्न हो अग्निदेव उसे उत्तम बुद्धि से समन्वित करता है। यह निर्विवाद तथ्य है कि जो वस्तु जिसके पास प्रचुर मात्रा में होती है, वह उसी वस्तु को याची के लिए प्रदान करता है, इसलिए ज्ञानस्वरूप अग्नि द्वारा प्रदत्त ज्ञान से यजमान कर्तव्याकर्तव्य को जान लेता है। महर्षि दयानन्द ने एक अथर्ववेदीय मन्त्र के भाष्य में लिखा है कि अग्नि (परमेश्वर) राज्य आदि व्यवहार अर्थात् भौतिक कर्म तथा चित्त को सदा

---

28. शतपथ ब्रा. 2/3/1/6 सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।
29. श.ब्रा.-2-3-3-15
30. ऋषि जैमिनि 1/4/4 अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः।
31. यजुर्वेद 3/9
32. श०प० ब्रा० 213/1/1
33. निरुक्त 12-2
34. गीता 4/1

प्रकाशित करने वाला है।[35]

ब्राह्मण-ग्रन्थों में अग्निहोत्र को अपराजित कहा गया है तथा उसके यजमान दम्पत्ति को अपराजेय बताया गया है।[36] महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अथर्ववेद के एक मन्त्र की व्याख्या में इसी तथ्य को प्रकाशित किया है-'यजमान अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने के बाद तक धनादि पदार्थों से युक्त वृद्धि हेतु अभ्यर्थना करता है। गृह और आत्मा का रक्षक (गृहपति) अग्नि आरोग्य, आनन्द और वसु का प्रदाता है।[37] इस प्रकार अग्निहोत्र केवल व्यक्ति को चतुर्दिक् सुख-शान्ति और यश से सम्पन्न कर आरोग्य प्रदान करता है। रहस्य यह है कि अग्निहोत्र स्वार्थसिद्धि का ही माध्यम नहीं है, अपितु इसका परमार्थिक उद्देश्य भी नितान्त महत्त्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में डॉ0 रामनाथ वेदालङ्कार ने एक विद्वत्तापूर्ण लेख-'पर्यावरण, वेद की दृष्टि में' में अग्निहोत्र के निहितार्थ का प्रकाशन किया है। उनके अनुसार एक अग्निहोत्र वह है जो धार्मिक विधि-विधानों के साथ मन्त्रपाठ आदि न करके विशुद्ध वैज्ञानिक या चिकित्सा शास्त्रीय दृष्टि से अग्नि में वायु-शोधक, कृमिनाशक पदार्थों का होम किया जाता है। आयुर्वेद के चरक, बृहन्निघण्टुरत्नाकार, योगरत्नाकर आदि ग्रन्थों में ऐसे कई योग वर्णित हैं, जिनकी आहुति अग्नि में देने से वायुमण्डल शुद्ध होता है। तथा श्वास द्वारा धूनी अन्दर लेने से रोग दूर होते हैं। वेद में अनके स्थलों पर अग्नि को पावक, अमीवचातन, पावकशोचिषु, सपत्नदम्भन आदि विशेषणों से विशेषित करके उसकी शोधकता प्रदर्शित की है।[38]

अग्निहोत्र जगत्कल्याणकारी माना गया है। महर्षि दयानन्द ने कहा है कि जिस कर्म में अग्नि या परमेश्वर के लिए जल, पवन की शुद्धि या ईश्वर की आज्ञा पालन के अर्थ में होत्र (हवन अर्थात्) दान करते है, उसे अग्निहोत्र कहते हैं। एक यजुर्वेदीय मन्त्र की व्याख्या में स्वामी जी ने लिखा है कि वायु, औषधि तथा वर्षाजल की शुद्धि से सबसे उपकार के अर्थ में घृत आदि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र, ढाक आदि काष्ठों से अतिथि रूप अग्नि को नित्य प्रकाशित करना चाहिए। पुनः उस अग्नि में होम करने योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध घृत, शर्करा, गुड़, केशर, कस्तूरी और रोगनाशक ओषधियाँ जो पूर्णतः शुद्ध द्रव्य हैं, हव्य के रूप में प्रयुक्त होनी चाहिए। केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धित, घृत, दुग्धादि पुष्टिकर, गुड़, शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि, बल तथा धैर्यवर्द्धक और सोम आदि रोगनाशक पदार्थ हैं, इनका नित्य होम करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उसी से सब जीवों को अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। अतः अग्निहोत्र कर्ता पुरुष इस उपकार से प्रत्यक्ष रूप में सुखलाभ एवं परोक्ष में ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करता है। इसीलिए अग्निहोत्र अवश्यमेव करणीय है।

---

35. स्वामी दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ0 194
36. जै0ब्रा0 1/4 सद् वा अपराजितं। यदग्निहोत्रम्। न ह वै पराजयते य एवं वेद।
37. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-पृ0 194 अथर्ववेद- 19.7.4.
38. डॉ. रामनाथ वेदालंकार-पय्यवरण, वेद की दृष्टि में दीक्षालोक पृ0 604-623, स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र, हरिद्वार।997।

अग्निहोत्रकर्ता का संकल्प होता है कि 'मैं प्राणियों के उपकारक पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुँचाने के निमित्त अग्नि को माध्यम के समान अपने सम्मुख स्थापित करता है। अग्नि हव्य को अन्य देशों में पहुँचाने वाला है, इसी कारण उसका नाम हव्यवाट् भी है।[39]

यज्ञ-दर्शन के सन्दर्भ में विद्वान् डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा व्यक्त किया गया उनका यह मत यहाँ प्रासंगिक लगता है कि 'प्राचीन भारतीय वैदिक समाज में यज्ञ का प्रयोजन प्रकृति को मित्र बनाकर प्रसन्न रखना था, क्योंकि मानव का समस्त भौतिक-सुख प्रकृति की विभिन्न शक्तियों से मैत्री होने पर ही सम्भव था, वह बड़ी ही व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण आस्था थी, जो सदा हमारी संस्कृति के मूल में रही है।

यज्ञ के दर्शन तथा भौतिक महत्त्व को पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। पाश्चात्त्य विद्वान् बी0हीमन के अनुसार देवता कोई यन्त्र नहीं है। देवता एवं मनुष्य का पारस्परिक सम्बन्ध उपादेय प्रकृति का होता है, न कि व्यावसायिक या सौदेबाजी का। सत्य यह है कि यह सम्बन्ध नैतिक अथवा जैविक नैतिक मूल्यों से सिद्धान्त से जुड़ा रहता है। वस्तुतः देवता नहीं अपितु यज्ञकर्म ही फलदायक होता है। अथवा यज्ञकर्म ही फल का रूप धारण कर लेता है। यज्ञकर्म उसी तरह का एक प्रयोग है जैसा कि प्रयोगशला में वैज्ञानिक द्वारा किया जाने वाला प्रयोग। यह प्रयोगशाला अध्यात्म की है, इसमें सत्य का परीक्षण किया जाता है।[40] उक्त पाश्चात्त्य विद्वान् का यह चिन्तन समस्त वैदिक यागों के सन्दर्भ में है। इस प्रकार का अग्निहोत्र अध्यात्म-दर्शन एवं भौतिक उपादेयता से युक्त हो समाज के लिए नितान्त अनुकरणीय है।

डॉ0 हेरम्ब पाण्डेय
एन 1/30 ए-9 नगवा
वाराणसी-5

39. स्वामी दयानन्द-ऋ0भा0भू0 पृ0 289-292
40. रञ्जना-ब्राह्मण ग्रन्थ एक अनुशीलन पृ0 72

अग्निहोत्र का स्वरूप एवं उसका वैदिक दार्शनिक आधार

डॉ0 सोहन पाल सिंह आर्य

वैदिक यज्ञ-स्वरूप एवं प्रकार

विश्व के सांस्कृतिक एवं सभ्यतागत विकास में आर्यों का अनुपम योगदान रहा है। अपने उद्भव से लेकर वर्तमानकाल पर्यन्त इस श्रेष्ठ तथा प्रगतिशील आर्यजाति[1] ने धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज-व्यवस्था और आर्थिक एवं राजनैतिक प्रणाली के क्षेत्र में महान् उपलब्धियाँ अर्जित कीं तथा प्रगति के अनेक सोपानों को पार किया है।[2] आर्यों के जीवन में वेदों एवं उनमें प्रतिपादित नाना प्रकार के यज्ञों का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। वस्तुतः उनके जन्म से मृत्यु पर्यन्त सभी कार्य-कलाप, दिशा, चिन्तन, शिक्षा और जीवनशैली आदि सभी पर यज्ञीय भावना एवं पुरुषार्थ की छवि आज भी भलीभाँति दृष्टिगोचर होती है।[3] यज्ञ विशेष प्रकार का कर्मवाद है,[4] जिसके दो मूल तत्त्व हैं-**स्वाहा एवं इदन्न मम।** यज्ञ धर्म का स्तम्भ है और धर्म आर्यों के लिये अर्थ, काम और मोक्ष-इन लौकिक तथा पारलौकिक पुरुषार्थो की संसिद्धि का मूल आधार है। याज्ञिक, कर्मवाद का मूल स्रोत वेद है,[5] जिसे वैदिक साहित्य में श्रुति, निगम छन्द व मन्त्र नामों से भी पुकारा जाता है। वेद उस ईश्वरीय-ज्ञान का पर्याय है, जिसे संसार में मनुष्य के व्यवहार-सम्पादन हेतु ईश्वर द्वारा सृष्टि के आदि में चार ऋषियों के अन्तःकरण में प्रकाशित किया गया। इसी कारण वेदो का ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद के रूप में चतुर्विध विभाजन हुआ।[6] सामान्यतः सभी वेदों में ज्ञान, कर्म उपासना एवं विज्ञान सम्बन्धी मौलिक तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है, परन्तु कर्मवाद के दृष्टिकोण से यजुर्वेद का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि यजुर्वेद तो यज्ञ का वेद ही है। 'यज्ञ' एक ऐसा सर्वांगपूर्ण वैदिक शब्द है, जो आर्यों की कर्मवाद से सम्बन्धित दृष्टि एवं पद्धति को ठीक ठीक अभिव्यक्त करने में सक्षम है।[7]

वेदों के अनुसार प्रत्येक वह कार्य जो ऋत् एवं सत्य विधान पर आधारित है, यज्ञ कहलाता है। शतपथ-ब्राह्मणकार के अनुसार 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' है। यजुर्वेद में अस्सी प्रकार के होमों का उल्लेख आया है।[8] **यज्ञाः वै अनन्ताः** के अनुसार यज्ञों की संख्या की गणना करना सम्भव नहीं है। यजुर्वेद में यज्ञ को संसार का केन्द्र बतलाया गया है।[9] यजुर्वेद में 'यज्ञ को पवित्र, संसार का धारक

---

1. **क**-संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे -159 **ख**-मोहन लाल महतो वियोगी: आर्य जीवन दर्शन, पृ0 3।
2. उपर्युक्त टि. 1-ख द्रष्टव्य।
3. उर्ध्वोऽध्वंर आस्थात् यजु-2.8, पृथिवी देवयजनि-यजु 1.25 एवं यजु 26.3 व 2.6 द्रष्टव्य।
4. मोहन लाल महतो वियोगी: उपयुक्त पृ. 175 पाद टिप्पणी।
5. वेदादियज्ञार्थ अभिप्रवृत्य:-वेदांग ज्योतिष, 80
6. अर्थववेद-10.23.4, 20
7. उप.पाद टिप्पणी-4 द्रष्टव्य।

8 यजु0 23-58

9. यजुर्वेद 23-62

एवं सैकड़ों, हजारों धाराओं वाला कहा गया है।[10] यज्ञ शब्द की व्युत्पति यज् धातु से नङ प्रत्यय करने से होती है,[11] जिसका सामान्य अर्थ है 'देव पूजा'। परन्तु संगतिकरण एवं दान अर्थ में भी यज्ञ का प्रयोग होता है। श्रौतसूत्र 1.2.2 के अनुसार '**देवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागो यज्ञः**' है। गीताकार ने यज्ञ को प्रजापति द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजा के साथ रचते हुये कहा है कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम्हारी कामनाओं को पूर्ण करे।[12] वैदिक साहित्य में दो प्रकार के यज्ञों की मुख्यतः चर्चा मिलती है। श्रौतयज्ञ वे जिनका विधान साक्षात् श्रुति या वेद में मिलता है।[13] स्मार्तयज्ञ वे जिनका विधान ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों, स्मृतियों में मिलता है, परन्तु यदि उद्देश्य भेद के अनुसार यज्ञों पर विचार करे तो उनके भी पुनः तीन भेद दिखलायी पड़ते हैं। जिनका विधान/संकेत श्रुति एवं स्मृति ग्रन्थों में पाया जाता है। वे हैं-नित्य नैमित्तिक और काम्य यज्ञ।[14] नित्य-यज्ञ के अन्तर्गत उन यज्ञों का विधान शास्त्रों में मिलता है, जिनका आपत्काल को छोड़कर कभी अनध्याय नहीं होता, इसलिये इन्हें नित्यकर्म के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध ये नैमित्तिक यज्ञ कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु वैदिक साहित्य में ऐसे यज्ञों का भी विधान किया गया है, जिनसे कामनाविशेष की पूर्ति होती है, ऐसे यज्ञ काम्य कहलाते हैं। इनके अन्तर्गत सोमयज्ञ का उल्लेख किया जा सकता है, जो अग्निहोष्टम अत्यग्निष्टोम आदि सात प्रकार का है। ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की प्राप्ति होना प्रसिद्ध है-**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्।** अश्वमेध, गोमेध, पुत्रेष्टि इत्यादि यज्ञ भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।[15]

यज्ञ एवं अग्निहोत्र-

वैदिक कर्मकाण्ड में देवयज्ञ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुस्मृतिकार ने इसके लिये होम, हुत एवं देवकर्म इन शब्दों का यथाप्रसङ्ग प्रयोग किया है।[16] उपनिषदों में अग्निहोत्र, हविर्यज्ञ, अग्निविद्या, स्वर्ग्यम्, अग्निम् नाचिकेत, अग्निम् इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी देवयज्ञ के अर्थ में हुआ है।[17] हवन, देवपूजा जैसे शब्दो का प्रयोग भी यदा-कदा वैदिक ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। अग्निहोत्र के माध्यम से आर्यों के सृष्टि विज्ञान का तो बोध होता ही है, परन्तु इसके साथ-साथ उनकी समष्टि सम्बन्धी चिन्तनधारा, कर्त्तव्यबोध एवं समपर्णशीलता का भी पता चलता है। यजुर्वेद के अनुसार 'अग्नि के मध्य जिन पदार्थों का हवन किया जाता है, वे सूर्य और वायु को प्राप्त होते हैं, वे ही उन अलग हुये पदार्थों की रक्षा करके पृथ्वी पर छोड देते हैं, जिससे पृथ्वी में दिव्य औषधि आदि पदार्थ उत्पन्न

---

10. यजुर्वेद 1.2-3
11. अष्टा 03.3.90 यजयाचयतविच्छप्रक्षरक्षो नङ्।
12. गीता 3.10-11
13. भारतीय दर्शन परिभाषा कोशः डॉ0 दीनानाथ शुक्ल पृ0 206
14. उपर्युक्त पृ0-206
15. वेद विज्ञान वीथिकाः डॉ. दयानन्द भार्गवः पृ0 127
16. मनुस्मृतिः भाष्यकार डॉ0 सुरेन्द्र कुमार अ. 3-70 से 75
17. उपनिषद् अंक कल्याण पृ0 190-191

होते हैं और उनसे जीवों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण सब मनुष्यों को सदैव यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये।[18]

पदार्थ-विज्ञान का यह सामान्य सिद्धान्त भी है कि कोई पदार्थ सर्वथा नष्ट नहीं होता, परन्तु जो अल्प बुद्धि मनुष्य ऐसा कहते हैं कि अग्नि में घृत आदि पदार्थों की आहुति देने से वे नष्ट हो जाते ह, उन्हें सटीक उत्तर देते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि **'किसी द्रव्य का (कभी सर्वथा) अभाव नहीं होता। देखो! जहाँ होम होता है, वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है। अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैल के वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।'**[19] जो लोग ऐसा सोचते हैं कि दुर्गन्ध निवारण के लिये केसर, कस्तूरी सुगन्धित पुष्प आदि का प्रयोग लाभदायक है। उन्हें लक्षित करते हुये ऋषि का कहना है कि उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदकशक्ति नहीं है और अग्नि का ही सामर्थ्य है कि उस वायु को प्रवेश करा सके और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है।[20] यज्ञाग्नि की रोगनिवारण की अद्भुत क्षमता को विश्व के अनेक वैज्ञानिकों मनीषियों ने प्रायौगिक आधार पर सत्य स्वीकार किया है। प्रो0 ट्रिलबर्ट (फ्राँस) के शब्दों में **'जलती हुई शक्कर के धुएँ में वायु शुद्ध करने की बड़ी शक्ति है, इससे हैजा, टी.बी. और चेचक आदि का विष शीघ्र ही दूर हो जाता है।'** डॉ0 एम ट्रेल्ट के शब्दों में 'मुनक्का, किशमिश और छुआरे आदि सूखे फलों को जलाकर हमने देखा है, हमें ज्ञात हुआ कि उनके धुएँ से ज्वर के कीटाणु आधे घण्टे में और अन्य रोगों के दो घण्टे में मर जाते हैं।' प्लेग टीके अविष्कारक डॉ0 हैफकिन के शब्दों में **'अग्नि में गोघृत का हवन रोगाणुओं का विनाशकारी होता है।'**[21] इसी आधार पर आज होम द्वारा विभिन्न रोगों की चिकित्सा का प्रचलन पुनः प्रारम्भ हो गया है। अग्निहोत्र का पर्यावरण प्रदूषण एवं उससे जनित विकृतियों को दूर करने में विशेष रूप में प्रयोग किया जा सकता है, यह तथ्य विगत भोपाल गैस त्रासदी (1988) के दौरान सामने आ चुका है।

अग्निहोत्र-वस्तुतः अग्निहोत्र अथवा देवयज्ञ की बहुआयामी उपयोगिता से आज इंकार नहीं किया जा सकता। यह होम से सम्बन्धित नाना प्रयोगों से भी सिद्ध हो चुका है, परन्तु होम अग्नि में घृत आदि की आहुति देना मात्र ही नहीं है। इसका देववाणी, सामाजिक संगठन एवं आध्यात्मिक विकास से भी गहरा सम्बन्ध है। इसे जानने के लिये अग्नि के स्वरूप प्रकार एवं कार्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। वैदिक ग्रन्थों में अग्नि को सर्वदेवत्व युक्त सत्ता बतलाया गया है-**अग्निर्वै सर्वा देवताः।**[22]

---

18. ऋषि दयानन्दकृत, यजुर्वेदभाष्यः 2-5,
19. स0प्र0-पृ0 47
20. स0प्र0-पृ0 47
21. डॉ0 जगदीश प्रसादः यज्ञ और विज्ञान पृ0 31
22. मै0 सं0 1.4.13

शतपथ-ब्राह्मणकार ने भी अग्नि को सब देवताओं की आत्मा बतलाया है, यथा- **अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा।**[23] इसका कारण है कि अग्नि सब देवों का प्राण है। प्राणा अग्निः अग्नि के विविध रूपों की चर्चा भी वैदिक ग्रन्थों में मिलती है और अग्नि को आहवानीय अग्नि कहा गया। पृथ्वी पर विद्यमान अग्नि गार्हपत्याग्नि है। तीसरी ऋताग्नि या श्रपणाग्नि है, जो औषधियों को पकाती है, यही दक्षिणाग्नि भी है।[24] आध्यात्मिक दृष्टि से नाभि के नीचे का भाग गार्हपात्य है। कण्ठ से ऊपर सिर तक आहवानीय अग्नि है। नाभि से ऊपर और कण्ठ से नीचे का भाग वेदि है।[25] जिसमें प्राण का अपान में और अपान का प्राण में हवन होता है। यही प्राण-साधना का आधार भी है। वैदिक परम्परा में वाक्तत्त्व को वेदाग्नि भी कहा जाता है। यही सत्याग्नि भी है, इससे उत्पन्न तत्त्व ऋताग्नि या अमृत पद है।[26] जिसकी प्राप्ति के लिये साधक नाना प्रकार के तप करता है।[27] अग्नि हवि के रूप में अन्न को ग्रहण करता है, इस कारण वह अन्नाद भी है।[28] जठराग्नि के रूप में वह शरीर में अन्न को पचाती है। देह में स्थित चेतना आत्माग्नि है, जो इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से नाना विषय रूप अन्न को ग्रहण करती है एवं दोषों का पाचन करती है। वही लोक लोकान्तर में परिव्याप्त ब्रह्मग्नि है, जो अपने तप, ज्ञान, बल, क्रिया के जरिये सृष्टि के जन्म पालन, विकास, संरक्षण, सन्तुलन आदि के लिये जड़ता, विसंगति, दुरित आदि दोषों का पाचन करती है।

अग्नि का एक अन्य रूप भरत है, क्योंकि वह देवताओं के लिये हवि ले जाता है।[29] वह एक होते हुए भी अनेक रूपों को धारण करता है।[30] जब अग्नि में सोम की आहुति दी जाती है वह सवन कहलाता है, परन्तु जब उसमें घृत आहुति अर्पित की जाती है तो उसे हवन कहा जाता है।[31] इसी कारण अग्नि ही यज्ञ है।[32] अग्नि के इस बहुआयामी रूप पर दृष्टिपात करते हुये कहा जा सकता है कि अग्निहोत्र अथवा देवयज्ञ के अनेक रूप सम्भव हैं। जिस वैदिक ऋषि ने अग्नि के जिस रूप को प्रधानता दी है उसी के अनुरूप अग्निहोत्र की अपनी परिकल्पना प्रस्तुत की है। उपनिषदों में अग्निहोत्र विषयक नाना परिकल्पनायें भलीभाँति पल्लवित हुई हैं, परन्तु इन सब की धुरी या केन्द्र तो दैनिक अग्निहोत्र ही है। अथर्ववेद का मन्त्र है-

सायं सायं गृहपतिनों अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता॥ १॥

---

23. शत0ब्रा0 14.3.2.5
24. डॉ0 दयानन्द भार्गव: वेद विज्ञान वीथिका, पृ0158
25. डॉ0 दयानन्द भार्गव: वेद विज्ञान वीथिका, पृ0 159
26. डॉ0 दयानन्द भार्गव: वेद विज्ञान वीथिका, पृ0 160
27. कठोप0 2.15 यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
28. डॉ0 दयानन्द भार्गव: वेद विज्ञान वीथिका, पृ0 165
29. कौ.ब्रा. 3.2 स वै देवेभ्यो हव्यं भरति।
30. ऐ.ब्रा. 1.28 यदेनमेकं सन्तं बहुधा विहरन्ति।
31. डॉ0 दयानन्द भार्गव: वेद विज्ञान वीथिका, पृ0 12
32. मै.सं. 3.6.1 अग्नि वै यज्ञः

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता॥ २॥[33]

अर्थात् जो संध्याकाल में होम होता है, वह हुत द्रव्य प्रातःकाल तक वायु शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है। जो प्रातःकाल में होम किया जाता है। वह हुतद्रव्य सायंकाल पर्यन्त वायु की शुद्धि द्वारा बल बुद्धि और आरोग्यकारक होता है।[34]

अग्निहोत्र का वैदिक दार्शनिक आधार

इस विषय पर विचार करने के लिए वेदों में वर्णित दार्शनिक तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। वेदों में 'ईशावास्यमिदं सर्वम्[35] ओं खम्ब्रह्म[36] हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्' इत्यादि मन्त्रों के माध्यम से एक परम चेतन, सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। जो सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वस्रष्टा एवं जगत् का व्यवस्थापक है। उसे ही विद्वान् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, रथ, दिव्य, सुपर्ण, गुरुत्मान्, यम, मातरिश्वा इत्यादि अनेक नामों से पुकारते हैं। वह पूर्ण पुरुष, आप्तकाम एवं सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह जीवों के कर्मानुसार भोग एवं मोक्ष की व्यवस्था करने हेतु प्रकृतिरूपी उपादानकारण से जगत् की कुम्भकारवत् रचना करता है। जीव संख्या में अनेक, नित्य, चेतना युक्त, अल्पज्ञ अल्पसामार्थ्यवान् और कर्मों के स्वतन्त्रकर्ता तथा तदनुसार फलों के भोक्ता है। ऋग्वेद के में वर्णित रूपक के माध्यम से जगत् रूपी पहेली एवं जीवों के बन्धन के कारण को समझाया गया है। जिसके अनुसार प्रकृति रूपी वृक्ष पर ईश्वर एवं जीव रूपी दो सखा विराजमान है उनमें से ईश्वर वृक्ष के फल को केवल देखता है, किन्तु जीव उन फलों को चखता है। इस कारण बन्धन में पड़ जाता है।[37] दार्शनिक महत्त्व का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि जीवन प्रकृति के बन्धन से मुक्त कैसे हो? मनुष्य से भिन्न अन्य योनि या केवल भोग योनियाँ है।[38] अतः इनमें जीवों के कर्तृत्व एवं बन्धन मुक्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसके लिए भोग द्वारा पाप कर्मों का क्षय एवं पुण्य कर्मों का अर्जन आवश्यक है, तभी जीव शुभ संस्कार, ज्ञान आदि की ओर उन्मुख हो सकता है। इसके लिए परमात्मा ने मानवयोनि का निर्माण किया है। जो कर्म एवं भोग योनि है। परन्तु मनुष्य पुण्य कर्मों की ओर अग्रसर कैसे हो? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी विचारणीय है। इस सन्दर्भ में वैदिक ऋषियों ने यज्ञ की अवधारणा को प्रस्तुत किया जो वेदों का केन्द्रीय विषय भी है।

यज्ञ से सृष्टि होती है। सृष्टि दो पदार्थों का संयोग है प्रकृति और पुरुष का। इसी प्रकार अग्नि और हवि का संयोग ही यज्ञ है। ईश्वर जीवों के भोग एवं मोक्ष की व्यवस्था करने हेतु सृष्टि की रचना करते हैं। स्वयं का प्रयोजन नहीं होता अन्यथा ईश्वर में अपूर्णता का दोष आरोपित हो जायेगा।

---

33. अथर्व0 19.55/3-4
34. स.प्र. पृ0 97
35. यजु. 40.1
36. यजु. 40.17
37. ऋ01.164.20
38. मनुस्मृति, 12.53-72

इसी तरह यज्ञ भी स्वाहा और इदन्नमम पर आधारित होने के कारण ईश्वरीय व्यवस्था का पोषक, संवाहक तथा प्रेरक है। स्वाहा घृत एवं उत्तम सामग्री का अग्नि के प्रति समर्पण का द्योतक है।[39] इसी तरह इदन्न मम अहम् भाव से मुक्ति का द्योतक है।[40] वस्तुतः इससे स्रष्टा के प्रति विनम्रता, स्वीकार्यता एवं कृतज्ञता भाव जागृत होता है, जो बन्धनचक्र से मुक्ति के लिए उपयुक्त मनःस्थिति मानी जाती है। अनेक उत्तमोत्तम भोगों की प्राप्ति के लिये भी यज्ञ निर्विवाद रूप से उपयोगी है। अथर्ववेद के अनुसार 'ईजाना स्वर्ग यान्ति' अर्थात यज्ञ करने वाला सुख व समृद्धि को प्राप्त होता है।[41] **'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्'** का आशय है यज्ञ द्वारा आयु (स्वास्थ्य) प्राप्त कर सकते हैं।[42] यजुर्वेद के अनुसार यज्ञ से वर्षा एवं बुद्धि की वृद्धि होती है।[43] शास्त्रों में **'स्वर्गकामो यजेत्' धन कामो यजेत्, पुत्र कामो यजेत्'** इत्यादि का विधान प्रतिपादित किया गया है। जो यज्ञ के द्वारा सांसारिक भोगों की सिद्धि को दर्शाता है।

यज्ञ के वैदिक दार्शनिक आधार पर विचार करते समय ऋषि दयानन्द के मत का उल्लेख करना प्रस्तुत सन्दर्भ में इस कारण आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि वे वेद वैदिक यज्ञपरम्परा के आधुनिक युग में पुनरुद्धारक के रूप में जाने जाते हैं। ऋषि का मत उपर्युक्त ईश्वरीय अनुकरण वाद एवं पाप निवारणवाद का अद्भुत सामञ्जस्य प्रतीत होता है। उनके शब्दों में जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिये। परोपकार शब्द का प्रयोग यहीं ऋषि दयानन्द ने यज्ञ के अर्थ में किया है। उनके शब्दों में अग्निहोत्र आदि जिनसे वायु वृष्टि औषधि को पवित्र करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उनको उत्तम समझता हूँ।[44] ऋषि का यह दृष्टिकोण ईश्वरीय अनुकरणवाद पर आधारित है। पाप निवारणवाद के सन्दर्भ में ऋषि का मत है कि होम न करने से पाप होता है, क्योंकि मनुष्य के शरीर से जितनी दुर्गन्ध उत्पन्न होकर जल और वायु को दूषित कर रोगउत्पत्ति का निमित्त बनती है। उससे प्राणियों को दुःख प्राप्त होता है, उतना ही पाप मनुष्य को लगता है। इस पाप के निवारण हेतु उतना या उससे अधिक सुगन्ध वायु एवं जल में फैलाना चाहिये।[45]

उपर्युक्त मतों पर दृष्टिपात करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यज्ञ ईश्वरीय विधान का अनुकरण है, वह व्यष्टि और समष्टि में सामञ्जस्य का अद्भुत साधन है। प्रकृति क्षतिपूर्ति का इससे श्रेष्ठ, सुस्थापित, पवित्र एवं सद्यः फलदायक साधन अन्य नहीं हो सकता। वर्तमान भोग, भौतिकता एवं शोषणमूलक मानसिकता ने जहाँ आज सर्वत्र पर्यावरण-प्रदूषण, असन्तुलन, अशान्ति तथा नित नई-नई महामारियों के लिये अनुकूल परिस्थिति का निर्माण कर दिया है। जिसके चलते

---

39. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, आप्टे पृ0 1161
40. इदन्न मम=यह मेरा नहीं।
41. अथर्व. 18.4.2
42. यजु0 18.29
43. यजुर्वेद 1.19
44. स0प्र0 568
45. स.प्र. 48

स्वयं मानवजाति के अस्तित्त्व पर ही विशालकाय प्रश्न चिह्न खड़ा हो गया है। इससे मुक्ति पाने के लिये यज्ञीय पद्धति एवं जीवनशैली अपनाए जाने की आवश्यकता गहराई से अनुभव होने लगी है, परन्तु इसके लिए यज्ञ के मूल में निहित दार्शनिक आधार एवं प्रेरक तत्त्वों पर भी चिन्तन मनन करने की युगीन आवश्यकता आज मनुष्य के सम्मुख उपस्थित हुई है। यह एक ऐसी ज्वलन्त चुनौती है, जिसे स्वीकार किये विना मनुष्य के अस्तित्त्व, विकास एवं उज्ज्वल भविष्य की कल्पना साकार नहीं हो सकती, जो कि वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में हम सब की साझा माँग भी है। अतः यज्ञ की ओर लौटो वेद का यह सन्देश वर्तमान दौर में अधिक प्रासंगिकता से मुखरित हो गया है।

डॉ0 सोहन पाल सिंह आर्य
दर्शन विभाग गु0का0वि0वि
हरिद्वार.

गीता में यज्ञ की आवधारणा

डॉ. किशनाराम बिश्नोई, प्रभारी

यज्ञ शब्द यज् धातु से बना है। यज् धातु के तीन अर्थ किये जाते हैं-देवपूजा, संगतिकरण तथा दान। ऋग्वेद में यज्ञ शब्द यजन, पूजन तथा उपासना के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय-ब्राह्मण, अशेष ब्राह्मणग्रन्थ, कल्प साहित्य, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र इन्हीं यज्ञों से भरे पड़े हुए हैं। पूजा या उपासना का सम्बन्ध मनोमय कारण शरीर से है। संगतिकरण का सम्बन्ध प्राणमय सूक्ष्मशरीर है तथा दान का सम्बन्ध वाङ्मय स्थूल शरीर से है। कारणशरीर से की जाने वाली पूजा ज्ञान से जुड़ी है। सूक्ष्मशरीर से किया जाने वाला संगतिकरण उपासना से जुड़ा है तथा स्थूलशरीर से किया जाने वाला दान कर्म से जुड़ा है। दान का सम्बन्ध वाङ्मय स्थूलशरीर से है। ज्ञान अमृत यज्ञ है, उपासना देवयज्ञ है तथा कर्म शुक्रयज्ञ है। मनुष्य कर्मरूप शुक्रयज्ञ को तो मुख्य मना लेता है और ज्ञानरूप अमृतयज्ञ तथा उपासना रूप देवयज्ञ को गौण कर देता है। यही प्रज्ञापराध है। इसी प्रज्ञापराध को हम बोलचाल की भाषा में भौतिकवाद या मैटिरियलिज्म कहते हैं।

देवयज्ञ इस भौतिकवाद से बचने का उपाय है। देवयज्ञ में हम किसी द्रव्य की आहुति देते हैं। इस द्रव्य के दो भाग हैं। भूत एवं प्राण। उस आहुति द्रव्य का प्राण भाग यजमान के प्राणों को देवों के प्राणों से जोड़ देता है। यही मनुष्य की आत्मा देवात्मा बन जाता है। यही अमृतत्त्व है। यही ज्योति है, यही देवत्व है-**अपाम सोममृता अभूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।** आहुतिद्रव्य यजमान का वित्त है और वित्त उसकी आत्मा ही है-**'यावद्वित्तं तावदात्मा'।** यजमान आहुतिद्रव्य के माध्यम से अपनी आत्मा ही देवों को अर्पित करता है। यही देवों को यज्ञ द्वारा भावित करना है। जिसके बदले में देव हमें भावित करते हैं, जो कि हमारे परम कल्याण का साधन बनता है।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥[1]

आत्मार्पण किये विना देवताओं को भावित नहीं किया जा सकता। जो पुरोडाशादि हम देवों को देते है, देवगण उन पदार्थों को खाते नहीं हैं। देव न खाते हैं न पीते हैं, वे तो केवल हमारे अमृतभाव को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।

न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एते देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।[2]

यहाँ अमृतभाव का अर्थ है कि हमारी समस्त सम्पदा और हमारे सारे कर्म सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय हों, व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिये नहीं। सभी सम्पदा विनश्वर है और सभी कर्म सान्त फल देने वाले हैं, किन्तु जब हमारे अर्थ, क्रिया और ज्ञान लोककल्याण के लिये समर्पित हो जाते हैं तो वे अपने शान्तभाव को छोड़कर अनन्तभाव को धारण कर लेते हैं। यही भूमाभाव है, यही

---

1 गीता-3/111
2 अमृत सन्दोह पृ0 103

अमृतभाव है। जहाँ स्वार्थ है वहीं त्रैगुण्य है, वहीं बन्धन है। जहाँ परमार्थ है, वहाँ न त्रैगुण्य है और न बन्धन।

परस्पर भावित करने का अर्थ है सहयोग। एक दृष्टि प्रतिस्पर्द्धा की है, दूसरी सहयोग की। प्रतिस्पर्द्धा का अर्थ है कि हम दूसरे की उन्नति में बाधा डालें। सहयोग का अर्थ है कि हम सबकी उन्नति में साधक बनें। जब हम सबकी उन्नति में साधक बनते हैं तो परमश्रेय की प्राप्ति होती है। व्यक्ति जहाँ भी जाता है उसे सहयोग मिलता है। इसके विपरीत जहाँ बाधक बनने का भाव है, वहाँ सघर्ष ही संघर्ष है। फल शून्य है। यदि हम विचार करें तो मनुष्य को प्रकृति ने इतना दिया है कि अभाव का नाम ही नहीं है, किन्तु हमने अपनी मूर्खता से प्रकृति के उस वैभव का आनन्द लेने के स्थान पर आपस में ही नहीं, प्रकृति से भी संघर्ष करने में अपनी शक्ति का अपव्यय करना चालू किया हुआ है।

आज विभिन्न राष्ट्रों का कितना अधिक धन संहारक शस्त्रों के निर्माण में लग रहा है, क्योंकि हममें परस्पर भावित करने की दृष्टि न होकर एक दूसरे को नीचा दिखाने का भाव है। यदि इन संहारक शस्त्रों के निर्माण में खर्च होने वाली धनराशि का अर्धांश भी शिक्षा, चिकित्सा तथा पोषण पर खर्च किया जाये तो संसार का नक्शा ही बदल जायेगा। किन्तु यह तो तब ही होगा जब राष्ट्र परस्पर सहयोग की भावना रखें।

राष्ट्रों में सहयोग की भावना नहीं है, अपितु दूसरे राष्ट्रों के प्रति वैमनस्य का भाव रखना देशभक्ति का पर्यायवाची माना जा रहा है। अनेक जातियों व वर्गों के लोग एक-दूसरे को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। राजनेता और व्यापारी अपना घर भरने में ही सारा पुरुषार्थ लगा रहे हैं। यहाँ तक कि लोक कल्याण का लक्ष्य लेकर चलने वाले धर्म सम्प्रदाय भी परस्पर एक-दूसरे का सहयोग करने के स्थान पर एक-दूसरे को काटने में लगे हुए हैं। फलस्वरूप धर्मस्थान भी राजनीति के अखाड़े बन गये हैं। कहीं भी वह यज्ञीय भावना नहीं रही है कि मेरा नहीं प्राकृतिक शक्तियों का है। देवों का है-**इन्द्रं देवाय, इदन्न मम।** जरा विचार करें कि क्या इस सृष्टि में एक परमाणु भी हम उत्पन्न कर सकते हैं? समस्त सम्पदा हमें प्रकृति से ही प्राप्त हो रही है। जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य इन सबमें से हमने किसे पैदा किया है कि हम उसे अपना कह सकें? सारा कच्चा माल हमें प्रकृति से मिलता है, फिर उसे हम अपना कहने का दावा कैसे कर सकते हैं? हम तो केवल कच्चे माल को एक रूप देने मात्र का काम करते हैं। कच्चा माल तो सब देवों का ही है, हम उसे निर्मित उत्पाद का रूप मात्र दे देते हैं। इस बात को समझ कर यदि हम प्रकृति की शक्तियों के प्रति कृतज्ञता का भाव रख सकें तो वे शक्तियाँ भी अवश्य हमें इष्ट भोग देंगी। किन्तु क्या देवऋण चुकाए विना हम प्रकृति की सम्पदा का भोग करेंगे तो यह चोरी न होगी?

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।[3]

---

3 गीता 3.12

प्रकृति की व्यवस्था है कि हमारे आवश्यकता की पूर्ति के लिये यज्ञ शेष हमें प्राप्त होता रहता है। सूर्य कितनी ऊर्जा निरन्तर हमें दे रहा है? वृक्ष कितनी ऑक्सीजन फेंक रहे हैं? पृथ्वी कितनी शस्य श्यामला है? नदियाँ कितना अमृत जल प्रवाहित कर रही हैं? यह सब यज्ञशिष्ट है, जो इसे भोगता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। किसी नदी के किनारे आप प्रात:काल घूमने चले जायें। शीतल मन्द समीर आपका स्वागत करेगी, वृक्षों पर बैठे पक्षी संगीत से आपका मन तृप्त कर देंगे। यह सब प्रकृति का नि:शुल्क अवदान है, किन्तु हम किसी को क्या दे रहे हैं? केवल अपने लिये कमाते हैं, अपने लिये पकाते हैं और स्वयं ही अपना पेट भर लेने में अपनी कृतकृत्यता मान लेते हैं। गीता कहती है यह तो साक्षात् पाप का खाना ही हुआ-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।[4]

वेद में बतलाया है कि जो मनुष्य अन्न को न देवों को देता है न मित्रों को और अकेला ही समस्त सम्पदा को भोगता है, वह पाप का भागीदार होता है। साथ ही ऐसी सम्पदा उस व्यक्ति की मृत्यु का भी कारण हो जाती है-

मोघमन्नं विदन्ते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।[5]

संसार में यज्ञविज्ञान का एक चक्र है। इस चक्र के सात स्तर हैं। अक्षर से ब्रह्म उत्पन्न होता है, ब्रह्म से कर्म उत्पन्न होता है, कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है, यज्ञ से (पर्जन्य) बादल उत्पन्न होते हैं, बादल से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से शरीर में शुक्र बनता है तो यह शुक्र ही प्रजा उत्पत्ति का प्रमुख कारण है। यदि इन चक्रों का विवरण विस्तार से किया जाये तो वे इस प्रकार हैं। अन्न सात प्रकार के हैं-ज्ञान, कर्म, आकाश, जल, तेज, वायु और औषधि वनस्पति, किन्तु इनमें औषधि वनस्पति ही मुख्य अन्न है। इसी से शरीर में शुक्र बनता है और वह शुक्र प्रजोत्पति का हेतु है। यह एक यज्ञचक्र है।

पर्जन्य से औषधि वनस्पति रूप अन्न की उत्पत्ति तो प्रत्यक्ष गोचर है। ऋतुरूप संवत्सर यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति होती है। ऋताग्नि से ऋत सोम की आहुति से जो ऋतुयज्ञ होता है, वही पर्जन्य को बनाता है। इसी संवत्सर यज्ञ के अनुकरण पर श्रौतयज्ञ होते हैं। इन श्रौतयज्ञों में चार कर्म होते हैं, जिनसे यज्ञ सम्पन्न होते हैं। वे चार कर्म- 1. होता, 2. अध्वर्यु, 3. उद्गाता और 4. ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न होते हैं। हम कोई भी कार्य करें उसमें कर्म करने ही पड़ते हैं। पर्जन्य को उत्पन्न करने वाला जो संवत्सर यज्ञ है, उसमें अग्नि 'होता' बनता है, वायु अध्वर्यु, आदित्य उद्गाता और बृहस्पति ब्रह्मा। तब ज़ाकर वह ऋतुयज्ञ सम्पन्न होता है, जिससे पर्जन्य बनता है और वृष्टि होती है।

यह यज्ञकर्म ब्रह्म अर्थात् वेद से उत्पन्न होते हैं। होता अपना कर्म ऋग्वेद से, अध्वर्यु यजुर्वेद

4 गीता-3/13
5 अमृत संदोह पृ0 98

से उद्गाता सामवेद से तथा ब्रह्मा अथर्ववेद से सम्पन्न करता हैं। यहाँ वेद वे तत्त्व हैं जो पदार्थ का निर्माण करते हैं, सामवेद से उसका तेजोमण्डल बनता है तथा अथर्ववेद उस पदार्थ को सर्वांगीण बनाता है।

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शाश्वत।
सर्वतेजः सामरूप्यं ह शश्वतः सर्व हेदं ब्रह्माणा हैव सृष्टम्।।[6]

जिन वेदों से हम परिचित हैं, वे वेद ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में ऋक् आदि तत्त्वों का निरूपण है। अतः उन्हें भी ऋग्वेद आदि नामों से कह दिया जाता है। जिस प्रकार वनस्पति का वर्णन करने वाले ग्रन्थ का नाम वनस्पति विज्ञान रख दिया जाता है।

एक यज्ञचक्र है, जिससे ये क्षर वेदतत्त्व उत्पन्न होता है। ऋक् आदि तत्त्व क्षर हैं। वे अक्षर से उत्पन्न होते हैं। इसलिये ऋक् आदि अपरा विद्या और अक्षरविद्या को पराविद्या कहा जाता है। अक्षर की पाँच कला हैं-ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि और सोम। इनमें से अग्नि में सोम की आहुति पड़ने से जो यज्ञ होता है, उसी से ऋगादि उत्पन्न होते हैं-

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाथंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।[7]

वेद ही कर्म का मूल है। कर्म से ही क्रमशः यज्ञ, पर्जन्य, वृष्टि, अन्न तथा भूतों की उत्पत्ति होती है। यही सृष्टि का क्रम है। इस यज्ञकर्म के विना ब्रह्म प्राप्ति संभव नहीं, क्योंकि ब्रह्मयज्ञ द्वारा संसार की उत्पत्ति होती है जो इस यज्ञचक्र की अवहेलना करता है वह ब्रह्म की प्राप्ति तो क्या कर पायेगा, वह तो वस्तुतः सांसारिक वैभव से भी वंचित हो जाता है, उसका पापपूर्ण जीवन व्यर्थ है।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः।।[8]
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।[9]
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।

इस प्रकार गीता में अनेक यज्ञों का वर्णन हुआ है, किन्तु गीता का यह निर्णय है कि सब यज्ञों में ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। अन्य यज्ञों में द्रव्य की अपेक्षा रहती है, इसलिये उन यज्ञों को द्रव्यमय यज्ञ कहा गया है। यदि हम किसी निर्धन की सहायता करना चाहें तो उसके लिये धन की अपेक्षा रहती है, किन्तु ज्ञानयज्ञ के लिये किसी द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानयज्ञ के लिये केवल विवेक आवश्यक है। गीता की मान्यतानुसार ज्ञान होने पर समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं। कर्मयज्ञ

---

6 अमृत संदोह 98
7 ऋ010.90.9.
8 गीता-3-14
9 गीता-3-15

को छोड़ना गीता के लिये अभिष्ट नहीं है। यह बात गीता के अनेक श्लोकों में कही गयी है।

यज्ञ विज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब तक ग्राह्यशक्ति ग्रहण पदार्थ का विसर्जन नहीं करती, तब तक यज्ञकर्म संभव नहीं है। इसलिए यज्ञ में विसर्जन ही त्याग कहलाता है। इसमें प्रथम सहज त्याग तो अहम् स्फूर्ति के द्वारा स्वाभाविक रूप से प्रकृति में हो रहा है, क्योंकि उसका विधान सृष्टि निर्माण के साथ ही निर्मित है। परन्तु दूसरा कर्म जो मानव के द्वारा सम्पादित होता है, उस यज्ञ विज्ञान को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त विश्व के महान् वैज्ञानिक तपस्वी ऋषियों ने एक विशेष विज्ञान के द्वारा सृष्टि के विकृत विभाग को संतुलित एवं स्वस्थ्य करने के लिये एक विशेष पद्धति के द्वारा रचित किया है। जो मानव के लिये उपयोगी है, इसलिये यज्ञ एक सार्वभौम कर्म है, जो मानवकल्याण के लिये आवश्यक कर्तव्य कर्म है।

यज्ञ के माध्यम से जो आहुति दी जाती है और आहुतिमय पदार्थ का शेषांश अमृत बनकर मानवता के लिये आरोग्यता, शान्ति, समृद्धि प्रदान करता है, जिसे वेद विज्ञान में अन्न, अन्नाद, पशु, सन्तान, ब्रह्म की प्राप्ति एवं कीर्ति के रूप में बतलाया है। इसलिये मानव को बौद्धिक सम्पदा का सदुपयोग करके यज्ञ के द्वारा विश्व-कल्याण का मार्ग सुदृढ़ करना चाहिए।

डॉ. किशनाराम बिश्नोई, प्रभारी
गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान
गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय
हिसार।

ऋग्वेद में यज् धातु का अर्थानुसन्धान

डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार

आचार्य पाणिनि के धातुपाठ में देवपूजा, संगतिकरण और दान-इन अर्थों में यज् धातु भ्वादिगणान्तर्गत पठित है, जो उभयपदी है।[1] 'संस्कृत-धातुकोष:' में 1-यज्ञ करना या हवन करना, 2-देवपूजा करना, 3-अर्पण करना या देना, 4-संगति करना-ये चतुर्विध अर्थ यज् धातु के दर्शाये हैं।[2] यज् धातु के इन्हीं अर्थों को प्राय: सभी धातुकारों ने स्वीकार किया है। इसी धातु से उणादि प्रत्यय करने पर 'यजु:' शब्द भी सिद्ध होता है। (क्षीरस्वामी ने **'यजु:काठकम्'** शब्द का भी प्रयोग किया है।[3] इससे यह ज्ञात होता है कि क्षीरस्वामी कठशाखाध्यायी थे। इस समय तो कश्मीर में ही कठब्राह्मण प्राप्त होते हैं।) 'यज्ञ:' शब्द यज् धातु से नङ् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है।[4] वैदिक-कोष: में इस 'यज्ञ' पद के पन्द्रह नाम गिनाये हैं।[5] श्रीचन्नबीर कवि ने यज् धातु को देवपूजा करना, धारण करना, कार्य करना और देना-इन अर्थों में व्याख्यात किया और यजति, यजते का अर्थ पूजयति, ददाति, धारयति, करोति-यह दर्शाया है। साथ ही यट्, याट्, याजी, यजन्, यजमान:, यक्ता, याय़जूक:-ये छ: पूजक अर्थ में; इष्टम् इष्टि:, यष्टि:, यजनम्, याजनम्, यज्ञ:, याग:, इष्टव्यम्, यज्यम्, याज्यम्-ये दश शब्द देवपूजा अर्थ में ओर यजुस् शब्द यजुर्वेद के अर्थ में दर्शाये हैं।[6] पाणिनीय वैयाकरण 'यक्ता' को यष्टा दर्शाते हैं। इष्टि: और यष्टि: में 'इष्' धातु है। पाणिनीय वैयाकरण इष्टम्, इष्टि:, इष्टिका इत्यादि शब्दों की सिद्धि यज् धातु का सम्प्रसारण करके मानते हैं। वस्तुत: सम्प्रसारण करने पर इष, उप, उष, -ये धातुएँ हैं और सम्प्रसारण न करने की स्थिति में यज, वप, वस ये धातुएँ स्वतन्त्र हैं। कदाचित् ऐसी स्थिति का अवलोकन कर आचार्य यास्क ने कहा था-**तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति।**[7] अर्थात् जहाँ या जिस धातुरूप में स्वर से पूर्व या पर व्यवधानरहित अन्तस्थ (य्, र्, ल्, व् में से कोई) वर्ण धातु के मध्य में हो, वह द्विस्वभाव धातुओं का स्थान है, ऐसा आचार्य कहते हैं।

वस्तुत: निरुक्तकारों के मत में **'सब नाम आख्यात से उत्पन्न हुए हैं'**। जो पाणिनीय धातुपाठ में धातुओं के स्वरूप दृष्टिगत होते हैं, वे ज्यों के त्यों यास्ककाल में विद्यमान नहीं थे। जैसे-'ज' धातु के दो रूप हैं, यज् और इज्। प्रथम रूप धातुपाठ-पठित और द्वितीय परिवर्तित है।

1-भ्वादि0 728 यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु।

2-संस्कृत-धातुकोष:, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा।

3-उणादि0 2/118 अर्तिपृवपि इत्युस्; क्षीर0 भ्वादि0 729 यजु:काठकम्।

4-अष्टा0 3.3.90 यजयाच0।

5-वैदिक-कोष:, पृ0 11, श्लो0 16 यज्ञो वेनोऽध्वरो मेधो विदथ: सवनं मख:। इष्टिर्होता देवताता विष्णुरिन्दु: प्रजापति:। घर्म्म: नार्य्य: पञ्चदश यज्ञनामानि चक्षते।।

6-काशकृस्न0 भ्वादि0 699

7-निरु0 2.1.3

पहले रूप का सादृश्य सब यकार वाले शब्दों में होगा और दूसरे का सकल इकार वालों में। इसी प्रकार इनके अनेक रूप अनेक फलों के उत्पन्न करने वाले होते हैं। धातु के तीन प्रकार संप्रसारणी, असंप्रसारणी और उभयविध हैं। जिस धातु में अकार आदि स्वर से पूर्व या पर अन्त:स्थ अर्थात्-(य्, र्, ल्, व् में से कोई वर्ण हो, वह धातु द्विस्वभाव वाली होती है। जैसे-यज् धातु में अकार से पूर्व 'य्' आया है। इस धातु की दो प्रकृति हैं, सम्प्रसारण पक्ष में 'इष्टवान्, इष्ट: इष्ट्वा। और असम्प्रसारण पक्ष में-यष्टा, यष्टुम्, यष्टव्यम्। इससे यह सिद्ध हुआ कि जहाँ एक प्रकार से अर्थसिद्धि न हो, वहाँ दूसरे प्रकार से करनी चाहिए, उपर्युक्त इष्टि: और यष्टि: पद यही ज्ञापित कर रहे हैं। वामन शिवराम आप्टे ने यज् धातु के 1-यज्ञ करना, त्याग पूर्वक पूजा करना तथा 2-आहुति देना ये अर्थ प्रदर्शित किये हैं।[8]

ऋग्वेद में यज् धातु के यजते, यजते, यजति, यजति, यजत:, यजन्ते, यजन्ते, यजन्ति, यजन्ति, यजसे, यजसि, यजसि, यजथ:, यजे, यजे, यजामि, यजामहे, यजामहे, यजे, यजाम:, यजामसि, यजामसि, यजाते, यजाते, यजातै, यजाति, यजाति, यजात्, यजासि यजासि, यजतु, यजन्ताम्, यजन्तु, यजस्व, यजस्व, यज>जा, यज>जा, यजध्वम्, यजामहै, यजाम, अयजन्त, अयजन्त, अयज:, ईजे, ईजे, ईजिरे, याट्, अया:, यक्षि, यक्षत्, यक्षताम्, यक्ष्व, यक्षि, इयक्षति, इयक्षन्ति, इयक्षसि, इयक्षान्-ये स्वरभेद से अट्ठावन रूप प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद के भाष्यकारों में स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, उद्गीथ और आचार्य सायण ने मन्त्रों अथवा मन्त्रांशों के अन्तर्गत समागत यज् धातु का अर्थ प्राय: वैयाकरणों के अनुसार ही दर्शाया है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने वैयाकरणों द्वारा यज् धातु के जो अर्थ किये हैं, उनका विस्तार भी किया है, पुनरपि वह विस्तार देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थ को ही अपने अन्दर स्थापित किये हुए है। अत: हम यज् धातु से अनुप्राणित उन मन्त्र एवं मन्त्रांशों को ही यहाँ प्रदर्शित कर रहे हैं -

	देवता	मन्त्र/मन्त्रांश
1.	इध्म: समिद्धोऽग्निर्वा	होत: पावक यक्षि च।। ऋ0 1.13.1
2.	इध्म: समिद्धोऽग्निर्वा	यज्ञं नो यक्षतामिमम्।। ऋ0 1.13.8
3.	विश्वेदेवा:	देवेभिर्याहि यक्षि च।। ऋ0 1.14.1
4.	विश्वेदेवा:	सेमं नो अध्वरं यज।। ऋ0 1.14.11
5.	द्रविणोदा:	यत्त्वा तुरीयमृतुभिर्द्रविणोदा यजामहे।। ऋ 1.15.10
6.	मेधातिथि:काण्व:	देवान् देवयते यज।। ऋ0 1.15.12
7.	अग्नि:	सेमं नो अध्वरं यज।। ऋ0 1.26.1
8.	अग्नि:	यच्चिद्धि शश्वता तना देवन्देवं यजामहे।। ऋ0 .26.6
9.	विश्वेदेवा:	यजाम देवान्यदि शक्नवाम।। ऋ0 1.27.13

8-संस्कृत हिन्दी कोश पृ0 823

10. अग्नि:	असघ्नोर्भारमयजो महो वसो।। ऋ0 1.31.3
11. अग्नि:	जीवयाजं यजते सोमपा दिव:। ऋ0 1.31.15
12. अग्नि:	आसादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम्। ऋ0 1.31.17
13. अग्नि:	स त्वं नो अद्य सुमना उतापरं यक्षि देवान् सुवीर्या। ऋ0 1.36.6
14. अग्नि:	यजा स्वध्वरं जनं मनुयातं घृतप्रुषम्। ऋ0 1.45.1
15. अग्नि:	अर्वाञ्चं दैव्यञ्जनमग्ने यक्ष्व सहूतिभि:। ऋ0 1.45.10
16. अग्नि:	यजा नो मित्रावरुणा। ऋ0 1.75.5
17. अग्नि:	यजा देवाँ ऋतं बृहत्। ऋ0 1.75.5
18. अग्नि:	यजामहे सौमनसाय देवान्। ऋ0 1.76.2
19. अग्नि:	देवाँ अयज: कविभि: कवि: सन्। ऋ0 1.76.5
20. अग्नि:	सचा बोधाति मनसा यजाति। ऋ0 1.77.2
21. इन्द्र:	यमस्य जातममृतं यजामहे। ऋ0 8.83.5
22. इन्द्र:	स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभि:। ऋ0 1.84.18
23. सोम:	या ते धामानि हविषा यजन्ति। ऋ0 1.91.19
24. अग्नि:	सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे। ऋ0 1.97.2
25. आप्ती	यज्ञं नो यक्षतामिमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। ऋ0 1.142.8
26. आप्ती	अवसृजनुपत्मना देवान् यक्षि वनस्पते। ऋ0 1.142.11
27. मित्रावरुणौ	कविर्होता यजति मन्मसाधन:। ऋ0 1.157.7
28. अश्विनौ	उद्वारो न शुचिर्यजते हविष्मान्। ऋ0 1.180.3
29. मित्रावरुणौ	यजामहे वां मह: सजोषा हव्येभिर्मित्रावरुणा नमोभि:। ऋ0 1.153.1
30. साध्या:	यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:। ऋ0 1.164.50
31. आप्ती	यज्ञं नो यक्षतामिमम्। ऋ0 1.188.7
32. आप्ती	तेषां न: स्फातिमा यज। ऋ0 1.188.10
33. अग्नि:	अग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा। ऋ02.2.1
34. आप्री	देवो देवान्यजत्वग्निरर्हन्। ऋ0 2.3.1
35. आप्री	देवान्यक्षि मानुषात्पूर्वो अद्य। ऋ0 2.3.3
36. आप्री	इन्द्रं नरो बर्हिषदं यजध्वम्। ऋ0 2.3.3
37. अग्नि:	यक्षि चिकित्व आनुषक्। ऋ0 2.6.8
38. अग्नि:	यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तम्। ऋ0 2.9.3

39. अग्निः अग्ने यजस्व हविषा यजियान्। ऋ0 2.9.4
40. इन्द्रः वृषा यजस्व हविषा विदुष्टरः। ऋ0 2.16.4
41. ब्रह्मणस्पतिः यजस्व वीरि प्रविहि मनायतः। ऋ0 2.26.2
42. अग्निः आवक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि च। ऋ0 2.36.4
43. आप्ती सखा सखीन्त्सुमना यक्ष्यग्ने। ऋ0 3.4.1
44. आप्ती स देवान्यक्षदिषितो यजीयान्। ऋ0 3.4.3
45. आप्ती सेदु होता सत्यधरो यजाति। ऋ0 3.4.10
46. अग्निः अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान्देवयते यज। ऋ0 3.10.7
47. अग्निः यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवान्। ऋ0 3.15.4
48. अग्निः देवान्देवयते यज। ऋ0 3.29.12
49. अग्निः देवावीर्देवान् हविषा यजाति। ऋ0 3.29.8
50. इन्द्रः सोमस्य नु त्वा सुषुतस्य यक्षि। ऋ0 3.53.2
51. इन्द्रः यजाम इन्नमसा वृद्धमिन्द्रम्। ऋ0 3.32.7
52. अग्निः त्वामस्या व्युषि देवपूर्वे इतं कृण्वाना अयजन्त हव्यैः। ऋ0 53.8
53. अग्निः स यक्षद्दैव्यं जनम्। ऋ0 5.13.3
54. अश्विनौ प्रातर्यावाणा प्रथमा यजध्वम्। ऋ0 5.77.1
55. अग्निः अग्ने वित्ताद्धविषा यद्यजाम। ऋ0 .60.6
56. विश्वेदेवाः आविवासन्तो मरुतो यजन्ति। ऋ0 5.45.4
57. विश्वेदेवाः यक्ष्वामहे सौमनसाय रुद्रम्। ऋ0 5.42.11
58. अश्विनौ उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः। ऋ0 5.77.2
59. अश्विनौ प्रातर्यजध्वमश्विनौ। ऋ0 5.77.2
60. अग्निः सो अग्न ईजे शशमे च मर्तः। ऋ0 6.1.9
61. अग्निः यथा होतर्मनुषो देवताता यज्ञेभिः सूनो सहसो यजासि। ऋ0 6.4.1
62. अग्निः स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजामहः। ऋ0 6.16.2
63. इन्द्रः क ईं स्तवाकः पृणात्को यजाते। ऋ0 6.47.15
64. इन्द्रः इन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज। ऋ0 6.47.27
65. आप्री सेदु होता सत्यतरो यजाति। ऋ0 7.2.10
66. अग्निः यक्षद्देवाँ अमृतान्पिप्रयच्च। ऋ0 7.17.4
67. विश्वेदेवाः उशन्ता मित्रावरुणा यजेह। ऋ0 7.42.5

68. रुद्रः	त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। ऋ0 7.59.12
69. यज्ञः	यजात् इत्। ऋ0 8.31.1
70. अग्निः	देवो देवान्यजत्वग्निरर्हन्। ऋ0 .10.2.2
71. जलम्	अपां नपातं हविषा यजध्वम्। ऋ0 10.30.3
72. अग्निः	अञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च। ऋ0 10.45.6
73. अग्निः	यजामहै यज्ञियान् हन्त देवान्। 10.53.2
74. पुरुषः	तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। ऋ0 0.90.7
75. पुरुषः	यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। ऋ0 10.90.16
76. अश्विनौ	परिज्मानेव यजथः पुरुत्रा। ऋ0 10.106.3
77. विश्वेदेवाः	मह्यं यजन्तु मम यानि हव्या। ऋ0 10.128.4
78. मित्रावरुणौ	सुषुम्नेषितत्वता यजामसि। ऋ0 10.132.2
79. उषा	प्रति दध्मो यजामसि। ऋ0 10.172.3

उपर्युक्त मन्त्रों में हमने प्रायः यज् धातु से निष्पन्न समस्त धातु रूपों को देने का प्रयास किया है। स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, उद्गीथ और सायणाचार्य ने यज् धातु का अर्थ यज्ञ यम्पादन करना, अर्चना करना, पूजना, हव्य प्रदान करना, स्तुति करना, दान देना, उपासना करना, सख्य चाहना किया है, जबकि स्वामी दयानन्द ने सिद्धि करना, सम्पादित करना, शिल्पविद्या सम्पादन करना, साथ चलना, जाना, प्राप्त करना, मिलकर चलना, सत्कार करना, दान अथवा उपदेश देना, एक होना, पूजा करना, ग्रहण करना-अर्थ यज् धातु के दिखाये हैं। गम्भीरता से ईक्षणोपरान्त ज्ञात होता है कि यज्ञ सम्पादन करना, पूजना, अर्चना करना, स्तुति करना, उपासना करना, उपदेश देना, पूजा करना, हव्य प्रदान करना इत्यादि ये सब अर्थ देवपूजा, संगतिकरण और दान के ही विस्तार रूप हैं अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यज् धातु का विस्तारीकरण सभी अर्थों में समाया हुआ दृष्टिगत होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के भाष्यकारों ने यज् धातु के वैयाकरण-सम्मत अर्थ ही प्रस्तुत किये हैं।

डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार
रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गु.का.वि.वि. हरिद्वार

कालिदास के काव्यों में यज्ञ-मीमांसा

मंजुल गुप्ता

वैदिक संस्कृति यज्ञ प्रधान रही है। भारत में वैदिक काल से ही यज्ञों को प्रमुख स्थान दिया जाता रहा है। यज्ञ हमारी जीवनचर्या के अभिन्न अंग रहे हैं। सारी क्रियाएँ-विवाह, जन्म, मृत्यु आदि सभी यज्ञ आधारित हैं। सारी सृष्टि भी यज्ञ से उत्पन्न हुई है, उस विराट् पुरुष स्वरूप यज्ञ से सभी उत्पन्न हुए, ऋक्, यजुः साम उत्पन्न हुए, उसी से अश्व, गाय, अजा, पशु, उत्पन्न हुए। उस पुरुष हवि से देवों ने यज्ञ किया, वसन्त आज्य (घी) हुआ, ग्रीष्म इध्म (ईंधन) और शरद् हवि। देवों ने यज्ञ से यज्ञ किया।[1] यज्ञ कई प्रकार के होते हैं, कुछ दैनन्दिन यज्ञ हैं जैसे-पञ्च महायज्ञ जिनमें ब्रह्मयज्ञ, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ आते हैं।[2] इसके अतिरिक्त कुछ विशेष अवसरों पर किये जाने वाले यज्ञ हैं, जैसे-दर्शपौर्णमासादि यज्ञ। कुछ काम्य यज्ञ हैं जो किसी विशेष इच्छा से किये जाते थे, जैसे-पुत्रेष्टि आदि यज्ञ। यज्ञ भी तीन प्रकार के होते थे, जैसे-प्रथम-एक दिन चलने वाले-एकाह, द्वितीय-दूसरे दिन से 12 दिन तक चलने वाले-अहीन, तृतीय-बारह दिन से सहस्र वर्ष पर्यन्त होने वाले सत्र। जितना भी कर्मकाण्ड है, वह सब क्रियामय है और उसके भी दो भेद हैं-1. परमार्थ पुरुषार्थ सिद्ध्यर्थ अर्थात् ईश्वर स्तुति, उपासना, आज्ञापालन, धर्मानुष्ठान ज्ञान से मोक्ष साधने के लिये, 2. लोक व्यवहार की सिद्धि के लिये। यह भी दो प्रकार का है-निष्काम और सकाम। निष्काम मोक्ष के लिये सकाम अर्थ काम फल की सिद्धि के लिये। अग्निहोत्र से लेकर अवश्मेध पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है, उनमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है-सुगन्धगुणयुक्त यथा कस्तूरी, केशरादि 2. मिष्टगुणयुक्त यथा गुड़, शहदादि 3. पुष्टिकारक गुणयुक्त, घी, दूध अन्नादि 4. रोग नाशक गुणयुक्त यथा सोमलता औषध। इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिलाकर अग्नि में होम वायु और वृष्टि जल की शुद्धि करने वाला होता है, इससे सब जगत् को सुख होता है। यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है, जैसा कहा गया है-**'यज्ञः परोपकाराय एव भवति। तथैव होमक्रियार्थानां, द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः। एवं क्रुतना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति।**[3] समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ थे, कुछ ऋषियों द्वारा किए जाते थे, कुछ राजाओं द्वारा जैसे अवश्मेध और कुछ सामान्यतया सभी के द्वारा

---

1. यजु. 31.5 ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः।। यजु. 31.6 तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।। यजु. 31.7 तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।। यजु. 31.8 तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।। यजु. 31.9 तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।। यजु. 31.14 यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।। यजु. 31.16 यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवाः।। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषयः, पृ0 122-129
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पञ्चमहायज्ञविषयः पृ0 259-286, सत्यार्थ-प्रकाश, तृ0 समु0 पृ0 34, चतु0 समु0 पृ0 67
3. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ0 44-46

किए जाते थे।

कालिदास वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति के कवि हैं। उनका समय वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का समय था। उनके काव्यों के नायक अधिकांशतः राजा हैं, अतः उनके काव्यों में राजाओं और ऋषियों द्वारा किये गए यज्ञों की प्रमुखता है। कालिदास की रचनाओं में अनेक प्रकार के यज्ञों के किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

राजाओं द्वारा किए जाने वाले यज्ञों में अश्वमेध[4] प्रमुख यज्ञ रहा है, यह एक प्रकार से राजाओं के वीरत्व की घोषणा होती थी।[5] अश्वमेध में यज्ञ का घोड़ा छोड़ा जाता था। उसके सुरक्षित लौट आने पर ही यज्ञ पूर्ण समझा जाता था। घोड़े की रक्षा के लिये 100-100 की संख्या में कवचधारी एवं दण्डधारी रक्षक नियुक्त किए जाते थे।

यदि कोई उस घोड़े को पकड़ता था तो उसे यज्ञ करने वाले राजा के सैनिकों से युद्ध करना पड़ता था। सामान्यतः पुत्र या पौत्र की अध्यक्षता में अश्वमेध यज्ञ का अश्व छोड़ा जाता था। अतः दिलीप ने रघु को नियुक्त कर दिया। रघुवंश में राजा दिलीप के अश्वमेध यज्ञ करने का वर्णन है।[6] राजा ने 99 यज्ञ पूरे कर लिये और सौंवे यज्ञ के लिये घोड़ा छोड़ा तो शक्र ने उसे चुरा लिया।[7] रघु के इन्द्र को ललकारने से भी यज्ञ की महिमा प्रकट हुई है।[8] पाण्ड्य देश के राजा के वर्णन में उसके अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है।[9] राजा दशरथ के यज्ञों का कालिदास ने अत्यन्त आलंकारिक वर्णन किया है। वे कहते हैं कि राजा दशरथ ने अपना मुकुट उतारकर अश्वमेध यज्ञ करते समय तमसा और सरयू के किनारे सोने के खंभे गाढ़ दिये थे। वे मृगछाल पहनकर, हाथ में दण्ड लेकर, कुशा की तगड़ी बांधकर, चुपचाप हरिण का सींग लेकर, यज्ञ की दीक्षा लेकर बैठे। उस समय भगवान् अष्टमूर्ति महादेव उनके शरीर में आ बैठने से उनकी शोभा और बढ़ गयी। यज्ञ समाप्त हो

---

4. 108 उपनिषद् ज्ञान खण्ड श्री राम शर्मा आचार्य पृ0 241-242 कुछ लोग यह मानते हैंकि अश्वमेघ यज्ञ में यज्ञ पूर्ण होने पर यज्ञ के अश्व को मार दिया जाता था परन्तु पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार 'अश्व' शब्द शक्ति एवं गति का परिचायक है। यह ब्रह्माण्ड गतिशील है और जो इसे गतिशील बनाये रखता है, उसे अश्व कहा गया है। 'अश्नोति व्याप्नोति' के अनुसार तीव्र गति से सञ्चरित होने वाले को अश्व कहना उचित है। यह अश्व मेध्य है। मेध शब्द यज्ञ का पर्यायवाची है। वह शक्ति का सञ्जार जो विश्व का संवाहक है, निश्चित रूप से मेध्य अर्थात् यजनीय है। इसका उपयोग यज्ञीय दिव्य अनुशासन में ही किया जाना चाहिये। मेध मेधृ धातु के तीन अर्थ हैं-मेधा, हनन और संगम-संयोजन। अतः इस विराट् यज्ञीय प्रक्रिया को हिंसनीय या हननीय नहीं कह सकते। इसे मेध्य, मेधा से प्रभावित करने योग्य या ग्रहण करने योग्य अवश्य कह सकते हैं। यह संगम योग्य भी है ही।

5 5 लवः-अश्वमेघ इति नाम विश्वविजयिनां क्षत्रियाणामूर्जस्वलः सर्वत्रपरिभावी महानुत्कर्षनिकषः भवभूति, उत्तररामचरितम्, चतुर्थ अंक, पृ0 241

6 रघुवंश 3.38 नियुज्य तं होमतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजपुत्रैरनुद्रुतम्। अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः।।

7 रघु0, 39

8 रघुवंश 3.34 मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे। अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे।।

9 रघुवंश 6.61 प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः।

जाने पर जब वे स्नान करके पवित्र हुए, तब देवताओं के साथ बैठने योग्य दशरथ ने केवल नमुचि राक्षस के शत्रु जल बरसाने वाले एक इन्द्र के आगे ही अपना उन्नत मस्तक झुकाया।[१०]

समुद्र को दिखाते हुए राम ने सीता से अपने पूर्वज सगर के यज्ञ (अश्वमेध) का वर्णन इस प्रकार किया है-**गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरङ्गे। तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः।।**[११] इक्ष्वाकीय राजाओं के द्वारा किए गये अश्वमेधों का व्यञ्जन इन शब्दों में हुआ है यह नदी (सरयू) इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी अयोध्या से लगी रहती है। इसके तट पर यत्र तत्र यज्ञों के खंभे गड़े हुए हैं। अवश्मेघ यज्ञ करने के पश्चात् सूर्यवंशी राजाओं द्वारा स्नान करने से इसका जल पवित्र हो गया है।[१२] अश्वमेध यज्ञ पत्नी के साथ ही किया जाता था, इसका संकेत कवि ने राम के अश्वमेध यज्ञ के वर्णन में किया है।[13] राम ने सीता को छोड़कर दूसरा विवाह नहीं किया, उसकी ही प्रतिकृति को सहधर्मिणी रूप में यज्ञ में अपने पास बैठाया। राम के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन कालिदास ने बड़े विस्तार से किया है।[१४] राम ने यज्ञ के लिये तीनों लोकों से ऋषियों को आमन्त्रित कर रखा था, अतः पृथ्वी से नहीं सप्तर्षिमण्डलादि दिव्य स्थानों से भी ऋषिगण उस यज्ञ में आये। चारों ओर से लोगों से युक्त अयोध्या लोकों की सृष्टि करने वाली पितामह की मूर्ति सी प्रतीत हुई। यज्ञ में सोने की सीता बैठाने से भी राम की प्रशंसा हुई।[15] इस यज्ञ की अन्य विशेषता थी कि आवश्यकता से अधिक सामग्री एकत्रित हुई थी और क्रिया में विघ्न करने वाले राक्षस ही यज्ञ की रखवाली करने वाले थे। यज्ञ में ही लव और कुश ने रामायाण का गायन किया और वाल्मीकि के कहने पर सीता ने अपनी सत्यता प्रमाणित की और पृथ्वी में समा गई। यज्ञ के अन्त में ऋषियों और मित्रों को राम ने विदा कर दिया।[16] कुश के पुत्र अतिथि अश्वमेध के लिये दिग्विजय करने निकले।[17] अतिथि के बाद रघुवंशीय राजाओं में क्षेमधन्वा बड़े-बड़े यज्ञ करते थे।[18] इस प्रकार रघुवंश में अधिकतर राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किया और यज्ञोपरान्त स्नान करके पवित्र हुए। अश्वमेध यज्ञ करने का उल्लेख मालविकाग्निमित्र में भी आया है। अग्निमित्र के पिता-पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया था, जिसके घोड़े की रक्षा के लिये अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र को नियुक्त किया

---

10 रघुवंश, 9.20-22 क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः। कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसा सरयूतटाः।। अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम्। अधिवसस्तंनुमध्वरदीक्षितामसमसभाः समभासयदीश्वरः।। अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः। नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः।।

11 रघुवंश 13.3

12 रघुवंश 13.61 जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्। तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि।।

13 रघुवंश 14.87 सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे तस्या एव प्रतिकृतसखो यत्क्रतुनाजहार।

14 रघुवंश 15.58 तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षः कपिनरेश्वराः। मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः।।

15 रघुवंश 61

16 रघुवंश, 63-86

17 रघुवंश 17.76 पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम्। जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत्।।

18 रघुवंश 18.12 धुरनिधायिकनिधिगुणानां जगाम यज्वा [illegible]

गया था।[19] निम्न कथन से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।[20]

दिग्विजय करके राजा लोग विश्वजित यज्ञ करते थे जिसमें विश्व को जीतने के बाद अपना सर्वस्व दान कर देते थे।[21] यह विश्वजित् यज्ञ सत्र होता था,[२२] इन्दुमती स्वयंवर में सुनन्दा राजाओं का परिचय देते हुए रघु के विश्वजित् यज्ञ का उल्लेख करती है।[२३] लम्बे समय तक (बारह दिन से सहस्र वर्ष पर्यन्त चलने वाले यज्ञ सत्र कहलाते थे। विश्वजित् के अतिरिक्त अन्य सत्र में चलने वाले यज्ञों का उल्लेख भी कालिदास में मिलता है। यथा-वसिष्ठ के शब्दों से स्पष्ट है-**हविषे दीर्घसत्रस्य या चेदानीं प्रचेतसः।**[२४] प्रचेतस् (वरुण) ने दीर्घसत्र प्रारम्भ किया था। यथा अभिज्ञानशाकुन्तल के द्वितीय अंक के वर्णन से स्पष्ट है कि रघुकुल के सभी राजा विध्यनुसार अग्निहोत्र करते थे।[२५] रघुवंश के प्रथम सर्ग में ही राजाओं का उल्लेख करते हुए कालिदास कहते हैं- **'यथाविधिहुताग्नीनाम्।'**[२६] दिलीप के यज्ञ का वर्णन करते हुए कहा है- **'दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्'**[२७] राजा दिलीप जो भी कर रूप में लेते थे, वह यज्ञ के लिये ही होता था, क्योंकि यज्ञ से देवता प्रसन्न और पुष्ट होते हैं। रघु के यथाविधि यज्ञ सम्पन्न करने के लिये कहा गया है- **'यथावद्विहिताध्वराय'**[२८] इन्दुमती स्वयंवर में सुनन्दा राजाओं का परिचय देती हुई उनके द्वारा किए गये यज्ञों से प्राप्त कीर्ति का उल्लेख करती है। यथा यज्ञों को निरन्तर करते हुए उस राजा परन्तप ने इन्द्र को इतना बुलाया कि शची के केश मन्दार से रहित पीले कपोलों पर झूलने लगे।[२९] राजा प्रतीप के गुणों का वर्णन करती हुई सहस्रबाहुकार्त्तवीर्य द्वारा अष्टादश द्वीपों में यज्ञ के खंभे गाड़ने का

---

19 मालवि0 पञ्चम अंक, पृ0 311, 312 जदप्पहुदि सेणावदी जण्णतुरंगरक्खणे णिउत्तो भट्टदारओ वसुमित्तो तदप्पहुदि तस्य आउसणिमित्तं णिक्कसदसुवण्णपरिमाणं दक्खिणं देवी दक्खिणी एहि परिग्गाहेदि।''

20 मालवि0 पञ्चम अंक पृ0 324 क-राजा-(उपदिश्य लेखं सोपचारं गृहीत्वा वाचयति) स्वस्ति यज्ञशरणात् सेनापतिः वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात् परिष्वज्येदमनुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निरर्गलस्तुरङ्गो विसृष्टः। ख-वही0 5.15 शेषं पुनर्वाचयति-ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना। प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः।। ग-वही0 पृ0 315 सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।

21 रघु0 4.86 स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।

22 रघु0 4.87 सत्रान्ते।

23 रघु0 6.76 पुत्रो रघुस्तस्य पदप्रशास्तिं महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता। चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम्।।

24 रघु0 1.80

25 अभिज्ञानशाकुन्तलम्-2.16 अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि। आपन्नाभ्यसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः।

26 रघुवंश 1.6

27 रघु0 1.16

28 रघु0 5.16

29 रघु0 6.21 क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः। शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकाँश्चकार।।

उल्लेख करती हैं।[30] इसी प्रकार नीपवंश में उत्पन्न सुषेण के परिचय में उसके यज्ञ करने का उल्लेख किया है।[31] राम के अग्निहोत्र का ज्ञान इन शब्दों से होता है कि किसी भी दशा में धारण की हुई अग्नियाँ छोड़ी नहीं जा सकतीं, अतः राम अग्निहोत्र की अग्नियों को आगे करके अयोध्या को छोड़कर चल पड़े।[32] कुश के पुनः अयोध्या में लौटने पर रघुवंशियों द्वारा किये गए यज्ञों का बोध उनके द्वारा गाड़े गये यज्ञ के खंभों से होता है।[33]

यद्यपि कुमारसम्भव में यज्ञ का अधिक वर्णन नहीं है, परन्तु पार्वती के विवाह के यज्ञ का वर्णन है-**स कारयामास वधू पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्।**[34] तथा-**सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्वदनं निनाय।**[35] शिव के अग्निहोत्र करने का वर्णन है, जिसमें प्रातः सायं संध्या की जाती है।[36] यज्ञों का सम्पादन केवल राजा ही नहीं अपितु ऋषि लोग भी करते थे। परशुराम ने यज्ञों से लोकों को जीत लिया था।[37] वाल्मीकि का वर्णन करते हुए कवि ने इस बात को स्पष्ट किया है कि ऋषि लोग यज्ञ, हवन के लिये कुशा और इध्म (ईंधन) लाते थे।[38] आश्रमों में वेदी पर यज्ञ के लिये कुशादि बिछाई जाती थी।[39] यज्ञ में जलादि की भी आवश्यकता पड़ती थी जैसा कि कुमारसंभव में शिव ब्रह्मचारी वेश में पार्वती से पूछते हैं-**''अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।**[40]

यज्ञ के विभिन्न रूप थे यथा-अध्वर, यज्ञ, सवन इत्यादि। यज्ञ के लिये दीक्षा लेनी पड़ती थी। **अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः।''** विना विधि समाप्त किये नहीं जाया जा सकता था।[41]

विभिन्न प्रयोजनों के लिये विशेष प्रकार के यज्ञ भी किये जाते थे। वातावरण की शुद्धि के लिये ऋषियों के आश्रमों में होने वाले यज्ञों का प्रयोजन इन शब्दों से बोधित होता है कि हवन-सामग्री की गन्ध से युक्त, पवन के कारण चारों ओर फैलते हुए एवं उठी हुई अग्नि के सूचक

---

30 रघु0 6.38 संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः। अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्त्तवीर्यः।।

31 वही. 6/46 नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।

32 रघु0 15.98 उदक्प्रतस्थे स्थिरधीसानुजोऽग्निपुरःसरः। अन्वितःपतिवात्सल्याद् गृहवर्जमयोध्यया।।

33 रघु0 16.35 इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः। वेदिप्रतिष्ठान्वितसाध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम्।।

34 कु0सं0 7.80

35 वही0 7.81

36 वही0 8.50 ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं मन्त्रपूर्वमनुतस्थिवान्विधिम्।

37 रघु0 12.84 लोकमुत ते मखार्जितम्।

38 रघु0 14.70 तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।

39 अ0 शा0 तृतीय अंक, पृ0 38 शिष्य-यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपनयामि

40 कु0 सं0, 5.33

41 रघु0 8.75, 76 असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम्। न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम्।

उन धुओं ने आश्रम की ओर आते हुए अतिथियों को भी पवित्र कर दिया।[42] यज्ञ की अग्नि के धुएँ से वातावरण और आत्मा पवित्र होने का वर्णन राम के मुख से कवि ने इस प्रकार किया है कि उसी यशस्वी (अगस्त्य) ऋषि की तीन (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) अग्नियों का हवन-सामग्री से मिश्रित वह धुआँ विमान के पास तक उठा चला आ रहा है जिसे सूँघते ही मेरी आत्मा पवित्र हो रही है।[43] निरन्तर यज्ञ करने से राजाओं की आत्मा शुद्ध रहती थी।[44] विधिपूर्वक अग्नियों में हवन की हवि से सूखे हुए धानों पर वृष्टि का वर्णन मिलता है।[45]

राजा दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया था, जिसका वर्णन कालिदास ने किया है।[46] राजा जनक ने धनुर्यज्ञ का निश्चय किया था।[47] मिथिला राजा जनक ने कौशिक ऋषि को धनुष यज्ञ में निमन्त्रित किया और उसके प्रति कुतूहल युक्त राम-लक्ष्मण को भी साथ में ले लिया। यज्ञों की क्रियाएँ यूप के साथ ही अवसित होती थीं, जैसे धनुर्यज्ञ के समाप्त होने का उल्लेख है।[48] रोगादि की शान्ति के लिये भी यज्ञ का महत्त्व था यथा शकुन्तला को रुग्ण सुनकर शिष्य कहता है-**अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि।**''[49] अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम श्लोक में ही कालिदास ने शिव की स्तुति करते हुए यज्ञ के अङ्गों का भी निर्देश किया है। जो विधाता की प्रथम सृष्टि (जल) है, जो विधिपूर्वक दी गयी हवन-सामग्री को ग्रहण करने वाली (अग्नि) है, जो होता के रूप में है।[50] यहाँ हवि, अग्नि, विधिहुतं, होत्री-ये सब यज्ञ के ही भाग हैं। यज्ञ में होता होते थे, वसिष्ठ के लिये होता शब्द का प्रयोग किया है-''**इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्।**''[51] हवन या यज्ञ में यजमान भी होते थे, दिलीप को यजमान कहा है।[52] ऋषियों की हवन क्रिया निरन्तर होती थी जैसा कि-''**वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषिरनुज्ञामधिगम्य मातः।**''[53]

अध्वर (यज्ञ) में दक्षिणा देने का विधान था क्योंकि विना दक्षिणा के यज्ञ पूर्ण नहीं समझा

---

42 रघु0, 9.53 अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्। पुनानं पवनोद्धूतैधूमैराहुतिगन्धिभिः।।

43 रघु0 13.37 त्रेताग्निन्धिधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्। घ्रात्वा हविर्गन्धिरजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा।।

44 रघु0 1.68 सोऽहमिज्या विशुद्धात्मा।

45 रघु0 1.62 हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु। वृष्टिर्भवति सस्यानामवगृहविशोषिणाम्।।

46 रघु0 10.4 ऋष्यश्रृंगादयस्तय सन्तः सन्तानकांक्षिणः। आरेभिरे जितात्मनः पुत्रीयमिष्टिमृत्विजः।।

47 रघु0 11.32 तं न्यमन्त्रयत संभृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी। राघवावपि निनाय बिभृतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम्।।

48 रघु0 11.37 यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ।

49 अभि0 शा0, तृतीय अंक पृ0 38

50 अभि0 शा0 प्रथम अंक, पृ0 1 या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।

51 रघु0 1.82

52 रघु0 1.86 याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत्।''

53 रघु0 2.26

जाता था। रघुवंश में यज्ञ में दी गयी दक्षिणा का उपमान रूप में उल्लेख किया गया है।[54] राजा दिलीप ने यज्ञ की दक्षिणा में ब्राह्मणों को गाँव दान किये थे।[55] यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को अपने द्वारा दान किये गए ग्रामों में जहाँ यज्ञ के चिह्न यूप गड़े हुए थे। कुश के पुत्र अतिथि को यज्ञ में उसके द्वारा प्रभूत दक्षिणा देने के कारण दूसरा कुबेर कहा जाने लगा था।[56] शरभङ्ग मुनि ने तो यज्ञ करते हुए अन्त में अपना शरीर भी होम कर दिया।[57] यज्ञ के प्रथम भाग का अधिकारी इन्द्र को ही समझा जाता था।[58] ब्रह्मा के लिये भी यज्ञ सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे तुम ही हव्य (हवन-सामग्री) और होता (हवन करने वाले) भी हो।[59] देवताओं के लिये यज्ञ का भाग रखा जाता था। अत एव कालिदास ने देवताओं के लिये **'मंखांशभाजाम्'**[60] 'यज्ञांशभुजाम्।'[61] पद का प्रयोग किया है।

पञ्च महायज्ञों में रघुवंश में राजाओं के वेदाध्ययन, देवताओं की पूजा, अग्निहोत्र, वैश्वदेवों की उपासना और अतिथि का आदर करने तथा पितृयज्ञ के रूप में पितरो को जलाञ्जलि देने का उल्लेख मिल जाता है। अज के ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ तथा पितृयज्ञ का वर्णन भी मिलता है।[62] अतिथि सत्कार को ही अतिथियज्ञ कहा जाता है। पार्वती के अतिथियज्ञ का वर्णन इस शब्दों में हुआ है-**'तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती।'**[63] इसके अतिरिक्त उसके पितृयज्ञ और देवयज्ञ का उल्लेख भी मिलता है।[64] कालिदास ने अपने काव्यों में स्थान-स्थान पर यज्ञ को उपमान रूप में लिया है। यथा-**'हुतहुताशनदीप्तवनश्रियः प्रतिनिधिकनकाभरणस्य यत्।'**[65] तथा-**'स्वाभाविकं विनीतत्त्वं तेषां विनयकर्मणा। मुमूर्च्छसहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्।'**[66] अरुधन्ती से युक्त वसिष्ठ के लिये कवि ने यज्ञ की क्रिया को ही उपमान रूप में प्रयुक्त किया है।[67] 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के चतुर्थ अकं में कण्व का शकुन्तला के विवाह के विषय में कथन उनकी

---

54 रघु0 1.39 पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा।।
55 रघु0 1.44 ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषुयज्वनाम्। अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः।।
56 रघु0 17.80 ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ। यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च।।
57 रघु0 13.45 अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः। चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्।
58 रघु0 3.44
59 कु0सं0 2/15 त्वमेव हव्यं होता च।
60 रघु0 3.44
61 कु0 सं0 3.14
62 रघु0, 7.30 ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः। अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः।
63 कु0 सं0 5.31
64 वही0 7.27 'तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता। अकारयत् कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम्।।
65 रघु0 9.40
66 रघु0 10.79
67 रघु0 1.56 विधेः सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्। अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्।।

यज्ञशीलता को ही दर्शाता है।[68] शकुन्तला का वृत्तान्त कण्व को यज्ञशाला में जाकर ही विदित होता है जैसा कि प्रियंवदा के वचन से स्पष्ट है। अनसूया के यह पूछने पर कि यह वृत्तान्त कण्व को किसने बताया, प्रियंवदा कहती है- **''अग्गिसरणं पविठस्य सरीरं बिना छन्दोमईए वाणिआए।''**

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भा शमीमिव।।[६९]

यज्ञ की अग्नि की प्रदक्षिणा करने का भी विधान था। यज्ञ अग्नियाँ, हव्यगन्ध से दुर्भाग्य को दूर करती तुम्हे पवित्र करें।[70] राजा ऋषियों से मिलते भी यज्ञशाला में ही थे जैसे शाङ्र्गरव आदि के आने पर राजा दुष्यन्त कहते हैं-**'वेत्रवति। अग्निशरणमार्गमादेशय।'**[71] तथा प्रतीहारी-**'एसो अहिणवसमज्जाणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो।'**[72] यह तत्काल झाड़कर साफ की गयी यज्ञशाला की बैठक है, जहाँ हवन के लिये दुग्धादि देने वाली गाय भी बँधी है। यज्ञ के लिये श्रद्धा, विधि और वित्त की आवश्यकता होती है।[73] मारीच राजा को वर देते हुए कहते हैं-**भवतु तव बिडौजः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु, त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः। गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यैर्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः।।**[74] कुमारसम्भव में हिमालय को पवर्तराज बनाने का कारण यज्ञ में उसकी सहायता को दिया गया है।[75] पार्वती के सम्बन्ध में नारद द्वारा महादेव के वर रूप में सूचना देने पर समर्थन के रूप में यज्ञीय अग्नि को ही उपमान रूप में प्रस्तुत किया है। जैसे अग्नि से अतिरिक्त दूसरे तेज मन्त्रों से पवित्र हवि को नहीं ले सकते, वैसे ही हिमालय ने पार्वती के लिये अन्य वर की अभिलाषा छोड़ दी।[76] शिव के यज्ञ करने का वर्णन इन शब्दों में हुआ है कि उसकी चोटी पर अपनी ही दूसरी मूर्ति अग्नि को समिधाओं से प्रज्वलित कर किसी (अदृश्य) इच्छा से तप करने लगे।[77] यज्ञ के यूप का भी उपमान रूप में वर्णन प्राप्त होता है।

---

68 अभिज्ञानशाकुन्तलम्-पृ0 57 दिट्ठिआ धूमाउलिददिट्ठणो वि जअमाणस्स पाउए एव्व आहुदी पडिदा।

69 अभिज्ञानशाकुन्तलम्-4.4

70 वही0 4.8 कण्व-वत्से। इतः सद्योहुताग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व। (ऋक्छन्दसाऽशास्ते) अमी वेदिं पारितः क्लृप्तधिष्णाया समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः। अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु।।

71 पञ्चम अंक, पृ0 74

72 वही0 पृ0 79

73 वही0 7.29 दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्। श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्।।

74 वही0 7.34

75 वही0 1.17 यज्ञांगयोनित्वमवेक्षय यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च। प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत्।।

76 वही0 1.51 गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः। ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम्।।

77 वही0 1.57 तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः। स्वयं विधाता तपसो फलानां केनापि कामेन

ब्रह्मचारी के रूप में शिव पार्वती को कह रहे हैं कि अपने इस अभीष्ट से हट जाओ, कहाँ तो वह और कहाँ तुम। शमशान के खंभे से वैदिकी यूप का कार्य नहीं लिया जाता। अतः शिव तुम्हारे योग्य नहीं है।[78] निम्नलिखित श्लोक में भी यज्ञ उपमान रूप में ही है। शिव पुत्र के लिये पार्वती को इसी प्रकार ग्रहण करना चाहते हैं जैसे यज्ञ में यजमान अग्नि को उत्पन्न करने के लिये अरणि को लाता है।[79] इन्द्र के समान लोगों को भी सौ यज्ञों से प्राप्त यश के छिनने का डर होता था।[80] यज्ञ का फल अवश्यमेव प्राप्त करना चाहिये, अतः रघु इन्द्र से प्रार्थना करते हैं।[81]

यद्यपि यज्ञ में विघ्न डालना उचित नहीं समझा जाता था, परन्तु राक्षस लोग ऋषि-मुनियों के यज्ञ में विघ्न डालते ही रहते थे। इसका अनेकशः वर्णन मिलता है। यज्ञों में जो देवताओं का भाग होता था, उसे राक्षस छीनकर खा लेते थे।[82] अतः विष्णु देवताओं को आश्वासन देते हैं कि अब यजमानों के द्वारा निर्धारित तुम्हारे भाग को राक्षस नहीं खा सकेंगे।[83] विघ्न रहित यज्ञ करने के लिये क्षत्रियवीरों (राजाओं) की आवश्यकता पड़ जाती थी। अतः एव विश्वामित्र राजा दशरथ से राम लक्ष्मण को माँगने जाते हैं।[84] विघ्नरहितक्रियासम्पन्न यज्ञ का ही महत्त्व था।[85] मथुरातट पर रहने वाले मुनि लवणासुर द्वारा यज्ञ में विघ्न करने पर राम के पास गये थे।[86] राक्षासें द्वारा यज्ञ में विघ्न डालने का वर्णन शाकुन्तल में भी आया है, जब दो मुनिकुमार आकर राजा से प्रार्थना करते हैं कि महर्षि के न होने पर राक्षस यज्ञ में विघ्न उपस्थित कर रहे है। अतः आप सारथी के साथ कुछ रात आश्रम में रहें।[87] इसके अतिरिक्त शाकुन्तल के ही तृतीय अंक में सायंकाल का यज्ञकर्म आरम्भ होते ही

तपश्चार।।

78 वही0 5.73 निवर्तयास्मादीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा। अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया।।

79 6/28

80 रघु0 3/48 अतः आहुर्तमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने। उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम्।।"

81 वही0 3.65 अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि। अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषण फलेन युज्यताम्।।

82 कु0 सं0 2.46 यज्वभिः संभृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः। जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः।।

83 रघु0 10.45 अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः। मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः।।

84 रघु0 11.1 कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये। काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते।।

85 रघु0 11.30 इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम्। ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन् क्रियाः।

86 रघु0 15.2 लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः। मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः।।

87 अभि शा0, द्वितीय अंक, पृ0 34 तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति, तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति।

जलती हुई अग्नि वाली वेदियों के चारों ओर सायंकाल के बादलों के समान काले-काले और लाल-लाल डरावने राक्षस इधर-उधर फिरने लगे हैं।[88]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास के साहित्य में विभिन्न प्रकार के यज्ञों, उनकी विधि तथा महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट रूप से लक्षित हुआ है। यह बात अवश्य है कि कालिदास ने अपने काव्यों में मुख्यतया राजाओं और ऋषियों द्वारा किए जाने वाले यज्ञों का ही उल्लेख किया है।

मंजुल गुप्ता
रीडर संस्कृत-विभाग
दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक (हरयाणा)

88 अभि शा0, तृतीय अंक 25 ''सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः पर्यस्ताः। छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशिनानाम्।।

कालिदास साहित्य में यज्ञ-सन्दर्भ

डॉ0 ब्रह्मदेव

समस्त कालिदास साहित्य प्रायः वैदिक संस्कृति से अनुप्राणित है। यज्ञ इस संस्कृति और चराचर जगत् का प्राणभूत है। वह दो प्रकार से जाना जा सकता है-प्रथम 'द्रव्य यज्ञ' के रूप में एवं द्वितीय 'यज्ञ' शब्द को विवृत करने वाली 'यज्' धातु के देवपूजा, संगतिकरण तथा दान 'द्रव्य-यज्ञ' अर्थात् नित्य करणीय अग्निहोत्र और नैमित्तिक विश्वजित् पुत्रेष्टि अश्वमेध जैसे यज्ञों के उल्लेख से गौरवशाली है। वही वहाँ का प्रत्येक पात्र अथवा कहिए कालिदास के समाज का आदर्श प्रायः **'त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्'**[1] का रहा है। वह यज्ञीय भावना का, उसके अर्थ को आत्मसात् कर जीता है। उसके जीवन में मनसा, वाचा, कर्मणा 'यज्ञ' शब्द के अर्थ जीवन्त हुए दृग्गोचर होते हैं, जो अधिक महत्त्वशाली हैं, परन्तु इस लेख का वर्ण्य विषय मुख्यतः 'द्रव्य यज्ञ' को ही उल्लिखित करना है। प्रसंगतः कुत्रचित् 'यज्ञ' के मूल अभिप्रायः का कथन भी रहेगा। प्रथमन्तावत् इस यज्ञ को ऊर्जस्विता कहाँ से प्राप्त होती है-यही कालिदास के अनुसार प्रस्तुत है।

यज्ञ की धुरी आश्रम स्थलः-

सुसंस्कारों से सुसज्जित मानव की सामाजिक रचना के मूल में आश्रमों तपोवनों का होना प्रतीत होता है। इसीलिए कालिदास साहित्य को जीवन्त-रूप देने वाले आश्रमों अथवा गुरुकुलों की महनीय परम्परा वहाँ देखी जाती है।[2] यज्ञीय अवधारण के उद्वाहक ब्रह्मचारी एवं वानप्रस्थी मुनि मोक्षमार्ग को वहाँ निवास करते हुए प्रशस्त करते हैं। इसी यज्ञीय भावना से मनुष्यमात्र को ओत-प्रोत देखने की इच्छा से शायद महर्षि स्वामी दयानन्द स्वीया शिक्षापद्धति का उल्लेख करते हुए सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में विद्यार्थी की दैनन्दिन चर्या में ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र को अवश्य करणीय कार्यों में रखते हैं। इससे प्राच्य तपोवनों की भाँति महर्षि का यही अभिप्राय ज्ञात होता है कि आचार्य कुल को प्राप्त ब्रह्मचारी सर्वप्रथम सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म से अपना सम्बन्ध बनाये और सृष्टि विद्या को प्रतीकात्मक दृष्टि से यज्ञ के माध्यम से जाने वस्तुतः नियमतः किये जाने वाले अग्निहोत्र आदि नैतिक कार्य अन्तःकरण की शुद्धि के कारक होते हैं।[3] उससे वैराग्य होगा, वैराग्य से अन्तःकरण में स्थैर्य आयेगा ततः ईश्वर की उपासना होगी, उससे दुःख दूर होंगे पुनश्च

---

1. रघुवंशमहाकाव्यम् 1.7, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्ठ संस्करण, वि.सं. 2051।
2. प्राचीन भारत में आश्रमस्थलों का बड़ा महत्व रहा है। इसीलिए कालिदास के काव्यों की कथावस्तु उन्हीं के आसपास अपने यौवन को प्राप्त करती है। समस्त रघुवंश में अनेक आश्रमों का वर्णन है। कुमारसम्भव भी उनसे अछूता नहीं है। मेघदूत में यक्ष स्वयं रामगिरि के आश्रमों में रह रहा है। अभिज्ञानशाकुन्तल में महर्षि कण्व का आश्रम मूर्त हुआ है।
3. अभिज्ञान शाकुन्तल 4.8 अमी वेदीं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः। अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु॥

आनन्द की प्राप्ति और अन्ततोगत्वा मुक्ति अर्थात् अपवर्ग।[4] यही मानवमात्र का अन्तिम लक्ष्य है। जिसे यज्ञ जैसे माध्यमों द्वारा आचार्यवर्ग अपने छात्रों को समस्त जीवन की सुख सम्पदार्थ अपने कुल में सिखा देता था। यह परम्परा जहाँ वैदिक वाङ्मय में देखने को मिलती है, वहीं कालिदास साहित्य भी उसका पोषक है। यहाँ के आश्रमस्थल यज्ञविद्या की ही पुष्टि नहीं करते, वरन् उसी में जीते हैं। प्रातः[5] सायं[6] नित्य होम-क्रिया से वातावरण सौरभमय बनाकर हर अवस्था में इस कार्य को करने की प्रेरणा वहाँ के वासियों के चित्त में तपोवन बैठा देते हैं, जिससे गृहस्थादि अवस्थाओं में भी वहाँ का अधीत छात्र उन परम्पराओं से प्रमाद नहीं करता। कालिदास वर्णित आश्रमों में अग्निहोत्र इतनी अधिक मात्रा में किये जाते हैं कि वहाँ की वेदियों के पार्श्ववर्ती वृक्षों के पल्लव भी भिन्न वर्ण की आभा को प्राप्त हैं।[7] इससे प्रतीत होता है कि घृत का प्रभूत-मात्रा में प्रयोग किया जाता था। यही नहीं यज्ञों की ऐसी परम्पराएँ इन तपोवनों में चलती थीं कि निरन्तर चलने वाले ऐसे आयोजनों से ऋषि मुनियों के पवित्र शरीर अस्थिपञ्जर मात्र रह जाते थे।[8] कालिदास साहित्य में वर्णित आश्रम समस्त परा एवम् अपरा विद्या के स्रोत हैं। वहाँ के वसिष्ठ जैसे महर्षियों की मन्त्रविद्या से शत्रु भी दूर से ही शान्त हो जाते हैं-

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः॥[९]

प्राचीन काल में आश्रमस्थलों का ऐसा प्रभाव था कि स्वयं राजा महाराजा वहाँ जा नतमस्तक होते थे और उनके तपोबल की प्रशंसा करते हुए दैवीय आपदाओं तथा मानुषी आपदाओं का परिहर्त्ता उन्हें कहा करते थे-

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्त्ता त्वमापदाम्॥[१०]

दिलीप जैसा चक्रवर्ती सम्राट् भी ऐसे आश्रमों में, जहाँ वे स्वयं अधीतविद्य होते थे, पहुँचकर वसिष्ठ जैसे महर्षि के ब्रह्मवर्चस् अर्थात् तेज वा वेद की वर्चस्विता शक्तिसम्पन्नता को ही अपनी प्रजा

---

4. मुण्डकोपनिषद् भाष्य स्वामी दर्शनानन्द उपनिषद् प्रकाश नामक पुस्तक के अन्तर्गत, पृष्ठ 28
5. अभिज्ञानशाकुन्तल, पृ0 246, चतुर्थ अङ्क में श्लोक संख्या सात के पश्चात् काश्यपः-वत्से, इतः सद्यो हुताग्नीन्प्रदक्षिणी कुरुष्व।
6. क-वही, 3.24 सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः। ख-रघुवंश 1.56, विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।
7. अभिज्ञानशाकुन्तल, 1.15 भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
8. रघुवंश, 13.45, अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनाहिताग्नेः। चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्॥
9. रघुवंश 1.61
10. रघुवंश 1.60

की सुख-समृद्धि का कारणभूत स्वीकार करते थे।[11] करें भी क्यों नहीं? क्योंकि प्राच्य परम्परानुसार ये ही आश्रमस्थल सम्पन्न अथवा विपन्न प्रजाजनों और राजाओं तक के बच्चों के बचपन को तरासने का कार्य करते थे। नित्य के अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन के द्वारा जागतिक समस्त अपदाओं का श्रेष्ठ नागरिक बनने से स्वयमेव शमन हो जाता था। इस प्रकार यही आश्रम मानव को तपस्वी और सुसंस्कारित कर जीवन जीने की कला सिखाता था। सन्निकटता मात्र से हर प्रकार के दुर्भावों को दूर कर[12] मानव-जीवन के परमलक्ष्य का साधनभूत बनता था। आज इन आश्रमों की पुनः आवश्यकता है, प्राचीन याज्ञिक-प्रक्रियाओं द्वारा नितान्तसुखसम्पन्न बनने के लिए।

राजा आदि के लिए यज्ञविधान-

आश्रमस्थलों से विदितवेदितव्य हो, आचार्यकुल से दीक्षित राजकुमार अथवा सामान्यजन **'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'**[13] इव उपनिषद् वाक्य को चरितार्थ करने के लिए गृहस्थ धर्म की पालना के लिए समाज में पदार्पण करता था। वह गृहस्थी हुआ भी याज्ञिक क्रियाओं की अवहेलना नहीं करता था, क्योंकि उसने पढ़ा था और फिर उसे जीवन में उतारा था कि अग्निहोत्र और स्वाध्याय प्रवचन नित्य करने हैं।[14] यही परम्परा कालिदास साहित्य में चरिचार्थ हुई परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ अज द्वारा वहाँ प्रातःकालिक यज्ञादिविधि के निष्पादन का उल्लेख है-

अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितम्।[15]

इसका अर्थ है-वह शास्त्रीय विधि के अनुसार प्रातः के अग्निहोत्रादि कार्यों का निष्पादन कर दैनिक कार्यों का निर्वहन करता था। रघुकुल की तो यह परम्परा ही रही कि वे यथाविधि यज्ञों का आयोजन करते थे।[16] स्वयं दशरथ महाराज को अध्वरदीक्षित बताया गया है।[17] उन राजाओं की अपनी भव्य वेदियाँ होती थीं।[18] प्राचीन परम्परा के अनुसार महानदियों के तटों पर ही नगर हुआ करते थे और उन्हीं नदतटों पर ही प्रभूत यज्ञों की सौरभ वातावरण को सुगन्धित कर जनसमुदाय को आप्लावित करती थी।[19] यही नहीं ग्राम्य क्षेत्रों में भी यज्ञों के आयोजन सामान्य जनसमुदाय में

---

11. रघुवंश 1.63,पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः। यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम्।।
12. क-अभिज्ञानशाकुन्तल, प्रथमाङ्क, श्लोक चौदह से पूर्व, राजा..........। पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे। ख-तुलनीय-वही, श्लोक पन्द्रह के पश्चात्, राजा.................विनीतवेषेण, प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम।
13. तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, एकादशोऽनुवाकः।
14. तैत्तिरीयोपनिषद्, नवमोऽनुवाकः। अग्निहोत्रश्चस्वाध्यायप्रवचने च।
15. रघुवंश 5.76
16. रघुवंश 1.6, यथाविधिहुताग्नीनाम्।
17. रघुवंश 9.21 अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृग्शृङ्गपरिग्रहाम्। अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमसभाः समभासयदीश्वरः।।
18. रघुवंश 5.25, स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसँश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।
19. क-रघुवंश 9.20, क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः। कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः।। ख-रघुवंश 16.35 इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः। वेदिप्रतिष्ठान् वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम्।।

अग्निहोत्रादि के प्रति अनुरक्ति को प्रकट करते हैं।[20] प्रत्येक शुभकार्य से पूर्व होने वाले यज्ञानुष्ठान को ही उस कार्य की सुसम्पन्नता का कारण माना जाता था।[21] विवाह काल में भी आज की तरह यज्ञीयाग्नि ही साक्षीभूत हुआ करती थी।[22] इस प्रकार ज्ञात होता है कि कालिदास साहित्य आम जनता से लेकर राजाओं तक को यज्ञ का अधिकार देता दिखाई देता है।

राजाओं महाराजाओं द्वारा विशिष्ट यज्ञों का सम्पन्न करना भी कालिदास साहित्य में वर्णित है। समय-समय पर राजा अपने आप को चक्रवर्ती सम्राट् निरूपित करने के लिए अश्वमेध यज्ञों का आयोजन करता था। स्वयं रघु अपने पिता दिलीप द्वारा आयोज्यमान सौवें अश्वमेध यज्ञ के घोड़े के हरण पर इन्द्रदेव से प्रश्न करते हुए कहता है-

मखांशभाजो प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे।

अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्त्तसे।[23]

निन्तर यज्ञसम्बन्धी दीक्षा लेने में प्रवृत्त राजा दिलीप की ही भाँति अन्य रघुकुल के राजाओं द्वारा अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया जाना भी वर्णित है।[24] अश्वमेध की तरह सर्वस्व दक्षिणा के रूप में अर्पित करने योग्य विश्वजित्,[25] पुत्रेष्टि[26] यज्ञों के संकेत भी कालिदास साहित्य में उपलब्ध होते हैं। जिस शासन व्यवस्था में स्वयं राजा इस प्रकार के यज्ञों में सर्वथा समर्पित होगा, तो प्रजाजन क्यों नहीं? स्वाभाविक है 'यथा राजा तथा प्रजा' उस समय में भी चरितार्थ रही होगी यथा आज है।

यज्ञों में दक्षिणा-

बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करवाने वाले ब्रह्मा आदि पुरोहितों को भरपूर दान दक्षिणाएँ भी समर्पित की जाती थीं, जिससे वे निरन्तर यजन-याजन करते रहते थे। महाराज रघु ने समस्त दिशाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् विश्वजित् यज्ञ में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था।[27] इसी प्रकार अतिथि के युवराजाभिषेक के समय स्नातकों को यज्ञनिमित्त पर्याप्त दक्षिणाएँ दी गई थीं।[28] अतिथि द्वारा किए गए अश्वमेध के पश्चात् दी गई दक्षिणाओं से वह कुबेर की भान्ति धनद समझा

---

20. रघुवंश 1.44 ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम्। अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः।।
21. रघुवंश 4.25 तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ।। प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ।।
22. रघुवंश 7.20 तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः। तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार।।
23. रघुवंश 3.44
24. द्र0 रघुवंश 18.87, 17.76, 17.80 आदि
25. रघुवंश 4.86, स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
26. रघुवंश 10.4, ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः। आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः।।
27. क-रघुवंश 5.1 तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम्। ख-रघुवंश 6.76, पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता। चतुर्दिगावर्जितसम्भृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम्।।
28. रघुवंश 17.17 स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु। यावतैषां समाप्येरन्यज्ञः पर्याप्तदक्षिणाः।।

जाने लगा।[29] इस वर्णन से प्रतीत होता है कि यज्ञों का आयोजन दक्षिणा देने पर ही सफल स्वीकार्य था। वस्तुतः यज्ञ त्यागभाव को सिखाता है। जहाँ प्रजाजनों में राजा में यह भाव होगा वहाँ क्योंकर कोई विपन्न होगा। सभी सुख समृद्धि से परिपूर्ण होंगे।

स्त्री के लिए यज्ञ विधान-

कालिदास साहित्य प्रचुर मात्रा में जहाँ यज्ञों का वर्णन करता है, वहाँ वह स्त्रियों को भी यज्ञविधि करने अथवा उसमें भाग लेने के अधिकार से मुक्त नहीं रखता। क्योंकि **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**[30] इस ब्राह्मण-वचन के अनुसार यज्ञ एक श्रेष्ठ कर्म है, वह किसे करणीय नहीं होगा? अतः वहाँ यज्ञनिष्पादन करती हुई स्त्रियों के संकेत हैं। कुमारसम्भव में चित्रित पार्वती तपश्चर्या करती हुई नित्य यज्ञ करती हैं[31] और उस यज्ञार्थ समिधाओं तथा कुश का चयन करती है।[32] शिव की सेवा में उपस्थित हुई पार्वती को वेदी का नित्य संमार्जन करने में भी दक्ष बताया गया है।[33] अभिज्ञानशाकुन्तल की नायिका शकुन्तला को भी ऋषि काश्यप द्वारा सद्यः हुताग्नि की प्रदक्षिणा करने का संकेत यज्ञवेदी पर जाने का अधिकार देता दिखाई देता है।[34] सीता का परित्याग कर देने के पश्चात् यज्ञविधि में उसकी प्रतिकृति तक को स्थापित कर राम द्वारा यज्ञ करना क्या संकेत देता है?[35] महर्षि वसिष्ठ अरुन्धती के सान्निध्य में सायन्तन यज्ञानुष्ठानादि विधियाँ करते दिखाये गए हैं।[36] इस स्थल की व्याख्या करते हुए आचार्य मल्लिनाथ क्यों संकीर्ण दृष्टि रखते हुए **'अन्वासनं चात्र पतिव्रताधर्मत्वेनोक्तं न तु कर्माङ्गत्वेन'** ऐसा कह गये हैं। यह अन्वासन कर्माङ्ग यज्ञरूप कर्म के लिए नहीं है, इस प्रकार लिखना चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ दी गई उपमा जैसे स्वाहा और अग्नि की सम्पृक्तता बतलाती है वैसे ही अरुन्धती से तपोनिधि वसिष्ठ है। अन्यथा, कालिदास की उपमा अचरितार्थ हो जायेगी। जबकि अन्यत्र[37] यही आचार्य एक स्त्री (पार्वती) को यज्ञ करते हुए वर्णित कर टिप्पणी नहीं करते।

यज्ञ में प्रयुज्यमान पदार्थ-

कालिदास साहित्य यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों का उल्लेख भी करता है। यज्ञीयाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए समिधाओं की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। उस काल में उनका चयन सम्भवतः प्रतिदिन किया जाता था। कुल्हाड़ी से कटी हुई अथवा फाड़ी गई समिधाओं का प्रयोग नहीं होता था। शाकुन्तल के प्रथम अंक में राजा दुष्यन्त के आश्रम-प्रवेश के समय वैखानस कहते

---

29. रघुवंश 17.80, ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ।
30. शतपथ ब्राह्मण 1.1.1.5
31. कुमारसम्भव 5.16, कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम्।
32. कुमारसम्भव 5.33, अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशम्।
33. कुमारसम्भव 1.60, अवचितबलिपुष्पा वेदिसम्मार्जदक्षा।
34. द्रष्टव्य-पादटिप्पणी सं. 5
35. रघुवंश 14.87, सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्याम्। तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार।
36. रघुवंश 1.56, विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्। अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्।।
37. मल्लिनाथ टीका कुमारसम्भव 5.16, हुतजातवेदसं हुताग्निकाम्। कृतहोमामित्यर्थः।

हैं-**'समिदाहरणायप्रस्थिता वयम्'**।[38] ऐसा ही सन्दर्भ रघुवंश में भी उपलब्ध है-

वनान्तरादुपावृत्तैः स्कन्धासक्तसमित्कुशैः।

पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः।।[३९]

कुमारसम्भव के संकेत से भी समिधाओं का संग्रहण प्रतिदिन किया जाना प्रतीत होता है।[40] आचार्य स्वयं भी समिदाहरण के लिए वनभूमि में कालिदास द्वारा भेजा गया है-**तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः**।[41] इस प्रकार समिधाचयन में शायद यही विज्ञान रहा होगा कि वृक्षों की अनावश्यक कटायी न होवे और स्वयं शुष्क और नीचे गिरी हुई समिधाओं का प्रयोग किया जाए। जिससे निरन्तर वे प्राण वायु का उत्सर्जन करते रहें। साथ ही वनभ्रमण से विभिन्न औषधीय पौधों की जानकारी होगी और उन्हें सामग्री के लिए प्रयुक्त करना यथा समय सम्भव होगा। यही कारण लगता है कि कुमारसम्भव में कालिदास हिमालय पर्वत को यज्ञीय वस्तुओं के उद्गमस्थल के रूप में देखते हैं।[42] विवाह काल में प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री में शमीवृक्ष के पल्लवों और लाजा (=खील) प्रयोग इस समय की भाँति कालिदास के समय में भी होने का उल्लेख मिलता है।[43]

घृतादि द्रव्यों की प्राप्ति का साधन गाय से व्यतिरिक्त अन्य कोई पशु स्वीकार्य प्रतीत नहीं होता। उसी के घृत से यज्ञ कार्यों का निर्वहन किया जाता था। जिसके उद्धरण प्रचुर मात्रा में रघुवंश के प्रथम एवं द्वितीय सर्ग के माध्यम से विकीर्ण हुए प्राप्त होते हैं। यथा-

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः।

भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति।।[४४]

तां देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः।[४५]

निःसंदेह भरतीय संस्कृति में गौ का अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है, अत एव इसी के पञ्चगव्य का आयुर्वेदोक्त ग्रन्थों में प्रयोग होता है। हर प्रकार से वही समाज का माता के समान कल्याण करती है। प्रकृति और गौ से प्राप्त होने वाले हव्यों को भी मन्त्रपूत कर अग्नि को समर्पित करने के

---

38. अभिज्ञानशाकुन्तल तेरहवें श्लोक से पूर्व गद्यभाग।
39. रघुवंश 1.49
40. द्रष्टव्य पूर्वोल्लिखित टिप्पणी सं. 32
41. रघुवंश 14.70
42. कुमारसम्भव 1.17, यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च। प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत्।।
43. रघुवंश 7.26, हविः शमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः।
44. रघुवंश 1.80
45. रघुवंश 2.16, अन्यत्र भी द्रष्टव्य है 1.82, 2.8, 2.26, 2.55, 2.66,

संकेत कालिदास ने किये हैं।[46] आजकल कई सम्प्रदायों में विना मन्त्रों के अन्य वचनों से यज्ञ करते हुए देखा जाता है, वह अयज्ञीय है। क्योंकि परमेश्वर प्रदत्त वस्तुओं को उसी के वाक्यों से समर्पित किया जाना चाहिए, अन्यों से नहीं।

यज्ञ से लाभ-

प्रत्येक घर-घर में अग्निहोत्र होने पर निश्चित है रोगादि व्याधियों का अभाव ही रहेगा। इसी भावना का उन्लेख दशरथ के शासन का वर्णन करते हुए कवि कालिदास की लेखनी से हुआ है-**जनपदे न गदः पदमादधौ**[47] अर्थात् राज्य में कहीं रोग ने स्थान नहीं बनाया था। क्योंकि हविधूम का सौरभ आत्मतत्त्व को रजोगुण से रहित कर उसकी पवित्रता व सात्विकता को बढ़ाता है।[48] मनुष्य की आत्मा को अग्निहोत्र कुन्दन के समान विशुद्ध बना देता है।[49] यही नहीं, जहाँ यज्ञ कार्य चल रहा होता है, तब उसकी हविगन्ध पवन के सम्पर्क को प्राप्त कर पार्श्ववर्ती सभी मनुष्यों के मन-मयूर को आन्दोलित कर भावविभोर कर देती है, उन्हें पवित्रता से मस्त कर देती है।[50] इस प्रकार सुगन्धमय वातावरण में पवित्र मन के रहते किसी प्रकार की व्याधि का होना नितान्त असम्भव ही है। कालिदास ने याग से देव ऋण से मुक्ति का होना भी बताया है।[51] देवों से यहाँ तात्पर्य पृथिवी, जल, वायु, वनस्पतियाँ आदि से है, जो हमें सर्वदा कुछ न कुछ देते ही रहते हैं। यज्ञ से वे पुष्ट होते हैं और परिणाम स्वरूप अधिक ऊर्जा का सञ्चार हमारे लिए करते हैं।

यज्ञ कार्य से दैवीय आपदाओं का शमन भी होता है। यथासमय वृष्टि होती है। अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि का अभाव होता है।[52] स्वयं दिलीप आदि राजा पृथिवी की पालना करते हुए करादि के रूप में लिए जाने वाले धन से यज्ञादि का आयोजन करवाते थे, जिससे इन्द्रदेव प्रसन्न हुए समय पर वृष्टि किया करते थे-

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।

---

46. कुमारसम्भव 1.51, ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम्।
47. रघुवंश 9.4
48. रघुवंश 13.37, त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम। घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा।।
49. रघुवंश 1.68, इज्या विशुद्धात्मा।
50. वही 1.53, अभ्युत्थिताग्नि पिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्। पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः।।
51. रघुवंश 8.30 ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः। अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः।।
52. रघुवंश 1.62 हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु। वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम्।।

सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥[५३]

इस प्रकार सर्वत्र सम्पन्नता थी। क्योंकि यज्ञ सभी अभीप्सित फलों का देने वाला कहा गया है। यही कारण था कि यज्ञ के विशिष्ट लाभों को व गुणों को देखते हुए सर्वसाधारण यज्ञों के प्रति अनुरक्त था।

निष्कर्ष एवं यज्ञ के प्रचार प्रसार के उपाय-

उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि कालिदास साहित्य वैदिक वाङ्मय की तरह यज्ञ महिमा से भरा पड़ा है। सर्वत्र यज्ञ का प्रचार प्रसार था। तदनुसार ही प्रजाजन अपने कर्त्तव्य कार्यों को किया करते थे, जिससे कहीं भी पर्यावरण दूषण आदि की समस्याएँ नहीं थी, न ही लोगों की अकालमृत्यु होती थी, सब स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त थे।

आज अधिसंख्य जनसमुदाय यज्ञ को मात्र पूजापाठ का साधन स्वीकार करता है। यज्ञ महत्त्व को जानने वाले भी समयाभाव को कहते हुए भौतिक जगत् की चकाचौंध में कुछ करते नहीं हैं। आवश्यकता है यज्ञ के महत्त्व को वैज्ञानिक दृष्टि से समझने और समझाने की, जिससे वह हर स्थान पर प्रचारित प्रसारित हो सके। इसमें ये कारण देखे जा सकते हैं।

1. आज का भौतिकवादी मानव सर्वत्र लाभ देखता है, अत: यज्ञ के वैशिष्ट्यों को प्रायोगिक रूप से सर्वसाधरण के सामने रखा जाए।

2. यज्ञ में रोग प्रतिरोधक शक्ति है, उससे दमा, मधुमेह, मानसिक रोगों का निवारण कैसे हो सकता है? यह व्यवहारिक रूप में प्रदर्शित किया जाए।

3. पर्यावरण दूषण यज्ञ के माध्यम से कैसे दूर होता है-यह भौतिक यन्त्रों से परीक्षित कर उसके आँकड़ो को आधुनिक प्रचार माध्यमों से प्रचारित-प्रसारित किया जाये।

4. पुरातन काल में वर्षेष्टि यज्ञों का आयेजन होता था। आजकल भी कुत्रचित् ऐसा कर्ण परम्परया सुना जाता है। इसे भी एक वैज्ञानिक रूप दिया जाए। उसका सामग्री चयन कर जहाँ अनावृष्टि से अकाल पड़े हैं, वहाँ ऋषियों की परम्परा को मूर्त्तरूप देकर लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जाए।

5. यज्ञ से सम्बन्धित विशद शोध परियोजनाओं को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अथवा अन्य आर्थिक सहायता देने वाली संस्थाओं से धन प्राप्त कर प्राचीन ऋषि मुनियों के विज्ञान को आज के परिप्रेक्ष्य में परीक्षित किया जाए। प्राप्त परीक्षणों के कारण राजसत्ता भी प्रभावित होगी और

53. रघुवंश 1.26

यज्ञों के आयोजनों में सहयोग देगी।

6. सृष्टि-प्रक्रिया को यज्ञ-प्रतीक कैसे निरूपित करते हैं-यह विद्यालयों महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के छात्रों के समक्ष व्यवहारिकरूपेण दिखाया जाए, जिससे वे यज्ञ के महत्त्व को समझें और अपने जीवन में तद्वत् आचरण करें।

इन उपायों को तभी चरितार्थ किया जा सकता है जब आर्यसमाज, सनातनमतावलम्बी अथवा अन्य जो यज्ञमहत्त्व को समझते हैं, वे पूर्ण सहयोग करें और गुरुकुल काँगड़ी जैसी संस्था के वेदोपाध्याय इस परिश्रम साध्य दुरूह कार्य को अपने सशक्त कन्धों पर लेकर आज के वैज्ञानिकों के सान्निध्य में बैठ नि:स्वार्थ-भाव से यज्ञों का भौतिक संसाधनों के माध्यम से व्यावहारिक रूप देवें। अन्यथा वैदिक वाङ्मय अथवा कालिदास साहित्य उसको सबके सामने प्रकट करने में कथमपि सक्षम नहीं है।

डॉ0 ब्रह्मदेव

रीडर संस्कृत विभाग

गुरुकुल काँगड़ी वि. वि.

हरिद्वार

अग्निहोत्र द्वारा ब्रह्माण्ड का पोषण

भारत वेदालंकार

मीमांसा दर्शन के प्रणेता आचार्य जैमिनि कहते हैं कि मनुष्य धर्मयुक्त कर्म करके ही जीवन में सुख-शान्ति एवं अपने परम लक्ष्य आनन्द को प्राप्त कर जीवन को सफल बना सकता है। और इसकी पुष्टि के लिये वह एक विधिवाक्य का प्रयोग करता है-**'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।** अर्थात्-हे मनुष्यो! यदि तुम स्वर्ग चाहते हो तो अग्निहोत्र का जीवन में प्रतिदिन सम्पादन करो। यह शास्त्रवाक्य स्वर्ग चाहने वाले सभी मनुष्यों को अग्निहोत्र करने के लिए प्रेरित कर रहा है। इसलिए सभी सुख-शान्ति चाहने वाले व्यक्तियों को अग्निहोत्र करना नित्यकर्म बना लेना उचित है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि-हममें से स्वर्ग या सुख-शान्ति प्राप्त करना कौन नहीं चाहता? उत्तर होगा सभी लोग स्वर्ग (सुख) चाहते हैं। हम सबके सभी कार्यों के पीछे भी यही भावना छिपी बैठी है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट करना उचित होगा कि स्वर्ग शब्द का अर्थ वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द ने अपने स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में किसी अलौकिक स्वर्ग के स्थान पर यथार्थ दृष्टि से सुख विशेष का नाम स्वर्ग और दुःख विशेष का नाम नरक बताया है।

इस प्रकार जहाँ लोक में लोगों में परस्पर प्रेम मैत्री, सौहार्द्र, सामञ्जस्य, आदरभावना आदि विद्यमान हैं, वहीं धरती पर स्वर्ग है और इन सब चीजों के लिये अग्निहोत्र करना अनिवार्य कर्तव्य बताया गया है।

अग्निहोत्र शब्द 'अग्नि' और 'होत्र' शब्द से मिलकर बना है। प्रथम शब्द अग्नि के दो अर्थ प्रयुक्त हुए हैं, एक जड़ अग्नि जो कि भौतिक अग्नि है, जिसका मुख्य धर्म दाहकता है और दूसरा अग्नि का आध्यात्मिक अर्थ आत्मा और परमात्मा भी है, जो कि चैतन्य प्रधान है। दूसरे 'होत्र' शब्द का अर्थ-हवि से है। आगे आचार्य एक वाक्य और प्रयोग करते हैं-**'स्वर्गकामो यजेत्।'** ताण्ड्य ब्राह्मण कहता है कि स्वर्ग या सुख विशेष की कामना या इच्छा करने वाला यज्ञ करें।[1] क्योंकि यज्ञ या अग्निहोत्र करने से ब्रह्मण्ड के सभी पदार्थों का कल्याण या संवर्धन होता है। अग्निहोत्र-या यज्ञ शब्द के विद्वानों ने तीन अभिप्रायः ग्रहण किये हैं। 1. देवपूजा 2. संगतिकरण 3. दान।

प्रथम देवपूजा-देव से सीधा तात्पर्य जो हमें कुछ प्रदान करे। आचार्य यास्क इसके तीन अर्थ ग्रहण करते हैं- **'देवो दानाद्वा द्वीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा।**[2]

देव दो प्रकार के हैं-एक जड़ देवता-जो 33 प्रकार के हैं- 11 रुद्र और 12 आदित्य, 8 वसु, एक इन्द्र, एक प्रजापति। दूसरे चेतन देवता-5 माने गये हैं-माता, पिता-आचार्य, अतिथि व परमात्मा।[3]

---

1. ता0ब्रा0 16/15/5, अर्थसंग्रह अधिकारविधि-पृष्ठ-135
2. निरुवन्त-6/15।।
3. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचार, पृष्ठ 70-73

इन सभी जड़ चेतन देवताओं की पूजा या सत्कार केवल-अग्निहोत्र द्वारा ही सभव है और सभी देवता ब्रह्मण्ड में ही निवास करते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में निवास करने वाले सभी जीव-जन्तु और वनस्पतियाँ तथा समस्त जड़ जगत्, यहाँ तक की समस्त पर्यावरण, को अग्निहोत्र द्वारा वैदिक काल से पुष्टि प्रदान की जाती रही है और आज भी पुष्टि प्रदान की जा सकती है और की भी जा रही है, क्योंकि शतपथ-ब्राह्मण ने कहा है-**'अग्निर्देवानां मुखम्'** अर्थात् सभी देवताओं का मुख अग्नि है। इसलिये अग्निहोत्र से वायुमण्डल शोधन होने से सभी जड़ एवं चेतन पदार्थ संवर्धन को प्राप्त करते हैं। इसी सन्देश की पुष्टि भगवान् वेद भी कर रहे हैं-**'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'** अर्थात् अग्निहोत्र इस भुवन अर्थात् ब्रह्माण्ड की नाभि है। आगे भगवान् कृष्ण भगवद्गीता के तीसरे अध्याय के चौदहवें श्लोक में अर्जुन को इसी अग्निहोत्र की महिमा को बताते हुए कहते हैं-

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यः यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।[४]
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।[५]

भावार्थ-हे अर्जुन। सम्पूर्ण प्राणी जगत् अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है और अग्निहोत्र हम सबके शुभ एवं दानरूपी भावों एवं कर्मों से उत्पन्न होते हैं। इसी से सर्वव्यापी परम अक्षर ब्रह्म सदा ही यज्ञ में परोपकार रूपी कार्य में प्रतिष्ठित रहते हैं।

ऋग्वेद और अथर्ववेद का मन्त्र भी यज्ञ को करने की प्रेरणा देता है और कहता है कि हे मनुष्य तुम यज्ञकर्म को कभी मत छोड़-

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः।।[६]

हे आनन्द प्रदान करने वाले परमेश्वर (इन्द्र) मुझसे यज्ञकर्म या मार्ग को कभी दूर मत करना। भगवान् कृष्ण के **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'** का अभिप्रायः अग्निहोत्ररूप यज्ञकर्म से है, क्योंकि यज्ञ शब्द के बहुत विस्तृत अर्थ हैं, किन्तु पर्जन्य या वृष्टि (वर्षा) का निर्माण केवल अग्निहोत्ररूप यज्ञ से ही संभव है। इसलिये यज्ञ के अन्य अर्थो का ग्रहण यहाँ समीचीन नहीं है। आज के वर्तमान समय और भूतकाल में भी अग्निहोत्ररूप यज्ञ द्वारा वृष्टि और अतिवृष्टि का निवारण किया जाता रहा है। इस प्रकार अग्निहोत्र द्वारा ब्रह्माण्ड के सभी तत्त्वों का पोषण होता रहा है।

यज्ञ शब्द अपने में विस्तृत अर्थ समाहित किये हुए है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक परोपकार के कार्य को यज्ञ नाम दिया जा सकता है यथा-किसी भूखे को भोजन प्रदान करना, धर्मशाला बनवाना,

---

4. गीता 3/14
5. गीता 3/15
6. ऋग्वदे-10/57/1, अथर्ववेद-13/14-6

वृक्ष लगवाना, नंगे व्यक्ति को वस्त्र देना-दीन-दु:खी की सहायता करना, विद्या दान करना आदि सभी कार्य यज्ञ हैं, किन्तु श्रेष्ठतम कर्म संसार का अग्निहोत्ररूप यज्ञ ही है। इसलिये शतपथ-ब्राह्मण में कहा है-**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।'**[7] महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसका कारण यह है कि यज्ञकर्म से ब्रह्माण्ड के समस्त जड़-चेतन जगत् का पोषण होता है, जबकि अन्य किसी कर्म के सीमित प्रभाव होते हैं। जैसे-यदि कोई व्यक्ति यज्ञशेष सभी प्राणियों में समान बाँटना चाहे तो अग्निहोत्र में हवि डालकर सबको समान वितरण कर सकता है, लेकिन किसी अन्य प्रकार से बाँटने पर वह केवल जिसको देंगे उसीको मिलेगा। किन्तु अग्नि में ही यह गुण विद्यमान है कि वह अपनी छेदन-भेदन शक्ति द्वारा पदार्थ को असंख्यों गुना बढ़ाकर ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थों और प्राणियों को पुष्टि प्रदान करता है। क्योंकि अग्निहोत्र से उठने वाले शुद्ध ऑक्सीजन (जीवनी शक्ति) को कोई व्यक्ति अपने घर में या स्थान में सीमित नहीं कर सकता और यदि भेदभाव करना भी चाहे तो वायु को रोक नहीं सकता। इस प्रकार अग्निहोत्र का ब्रह्माण्ड के तत्त्वों की पुष्टि से गहरा सम्बन्ध है।

आज के पर्यावरण प्रदूषण सम्बन्धी भयावह स्थिति के निवारण का भी अग्निहोत्र से बढ़कर कोई उत्तम उपाय अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। चाहे ध्वनि, वायु, जल, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ आदि सभी प्रकार के प्रदूषणों को दूर करने का अग्निहोत्र ही सर्वोत्तम उपाय है। मन्त्रोच्चारण से ध्वनिप्रदूषण दूर होता है। अग्निहोत्र में चार प्रकार के पदार्थों का मिश्रण किये जाने का विधान है। वे पदार्थ ये हैं-1. सुगन्धित, 2. पौष्टिक, 3. मधुर और 4. रोगनाशक। ये सभी पदार्थ वायुमण्डल और ब्रह्माण्ड के प्रदूषणों को दूर करके ब्रह्माण्ड को शुद्ध करते हैं और सभी जड़-चेतन प्राणियों के जीवन को प्रभावित करते हैं।

अग्निहोत्र के लाभ-

1. संगतिकरण से परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति होती है।

2. यज्ञ के **'इदन्न मम'** के भाव से मनुष्य में देवत्व के गुण आने लगते हैं, जिससे उसकी आध्यात्मिक उन्नति होती है। वह परोपकार और निष्कामभाव से कर्म करने लगता है, जिससे वह अपना, समाज और संसार का कल्याण अधिक से अधिक करने में सक्षम हो जाता है और ऐसे देवतुल्य महात्मा व्यक्तियों से ब्रह्माण्ड का बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन होता है।

3. अग्निहोत्र में मन्त्र उच्चारण से ध्वनिप्रदूषण दूर होता है और वेदों की रक्षा भी होती है।

4. अग्निहोत्र से वायु, जल, पृथ्वी आदि की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त

7. शतपथ-1/7/1/2

होता है अर्थात् शुद्ध वायु का श्वासस्पर्श एवं खानपान से आरोग्य, बुद्धि बल और पराक्रम बढ़के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होता है।

5. जब तक हमारे देश आर्यावर्त में होम (अग्निहोत्र) का प्रचार-प्रसार रहा, तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित रहा। अब भी अग्निहोत्र का यदि प्रचलन प्रतिदिन होने लगे तो पुनः राष्ट्र में सुख शान्ति एवं रोगों पर बहुत कुछ नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है।[8]

6. दुर्गन्धित वायु और जल से रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग नष्ट होने से सबको सुख प्राप्त होता है।[9]

7. अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर वायुमण्डल में फैलकर पास एवं दूर दोनों स्थानों की दुर्गन्धि की निवृत्ति कर सुगन्धित वायु का प्रसार करता है।[10]

8. जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध होके वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पति का कारण होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है, उतना ही पाप उस मनुष्य का होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध व उससे अधिक वायु और जल में सुगन्धित फैलाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।[11]

9. जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है, इसलिये जब वायु और वृष्टि जल और वायु को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो इसका निवारण करना भी मनुष्य का ही कर्तव्य है।[12]

10. केशर, कस्तूरी आदि सुगन्ध, घृत, दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट और सोमलता आदि रोगनाशक औषधि। जो ये चार प्रकार के बुद्धि, वृद्धि, शूरता, धीरता, बल और आरोग्य उत्पन्न करने वाले गुणों से युक्त पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि करके शुद्ध पवन और जल के योग से पृथ्वी के सब पदार्थों में अत्यन्त उत्तमता होती है। उससे सब जीवों को परम सुख होता है। इस कारण अग्निहोत्र कर्म करने वाले मनुष्यों को भी जीवों पर उपकार करने से सुख विशेष का लाभ मिलता है।[13]

11. अग्निहोत्र से देवभावना का विकास होता है, जिससे ब्रह्माण्ड में दैवीभाव के लोगों की

---

8. स0 प्र0 तृ0 स0
9. स0 प्र0 तृ0 स0
10. सत्यार्थप्रकाश-तृतीय समु0
11. सत्यार्थ प्रकाश-तृतीय समु0
12. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदवि0 विचार, पृ0-53
13. ऋ.वेदा.भा-पृष्ठ-277 महर्षि दयानन्द

प्रधानता होती है और संसार का अत्यधिक कल्याण होता है।

12. वैदिक अग्निहोत्र द्वारा शारीरिक एवं मानसिक रोगों की चिकित्सा की जाती है।

13. अग्निहोत्र द्वारा मानसिक चिन्तन को शुभ बनाकर संसार में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को विकसित किया जा सकता है।

14. इसी से मनु महाराज कहते हैं कि जो मनुष्य प्रतिदिन अग्नि-होत्र यज्ञ को न करे उसको सज्जन, विद्वान् लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें।

15. ईश्वर ने सभी मनुष्यों को अग्निहोत्र करने की आज्ञा दी है इसको जो नहीं करता वह पापी होके दुःख का भागी बनता है। इसलिये सभी मनुष्यों का कर्तव्य है कि संसार को प्रदूषण से बचाने के लिये सभी पुनः अग्निहोत्र-संस्कृति को धारण कर अग्निहोत्र करते हुए जीवन में सुख-शान्ति और आनन्द को प्राप्त करें।

भारत वेदालंकार

प्रवक्ता विज्ञान एवं कर्मकाण्ड विभाग

गुरुकुल काँगड़ी वि. वि.

हरिद्वार.

सर्व वै पूर्णꣳ स्वाहा

डॉ0 मनुदेव बन्धु,

अग्निहोत्र की सामान्य विधि-**'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** स्वर्ग (विशेष सुख) की कामना वाला व्यक्ति अग्निहोत्र करे। अग्निहोत्र करने के लिए घी, समिधा, हवन-सामग्री और मन्त्रपाठ इन चार वस्तुओं की आवश्यकता होती है। भूमि पर हवन कुण्ड बनाकर अथवा किसी धातु से निर्मित हवन कुण्ड में हवन करना चाहिए। हवन में पलाश, शमी, पीपल, बड़, आम, गूलर, बेल और नीम आदि की समिधा होनी चाहिए। हवन-सामग्री में चार प्रकार के द्रव्य होने चाहिए- कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि सुगन्धित द्रव्य; घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि पुष्टिकारक द्रव्य; गुड़, मधु, मुनक्का, किशमिश, छुआरा, नारियल आदि मीठा द्रव्य सोमलता, गुग्गुल, गुड़मार, नागरमोथा, कपूर, कचरी, गिलोय आदि रोगनाशक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

वेदों में यज्ञ सामग्री की चर्चा

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। अस्मिन् हव्या जुहोतन॥[1]

समिधाओं से यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके उसे घृत से प्रबुद्ध करो। प्रदीप्त अग्नि में उत्तमोत्तम हवि की आहुतियाँ दो।

घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथाम्॥[2]

यज्ञ के द्वारा घृत आदि से पृथिवी को भर दो।

घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्॥[3]

हे दम्पती! तुम यज्ञ के द्वारा द्युलोक और पृथिवीलोक को घृताहुतियों से पूर्ण कर दो अर्थात् यज्ञ का धूम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाए।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः॥[4]

हे यज्ञकर्ता! सोमलतादि यज्ञीय औषधियों को खींचो (निचोड़ो) और फिर हवनीय द्रव्यों को अग्नि में डालो।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥[5]

---

1. यजुर्वेद 3/1
2. यजुर्वेद 6/16
3. यजुर्वेद 5/28
4. ऋग्वेद 10/14/13
5. यजुर्वेद 3/60

इस मन्त्र में हविर्द्रव्यों की चारों श्रेणियों-सुगन्धित, पुष्टिकारक, रोगनाशक और मिष्ट का संकेत मिलता है।

यज्ञ से ब्रह्माण्ड की शुद्धि

आज पञ्चभूतों के साथ सब कुछ अशुद्ध हो गया है। प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि अमेरिका-कनाडा, इंग्लैण्ड जैसे देशों में तेजाबी वर्षा एक प्रमुख समस्या है। समस्त संसार पर्यावरण प्रदूषण से चिन्तित है। भारत के महानगरों में प्रदूषण की समस्या भयावह है। अग्निहोत्र उस महान् प्रभु द्वारा रचाये गए महान् प्राकृतिक यज्ञ का ही एक रूप है। इसके द्वारा वायु की दुर्गन्ध नष्ट होकर सुगन्ध फैलती है। वेद यज्ञ को वायु की शुद्धि के हेतु मानता है-

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसो पवित्रमसि सहस्रधारम्।।[6]

यज्ञ असंख्यात संसार एवम् अनेक प्रकार के ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला तथा शुद्धि करने वला कर्म है।

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि।

विश्वधाअसि। परमेण धाम्ना दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।।[7]

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं-'हे विद्यायुक्त मनुष्य! तू जो यज्ञशुद्धि का हेतु है, जो विज्ञान के प्रकाश का हेतु और सूर्य की किरणों में स्थिर होने वाला है, जो वायु के साथ देश-देशान्तर में फैलने वाला है, जो वायु को शुद्ध करने वाला है, जो संसार को धारण करने वाला है तथा जो उत्तम स्थान से सुख को बढ़ाने वाला है, इस यज्ञ का त्याग मत कर। तेरे यज्ञ की रक्षा करने वाला यजमान भी उसको न त्यागे।'

ऋषि दयानन्द ने यज्ञ को वायु-शुद्धि का सर्वोत्तम साधन माना है। इसीलिए वे लिखते हैं-**'जैसे यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टिजल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है, वैसी दूसरी उपाय से कभी नहीं हो सकती।'**[8]

ऋषि दयानन्द और यज्ञ

आधुनिक युग में यज्ञ और अग्निहोत्र के प्रबल समर्थक ऋषि दयानन्द हैं। यज्ञ के सम्बन्ध में उनके विचार सदा सार्वभौम और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कल्याण करने वाले है। वे लिखते हैं-**'होम करने से पवन और वर्षा की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थ की जो अत्यन्त उत्तमता होती है उसी से सब जीवों को परम सुख होता है। इस कारण अग्निहोत्र करने वाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है।'**[9]

---

6. यजुर्वेद 1/3
7. यजुर्वेद 1/2
8. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषय विचार
9. ऋग्वेदादिभष्यभूमिका, पञ्चमहायज्ञविधि

ऋषि दयानन्द ने पूना में प्रवचन देते हुए कहा था-**'पुष्टिवर्धन, सुगन्ध प्रसार और नैरोग्य ये तीन उपयोग होम अर्थात् हवन करने से होते हैं। सुवृष्टि ओर वायु-शुद्धि होम-हवनादि से होती है, इसीलिए होम करना चाहिए।'**

पहले आर्य लोगों का ऐसा सामाजिक नियम था कि प्रत्येक पुरुष प्रात:कलीन स्नान के बाद आहुति देता था, क्योंकि प्रात:काल में जो मल मूत्रादि की दुर्गन्ध उत्पन्न होती थी, वह इस प्रात:काल के हवन से दूर होती थी। इसी तरह सायंकाल में हवन करने से दिन भर की जमा हुई जो दुर्गन्ध होती थी उसका नाश होकर रातभर वायु निर्मल और शुद्ध चलती थी। **'इन दिनों होम के न्यून होने से बारम्बार वायु बिगड़ रही है, सदा विलक्षण रोग उत्पन्न हो जाते हैं।"**[10]

ऋषि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश में प्रश्नोत्तर के माध्यम से हवन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं-

प्रश्न-होम से क्या उपकार होता है?

उत्तर-सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दु:ख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न-चन्दनादि घिसके किसी को लगावे वा घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो, अग्नि में डाल के व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर-जो तुम पदार्थ विद्या को जानते तो कभी ऐसी बात न कहते, क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो, जहाँ होम होता है वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष की नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म हो के फैलने के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

प्रश्न-जब ऐसा ही है तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अगर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा?

उत्तर-उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदकशक्ति नहीं है, और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकालकर पवित्र वायु का प्रवेश करा देता है।

प्रश्न-क्या इस होम करने के विना पाप होता है?

उत्तर-हाँ, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न हो के वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दु:ख प्राप्त करता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक, वायु और जल में फैलना चाहिए और खिलाने-पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख विशेष होता है। जितना घृत और

---

10. पूनाप्रवचन 20 जुलाई 1875 सातवाँ प्रवचन

सुगन्धित पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके। इससे अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलानाा भी चाहिए। परन्तु उससे अधिक होम करना उचित है इसलिए होम का करना अत्यावश्यक है।[11]

वेद की रक्षा

हवन वेदमन्त्रों को बोलकर ही करना चाहिए। संस्कारविधि और पञ्चमहायज्ञविधि में हवन की सामान्य और विशेष विधियाँ दी गयी हैं। हवन की प्रत्येक क्रिया और आहुति मन्त्र पाठ के साथ होती है। इससे वेद की रक्षा भी हो जाती है।

प्रश्न-तो मन्त्र पढ़के होम करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर-मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जायें और मन्त्रें की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें, वेद-पुस्तकों का पठन पाठन और रक्षा भी होवे।[12]

यज्ञ से वर्षा

प्राणीमात्र के लिए तीन पदार्थ अत्यावश्यक हैं-वायु, जल, और भोजन। मनुष्य तथा पशुओं का तो कहना ही क्या, इनके विना तो वृक्ष और पौधे भी जीवित नहीं रह सकते। यज्ञ न केवल वायु की शद्धि करता है, अपितु वनस्पति जगत् के लिए उपयोगी वर्षा में भी सहायक है। **'तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा।'**[13] जब वर्षा कराने की आवश्यकता हो, तब बहुत से यज्ञ विविध प्रकार से करने चाहिएँ।

अपामग्निस्तनुभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि।।[१४]

मेघ में स्थित जलों की विद्युत् जलों के शरीरभूत मेघों से मिलकर रहती है, जो कि वनस्पतियों का स्वामी-पालक है। वह समस्त पदार्थों में व्यापक अग्नि हमारे लिए वृष्टि को और आकाश से बरसते अमृत रूपी जल को और पशुओं के लिए प्राण देवे, वायु के संघर्ष से मेघों में बिजली उत्पन्न होती है। वह ऋण और धन रूप में पैदा होकर पुनः परस्पर मिलती है और कड़कती है। उनसे जलों में विशेष प्रकार की प्राणशक्ति और मेघों से जलों की वृद्धि भी होती है। ओषधियाँ अधिक जल पाती और प्रजाएँ सुखी होती हैं।[15]

---

11. सत्यार्थप्रकाश-तृतीय समुल्लास
12. ऋषि दयानन्द-सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास
13. अथर्ववेद 4/15/16
14. अर्थवेद 4/15/10
15. अथर्ववेद 4/15/10, जयदेवभाष्य

निकामे-निकामे न पर्जन्यो वर्षतु।[16]

हम जब-जब इच्छा करें अथवा हमें जब भी जल की आवश्यकता हो, तब-तब मेघ बरसें।

अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः।[17]

अग्नि (यज्ञ) से धूम, धूम से बादल और मेघ से वृष्टि होती है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।[18]

अग्नि में दी गयी आहुति सूर्यमण्डल में पहुँचती है। उससे बादल बनते हैं, वर्षा होती है, उससे अन्न की उत्पत्ति होती है, जिससे प्रजाओं की उत्पत्ति और जीवन चलता है।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः।।[19]

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञ से वर्षा होती है और श्रेष्ठ कर्म से यज्ञ होता है।

यज्ञ से वर्षा किस प्रकार होती है? इस समस्या का समाधान हेतु वैदिक वृष्टिविज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त अनुसन्धान की आवश्यकता है। शास्त्रकारों से यह प्रश्न अछूता नहीं रहा।

यज्ञ का प्राण स्वाहा

जैसे हमारे शरीर में दस प्राणों का निवास है। प्राणों से ही हम जीते हैं। श्वास धारण करते हैं। प्राण के चले जाने पर हम मर जाते हैं, वैसे ही यज्ञरूपी शरीर का प्राण स्वाहा है। हम अपनी प्रत्येक आहुति स्वाहा बोल कर डालते हैं। स्वाहा त्याग और सत्यता का सूचक है। यजमान को त्यागी और सत्यवादी होना चाहिए। जिस यज्ञ में स्वाहा का उच्चारण न हो, वह यज्ञ, यज्ञ नहीं होता। हमारा यज्ञ प्राणरहित न हो जाए, अतः त्यागभाव से, प्राणिमात्र के कल्याण हेतु स्वाहा शब्द का उच्चारण अवश्य करना चाहिए।

यज्ञ का आत्मा 'इदन्न मम'

जिस प्रकार हमारे शरीर में आत्मा का निवास है। आत्मा के होने पर ही शरीर की सत्ता बनी रहती है। शरीर में सबसे पहिले आत्मा आता है और अन्त काल में सबसे बाद में आत्मा शरीर से प्रस्थान करता है। आत्मा के निकल जाने पर शरीर को मृत घोषित कर दिया जाता है। ठीक उसी प्रकार यज्ञरूपी शरीर में **इदन्न मम** ही इसका आत्मा है। **'इदम् न मम=यह मेरा नहीं है।'** यज्ञकर्त्ता सदा अपनी भावना में परोपकार और सर्वहित की कामना को अवश्य स्थान दे। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के

---

16. यजुर्वेद 22/22
17. शतपथ ब्राह्मण 5/3/5/17
18. मनु03.76
19. गीता 3/14

कल्याण के लिए यज्ञ करे। वास्तव में यज्ञ यज्ञकर्त्ता के साथ-साथ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में निवास करने वाले समस्त प्राणियों का कल्याण करता है। **'इदन्न मम'** की भावना ही याजक को परब्रह्म के निकट ले जाती है। उसका यज्ञ सकाम न होकर निष्काम हो जाता है। निष्काम यज्ञ अपने कर्म कर्ता को **'न कर्म लिप्यते नरे'** के अनुसार मोक्ष प्रदान करता है। जिस यज्ञ में से **'इदन्न मम'** की भावना समाप्त हो जाती है तो वह यज्ञ आत्मा से विहीन हो जाता है। आत्मा से विहीन शरीर को घर से निकाल कर श्मशान घाट में ले जाकर जला दिया जाता है।

सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा

यज्ञ का समापन **'सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा'** से होता है। इससे यजमान को यज्ञ करने से पूर्णता प्राप्त होती है। उसे आनन्द की प्राप्ति होने लगती है। वह अपने में किसी प्रकार की न्यूनता का अनुभव नहीं करता। यज्ञ करने का सबसे बड़ा लाभ याजक में पूर्णता की भावना का उदय होना है। यही यज्ञ का फल है। यज्ञ एक अनिवार्य और अपरिहार्य कर्म है और उस कर्म का फल **'सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा'** है। इसका शाब्दिक अर्थ है यह सब कुछ पूर्ण है। यज्ञ का आध्यात्मिक अर्थ भी यही है कि वह यज्ञ स्वरूप परमपिता परमात्मा मेरी समस्त कामनाओं को पूर्ण करे। पूर्णता की अनुभूति इतनी अधिक हो जाए कि फिर कुछ प्राप्ति की चाह ही न रहे। मेरे पास जो कुछ है- सब यज्ञार्थ है। यज्ञशेष खाने वाला याजक साक्षात् अमृत का सेवन करता है। मेरी दृढ़ मान्यता है कि यज्ञ से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कल्याण होता है।

डॉ0 मनुदेव बन्धु,
प्रोफेसर वेद विभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

वैदिक यज्ञ का तान्त्रिक स्वरूप

प्रो0 मान सिंह

देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग को 'यज्ञ कहा जाता है'[1] 'शतपथ-ब्राह्मण में यज्ञ पञ्चाङ्ग माना गया है। ये पाँच अङ्ग हैं- देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् तथा दक्षिणा। एक आत्मा की विभिन्न विभूतियाँ अथवा शक्तियाँ ही देवता हैं,[2] जो जगत् का संचालन करती हैं। देवता शक्तिरूप होने के कारण स्वभावत: निराकार होते हुए भी सङ्कल्पवश तथा प्रयोजनानुसार आकार सम्पन्न भी है।[3] मूलत: एक होने पर भी उपाधिभेद से नानाविध है, मूलत: एक और अभिन्न होने पर भी बाह्य दृष्टि से अनेक एवं भिन्न है।[4] देवतारूपिणी शक्ति दो प्रकार की है-व्यक्त तथा अव्यक्त। अव्यक्त शक्ति द्वारा कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता, अत: कार्यसिद्धि हेतु शक्ति को उद्‌बुद्ध करना पड़ता है। कार्य-सम्पादन में शक्ति का अपक्षय होता है, जिसकी आपूर्ति उसे भक्ष्य समर्पित कर की जाती है। यही शक्ति का आहार है, जिसे प्राप्त कर वह पुष्ट होती है और अपना संरक्षण करने में समर्थ होती है। अव्यक्त अथवा सुप्त शक्ति को किसी आहार की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु वह निष्क्रिय होने से किसी कार्य की सिद्धि भी नहीं करती। कार्यसिद्धि हेतु उसे उद्‌बुद्ध कर उसके अनुरूप आहार प्रदान करना होता है, अन्यथा वह कार्यक्षम नहीं हो सकती। यही देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग है। देवताओं की तीन श्रेणियाँ हैं-आजानज-देवता, कर्म-देवता तथा आजान-देवता। इनमें आजानज-देवता तथा कर्म-देवता दिव्य लोक में रहकर अपने कृतकर्मों का फल भोगते रहते हैं। इनसे भिन्न, सृष्टि के आदिकाल में उद्भूत आजान-देवता स्तुति तथा आहुति से संतुष्ट हो कर्मफल प्रदान करते हैं। आजान-देवताओं का उपजीव्य यज्ञ में प्रदत्त आहुति-द्रव्य होता है। एक बार प्रदत्त हविर्द्रव्य का अंश **'आहुति'** है। वह शक्ति सम्पन्न शब्दराशि जिसके कि प्रभाव से हवि भोग्यरूप से देवता के पास पहुँचता है, **'मन्त्र'** कहलाती है। यज्ञ के सम्पादन के लिये आमन्त्रित विद्वान् ब्राह्मण **'ऋत्विक्'** हैं और उसे पारिश्रमिक रूप में प्रदत्त द्रव्य **'दक्षिणा'** यज्ञ में इन पाँचों ही अङ्गों का होना आवश्यक माना जाता है। हीनाङ्गयज्ञ अभीष्ट कार्यसिद्धि प्रदायक नहीं होता।

कल्पसूत्रों तथा स्मृतियों में श्रौत एवं स्मार्त यज्ञों की सम्मिलित संख्या 21 है, जो सात-सात की तीन संस्थाओं में विभक्त हैं-

१. पाक यज्ञसंस्था:-औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासि श्राद्ध, श्रवणा तथा शूलगव। **२. हविर्यज्ञसंस्था:**-अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी तथा पिण्डपितृयज्ञ। **३. सोमसंस्था:**-अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय तथा

---

1. वाचस्पति मिश्र, भामती 'देवतामुद्दिश्य हविरवमृश्य च तद्विषयसत्त्वत्याग इति यागशरीरम्।''
2. अवलोकनीय यास्क, निरुक्त 7.4: 'माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मानोऽन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति।
3. वही 7.7: 'अपि वापुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य। एष चाख्यानसमयः।'
4. ऋग्वेद, 1.164.46: 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति', 3.55.19: 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्।'

आप्तोर्याम।

इनमें पाकयज्ञों का निरूपण गृह्यसूत्रों तथा स्मृतिग्रन्थों में किया गया है और उनका सम्पादन गृह्य, आवसथ्य, औपासन अथवा स्मार्त अग्नि में किया जाता है। हविर्यज्ञों तथा सोमयागों का सम्बध श्रौताग्नि से है, जो गार्हत्पय, आहवनीय, दक्षिणाग्नि तथा सभ्याग्नि भेद से चार प्रकार की होती है। इन यज्ञों का प्रतिपादन ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतग्रन्थों में उपलब्ध होता है। स्मार्त अग्नि वैवाहिक चतुर्थी होम के पश्चात् अथवा देव या मानुष अपराध के कारण अग्रहण की स्थिति में दायकाल पर सम्पादित की जाती है। विविध पाकयज्ञों, संस्कारों और सीतायज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों की अनुष्ठान इसी में किया जाता है। हविर्यज्ञों तथा सोमयागों के अनुष्ठान का अधिकार श्रौताग्नियों का ग्रहण करने वाले सपत्नीक यजमान ही को होता है। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण को वसन्त में, राजन्य को ग्रीष्म में और वैश्य को वर्षा में अग्नियों का आधान करना चाहिये।[5] 'कात्यायन-श्रौतसूत्र' के अनुसार अग्नि का आधान अमावस्या को करना चाहिये।[6]

पञ्चभूतात्मक ब्रह्माण्ड तथा मानव-शरीर दोनों मूलतः एकरूप हैं-**'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे'**। इन दोनों में विद्यमान/व्याप्त पुरुषरूप आत्मा भी एक ही है।[7] जिस प्रकार पुरुष के मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, मुख से इन्द्र तथा अग्नि, प्राण से वायु प्रभृति देव; और नाभि से अन्तरिक्ष, शिर से द्युलोक, पैरों से भूमि, श्रोत्र से दिशाएँ तथा इसी प्रकार अन्याय लोक उत्पन्न होकर[8] ब्रह्माण्ड में अवस्थित हो गए, उसी प्रकार देवताओं ने मानव-शरीर में भी विभिन्न अवयवों में प्रवेश किया[9] यथा-सूर्य चक्षु बन गया और वात प्राण।[10] पुरुषदेह में ब्रह्म प्रविष्ट हुआ और उसके ऊपर प्रजापति भी आकर रहता है।[11] अत एव विद्वान् इस पुरुष को ब्रह्मरूप में मानता है, क्योंकि इसमें देवता उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार गोष्ठ में गायें रहती हैं।[12] देहस्थ देवों को अन्य देवों के पुत्र माना गया है।[13] ऐतरेयोपनिषद्[14] के अनुसार हिरण्यगर्भ के मुख से वाक्, वाक् से अग्नि, नासिका से प्राण, प्राण से वायु, चक्षु से आदित्य, श्रोत्र से दिशाएँ, त्वक् से लोभ, लोभ से ओषिधि तथा वनस्पतियाँ, हृदय से मन, मन से चन्द्रमा, नाभि से अपान, अपान से मृत्यु, शिश्न से रेतस् और रेतस् से जल उत्पन्न

---

5. श0ब्रा0 5.2.1.3.5
6. का0श्रौ0सू0 6.4.7.1
7. शुक्ल-यजुर्वेद मा. सं., 40.17: 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'। तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.8: 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासाविदित्ये स एकः।'
8. ऋग्वेद, 10.90.13-14: 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।। नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्।। तुलनीय अर्थवेद, 10.7.33
9. अथर्ववेद, 11.8, 13, 18, 30
10. वही, 11.8 31: सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे।
11. वही, 11.8.30: शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः।
12. वही, 11.8.32: तस्माद्वै विद्वान्पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते।।
13. वही, 11.8 10
14. ऐ0उप0 1.1.4

हुए। इसी उपनिषद् में[15] जीवदेह में देवताओं के स्थानों का भी निर्देश है-अग्नि ने वाक् बनकर मुख में प्रवेश किया, वायु ने प्राण बनकर नासिका में प्रवेश किया, आदित्य चक्षु बनकर नेत्र में प्रविष्ट हुआ, दिशाएँ कान बनकर कानों में प्रविष्ट हो गई, ओषधि तथा वनस्पतियों ने लोम बनकर त्वक् में प्रवेश किया, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया, मृत्यु ने अपान बनकर नाभि में प्रवेश किया और जल रेतोरूप होकर शिश्न में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार जीवदेह विविध देवताओं का अधिवास है। यह देह अष्टाचक्रा, नवद्वारा, अयोध्या (अपराजिता) देवनगरी है, जिसका प्रकाशमय (हिरण्य) कोश ज्योति से आवृत स्वर्ग है।[16] उस प्रकाशमय कोश में आत्मवान् यक्ष है, ऐसी प्रकाशमयी पुरी में ब्रह्म आविष्ट होता है।[17] इन देवताओं की पुरुषदेह से पृथक् बाह्य सत्ता मानते हुए उनके पुष्ट्यर्थ/प्रसादनार्थ अनुष्ठीयमान यज्ञ-बाह्य कर्म है, जिसमें बाह्य साधनों की अपेक्षा रहती है, किन्तु इन्हें देह में आविष्ट मानते हुए किया जाने वाला यज्ञ एक आभ्यन्तर कर्म है, जिसके लिये किसी भी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। बाह्य यज्ञ की अपेक्षा आभ्यन्तर यज्ञ श्रेयान् है। इसी से मनु ने विधियज्ञ से जययज्ञ को दश गुणा विशिष्ट माना है, उसमें भी उपांशु को सौगुणा और मानस को सहस्रगुणा माना गया है, विधियज्ञयुक्त पाक-यज्ञ तो सब मिलकर जपयज्ञ की सोलहवीं कला भी नहीं है।[18] भगवान् श्रीकृष्ण भी 'श्रीमद्भगवदगीता' में अपने-आपको नाना यज्ञों में जपयज्ञ स्वरूप घोषित करते हैं।[19]

तान्त्रिक वाङ्मय में यज्ञ के आभ्यन्तर स्वरूप का और अधिक विकास हुआ है। वैदिक यज्ञयागों में जिस प्रकार साधारण अग्नि को मन्त्रादिजन्य संस्कार द्वारा दिव्य अग्नि के रूप में परिणत किया जाता है और उसमें यगादि कर्मों का सम्पादन किया जाता है, उसी प्रकार तान्त्रिक होम में बाह्य अग्नि को संस्कारादि के प्रभाव से होमाग्नि, इष्टाग्नि तथा ब्रह्माग्नि के रूप में परिणत किया जाता है। दो अरणियों के परस्पर घर्षण से शास्त्रविधिना उत्पन्न, साधारण अग्नि से उत्कृष्ट अग्नि को पात्र विशेष में संगृहीत कर उमसें संयुक्त अशुद्ध क्रव्याद अग्नि को हटाकर निरीक्षण, प्रोक्षण, ताडन, अवगुण्ठन तथा अमृतीकरण इन पाँच उपायों से उसका शोधन किया जाता है। तत्पश्चात् भावना द्वारा मूलाधार से सुषुम्णा-मार्ग में आगत चैतन्यरूप अग्नि को तृतीय नेत्र से बाहर निकालकर, उसे शुद्ध बाह्याग्नि में मिलाकर, उस संयुक्त अग्नि का शिववीर्यरूप से देवीगर्भरूप अग्निकुण्ड में निक्षेप किया जाता है, जो वागीश्वरी-गर्भ में वागीश्वर-बीज के निषेक का अनुकल्प है। इसके पश्चात् इन्धन द्वारा उसका उपस्थान, उपासन तथा प्रज्वालन किया जाता है और साथ ही यह भावना की जाती है कि वागीश्वरी-गर्भ में अग्नि का धारण पोषण है। तदन्तर भावना द्वारा अग्निदेव के पुंसवन, सीमन्तोन्नयन तथा जातकर्म संस्कार किये जाते हैं। नामकरण से पूर्व तक अग्नि 'होमाग्नि' नाम से व्यपदेश्य है।

---

15. ऐ०उप० 1.2.4
16. अथर्ववेद, 10.2.31: अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः।।
17. वही, 10.2.32-33
18. मनुस्मृति, 2.85-86: 'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः।। ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।'
19. गीता-10.25 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।'

नामकरण द्वारा वह 'इष्टाग्नि' का रूप धारण करता है। उपास्य देवता के नामानुसार उसके भी ललिताग्नि आदि नाम रखे जाते हैं। नामकरण के बाद भावना द्वारा ही अग्नि के विवाहपर्यन्त सब संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं। तत्पश्चात् परिषेचन, परिस्तरण आदि कर्मों के अन्त में हवन से पूर्व हवन-द्रव्य के अनुसार अग्निदेव का ध्यान किया जाता है। समिधाओं से होम की स्थिति में अग्नि का दण्डायमान रूप में और आज्यहोम की स्थिति में उपविष्ट रूप में ध्यान किया जाता है। तदनन्तर अग्नि को मन ही मन अलंकारों से विभूषित कर स्रुवा द्वारा उसकी हिरण्यादि सात जिह्वाओं में अथवा प्रयोजनानुसार एक ही जिह्वा में आहुति दी जाती है। इनमें 'बहुजिह्वा' नाम्नी मध्यजिह्वा में इष्टस्वरूपा जगज्जननी का आह्वान कर पूजा करने के पश्चात् अङ्गदेवी, नित्या, ओघत्रय (अर्थात् दिव्य, सिद्ध तथा मानव इन त्रिविध गुरुओं), आवरण-देवताओं और यज्ञेश्वरी को निष्काम भाव से आहुति दी जाती है। तदन्तर प्रधान देवता की आहुति का विधान है। उसके बाद महाव्याहृति-होम की व्यस्त-समस्त रूप से समाप्ति कर ब्रह्मार्पण-आहुति द्वारा परब्रह्म में स्थिति प्राप्त की जाती है। इस प्रकार यज्ञकर्ता के नेत्र से निकलकर चिदग्नि के बाह्याग्नि में संयुक्त होने के बाद ही बाह्याग्नि होमाग्नि बनता है। यह चेतन अथवा प्राणमय होता है। उसकी शरीर रचना के बाद उसमें चैतन्य का संचार किया जाता है। उसके बाद उसकी दिव्यभाव में स्थिति होती है और उसमें पराशक्ति के बाह्य स्फुरण की प्रतीति की जाती है। तत्पश्चात् उसका ब्रह्माग्नि रूप में अनुभव कर ब्रह्मार्पण-कार्य सम्पादित किया जाता है। सभी यागों में संवित् में निष्पन्न यह याग श्रेष्ठ है।[20] यही 'श्रीमद्भगवद्गीता' में संकेतित ब्रह्माग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ का यजन है।[21] 'ऋग्वेद' के **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:**[22] में भी इसी का संकेत है। इस स्थिति में सभी कुछ ब्रह्म ही होता है। -अर्पण (स्रुवादि), हविर्द्रव्य, अग्नि ऋत्विक्/यजमान, हुत तथा यष्टव्य आदि। श्रीकृष्ण इस स्थिति का संकेत करते हुए कहते हैं कि अर्पण अर्थात् स्रुवादिक अर्पण-साधन भी ब्रह्म है, हवि अर्थात् है, हविर्द्रव्य भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूप अग्नि में बह्मरूप यज्ञकर्ता के द्वारा जो हवन किया जाता है, वह भी ब्रह्म ही है, ब्रह्मकर्मसमाधिसम्पन्न उस व्यक्ति द्वारा जो गन्तव्य (प्राप्तव्य) है, वह भी ब्रह्म ही है-

ब्रह्मर्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।[२३]

यही आत्मत्याग है। धर्मसूत्रकार बौधायन के मत में भी सर्वयज्ञानुष्ठाताओं में आत्मयाजी श्रेष्ठ है-**'सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यते।'** आधान के पश्चात् जब अग्नियाँ यजमान में स्थित होती हैं तो गार्हपत्य उसके प्राणरूप, दक्षिणाग्नि उसके उपानरूप में, आहवनीय ध्यानरूप में और सभ्याग्नि तथा आवसथ्याग्नि क्रमश: उदान तथा समानरूप में रहती हैं। ये पाँचों अग्नियाँ आत्मा में आहित रहती हैं, उस समय कोई बाह्य अग्नि नहीं रहती। अत: आत्मा ही में हवन होता है-**'आत्मन्येव**

---

20. द्रष्टव्य महामहोपाध्यायम डॉ. गोपीनाथ कविराज, 'यज्ञ का रहस्य', भारतीय संस्कृति और साधना पटना: बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, द्वितीय संस्करण, 1977, पृ0 177-179।
21. गीता-4.25 'ब्रह्मग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति'।
22. ऋ0 10.90.16
23. श्रीमद्भगवद्गीता, 4.24

जुहोति।' यही आत्मयाग है। 'परशुरामकल्प' के अनुसार इस याग में सर्ववेद्य हव्य, इन्द्रियाँ स्रुवा, शक्तियाँ ज्वालाएँ, स्वात्मा शिव अग्नि और साधक स्वयमेव होता है।[24]

तन्त्रों के अनुसार जपयज्ञ भी मानसयज्ञ में परिणत होकर आत्मयाग में पर्यवसित होता है। जप-साधना में अजपा-जप सर्वोत्कृष्ट है। अजपा-गायत्री हंसविद्या, आत्ममन्त्र, प्राणयज्ञ आदि विविध नामों से निर्दिष्ट है। अजपा-जप श्वास-प्रश्वास के माध्यम से सम्पाद्य साधना है। एक अहोरात्र में मनुष्य के स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की संख्या प्रायः 21,600 है। **'हम्'** ध्वनि करता हुआ बाहर निकलने वाला श्वास 'प्रश्वास' है और **'सः'** ध्वनि करता हुआ भीतर आने वाला श्वास- 'निःश्वास' है-**'हङ्कारेण बहिर्याति सः कारेण विशेत्पुनः।'** साधक अपनी सामर्थ्य द्वारा श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति में विपर्यय उत्पन्न कर साधना बल से **'हंस'** गति को **'सोऽहम्'** गति में परिवर्तित कर सकता है। ऐसा होने पर-**'सः'** अर्थात् जीव अपने आत्मा का ध्यान करता हुआ, अपने जीवत्व का त्यागकर, हकारात्मक परमात्मभव को प्राप्त कर लेता है-**'सः कारो ध्यायते जन्तुर्हकारो जायते ध्रुवम्।'**

यज्ञ का गूढतम आदर्श आत्मयाग ही है। आत्मसाक्षात्कार के साथ-साथ स्व-स्वरूप अवस्थिति ही इसका चरम फल है। यह वह परम लाभ है, जिससे बढ़कर अन्य कोई भी लाभ नहीं होता, जिससे कुछ भी अधिक नहीं माना जा सकता-**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'**[25] परम सौभाग्य के उदय के फलस्वरूप ही जीव को यह स्थिति उपलब्ध हो पाती है। संभवतः परमरहस्यात्मक, आत्मरूप होने के कारण ही यज्ञ को 'शतपथ-ब्राह्मण' में ब्रह्मरूप[26] तथा विष्णुरूप[27] माना गया है और 'श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अपने आपको क्रतु तथा यज्ञरूप घोषित करते हैं।[28]

प्रो0 मान सिंह

60/3 मुंशी प्रेमचन्द मार्ग, नवीन नेहरू नगर,

रुड़की-247667

---

24. परशुरामकल्प 1.26 'सर्वं वेद्यं हव्यम्। 'इन्द्रियाणि स्रुचः, शक्तयो ज्वालाः, स्वात्मा शिवः पावकः, स्वयमेव होता।'
25. श्रीमद्भगवद्गीता, 6.22
26. श0ब्रा0 3.1.4.5: ब्रह्मयज्ञः।
27. श0ब्रा0 1.1.2.13: यज्ञो वै विष्णुः।
28. गीता-9.16: अहंक्रतुरहं यज्ञः।

YAJYA THERAPY FOR TUBERCULOSIS

Tuberculosis has affected mankind from very ancient times Records on the tablets of Babylo-Assyrians, writings of the Hindus, Chinese and Mesopotamians, skeletal remains of tuberculosis lesion from the Iron age, Peruvian and Egyptian mummified human remains from the time before Christ have amply proved the prevalence of this disease since antiquity. The disease associated with cough, fever, blood spitting and emaciation, and recognized as Laoping (lung cough, lung fever) in China and Rajayakshma (king among diseases, Kshaya-tissue getting withered) in India, was called Phthisis (Phthinein, to waste away) by Hippocrates (460-377BC). Johann Schonlein in 1839 named this disease as tuberculosis (tubercula, a small lump. T. B.).

Nature of the Disease: The early Greek physicians like Aristotle, Aretaeus, and Galen thought that the disease was transmissible through contagion, Varro (116-28B.C.) thought that the disease might be caused by organisms which could not be seen by human eyes. Paracelsus, Frascatorius, Beniamin, Marten and Budd believed that consumption might be caused by minute living creatures (contagium vivum). Jean Ville man (1827-1892) established the contagiousness of tuberculosis and thought that the disease was caused by " a morbid germ capable of multiplication". The German physician Robert Koch on 24 March, 1882 Berlin announced that tuberculosis affections of man and animals are caused by tiny slender, rod shaped bacilli and called them as tubercle bacilli (Mycobacterium tuberculosis).

Epidemiology: Tuberculosis is an ubiquitous infectious disease known to have existed from ancient times. The disease has been perpetuated and maintained in the human population since then. The incidence and mortality were high when the disease affected susceptible groups, as they offered favourable conditions for the spread of the disease. This is evident from the fact that the poor housing, poor sanitation, overcrowding, poor nutrition, overwork and stressful conditions of life if the cities lowered people's natural resistance to infection, making them an easy prey for the development of tuberculosis. Tuberculosis was relatively uncommon in India in the first half of nineteenth Century. These were a gradual increase in the mid-nineteenth Century and the peak in tuberculosis incidence towards the end of the nineteenth Century. The epidemiological study carried out in old Delhi from 1962 to 1991 showed no decline in sputum positive case rates from 3.3 per 1000 over 30 years period. There was a decrease in prevalence of radio logically active and probably active abacillary

pulmonary tuberculosis from 13.2 per 1000 in 1962 to5.4 per 1000 in 1991. The tuberculosis mortality has now shown on annual decrease due to the improvement in the standards of living and the introduction of on effective chemotherapy, which reduced the number of infectious active cases.

The Mycobacterium: The causative organism of tuberculosis is Mycobacterium tuberculosis. The generic name Mycobacterium (the name is derived from its mould-like growth pattern) was proposed by Lehman and Newman in 1896. M. Tuberculosis is an aerobic thin, rod shaped, straight or slightly curved organism, of 1-4 microns length and 0.3-0.6 microns breadth, with rounded ends. It occurs singly or occasionally in clumps. The organism is non-motile and has no capsule. Mycobacterium can exist in mammalian (human and bovine), avian(M. avium) and piscine (M. marinum) forms. Mycobacterium tuberculosis Var hominis is the organism concerned with the Production of Tuberculoses in man.

Infection and Host: M. tuberculosis must enter the body to produce infection and disease. The host tissue react to the infection and may effectively control it by mounting an immune response, by producing cell mediated immunity (CMI) and delayed type tissue hypersensitivity ((DTH). the infection occurs inhalation of airborne droplet nuclei containing tubercle bacilli. the bacilli discharged from a pulmonary focus are brought out by the patient during coughing, spitting, talking, shouting, singing and sneezing as droplets. These infected, tiny droplets of mucus get dried and become droplet nuclei. They remain suspended in the air. Transmission usually requires close, frequent or prolonged exposure. Though exposure to tubercle bacilli is necessary for initiation of an infection but its progression into a disease depends upon genetic, immunological, environmental, physiological and of other factors like diabetes mellitus, H.I.V. infection and AIDS.

Pathogenesis: Tuberculosis is a chronic intracellular infection and the disease has a complex pathogenesis. Tuberculosis infection occurs in the form of primary tuberculosis and non-primary tuberculosis. The primary tuberculosis develops after the first infection with M. tuberculosis. The organisms gain entry into the lungs by way of inhalation of airborne droplets containing the infectious agent and are deposited. A primary lesion develops in the site of infection i.e. in the middle to lower zones of the lung, draining lymphatic of the area, and regional lymphnodes-branchopul monary and tracheobronchial regions. Primary tuberculosis is common in childhood and adolescence.

Non-primary tuberculosis refers to all forms of tuberculosis that occur after the first

few weeks of primary tuberculosis. Non-primary tuberculosis can develop from both endogenous reactivation and exogenous re-infection. Endogenous reactivation (recrudescence of the initial infection) results from tubercle bacilli acquired by initial tuberculosis which remained viable but dormant in the tubercles in a lymphonde or in the lung. These bacilli are capable of exhibiting metabolism and replication if there is lowering of local immunity and flare-up of an old infection. The natural resistance of the host is lowered by factors like age, concomitant disease, hormonal changes and immuno-suppression. Exogenous re-infection develops with virulent tubercle bacilli in individuals who had primary infection many years earlier. Though primary tuberculosis occurs in any part of the lungs, the bacilli must reach the apical region for progression of infection the disease.

Chemotherapy: The introduction of chemotherapeutic regimens has revolutionised the treatment of tuberculosis. In pre-chemotherapy era i.e. before 1945, the treatment was towards strengthening of the patient's resistance to the disease. The measures taken were the avoidance of physical and mental strain, prolonged bed rest in a sanatorium, good food, fresh air and collapse therapy. Chemotherapy is antimicrobial treatment. It is capable of elimination of bacilli from the sputum, heal the lesions and cause their sterilization. The effect of chemotherapy depends upon biological, environmental and pharmacological factors. The drugs have the capability to kill fully viable organisms-exhibiting metabolic activity and continuous multiplication. The bacterial population contains heterogeneous bacterial group, some organisms are dormant most of time and exhibit growth during a short period. These are called as per sisters and are not affected by most drugs. The chemotherapeutic agents vary in their capability to enter into all tissues and cells, moreover, the pH and the oxygen tension play an important role in influencing the antimicrobial effect of the drug. Tubercle bacilli survive best in an environment with a Po2 of 100 to 140mm Hg, 5% Co2 and a pH of 7.40. Streptomycin exhibits its activity in slightly alkaline environment whereas pyrazinamide acts largely in an acid medium. The dose of the drugs must produce an inhibitory concentration in the sites of the response of the drug. Hence, ionized is given once a day in a dose of 300mg instead of divided doses. The treatment regimen against tuberculosis should contain a combination of two or more drugs. The chance of the emergence of resistant organisms is greater with mono-therapy so a combination of drugs is used in the treatment. It has an advantage of preventing the multiplication of a small population exhibiting resistance to one drug. The anti-tuberculosis drugs should have bactericidal activity, sterilizing action, to

prevent the emergence of acquired resistance and the ability for intermittent use.

Failure of chemotherapy: Though every tuberculosis patient has an excellent chance of being cured with chemotherapy but success rate with routine treatment is low (50%). This high rate of failure is due to the treatment with inadequate regimens, irregular intake of drugs, frequent interruptions, the patient's early discontinuation of drugs intake, insufficient duration of treatment, adverse reaction to drugs (intolerance hypersensitivity and toxicity) and initial drug resistance. Thus there is multiplication of non-susceptible mutants and the emergence of drug resistance strains from such a therapy. In order to tackle this problem the patient has to be motivated at the start of treatment to perform yajna regularly along with the drugs.

Yajna samagri for tuberculosis: The diagnosis of pulmonary tuberculosis at an early stage of its development helps in the institution of effective therapy and enhances the likelihood of its success. The medicines prescribed to the patient depends upon the symptoms and the condition of the patient in deferent apathies like allopathy, homeopathy etc. Similarly in Yajna therapy the constituents of Yajna samagri varied according to the condition of the patient. The tuberculosis patients are classified into four categories on the basis of the clinical features and manifestations of the disease (Agnihotri, 1949). The symptoms of various categories are given below: -

Stage O: In this category the persons are included with no clinical symptoms but are likelihood of exposure to tuberculosis. The body structure of some persons are like that of an infected patient e.g. narrow chest, bend in backbone, cheeks in side. The other group includes those who are in contact with the patients suffering from tuberculosis eg. doctors, nurses, relatives etc. They should use the yajna samagri ment for normal persons and perform yajna daily.

Stage1: The patient may feel depressed and become tired at the end of the day and this feeling becomes more prominent and he may become easily tired during the day and after normal activity. In the beginning the cough is mild and dry especially in the morning and occurs in the form of clearing the throat. There is little pain in the chest, after the meal which moves up to shoulders and back. The discomfort in the chest increases in case of pleurisy. There prevails the problem of indigestion and patient does not like ghee and other fatty materials. Moreover, there is increase in heart beat and the patient feels some problem during breathing. The hoarseness of voice is noted in same cases. Patient often complains of fever in

the evening.

Stage 2: There is loss of appetite. The cough is persistent during night and sometimes it is associated with mucous expectoration and blood tinged sputum may be present. The patient feels difficulty during breathing and wasting of the body leads to weakness. Palpitation of heart is noticed. In the acute tuberculosis the fever may be persistent throughout the day or subside and reappear intermittently. In the morning, when fever subside it is followed by profuse sweating. There is some reddishness on the cheeks of the patient.

Stage 3: -There is acceleration of all the symptoms described above. In this stage the cavities are formed inside the lungs. The cough is persistent and more frequent in the morning and is associated with mucous expectoration. The bleeding from a tuberculoses lesion varies from blood tinged sputum to a large amount of bright red blood. Sometimes the bleeding is profuse and is due to flooding of bronchial tree. The fever is high in the night and in the morning it subside but due to profuse sweating the patients clothes become wet. The loss of weight and falling of hairs is common. Loss of appetite, indigestion and loose motions makes the patient lean and thin.

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part used	Stage 0	stage1	stage2	Stage 3
1.	Guggul	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	+	+	+	+
2.	Chandan (white)	Santalum album	Santalaceae	Wood	+	+	+	+
3.	Chandan (red)	Pterocarpus santlinus	Leguminosae	Wood	+	-	+	+
4.	Agar	Aquilaria agallocha	Thymelaeaceae	Wood	+	+	+	+
5.	Tagar	Valeriana wallichi	Valerianaceae	Root	+	+	+	+
6.	Chirounji	Bachanania lanzan	Anacardiaceae	Flower	+	+	+	+
7.	Coconut	Cocos nucifera	Palmae	fruit	+	-	+	+
8.	Jaiphal	Myristica fragrans	Myrsticaeae	Seeds	+	+	+	+
9.	Laung	Syzygium aromaticum	Myrtaceae	Fruit	+	+	+	+
10.	Munakka	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	+	+	+	+
11.	Kismish	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	+	+	+	+
12.	Ilaychi (bari)	Amomum aromaticum	Cannaceae	Fruit	+	+	+	+
13.	Rose	Rosa indica	Rosaceae	Flower	+	+	-	+
14.	Harad	Terminalia chebula	Combretaceae	Fruit	+	+	+	+
15.	Rice	Oryza sativa	Gramineae	Fruit	+	+	+	-
16.	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem (Gum)	+	+	+	+
17.	Sugar	Saccharum album	Gramineae	Stem	+	+	+	-
18.	Chuhara	Phoenix sylvestris	Palmae	Fruit	+	-	+	+
19.	Giloy	Tinospora cordifolia	Menispermaceae	Whole Plant	+	+	+	+
20.	Brahmi	Centella asiatica	Umbelliferae	Whole Plant	-	+	+	+
21.	Indrayan	Cirullus colocynthis	Cocurbitaceae	Fruit	-	+	+	+
22.	Shalparni	Desmodium gangeticum	Fabaceae	Whole Plant	-	+	+	+

23.	Makoi	Zizyphus oenoplia	Rhamnaceae	Whole Plant		-	+	+
24.	Rasana	Pluchea lanceolata	Compositae	Leaves	-	+	-	+
25.	Jatamansi	Nordostachys jatamansi	Valerianaceae	Root	-	+	-	+
26.	Pandri	Randia uliginosa	Rubiaceae	Whole Plant	-	+	-	+
27.	Gokhru	Tribulus terrestris	Zygophyllaceae	Furit	-	+	-	+
28.	Amla	Emblica officinalis	Eukphorbiacae	Fruit	-	+	-	+
29.	Jivanti	Leptademia reticulata	Asdepiadaceae	Stem	-	+	-	+
30.	Punarnava	Boerhavia diffusa	Nyctaginaceae	Stem	-	+	-	+
31.	Cheer	Pinus roxburghi	Pinaceae	Stem	-	+	+	+
32.	Khoobkalan	Sisymbriunm irio	Cruci ferae	Seed	-	+	-	+
33.	Jaun	Hordeum vulgare	Gramineae	Fruit	-	+	+	+
34.	Til	Sesamum indicum	Pedaliaceae	Seed	-	+	+	+
35.	Shatavar	Asparagus racemosus	Liliaceae	Root	-	+	+	+
36.	Adusa (bisauta)	Adhatoda vasica	Acanthaceae	Whole Plant	-	+	+	+
37.	Almond	Prunus amygdahus	Rosaceae	Seed	-	+	+	+
38.	Kesar	Crocus sativus	Iridaceae	Flower	-	+	+	+
39.	Kapur kachree	Hedychium spicatium	Zingiberaceae	Root	-	-	+	+
40.	Kut	Saussurea lappa	Compositae	Root	-	-	+	+
41.	Kulanjan	Alpinia galanga	Zingiberace	Rhizome	-	-	+	+
42.	Javitri	Myrisitica fragrans	Myrisisticacae	Flower	-	-	+	+
43.	Devdar	Cedrus deodaru	Pinacacae	Wood	-	-	+	+
44.	Khas	Vertiveria zizaniodis	Graminae	Root	-	-	+	+
45.	Howber	Juniperus communis	Pinaceae	Fruit	-	-	-	+
46.	Nagar motha	Cyperus rotundus	Cyperaccae	Stem	-	-	-	+
47.	Honey							
48.	Seasonal Fruits							
49.	Halwa							
50.	Kheer							
51.	Cow Ghee							

Dr. Navneet & Prabhat,

Department of Botany & Microbiology

Gurukula Kangri Unversity

Hardwar.

ENVIRONMENTAL CONSERVATION AND SCRIPTURES

Nature is accepted as divine in almost all religions. The Hindu tradition has usually perceived the earth as mother and all livings beings as co-existing beings and God and nature were perceived as one and same. In our Hinduism, the abuse and exploitation of nature for selfish gain is considered a heinous job. Our vedic literature is full of hymns, dedicated to the conservation of a pure and pristine environment and says that it is essential for a healthy individual, healthy society and healthy thinking. Vedas contain sufficient references where protection of environment is a must and maximum stress has been given on the protection of trees and other vegetation. All our scriptures, Vedas, Upnishadas, Puranas, Mahabharat and Geeta emphasize protection and preservation of environment. They in one form of other have advocated that the "God", the supreme power had created this world with five basic components- space, water, air, fire and earth and man is an integral part of the nature itself. He is to live in harmony with other elements and not to dominate over them, and in consonance we worship the sun, rivers, plants and animals. Buddhism says that though in nature change is inherent, but moral deterioration in human beings accelerates it, and it offers a simple and moderate lifestyle. The Jaina culture considers the man and nature as one. It has said that as man feels pain when his body is struck or hurt, the other elements of nature- the earth, the water, the air and the vegetation too feel likewise. Similarly in Islam the conservation of environment is based on the principle that God created all the aspects of this world with assigned functions. However, during the past centaury the activities of the human beings have disturbed natural phenomenon and have polluted the entire environment and now heading towards the irreversible global damage. If we want to solve these problems of environmental deterioration, than a change in the thinking of human beings towards its environment is necessary. The culture and religion are two most important aspects, which have their direct impact on the thinking of human beings and can change the attitude of people. All is there in our old scriptures, the love and respect, which we should give to nature and in order to preserve a pristine environment, the need is to motivate people so as to change their values and beliefs, and religion is one of the most important aspect that can be used as a tool for this purpose.

Hindu Scriptures: Vedic percept of religion tells us that God is present in every

particle of living and non-living entities. The English word Nature also means inherent characteristics- and the word Prakriti has this hidden connotation. Since the Vedic scriptures are regarded as the oldest written documents of human knowledge, hence it must speak about the prevailing eco-climatologically conditions with which our ancestors lived. The origin of planetary system has been well defined in a hymn in Rigveda.

This Hiranyagarbha was- womb of light or a fire ball shining like a golden egg. The modern day scientists also agree upon that the solar system and whole of cosmos, originated from the similar gigantic mass of burning ball. In our Vedic literature various interesting references have been given regarding creation of earth. At one place a Rishi asks- from which forest and tree Gods created the heaven and the earth-

And in Taitriya Brahmana a Rishi replies that Forest or Tree was Brahma. The plants provide us life giving prana, vayu, the oxygen and also balance noxious carbon dioxide by converting it into usable organic compound. The Vedic man therefore, worshiped to plants. The vivid description of trees, creepers, animals and birds conversing with people and sharing their joys and sorrows re-affirms the faith of the people that there must be perfect harmony between man and nature.

The concept of personification of tree has been a specialty of our thinking. Our Rishis not only protected them but also contributed towards their growth and protection. The Ashrams or Gurukulas of our Rishis were full of dense forests and in the Abhigyana-Shakuntalum of Kalidas, the poet writes that the Shakuntala lovingly nurtures the plants and treats them as her brother and sister, it further says that her love for these plants is so strong that it does not let her pluck the leaves and flowers to beautify herself.

The intimate association of natural flora and fauna with human beings is most beautifully depicted in epics like Mahabharata and Ramayana. Almost all the scriptures place strong emphasis on the notion that God's grace can be received by not killing the creatures or harming his creations. "God Keshava is pleased with a person who does not harm or destroy other non speaking creatures" (**Vishnu Purana-3.8.15**).

Not to eat meat in Hinduism is considered both an appropriate conduct and a duty. Yajnavalkya Smriti warns a hell fire (Ghora Naraka) to those who are killers of domesticated and protected animals. "The wicked person who kills animals which are protected has to live in hell for the days equal to the number of hair on the body of that animal (**Yajnavalkya**

Smriti)".

Water is another important element of life support without which life can not exist. Besides being a structural component of body, water is essential environmentally too. The Vedic literature provides interesting readings regarding water as a substance as an element, as a compound in all of its available physical forms and to all its physical resources. **Shatapatha-Brahmana** pays rich tribute to the water when it says "Water is the elixir of immortality". Further it says that "This universe is produced from waters".

The purifying power of water has been given high sanctity. In **Rigveda** we find many hymns devoted to the importance of waters (**10.9.7**)

Similarly the preference given to the waters of Himalayan origin by our Rishis shows their ecological consciousness and awareness of the various physico-chemical properties of various types of revering waters. They also pray that all rivers be free of pollution. (**Rig. 7.50.4**).

The Vedic Rishis were very keen observers of various events and actions that go on within our ambience (surrounding environment).A t one place in Rigveda the Rishis describe the birth of Fire or Agni from the friction of two wood pieces called as Araniya.

Fire in the form of heat is in fact an omnipresent and omnipotent factor in nature. It gets further importance as being the greatest causative of rain which is clear from the Vedic mantra (**Yaju. 2.15**)

The Agni is regarded as killer of all ill tendencies and powers, hence our Rishis prayed and worshiped to Lord Agni (**Atharva. 2.18.1**).

Air or wind is praised and prayed for its rejuvenating and invigoration powers of healing (**Rig. 1.90.6**). The air we breathe is the symbol of life.

Islamic Teachings: Islam equally values environment and the Glorious Quran has made it clear that every thing and each creature in this universe, whether known to man or not- performs two major functions: A religious function and a social function. It mentions the aesthetic functions of animals and plants as objects of beauty in addition to their other functions (to which we presently call as -Value of Biodiversity). Islam emphasizes all measures for the survival and perpetuations of these creatures so that they can fully perform the functions assigned to them.

The **prophet Muhammad** has said- "The merciful are shown mercy- show the mercy

to that on earth and he- who- is in heaven will show mercy upon you." He also warns that "A person, who causes an animal to die of starvation or thrust, is punished by God in fire of hell". Though, hunting and fishing for food is permitted in Islam, however, the Prophet cursed to any one who uses a living creature as a target, taking a life for mere sport.

Islam looks upon these created beings (biotic components in ecology) in two ways- (a) as living beings in their own right, glorifying God and attesting to his power and wisdom, and (b) as creatures subjected in the service of man and other created beings, fulfilling vital roles in the ecosystems of modern science.

In Islam all acts are evaluated in terms of their consequences as social goods and benefits and social evils. The planners, designers and administrators must always aim at the universal common good of all created beings. Islam provides a paradigm solution for many forms of environmental degradation. IN Islam the relationship between humankind and environment is part of social existence, and existence based on the fact that everything on earth worships the same God. The system has been placed under human responsibility, to care and not to misuse.

The Quran contains many verses that can be referred to for guidance in this respect. "The environment is God's creation."

The creation of this earth and all its natural resources is a sign of his wisdom, mercy, power and his other attributes". (**Quran 13.2-4**)

Islam says that God has made water the basis and origin of life: "It is He who sends down water from the sky, and thereby we have brought forth the plants of every kind (**Quran: Surat al-An: am 6**)."

The Air, which is again a very important component, has another very important functions as has been described in Quran- "And we send the fertilizing wind", making us aware of the vitally important role of wind in pollination.

Quran further goes on giving equal importance to soil and land. It says that God has made the land a source of sustenance and livelihood for us and other living creatures, he has made the soil fertile to grow more of the vegetation on which all animals live and we depend. Thus we find that Quran has various references wherein importance has been given to the conservation of each of the component of the environment.

The Jaina scriptures: The Jaina culture considers the man and nature as one. It has

said that as a man feels pain when his body is struck or hurt, the other elements of nature- the earth, the water, the air and the vegetation too feel likewise. At the basis of the scriptures of Jaina it has been proclaimed "Je egam janati se sawam janati, je sawam janati se egam janati" it means that one who knows one, he knows all and one who knows all he knows one. Thus this encompasses the protection of entire environment. Equal importance has been given to a balanced environment. "Sarve prana, sarve bhuta, sarve jiva, sarve satta na hantava, na ajjavetava, na parighetava, na partaveveyava, na uddeveyava" it means that all creatures, all the organisms, all living beings and all existence ought not to be killed, nor be polluted, nor be subjugated, nor be tormented, nor be disturbed in any manner. (**Acharanga Sutra**).

The word **Niyanti** comes at many places in Jaina scriptures, which means to save or to preserve. All the **Vratas** (Vows) of the followers of Jaina faith, their rules of conduct, their daily introspection emphasize preservation.

Thus we find that our scriptures are full of reverence to each of the modern day environmental components. These have been described as supernatural or equivalent to God or God like (Devata) - **Vayu Devata, Jala Devata, Bhumi Devata, Prani Devata, Vanaspati Devata and Surya Devata.** It is basically because of the recognition of the divine powers and vital role of these elements (components) towards sustaining life on this planet. Many modern day scientists and environmental conservationists think that primary importance should be given to a change in the attitude. Once the human beings have a respectful attitude towards their environment and follow the do's and don'ts, our aim to have a sustainable society will be fulfilled.

P. C. JOSHI AND NAMITA JOSHI

Department of Zoology and Environmental Sciences

Gurukula Kangri University

Hardwar-249404

यज्ञ और पर्यावरण

डॉ0 रामजीत मिश्र

आर्य जाति का प्राचीन धर्म ग्रन्थ वेद है। वेदो में कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञानकाण्ड-इन तीन विषयों का मुख्यत: वर्णन मिलता है। किन्तु इन तीनों में प्रधानता 'कर्मकाण्ड' की है। अत: यज्ञ ही वेदों का मुख्य विषय है। इसीलिये यज्ञों में वेदमन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। वेदमन्त्रों के अभाव में यज्ञ नहीं हो सकते और यज्ञो से अन्यत्र वेद-मन्त्रों का ठीक-ठीक सदुपयोग नहीं हो सकता है। अत: वेद और यज्ञ अन्योन्याश्रित हैं अथवा वेद है तो यज्ञ है और यज्ञ है तो वेद है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के **'वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्त:'**[1] इस वचन से तथा भगवान् मनु के **'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम्'**[2] इस वाक्य से स्पष्ट है कि वेदों का प्रादुर्भाव यज्ञों के लिये ही हुआ है। ब्रह्मपुराण के अनुसार यज्ञसिद्धि के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का निर्माण हुआ है।[3]

'यज्' धातु से **'यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्'** सूत्र से नङ् प्रत्यय करने पर यज्ञ शब्द निष्पन्न होता है। 'यज्' धातु का देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान-इन तीन अर्थो में प्रयोग मिलता है। यज्ञ में देवपूजा होती है। इसमें देवताओ के लिये अनुष्ठान किया जाता है, देवता सम्पूजित होकर तृप्ति प्राप्त करते हैं। यज्ञ में देवतुल्य ऋषि-महर्षियों का सङ्गतिकरण होता है। धर्म-जाति की रक्षा के लिये महापुरुषों को एकत्रित किया जाता है। यहाँ अपने बन्धु-बान्धव आदि स्नेहियों को भी सङ्गतिकरण अर्थात् परस्पर सम्मिलन के लिये आमन्त्रित करते हैं। यज्ञ में यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक देश-काल-पात्रादि विचार पुरस्सर द्रव्य का त्याग किया जाता है। इनके अतिरिक्त यज्ञ शब्द के कुछ अन्य अर्थ भी हैं- जिस सदनुष्ठान द्वारा सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो, वह यज्ञ पद से अभिधेय है। जिस अनुष्ठान द्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इस तापत्रय का उन्मूलन सुकर हो, वह भी यज्ञ कहलाता है। यज्ञ का वेदप्रतिपाद्य अर्थ है- जहाँ पर देवता का उद्देश्य कर अग्नि में हवि (द्रव्य) का प्रक्षेप किया जाए, उसे यज्ञ कहते हैं। मत्स्यपुराण के अनुसार जिस कर्मविशेष में देवता हवनीय द्रव्य वेदमन्त्र, ऋत्विज और दक्षिणा- इन पाँचों का संयोग हो, उसे 'यज्ञ' कहते हैं। यज्ञ को द्विधा विभक्त किया जा सकता है। पहला यज्ञ और दूसरा महायज्ञ। अपने ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण के लिये जो पुत्रेष्टि और विष्णुयाग आदि किये जाते हैं, उन्हें यज्ञ कहते हैं और जो विश्वकल्याणार्थ पञ्चमहायज्ञ आदि अनुष्ठित होते हैं, उन्हें महायज्ञ कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञ के स्वरूप और विशेषता के सम्बन्ध में महर्षि अङ्गिरा का वचन ध्यातव्य है-**यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्।** यज्ञ का फल आत्मोन्नति तथा आत्मकल्याण है, व्यष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उसमें स्वार्थ की प्रधानता आ जाती है। महायज्ञ का फल जगत् का कल्याण है, समष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उसमें नि:स्वार्थता की प्रधानता रहती है।

---

1. विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/104
2. मनु0 1/23
3. ब्रह्मपुराण 1/49 ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञसिद्धये।

वर्तमान समय में श्रौतयज्ञों का प्रचार तो नहीं के बराबर है। गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित पाकयज्ञों का प्रचार किसी न किसी रूप में अवश्य है। इनके अतिरिक्त पञ्चमहायज्ञों का भी उल्लेख मिलता है, जो नित्यकर्म के रूप में अनुष्ठेय माने गये हैं। ये सभी यज्ञ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार के कहे गये हैं। इनमें सात्त्विक यज्ञ का अनुष्ठान सर्वोत्तम कहा गया है।

वेद, वेदाङ्ग, पुराण और महाभारतादि ग्रन्थ यज्ञ की महत्ता पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं। श्रीमद्‌भागवत में कहा गया है—जो पुरुष श्रद्धापूर्वक यज्ञादि द्वारा देवताओं और पितरों का पूजन करता है, वह यज्ञों के प्रताप से चन्द्रलोक में जाकर सोमरस का पान करके पुनः इह लोक में आता है।[4] पद्मपुराण में यज्ञ की उपयोगिता प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि यज्ञ से देवताओं का आप्यायन (वर्द्धन) अथवा पोषण होता है। यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मनुष्यों का पालन-पोषण होता है। इस प्रकार जगत् का पालन-पोषण करने के कारण धर्मयज्ञ कल्याण के हेतु कहे जाते हैं।[5]

कालिका पुराण के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है-**'सर्वं यज्ञमयं जगत्'**।[6] सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, देवपूजन, अतिथिसत्कार, व्रत, जप, तप, कथाश्रवण, तीर्थयात्रा, अध्ययनाध्यापन, खान-पान, शयन, जागरण आदि नित्य और उपनयन विवाह-संस्कार आदि नैमित्तिक एवं पुत्रेष्टि आदि काम्यकर्म सभी यज्ञस्वरूप ही हैं। गीता में भगवान् ने द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ आदि का उल्लेख करके इन सभी को यज्ञ का ही रूप दिया है।[7] जिस प्रकार मनुष्यों का यज्ञ नित्य हुआ करता है, उसी प्रकार प्रकृति और देवताओं का भी यज्ञ नित्य-निरन्तर चलता रहता है।

यज्ञ से देवगण, यज्ञ से समस्त प्रजा, यज्ञ से समस्त अन्नोपजीवी प्राणी और यज्ञ पर ही सम्पूर्ण भविष्य सदा निर्भर रहता है। इस तरह समस्त जगत् ही यज्ञमय है। यज्ञ के लिये देवताओं और औषधियों की सृष्टि की गयी है। स्वयम्भू ने यज्ञ के लिये ही मनुष्यों की सृष्टि कर उनसे कहा-यज्ञ सबका कल्याण करने वाले, अतः यज्ञ करने में तत्पर रहो। यज्ञ के अवशिष्ट भाग का भोजन करने वाले, समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं। महाभारत शान्तिपर्व के अनुसार तीनों लोकों में यज्ञ के बराबर कोई उत्तम वस्तु नहीं है। इसलिये दोषदृष्टि से रहित होकर मनुष्य को यज्ञ करना चाहिए। यज्ञहीन प्राणी आत्मपवित्रता के अभाव में छिन्न-भिन्न पत्तों की तरह नष्ट हो जाते हैं।[8] महार्षि भारद्वाज के **'यागपरः पुरुषधर्मः'** इस वचन के अनुसार यज्ञ मानवजाति का विशेष धर्म है। अतः मनुष्यों को अपना जीवन यज्ञमय बनाना चाहिए।

पर्यावरण से तात्पर्य किसी वस्तु के पास-पड़ोस से है। पर्यावरणीय परिस्थितियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान में बदलती रहती हैं। हमारे लिये उस पर्यावरण का महत्त्व सबसे अधिक है, जिसमें

---

4. श्रीमद्‌भागवत 3/32/23 यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः। गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति।।
5. पद्मपुराण सृष्टि खण्ड 3/132 यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः। आप्यायन्ते धर्मयज्ञा यज्ञाः कल्याणहेतवः।।
6. कालिका पुराण 31/40
7. गीता 4/48
8. महाभारत शान्तिपर्व 61/53 अयज्ञो न च पूतात्मा नश्यति छिन्नपर्णवत्।

मनुष्य रहता है। पृथ्वी मनुष्य का आवास है। वह पृथ्वी के पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं से अलग-थलग नहीं रह सकता, क्योंकि अपने भोजन और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह उन पर आश्रित है। अतः हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी इस पृथ्वी के सभी पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं के पर्यावरण का अध्ययन करें।

किसी प्रदेश विशेष में पाये जाने वाले पेड़-पौधे और जीव-जन्तु उस प्रदेश के भौतिक पर्यावरण पर आश्रित होते हैं। इस प्रकार मनुष्य के पर्यावरण के दो मुख्य अंग है- एक भौतिक पर्यावरण तथा दूसरा जैव पर्यावरण। स्थल, जल और वायु भौतिक पर्यावरण के तत्त्व हैं। इसके विपरीत जैव पर्यावरण में पेड़-पौधे और छोटे-बड़े सभी जीव-जन्तु सम्मिलित हैं। भौतिक पर्यावरण तथा जैव पर्यावरण एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। भौतिक पर्यावरण के बदलने से जैव पर्यावरण भी बदल जाता है। भौतिक पर्यावरण में कभी-कभी बहुत बड़े परिर्वतन भी हुए हैं, जिससे पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं की कुछ जातियाँ ही विलुप्त हो गयी हैं। पर्यावरण में कुछ परिर्वतन तो प्राकृतिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप होते हैं, लेकिन विगत कुछ वर्षों में मनुष्य के क्रियाकलापों से भी पर्यावरण में बदलाव आया है।

मनुष्य जैव मण्डल का ही एक अंग है। मानव-इतिहास के प्रारम्भिक युगों में मनुष्य भी अन्य जीवों की भाँति पूरी तरह से अपने पर्यावरण पर ही आश्रित था। लेकिन कृषि के विकास से भोजन प्रचुर मात्रा में मिलने लगा। इसके फलस्वरूप लोग एक स्थान पर बस्तियाँ बसाकर स्थायी रूप से रहने लगे। कोयले, लोहे तथा अन्य खनिजों के खनन ने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। मनुष्य के सभी क्रियाकलापों का एकमात्र उद्देश्य पर्यावरण से अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करना हो गया है। विगत 120 वर्षो में जनसंख्या तेजी से बढ़ी है जिससे मनुष्य की आवश्यकताओं में भी वृद्धि हुई है। इन सबका दुष्प्रभाव भौतिक तथा जैविक पर्यावरण पर स्पष्ट झलकता है। शहरी तथा औद्योगिक क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर पर्यावरण का प्रदूषण हुआ है। पर्यावरण में हुए परिवर्तनों के कारण मनुष्य के अस्तित्त्व को ही खतरा पैदा हो गया है।

जनसंख्या की असाधारण वृद्धि एवं औद्योगिक प्रगति ने प्रदूषण की समस्या को जन्म दिया हैं। औद्योगिक तथा रासायनिक कूड़े-कचरे के ढेर से पृथ्वी, वायु, जल प्रदूषित हो रहे हैं। आज के वातावरण में प्रदूषण कई रूपों में दिखायी पड़ता है-(1) वायु-प्रदूषण (2) जल-प्रदूषण (3) ध्वनि-प्रदूषण (4) रेडियोधर्मी-प्रदूषण (5) रासायनिक-प्रदूषण (6) मानसिक प्रदूषण (7) सामाजिक प्रदूषण।

भारतीय ऋषि-मुनियों ने प्रदूषण की इस समस्या की ओर न केवल गम्भीरता से ध्यान दिया अपितु इनसे बचने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सजग भी किया, ताकि भौतिक प्रदूषण की समस्या ही उत्पन्न न हो। इसके लिये उन्होंने भूमि, जल, वायु, तीनों में मातृत्त्व अथवा पितृत्त्व की प्रतिष्ठा की। **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या,**[9] **आपोऽस्मान् मातरः शुन्धयन्तु,**[10] **तन्माता पृथिवी तन्पिता**

---

9. अथर्ववेद।

10. यजुर्वेद

द्यौः[११]। पूज्य मुनियों ने लोगो को स्पष्ट रूप से परामर्श दिया कि वे इन्हें विकृत न करें। इन्हें परिकृष्त करते हुए निरन्तर मधुमान् (अतिशय उपयोगी), जीवनप्रद और आरोग्यदायी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहें।[12]

यज्ञ एक प्रकार की प्रक्रिया है जिसका प्रत्यक्ष स्वरूप वनौषधियों की गुणवत्ता का भस्मीकरण विधि द्वारा विस्तृतीकरण प्रतीत होता है। यज्ञ के द्वारा उत्पन्न धुएँ से सुगन्ध का विस्तार शीघ्र हो जाता है। मस्तिष्क शरीर का संवेदनशील एवं सक्रिय अंग है जिसे अन्य अंगों की अपेक्षा तीन गुना अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। प्राप्त जानकारी के अनुसार यज्ञीय वाष्प उक्त ऊर्जा की पूर्ति करने में पूर्णतः सक्षम है। आज भी जीवन के समस्त धार्मिक कार्यों से यज्ञ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सम्पन्न होने वाले सभी संस्कार यज्ञपरक हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से यज्ञ वातावरण की दुर्गन्ध को सुगन्ध में परिवर्तित करने का एक अमोघ साधन है। मनुष्य के लिए आवश्यक प्राणवायु के परिशोधन में यज्ञ की मुख्य भूमिका है। पर्यावरण शुद्धिकरण में पेड़-पौधों के योगदान को तो सभी ने स्वीकारा है, परन्तु यज्ञ द्वारा पर्यावरण संरक्षण सर्वथा संभव है, इस बिन्दु पर पर्यावरणविदों ने खुलकर विचार व्यक्त नहीं किये हैं। वैज्ञानिकों द्वारा यज्ञ में प्रयुक्त सामग्री के घटकों के जलने एवं भस्मीकरण से उत्पन्न धुँयें के द्वारा वायु-शुद्धिकरण एवं कीटाणुनाशक प्रभावों की जानकारी प्राप्त की जा रही है। मेरे द्वारा इस शोध लेख में वातावरण शुद्धिकरण में यज्ञ की प्रभावशाली भूमिका की सार्थकता को वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। हमारे ऋषि मुनि प्राचीन काल से पर्यावरण की शुद्धि के लिये सुगन्धित एवं विभिन्न गुण धर्म विशिष्ट पदार्थों को अग्नि में भस्म करते आये हैं। आधुनिक प्रयोगों के आधार पर प्रमाणित हुआ है कि यज्ञ पर्यावरण संरक्षण का सरलतम माध्यम है। सोवियत रूस के वैज्ञानिक शिरोविच ने स्पष्ट किया है कि दूध, मक्खन, घी, गोमूत्र एवं गोबर के संपरीक्षण से निष्कर्ष निकला है कि गाय के दूध में आण्विक विकिरण के दुष्प्रभाव से रक्षा करने की शक्ति होती है। गाय के गोबर से लिपा हुआ स्थान विकिरण के दुष्प्रभाव को कम करता है। गाय के घी को अग्नि में डालने पर उससे निकला हुआ धुआँ वायुमण्डल में जीवाणुनाशक प्रभाव छोड़ता है।

पर्यावरण का जीव जगत् से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसकी सार्थक समझदारी ही पर्यावरण चेतना कहलाती है। पृथ्वी हम सबकी माता है, क्योंकि वह अनेक रूपों में समस्त जीवों का कल्याण करती है। जल और वायु भी देवता हैं। वृक्षों से हमें फल, लकड़ी औषधियाँ प्राप्त होती हैं। पीपल को देवता के रूप में पूजने का प्रचलन है। तुलसी को माता कहते हैं। पहाड़ों पर तरह-तरह के खनिज मिलते हैं। वर्षा कराने में पहाड़ों की अहम् भूमिका है। पर्यावरण के सभी घटकों का महत्त्व उपयोगिता और जीवन के लिये अनिवार्यता समझ कर उनमें देवत्त्व बुद्धि रखना भारतीयों में अतिविकसित पर्यावरण चेतना का प्रत्यक्ष तथा पुष्ट प्रमाण है। भारतीय संस्कृति कालजयी है, क्योंकि

11. यजुर्वेद

12. यजुर्वेद 13/27-29 मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमान् अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।

इसका केन्द्र पर्यावरण है, जो जीवन का आधार है। पवित्र नदियों का पूजन, सूर्य नमस्कार, अग्नि में आहुति देना आवश्यक माना जाता है। पूजा में केसर, चन्दन, जल, पान, सुपारी, नारियल, दूध, घृत, मिष्ठान्न का उपयोग होता है। यह सब भारतीय संस्कृति में धर्म-कर्म माना गया है। प्रदूषण की समस्या का स्थायी समाधान पर्यावरण मैत्री वाली संस्कृति को अपनाने से संभव है। अमेरिका, चिली, पोलैण्ड तथा पश्चिमी जर्मनी में अग्निहोत्र के प्रति विशेष रुचि बढ़ी है। वाशिंगटन में अग्निहोत्र विश्वविद्यालय की स्थापना हो चुकी है। जर्मनी में यज्ञमय जीवन पर शोध चल रहे हैं। पर्यावरण संरक्षण संघ के प्रो0 एस0 सी0 मुले ने मेडिसिना एल्टरलनेटिया द्वारा आयोजित विश्व सम्मेलन में होम का प्रदर्शन किया था। उन्होंने बताया कि पृथ्वी तथा सूर्य के बीच निरन्तर बिगड़ता पर्यावरण यज्ञ के द्वारा अनुकूल बनाया जा सकता है। होम से ऑक्सीजन की पुनश्चक्रण प्रणाली में सन्तुलन बना रहता है। जलस्रोतों से सूर्य की किरणों की अवशोषण करने की क्षमता भी होम से बढ़ती है। होम करने से पर्यावरण शुद्ध होता है।

यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न वृक्षों की लकड़ियाँ औषधीय गुणों से सम्पन्न होती हैं। देवदार की लकड़ी में 3 से 8 प्रतिशत तैल होता है, जिसके जलने से कीटाणुनाशक धुआँ निकलता है। चन्दन की लकड़ी का धुआँ मच्छरों व अन्य जीवाणुओं को नष्ट करता है। बेल एवं ढाक के पेड़ भी धार्मिक आस्था से जुड़े हैं। इनकी लकड़ी में भी औषधीय गुण होते हैं। वसायुक्त पदार्थों में दूध, घी, सूखा गोला भस्म होने के पश्चात् आंशिक रूप में ऑक्सीकृत होकर वायुमण्डल में मिल जाते हैं। शेष भाग जो मुख्यत: अकार्बनिक होता है, यज्ञपात्र में रह जाता है। यज्ञ में जो राख रह जाती है, उसमें खनिज लवण एकत्रित रहते हैं। जिनमें औषधीय गुण होते हैं। सुगन्धित पदार्थों में कपूर, केसर, जावित्री, जायफल चन्दन आदि होते हैं जिनका धुआँ वायुमण्डल में उपस्थित जीवाणुओं को नष्ट करता है। प्राप्त जानकारी के अनुसार ब्रिटिश शासन के दौरान मद्रास में प्लेग फैलने पर वहाँ के सैनेटरी कमिश्नर डॉ0 कर्नल किंग ने निवासियों को घी, चावल एवं केसर मिलाकर हवन करने की सलाह दी थी। जब सूरत में यह बीमारी फैली थी तो भी वहाँ के डाक्टरों ने जनता से हवन करने की अपील की थी। अन्य पदार्थों जैसे गूगल, बूरा, किशमिश, मुनक्का, मखाने, काले तिल, सूखे मेवे से हवन करने पर डॉ0 टीलिट ने प्रमाणित किया कि इनके भस्मीकरण के दौरान उत्सर्जित धुएँ से टाइफायड के कीटाणु आधे घण्टे में समाप्त हो जाते हैं। चिकित्सा शास्त्री एमत्र मोनियर ने अपनी पुस्तक 'एंसियेण्ट हिस्ट्री ऑफ मेडिसिन' में लिखा है कि रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए यज्ञ एक बहुत ही सशक्त एवं सरल उपाय है।

उक्त तथ्यों के आधाार पर हम कह सकते हैं कि यज्ञ न केवल हमारे आध्यात्मिक उत्थान एवं शान्ति की वृद्धि में मुख्य भूमिका निभाता है, वरन् हमारे पर्यावरण को शुद्ध करने तथा आरोग्य प्रदान करने में भारी सहायक है। अत: आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति हवन करे, ताकि वायुमण्डल शुद्ध हो सके। सामूहिक रूप से भी समय-समय पर यज्ञों का आयोजन होना चाहिए, जिससे वायुमण्डल में व्याप्त हानिकारक जीवाणुओं से मुक्ति मिल सके। पर्यावरण से जुड़े, वैज्ञानिक अब यज्ञ की दुहाई देने लगे हैं। चमत्कार है, यज्ञ में प्रयुक्त सामग्री के घटकों का, जिनमें औषधीय एवं जीवाणुनाशकों के समस्त गुण विद्यमान हैं, आवश्यकता है प्रचार की।

भौतिक प्रदूषण के साथ साथ लोगों के मस्तिष्क भी घोर प्रदूषण के शिकार हैं, जैसे ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि विकार मानसिक प्रदूषण के रूप हैं। कभी कभी ये विकार उभरकर भयंकर रूप में सामने आते हैं।

हवन द्रव्यों का मन पर भी प्रभाव होता है। सौम्य द्रव्य जैसे घृत शहद, दुग्ध, शर्करा सोमलता आदि क्रोध, लोभ आदि मनोविकारों को दूर करते हैं, सुगन्धित पदार्थ जैसे-चन्दन, केसर कस्तूरी देवदार अगर, तगर, पदार्थ, गूगल, राल, लोवान इत्यादि काम, मोह आदि मनोविकारों और मध्यवर्ती पदार्थ जैसे-जौ, रक्तचन्दन, खस, पापड़ा, कमलगट्टा आदि अहंकार को नष्ट करते हैं। यज्ञ रहस्य (द्वितीय भाग) ग्रन्थ के अनुसार जल, दुग्ध, तिल का सम्बन्ध अन्नमय एवं प्राणमय कोष से, सुगन्धित पदार्थों का सम्बन्ध मनोमय कोष से, घृत एवं मधु का सम्बन्ध विज्ञानमय कोष से है।

यज्ञों में जो हवनीय-द्रव्यों की आहुतियों एवं वेदमन्त्रों के उच्चारण के प्रभाव से यज्ञ में भाग लेने वाले व्यक्ति पर एवं परिसरीय वायुमण्डल पर विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वेदमन्त्रों के उच्चारण से मन, आत्मा शुद्ध होकर सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। पाप व ताप का नाश होता है। आचार्यों ने विशेष लक्ष्य की सिद्धि के लिये विशेष आहुतियों का विधान बताया है। व्यक्ति को जिस प्रकार की साधना करनी है, उसी के अनुरूप विशिष्ट गुणधर्मयुक्त सामग्री का हवन में उपयोग करना चाहिए। यज्ञ में तुलसी की माला, कुशासन, सूतनिर्मित वस्त्र का उपयोग करने और गोघृत, चन्दन, समिधा में पीपल, वट, उदुम्बर, श्वेत चन्दन, लघु एला, लौंग, जावित्री, गुडूची, वचा, नेत्रबाला, यष्टिमधु, कमल, केशर, वटजटा, नारियल, बादाम, मुनक्का, जव, सितोपला आदि सत्त्वगुण की सामग्री का हवन करने से सत्त्वगुण की वृद्धि होकर प्रज्ञापराध कम होते हैं। यज्ञ से आकाश में अदृश्य विद्युतीय तरंगें निर्मित होकर दूर-दूर तक फैलती हैं, जिनके प्रभाव से लोगों के मन से द्वेष, पाप, वासना, अनीति, स्वार्थपरायणता मिट जाती है, जिससे मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्यलाभ होता है। इस तरह कुबुद्धि, कुविचार, दुर्गुण एवं दुष्कर्मों से व्यक्ति की दूषित मनोभूमि में यज्ञ से भारी सुधार होता है। इसलिये यज्ञ को पापनाशक कहा गया है। यज्ञीय प्रभाव से सुसंस्कृत हुई विवेकपूर्ण मनोभूमि का प्रतिफल जीवन के प्रत्येक क्षण को स्वर्गीय आनन्द से भर देता है, इसलिये यज्ञ को स्वर्ग देने वाला कहा गया है।

यज्ञ की ऊष्मा मनुष्य के अन्तःकरण पर देवत्व की छाप डालती है। इससे सामाजिक प्रदूषण दूर होता है। जहाँ यज्ञ होता है वहाँ की भूमि एवं प्रदेश संस्कारों की छाप अपने अन्दर धारण कर लेते हैं और वहाँ जाने वालों पर भी दीर्घ काल तक प्रभाव डालते हैं। प्राचीन काल में तीर्थ वहीं बने हैं, जहाँ बड़े-बड़े यज्ञ हुए थे। जिन घरों या जिन स्थानों में यज्ञ होते हैं, वहाँ भी एक प्रकार का तीर्थ बन जाता है और वहाँ जिनका आगमन रहता है उनकी मनोभूमि उच्च, सुविकसित एवं सुसंस्कृत बनती है। महिलाएँ छोटे बालक एवं गर्भस्थ शिशु विशेष रूप से यज्ञशक्ति से अनुप्राणित होते हैं, उन्हें सुसंस्कृत बनाने के लिये यज्ञीय वातावरण की समीपता बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है।

हारवर्ड विश्वविद्यालय के अमेरिकी प्रोफेसर डॉ0 माइकेल मैकलोरी ने पेरिस में हुयी एक पर्यावरण संगोष्ठी में कहा कि वायुमण्डल की महत्त्वपूर्ण परत स्ट्रेटोस्फीयर जो पृथ्वी के अल्ट्रावायलेट रैडिएशन के दुष्प्रभाव से बचाती है, जो निरन्तर कमजोर होती जा रही है। अल्ट्रावायलेट विकिरण से

सुरक्षा करने वाली स्ट्रेटोस्फीयर की ओजोन परत तीव्र गति से कम सघन होती जा रही है, ऐसी सम्भावना है कि ओजोन परत की दस प्रतिशत क्षमता शीघ्र ही नष्ट हो जायेगी। इसका कारण प्रो0 माइकेल ने प्रदूषण के कारण वायुमण्डल में बढ़ती कार्बनडाई ऑक्साइड को बताया। इस रक्षा कवच के कमजोर पड़ने से अनेकों प्रकार से अन्तरिक्षीय हानिकारक विकिरणों का सामना पृथ्वी के जीवधारियों को करना पड़ सकता है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि बढ़ता हुआ पर्यावरण असन्तुलन प्राकृतिक प्रकोपों को आमन्त्रित करेगा। इस असन्तुलन की परिणति प्रलय, हिमयुग जैसी विभीषिकाओं की ओर संकेत कर रही है। पर्यावरण परिशोधन से ही हम इस संकट से बच सकते हैं। वायुप्रदूषण को दूर करने का अग्निहोत्र बड़ा प्रभावी उपाय है, जिसकी उपयोगिता इंग्लैण्ड, अमेरिका, जापान, जर्मनी आदि देशों में भी परीक्षा द्वारा जान ली गयी है। महाराष्ट्र के स्वामी वसन्त पराञ्जपे ने अमेरिका के वाशिंगटन में अग्निहोत्र विश्वविद्यालय की स्थापना की है, जहाँ रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं के स्थान पर यज्ञ से फसलों के रोगों का इलाज किया गया है और मन्त्रोच्चार तथा घी की आहुति से फसलों को चौगुना करने में सफलता मिली है। यज्ञ का नया वैज्ञानिक नाम है 'होम थेरेपी फार्मेसी'।

स्पष्ट है कि अब यज्ञ केवल धार्मिक कर्मकाण्ड न रहकर पर्यावरणीय शुद्धि, कृषि सुधार मानवीय चिकित्सा में सहायक वैज्ञानिक उपहार बन चुका है।

यज्ञ के द्वारा जो शक्तिशाली तत्त्व वायुमण्डल में फैलाये जाते हैं, उनसे हवा में परिसंचरण करते हुए असंख्य रोगों के कीटाणु सहज ही नष्ट हो जाते हैं। डी0 डी0 टी0 फिनायल आदि छिड़कने, बीमारियों से बचाव करने की दवाएँ या इंजेक्शन लेने से कहीं अधिक कारगर उपाय यज्ञ करना है। साधारण रोगों एवं महामारियों से बचने का यज्ञ एक सामूहिक उपाय है। दवाओं में सीमित स्थान एवं सीमित व्यक्तियों को ही बीमारियों से बचाने की शक्ति है, पर यज्ञ की वायु तो सर्वत्र पहुँचती है और रोगनिवारण के लिए प्रयत्न न करने वाले प्राणियों की भी सुरक्षा करती है। मनुष्यों की ही नहीं, पशु-पक्षियों, कीटाणुओं एवं वृक्ष वनस्पतियों के आरोग्य की भी यज्ञ से रक्षा होती है। हमारे ऋषि-मुनि इसीलिए प्रतिदिन अग्निहोत्र करते थे।

अतः हमें सदैव यज्ञानुष्ठान श्रद्धापूर्वक करना चाहिए जिससे पर्यावरण का परिशोधन और परिपोषण हो सके तथा समग्र विश्व हिंसा, रोग एवं तनाव से दूर शान्ति, समृद्धि, आरोग्य एवं कल्याण की ओर अग्रसर हो सके।

डॉ0 रामजीत मिश्र
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
बरेली कालेज, बरेली

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः

डॉ. महेश विद्यालङ्कार

यज्ञ ही इस विश्व का केन्द्र या नाभि है। सम्पूर्ण सृष्टि का अस्तित्व यज्ञ-भावना पर निर्भर है। ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी, वायु, आकाश, वनस्पति आदि सभी यज्ञीय भावना से यज्ञ कर रहे हैं। इसी यज्ञीय प्रवाह से जड़-चेतन का अस्तित्व और जीवन चल रहा है। ब्रह्माण्ड में परमेश्वर द्वारा हो रहे, यज्ञ में व्यतिक्रम आने से अनेक प्रकार के रोग, समस्याएँ तथा कष्ट आना स्वाभाविक है। यज्ञ सृष्टि में सन्तुलन, व्यवस्था और जीवन प्रदान करता है। जीवन और जगत् में यज्ञ की अनन्त महिमा, महत्त्व तथा उपयोगिता है। इसीलिये हमारी संस्कृति में यज्ञ को नित्यकर्म के साथ जोड़ा गया है।

वेद की मान्यता है कि समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान पृथिवीतत्त्व वेदि है और उस वेदि में ईश्वरीय व्यवस्था से होने वाला समग्र कार्यकलाप यज्ञ है।[1] प्रलय के समय में वह परम तत्त्व जिसे वेद **'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'**[2] के द्वारा निरूपित करता है, जिसमें प्रकृति अपनी नामरूपात्मक सत्ता को तिरोहित करके समाविष्ट रहती है, वह परम पुरुष जब अपने चतुर्थ पाद से सृष्टि के लिये उन्मुख होता है,[3] तब वह यज्ञ का आयोजन करता है। उस यज्ञ में जहाँ एक ओर प्रकृति हव्य बनती है, वहाँ परमात्मा का ज्ञान उसकी अग्नि है। इन दोनों के संयोग से विराट् की उत्पत्ति होती है, जिसका अधिष्ठाता अर्थात् नियमनकर्त्ता पुरुष है।[4] तत्पश्चात् उस पुरुष नियन्त्रित विराट् अथवा प्रकृति से नामरूपात्मक जगत् अस्तित्व में आता है। यह एक दिव्य यज्ञ है जो प्रत्येक सृष्टि के आदि में सम्पन्न होता है।

यज्ञभावना वैदिक संस्कृति का मूल मन्त्र है। सृष्टि की सम्पूर्ण व्यवस्था- उत्पत्ति, स्थिति, पालन, प्रलय आदि का चक्र यज्ञ-प्रक्रिया से चल रहा है। वह जगत् का सबसे बड़ा याज्ञिक है। उसका सृष्टि में निरन्तर यज्ञ चल रहा है। यह पृथिवी विशाल यज्ञवेदी है, जिस पर विविध प्रकार के यज्ञ हो रहे हैं। परमात्मा ने जब सृष्टि का निर्माण किया, मानो यज्ञ किया। इसलिये परमात्मा का एक नाम **यज्ञ** भी है। सृष्टि के कण-कण में निरन्तर यज्ञ चलता रहता है, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो इस प्रक्रिया से अछूता हो। प्रत्येक अणु अपनी आहुति दे रहा है, उसीका यह परिणाम है कि सृष्टि में सृजन कार्य चलता रहता है। प्रतिक्षण होने वाले यज्ञ के कारण ही सृष्टि नित-नूतन बनी रहती है।

यह यज्ञीय भावना का ही प्रभाव है कि ब्राह्मणग्रन्थ का ऋषि रुद्र, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं को अग्नि के विभिन्न रूपों में निरूपित करता है। वह कहता है कि जब अग्नि प्रदीप्त होकर द्योतित होता है, तब वह

---

१. ऋ०१.१६४.३५. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।

२. ऋ०१०.१२९.२.

३. ऋ०१०.९०.३. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

४. ऋ०१०.९०.५. तस्माद्विराजळजायत विराजो अधि पूरुषः।

रुद्र है,[५] जब यही अग्नि प्रदीप्ततर होता है, तब वह वरुण है,[६] जब यह प्रदीप्त होकर ऊँचे उठते हुए धूम समूह के साथ अत्यन्त वेग से प्रज्वलित होता है, तब वह इन्द्र है,[७] जब इसकी ज्वालायें तिरछी होकर शान्त होती हैं, तब वह मित्र है,[८] और जब यह अङ्गार रूप में चमकता है, तब वह ब्रह्मा है।[९] काण्वीय शतपथ-ब्राह्मण से भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।[१०] रुद्र से प्रारम्भ होकर, ब्रह्म तक की अवस्थायें अग्नि के क्रमिक विकास को द्योतित करती हैं। ब्रह्म से पूर्व तक की सभी अवस्थाओं में क्रियाशीलता विद्यमान है, परन्तु ब्रह्म में पहुँचकर क्रिया निष्क्रिय हो जाती है। इस निष्क्रियता की प्राप्ति ही ब्रह्म है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सकाम से प्रारम्भ होने वाले यज्ञ की परिणति निष्काम में होती है। सकामता में मन सक्रिय रहता है, निष्काम प्रवृत्ति होते ही मन की चञ्चलता जाती रहती है, यही यज्ञ की पूर्णता है।

शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि आत्मा ही यज्ञ है।[११] जैमिनीय उपनिषद् के अनुसार अव्यक्त पुरुष यज्ञ से ही व्यक्त होता है।[१२] गोपथ-ब्राह्मण रूपक के माध्यम से पुरुषरूपी यज्ञ की प्रतिष्ठा करता है। उसके अनुसार यज्ञरूपी पुरुष का हविर्धान शिर, आहवनीय मुख, सदस् उदर, उक्थ अन्तःकरण, मार्जालीय (वेदि के दक्षिण का वह स्थान जहाँ यज्ञपात्रों का मार्जन किया जाता है) और आग्नीध्रीय (वह स्थान जहाँ यज्ञाग्नि प्रज्वलित की जाती है) भुजायें और देवता अन्तःसदस् के धिष्ण्य अर्थात् यज्ञाग्नि स्थापन करने के स्थान हैं।[१३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ ही आत्मा है, और वह अव्यक्त पुरुष यज्ञ से ही व्यक्त होता है, इसलिये सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। तैत्तिरीय-आरण्यक कहता है कि यज्ञ का मेघ ही हविर्धान है, विद्युत् ही अग्नि है, वर्षा ही हवि है, मेघ-गर्जना ही वषट्कार है, वायु ही आत्मा है और अमावस्या ही स्विष्टकृत् है।[१४] यज्ञ की वेदि को शतपथ-ब्राह्मण की दृष्टि में इसलिये वेदि कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ के द्वारा वह विष्णु इस

---

५. शत०ब्रा०,२.३.२.९. 'अथ यत्रैतत्प्रथमः समिद्धो भवति, धूप्यत एव तर्हि हैष भवति रुद्रः।'

६. शत०ब्रा०,२.३.२.१०. 'अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति, तर्हि हैष भवति वरुणः।'

७. शत०ब्रा०,२.३.२.११. 'अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति, उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्बलीति, तर्हि हैष भवतीन्द्रः।'

८. शत०ब्रा०,२.३.२.१२. 'अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि हैष भवति मित्रः।'

९. शत०ब्रा०,२.३.२.१३. 'अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकाश्यन्त इव। तर्हि हैष भवति ब्रह्म।'

१०. का०शत०ब्रा०,३.१.२.१. 'स यत्र ह वा एष प्रथमः संप्रधूप्य प्रज्वलति तद्ध वरुणो भवति, अथ यत्र संप्रज्वलितो भवत्यवरेणेव वर्षिमाणं तद्ध रुद्रो भवत्यथ यत्र वर्षिष्ठं ज्वलति तद्धेन्द्रो भवत्यथ यत्र नितरामर्चयो भवन्ति तद्ध मित्रो भवति, अथ यत्राङ्गारा मल्मलायन्तीव तद्ध ब्रह्म भवति।'

११. शत०ब्रा०,६.२.१.७. 'आत्मा वै यज्ञः।'

१२. मै०सं०,३.६.७. 'अजातो वै पुरुषः, स वै यज्ञेनैव जायते।' जै०उप०,३.३.४.८. 'अजातो ह वै तावत्पुरुषो यावन्न यजते। स यज्ञेनैव जायते।'

१३. गो०ब्रा०,२.५.४. 'पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धानं मुखमाहवनीय उदरं सदः, अन्तरुक्थानि, बाहू मार्जालीयश्चाग्नीध्रीयश्च या इमा देवतास्तेऽन्तः सदसं धिष्ण्याः, प्रतिष्ठे गार्हपत्यव्रतश्रपणाविति।'

१४. तै०आ०,२.१४.१. 'तस्य वा एतस्य यज्ञस्य मेघो हविर्धानं विद्युदग्निर्वर्षः हविस्तनयित्नुर्वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोऽनुवषट्कारो वायुरात्माऽमावस्या स्विष्टकृत्।'

सम्पूर्ण को प्राप्त कर लेता है।[१५] यह यज्ञ ही यजमान की आत्मा है।[१६]

तैत्तिरीय आरण्यक एक विस्तृत रूपक के द्वारा आत्मसाधना का रूप स्पष्ट करता हुआ कहता है कि यजमान यज्ञ की आत्मा है, श्रद्धा उसकी पत्नी है, शरीर समिध है, उरस् ही वेदि है, लोम ही आसन है, शिखा ही वेद है, हृदय ही यज्ञमण्डप का स्तम्भ है, इच्छाएँ ही घृत हैं, क्रोध ही पशु है, तप ही अग्नि है, दम ही शमयिता है, वाक् ही यज्ञ की दक्षिणा है, प्राण ही होता है, चक्षु ही उद्गाता है, मन ही अध्वर्यु है, श्रोत्र ही ब्रह्मा है, जो धारण किया जाता है, वह दीक्षा है, जो खाया जाता है, वह हवि है, जो पिया जाता है, वह सोमपान है . . . . . . .जो मरण है, वह यज्ञान्त स्नान है।[१७] इस प्रकार आत्मसाधनारूप यज्ञ का आधार यजमान है और वह श्रद्धारूपापत्नी के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकता। साधना का माध्यम शरीर होता है और यज्ञ विना समिधाओं के प्रारम्भ नहीं हो सकता, अतः, इस साधना में शरीर को समिधा बनाना पड़ता है। आत्मसाधना के मार्ग में विशेषरूप से इच्छा और क्रोध दोनों को छोड़ना पड़ता है, अतः, ब्राह्मण का ऋषि इच्छाओं को घृत तथा क्रोध को यज्ञीय पशु बनाकर दोनों को तपरूपी अग्नि में भस्म करने का निर्देश देता है। सम्पूर्ण ब्रह्म को यज्ञमय देखता हुआ वह सम्पूर्ण भक्ष्य पदार्थ को हवि तथा सम्पूर्ण पेय को सोम के रूप में चित्रित करता है। इस आत्म-साधनारूपी यज्ञ की पूर्णता मरण के साथ होती है।

शाङ्खायन-आरण्यक का ऋषि इस आत्मसाधना रूपी यज्ञ का दर्शन कुछ भिन्न प्रकार से करता है। उसके अनुसार यह वैराज दश प्रकार का अग्निहोत्र है। इसका आहवनीय ही प्राण है, गार्हपत्य ही अपान है, अन्वाहार्य ही व्यान है, मन ही अग्नि है, मन्यु ही धूम है, दन्त ही ज्वालायें हैं, श्रद्धा ही अङ्गार हैं, वाक् ही पयस् है, सत्य ही समित् है, प्रजा ही आहुति है, वह आत्मतत्त्व ही रस है।[१८] इस प्रकार शरीर में स्थित प्राण, अपान, व्यान आदि वायु के प्रकार ही यज्ञ हैं। मन, मन्यु और श्रद्धा- ये तपरूप अग्नि के विभिन्न रूप हैं। वाक् अर्थात् ज्ञान, सत्य तथा प्रज्ञा- ये उस यज्ञाग्नि के आधार हैं और आत्मा इस यज्ञ का सार है।

उपर्युक्त उद्धरणों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बाह्य साधन जिनसे मन की प्रवृत्ति चञ्चल होती है, आत्मसाधना की दृष्टि से अनावश्यक हैं। वस्तुतः, ऋषि ऐसे यज्ञ का आयोजन करने का आग्रह कर रहा है, जिसमें समस्त कामनायें यज्ञ की भावना से प्रतिफलित होने वाली समष्टि में विलीन होकर निःशेष हो जाती हैं। मनुष्य के सहज मनोविकार इस अग्नि का हव्य हैं। श्रद्धा, ज्ञान और सत्य- इस यज्ञ के मन्त्र हैं तथा फल आत्मतत्त्व की प्राप्ति है। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ का ऋषि यज्ञ की परिणति अध्यात्म मानता है। यदि

---

१५. शत०ब्रा०,१.२.५.७. 'तद्यदनेन इमाः सर्वाः समविन्दत, तस्माद्वेदिर्नाम।'

१६. शत०ब्रा०,११.१.८.६. 'एष ह वै यजमानस्यामुष्मिंल्लोकऽआत्मा भवति यद्यज्ञः।'

१७. तै०आ०,१०.६४.१. 'यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा वेत्रमग्नीद् यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत् पिबति तदस्य सोमपानम् . . . . . .यन्मरणं तदवभृथः।'

१८. शा०आ०,१०.८. 'तदेतद्वैराजं दशविधमग्निहोत्रं भवति, तस्य प्राण एवाहवनीयोऽपानो गार्हपत्यो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो मनो धूमो मन्युरर्चिर्दन्ता अङ्गारश्श्रद्धा पयो वाक् समित् सत्यमाहुतिः प्रज्ञात्मा स रसः।'

यज्ञ उस अव्यक्त को व्यक्त करता है, तब उस यज्ञ का पर्यवसान व्यक्त के अव्यक्त होने में है।

आज विश्व की सबसे बड़ी समस्या स्वार्थपरता है, यही पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तिम सोपान मोक्षप्राप्ति में बाधक है। 'एकाकी खाने वाले केवल पाप का भक्षण कर रहा है'[१९] यह वैदिक दर्शन मानव की स्वार्थपरता पर अंकुश लगाता है। लेकिन यज्ञीय जीवन जीने वाला व्यक्ति मनुष्य की प्रगति में बाधक इस अविद्या से पार पा लेता है। यज्ञ में बार-बार **'इदं न मम'** का पाठ करते हुए एक दिन वास्तव में **'यह मेरा नहीं है'** को व्यवहार के धरातल पर जीने लगता है। यदि कोई पूर्ण तन्मयता और समझते-बूझते हुए यज्ञ करता है तो उसे धीरे-धीरे समझ में आने लगता है कि यज्ञ से केवल मेरा लाभ नहीं हो रहा है, अपितु जड़-चेतन समस्त जगत् उसके लाभ से लाभान्वित हो रहा है। वह चाहकर भी उसके लाभ को अपने तक सीमित नहीं कर सकता, जब उसको इस बात का निश्चय हो जाता है, तब शनैः शनैः वह सबके लाभ में अपना लाभ देखने लगता है। यहीं से उसका अन्तस् पवित्र होने लगता, यह पवित्रता ही यज्ञ का फल है। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप इन तीनों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं।[२०] यदि किये गये यज्ञादि कर्म असात्त्विक (सकाम) और विगुण हों तो भी परमात्मा के ओंकार नाम के साथ किये जाने पर सगुण और सात्त्विक हो जाते हैं।[२१]

केवल स्वाहा-स्वाहा करने का नाम यज्ञ नहीं है, यज्ञ तो एक दर्शन है, जीवन जीने की एक कला है, स्व-पर भेद से ऊपर उठने की साधना है, यह एक ऐसी विद्या है, जिसको आत्मसात् करने के पश्चात् और कुछ जानने को शेष नहीं रहता। जो यज्ञशेष का भोग करते हैं अर्थात् दूसरों की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं, उनके समस्त पाप निर्मूल हो जाते हैं।[२२] ऐसे यज्ञ में नित्य ब्रह्म प्रतिष्ठित रहता है।[२३] जो श्रेष्ठ विद्वान् अपने लाभालाभ की परवाह न करते हुए लोककल्याण रूपी यज्ञ के लिये समर्पित रहते हैं, वे सुख-दुःख से ऊपर उठकर आनन्द को प्राप्त करते हैं।[२४] इसलिये ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहते हैं।[२५] अतः मानवमात्र का कर्तव्य है कि वह उक्त मार्ग का पथिक होकर अविद्या और विद्या दोनों पथों का अनुसरण करता हुआ अमृतत्व को उपलब्ध हो।

डॉ. महेश विद्यालङ्कार

वरिष्ठ प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरु कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

---

१९. ऋ०,१०.११७.६. केवलाघो भवति केवलादी।

२०. गीता-१८.५. यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

२१. गीता, शाङ्करभाष्य-१७.२७. तद् एतद् यज्ञतपआदिकर्म असात्त्विकं विगुणम् अपि श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मणः अभिधानत्रयप्रयोगेण सगुणं सात्त्विकं सम्पादितं भवति।

२२. गीता-३.१३. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः। भुञ्जते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

२३. गीता-३.१५. तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

२४. अथर्व०१.१४.४. स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥

२५. शत०ब्रा०१.७.१.५. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।